

शब्दार्थ-विमर्श

[संस्कृत साहित्य दर्शनशास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र के सन्दर्भ में]

लेखक—

देवनारायण मिश्र

एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी) व्याकरणाचार्य, पी-एच. डी.

संस्कृत-विभाग

आर० एम० पी० स्नातकोत्तर कालेज, सीतापुर

साहित्य भण्डार

सुभाष बाज़ार मेरठ-२५०००२

प्राप्ति स्थान—
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ
दूरभाष : ७७६५४

प्रथम संस्करण १९८०

मूल्य : चालीस रुपये [४०.००]

प्रकाशन व मुद्रण
डॉ० देवनारायण मिश्र, सीतापुर द्वारा हत्यकार प्रेस, मेरठ में मुद्रित

About This Book

Faculty of Arts
Lucknow University
29–12–79

I have gone through the Ph. D. thesis of Dr. Deo Narain Misra entitled शब्दार्थ-विमर्श "It is a valuable contribution in the field of lingiustics in so far as the writer has drawn his material from Sanskrit Literature, Grammar and Philosophical treatises. He has based his discussion on the different theories regarding the word and the meaning and their mutual relationship. He has studied the subject in all possible aspects right from the vedic age to the modern times. Thus he has adopted a comparative as well as historical method. The thesis is written in a lucid style and the language is very simple.

Sd. S. S. Misra
Professor & Head of the Deptt.
of Sanskrit.

कृतज्ञता

शब्द और अर्थ ही सम्पूर्ण नियति शक्ति के प्रतीक हैं। शब्द ब्रह्म ही अर्थ रूप में प्रतिभासित होता है। सम्पूर्ण लौकिक-व्यवहार भी वाणी और अर्थ के अधीन है। सभी कार्यों के काल-सापेक्ष होने से भारतीय मनीषियों की एतद्विषयक अजस्र ज्ञानधारा शास्वत न रह सकी। पाश्चात्य चमत्कृति एवं प्रभावी-वातावरण से हमारा वह ज्ञानालोक क्रमशः धूमिल होता गया। उसी को पूर्णतः प्रकाशित होने का अवसर प्रदान करना ही आज के शोध का विषय बना हुआ है। शब्दार्थ की इसी महत्ता से प्रेरित होकर ही मैंने उसे अपने शोध का विषय निश्चित किया।

परमादरणीय गुरुवर डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातनधर्म कालेज, कानपुर; जिनकी 'राजीवदयावशम्वदः' की अनुकम्पात्मक भावना मुझ पर सदैव रही है; प्रस्तुत शोध कार्य के लिये निर्देशन स्वीकार कर अनुगृहीत किया। मैं इस गुरु-ऋण से चिर-ऋणी एवं श्रद्धावनत रहूँगा।

विद्वन्मनीषी गुरुवर श्री भूपेन्द्रपति त्रिपाठी, अध्यक्ष व्याकरण-विभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी, डॉ० वेद निवास मिश्र तथा डॉ० भोलानाथ तिवारी के प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर बहुमूल्य सुझाव देने की कृपा की है। श्रद्धेय डॉ० शिवशेखर मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग लखनऊ का मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक के सम्बन्ध में 'दो शब्द' लिखने की कृपा की।

वैदिक-युग से लेकर अधुनातन उन सभी मनीषियों एवं भाषाशास्त्रियों का मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने 'शब्दार्थ विषयक' ज्ञानाभा को उद्भाषित करके उत्तरोत्तर प्रखरतर एवं दृढ़तर बनाया है तथा जिनके विचारों का समायोजन एवं संकलनमात्र ही प्रस्तुत शोधप्रबन्ध है।

तदनन्तर उन सभी शास्त्रों, शास्त्रकारों, गुरुजनों तथा सहयोगी बन्धुओं का आभारी हूँ, जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है।

एतावता समस्त तपःपूत मनीषियों एवं शब्द-विद्या में कृतभूरि-परिश्रम तत्ववेतृ-गुरुजनों की विशुद्धा मति से अवाप्त सिद्धान्तों को स्वयं की अनिर्दोषा बुद्धि

से ही परिकलित करने में सक्षम हो सका हूँ। अतः यत्र-तत्र स्खलन एवं त्रुटियाँ; जो मानवीय इयत्ता के कारण सम्भाव्य हैं, उनके लिये सुधीजनों से क्षमा-प्रार्थी हूँ तथा संशोधन हेतु सुझाव के लिए आभारी होऊँगा।

अन्त में मैं श्री रतिराम शास्त्री, अध्यक्ष, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने अत्यल्प समय में अनेक कठिनाइयों के बाद भी पुस्तक के मुद्रण एवं प्रकाशन में सहयोग दिया।

गुरु-पूर्णिमा,
संवत् २०३७ विक्रमीय — देवनारायण मिश्र

विषयानुक्रमणिका

———

विवेच्य-विषय

ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वाग्देवता का कथन है कि "मैं स्वयं ही इस जगत् के पिता द्यौः को इसके शीर्ष में (सृष्टि के लिए) उत्पन्न करती हूँ, मैं ही अन्तः समुद्र में बीजरूपा हूँ, मैं समस्त विश्व में अभिव्याप्त हूँ तथा मेरा किरीट आकाश को छूता है—

"अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवना नु विश्वोतामं द्यां चर्ष्मणोपस्पृशापि ॥"[१]

शब्द और अर्थ की इसी एकरूपता, सर्वव्यापकता तथा सृष्टि के कारणरूपता का निर्देश का त्यायन और पतंजलि ने किया[२]—"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे ।" तथा "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु-प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति ।" तदनन्तर भर्तृहरि ने उसका स्पष्टता एव प्रौढ़ता के साथ प्रतिपादन किया[३]—

"अनादिनिधनं ब्रह्मशब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

× × ×

"एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दाव्यावपृथक् स्थितौ ॥"

यह तो शब्द और अर्थ का दार्शनिक (पारमार्थिक) महत्व हुआ, जो केवल भारतीय-चिन्तन सरणि की विशेषता है । दूसरी ओर शब्द और अर्थ का भाषात्मक महत्व है । दण्डी ने लिखा है कि यदि सृष्टि के आरम्भ में भाषा (शब्द) की ज्योति न जलती होती तो यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता—

"इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेतभुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥"[४]

भाषा सामाजिक वस्तु होते हुये भी उसकी व्याक्रिया, विश्लेषण तथा उसका नियमन अपेक्षित होता है । अखण्ड वाक्य का भी खण्डित ज्ञान आवश्यक होता है । शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार का भी महत्व है । शब्द और अर्थ का लोक-व्यवहार में नियमन किस प्रकार होता है ? इसके सम्बन्ध में भाष्यकार ने कहा है—"लोकतोर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म-नियमः क्रियते ।"[५] इस प्रकार शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध के इसी महत्व को दृष्टिगत करते हुये 'शब्दार्थ' विषयक प्राचीन भारतीय मनीषियों के विचारों का संकलन समन्वयन एवं समीक्षण प्रस्तुत करने का

---

१. ऋग्वेद, १०/१२५/७ ।
२. महाभाष्य, पश्प०, पृ० ४६, मोतीलाल प्रकाशन, वाराणसी १९६७ ।
३. वाक्यपदीय १/१, तथा २/३१ ।
४. काव्यादर्श १/४ । ५. महाभाष्य पश्प०; पृ० ४५ ।

प्रयास किया है। यद्यपि अतिविस्तृत, प्रतीकात्मक, रहस्यात्मक एवं विकल्पात्मक उन सम्पूर्ण चिन्तनों का संकलन तथा 'इदमित्थम्' रूप में समन्वय असंभव है तथापि यत्किंचित्कारिछुद्रबुद्ध्या प्रस्तुत निबन्ध में उसका प्रयास किया गया है।

शब्दार्थ विमर्श का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाषा के सभी अवयवों तथा भाषा-शास्त्र के सभी क्षेत्रों—तुलनात्मक, इतिहासात्मक तथा विवरणात्मक से हो सकता है, किन्तु शब्दार्थ के इस अगाध सागर में समग्ररूपेण गोते लगाना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव होने के कारण प्रस्तुत निबन्ध में भाषा-शास्त्र के केवल तीन ही विषयों का विवेचन किया गया है—शब्द अर्थ एवं शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का। विषय की दृष्टि से प्रबन्ध को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) शब्द विमर्श, (२) अर्थ विमर्श एवं (३) सम्बन्ध विमर्श।

शब्द-विमर्श—शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में भाष्यकार ने अत्यन्त स्पष्ट मत व्यक्त किया है—"अथ गौरित्यत्र शब्दः······येनोच्चरितेन सास्नालांगूलककुटखुर-विषाणिनां समपत्ययो भवति स शब्दः" अथवा "प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः।" अर्थात् लोक में अर्थ प्रतीत कराने वाली ध्वनि शब्द है। दूसरी ओर निरर्थक ध्वनि-समुदाय के लिए भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग होता है। इस धारणा की पुष्टि शब्दवैर-कलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे घञ्" पाणिनि के सूत्र से होती है तथा लोक-व्यवहार में पशु-पक्षियों तथा अन्य ध्वनि-समुदायों के लिए भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द का बाहरी रूप हुआ। शब्द का एक आन्तरिक रूप भी है। ध्वन्यात्मक शब्द के उच्चारण से जिस अन्तःस्थ शब्द से पदार्थ-बोध होता है, वह उसका आन्तरिक रूप है। इस प्रकार शब्द के भाषात्मक-अभाषात्मक, अन्तर-बाह्य आदि स्वरूपों के निर्देश के बाद उसकी उच्चारण-प्रक्रिया (शब्दोच्चारण) तथा ग्रहण श्रवण (शब्द-श्रवण) के सम्बन्ध में शिक्षा-ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों, व्याकरण एवम् दर्शनों के अनुसार विचार किया गया है।

"तुरीयं वाचाम् मनुष्याः[1] वदन्ति" भाष्य के अनुसार उच्चार्यमाण शब्द वाणी की चतुर्थ अवस्था अर्थात् वैखरी वाक् है। इसके पूर्व भी तीन अन्य अवस्थायें हैं—परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा। वाणी या शब्द की इन चार अवस्थाओं के सम्बन्ध में शैव-दार्शनिकों, तान्त्रिकों तथा वैयाकरणों में तीन अथवा चार का मतभेद है किन्तु वे अवस्थाएँ चाहे चार हो या तीन, भारतीय भाषा-शास्त्रियों की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है, जिसकी स्थापना वे डेढ़ हजार वर्ष पूर्व कर चुके थे, उसका पाश्चात्य देशों में अभी श्रीगणेश भी नहीं हुआ। दूसरी ओर इसके दार्शनिक महत्व का भी प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्धा वाक् विचार के अनन्तर स्फोट के स्वरूप, सिद्धि तथा विभाग आदि

---

१. महाभाष्य पश्प०, पृ० ७, मोतीलाल प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।

२. म० भाष्य पश्प०, पृ० ३२, मोतीलाल प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।

का प्रतिपादन किया गया है। शब्द का सबसे भीतरी स्तर जहाँ शब्द और अर्थ एकाकार हैं, वह स्फोट है, जो बुद्धि (भारतीय चिन्तन में मन से परे है) में अवस्थित है। स्फोट मूलतः एक प्रकार का बौद्ध अमूर्तीकरण है जो शब्द के प्रयोग के अभ्यास से बनने वाले संस्कार के द्वारा ही प्रतिभासित होता है। इसी संस्कार का पारिभाषिक नाम प्रतिभा है। स्फोट सिद्धान्त का भाषाशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। साक्षात् रूप में अर्थ का बोद्ध स्फोट से ही होता है—"स्फुटति अर्थः अस्मादिति स्फोटः।" किन्तु स्फोट की अभिव्यंजिका ध्वनि है। ध्वनि भी प्राकृत और वैकृत भेद से दो प्रकार की मानी गयी है—

"स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिययते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥"[१]

शब्द मूलरूप में वाक्य का अंग नहीं हो सकता। उसे पदरूपता प्राप्त करनी होती है, जिसके लिये पाणिनि ने "सुप्तिङन्तं पदम्"[२] सूत्र की रचना की है। पदत्व-विधान के लिये अव्यय शब्दों से भी सुप् प्रत्ययों का विधान करके उसके लोप का विधान किया—"अव्ययादप्-सुप्ः।"[३] पदमात्र में कोई भेद न होने पर भी व्यवहारार्थ अनुशासनात्मक दृष्टि से पद का विभाग भी किया है। पद-विभाग के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है—

"द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति प्रत्ययादिवत्॥"[४]

भारतीय मनीषियों ने भाषाशास्त्र के एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त का निर्देश किया है वह है—शब्द की नित्यता। यद्यपि शब्द-नित्यत्व के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शन हैं, तथापि उनमें मूलतः भेद नहीं है। भेदप्रतीति का कारण दृष्टिकोण भेद ही है। आज की वैज्ञानिक प्रगति ने भी शब्द की नित्यता को पुष्ट किया है। अनेक ध्वनि-संयत्र इसके प्रमाण हैं।

अन्ततः व्याकरण शास्त्र ने शब्द को ब्रह्मरूपता प्रदान करके स्वयं को एक दर्शन के रूप में उपस्थापित किया है। इस सिद्धान्त को पूर्णतः सुप्रतिष्ठित करने में महावैयाकरण भर्तृहरि का महत्वपूर्ण प्रयास है।[५]

इस प्रकार व्याकरण-दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत् शब्द-ब्रह्म का ही विवर्त है। शब्द-ब्रह्म के सम्बन्ध में वैदिक-साहित्य शैवागम तथा व्याकरणशास्त्र में सुव्यवस्थित ढंग से विचार किया गया है।

शब्द-विमर्श में यथासम्भव इन्हीं (उपर्युक्त) विषयों का अनुबन्धन किया गया है।

---

१. वा० प० १/७७ २. पा० सूत्र १/४/१४
३. पा० सूत्र २/४/८२ ४. वा० प० ३/१।
५. वा० प० १/१

अर्थ-विमर्श—अर्थ-विमर्श में प्रथमतः अर्थ-स्वरूप का विवेचन है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ दोनों मूलतः एक है, एक ही आत्मा के दो भेद हैं—"एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।"[1] दूसरी ओर उन्होंने शब्द का ही विवर्त निखिल पदार्थ माना हैं। इससे अर्थ भी शब्द-रूप ही सिद्ध होता है किन्तु यह तो अर्थ का पारमार्थिक रूप हुआ, व्यावहारिक रूप नहीं। व्यावहारिक दृष्ट्या तो शब्द और अर्थ में भेद करना आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्ट्या भी अर्थ के दो स्वरूप सामने आते हैं—एक तो वह अर्थ जो घट-पटादि रूप बाह्य अर्थ है, शब्द के प्रयोग से जिस अर्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, जिस अर्थ के साथ शब्द का केवल वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है। दूसरा अर्थ वह है जिसका शब्द के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में जो अर्थ शब्द-कोष या व्याकरण आदि के द्वारा निर्दिष्ट होता है तथा जिसे पद-पदार्थ के रूप में समझा जाता है।

तदनन्तर विवेच्य है कि शब्द के अर्थ का ज्ञान किस प्रकार तथा किन कारणों से होता है? अर्थावगम के अनेकों हेतु व्याकरण तथा अन्य दर्शनशास्त्रों में निर्दिष्ट है—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्त वाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥"[2]

इन सभी कारणों में प्रधान कारण लोक-व्यवहार ही है।[3] वाक्य-प्रयुक्त अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियमन करने में अर्थ, लिङ्ग, प्रकरण, देश, काल आदि हेतु होते हैं—

"संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्याऽन्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यं मौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥"[4]

व्याकरण दर्शन का बौद्ध-पदार्थ महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। अर्थ की बौद्ध सत्ता न मानने पर अनेकों विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत होती हैं। अतद् में तद् का व्यवहार, भूत-भविष्य की सत्ता, शब्दार्थ की समान देशस्थता आदि का अस्तित्व बौद्ध-अर्थ से ही संभव है। बौद्धार्थ के सम्बन्ध में नागेश कहते हैं—"एवं शक्योऽर्थोऽपि बुद्धिसत्ता समाविष्ट एव न तु बाह्यसता समाविष्टः।"[5]

इस सिद्धान्त का पोषण वेदान्त, उपनिषद् तथा पुराणों आदि में विस्तृत रूप से हुआ है। नागेश भट्ट ने इस सिद्धान्त को अनेक शास्त्रों से समर्थित करते हुये प्रौढ़ता प्रदान की है। बौद्धार्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि लिखते हैं—

---

१. वाक्यपदीय २/३१।
२. शब्दशक्ति प्रकाशिका, पृ० २०। ३. महाभाष्य ५४५०।
४. वाक्यपदीय २/३१५–१६। ५. लघु मंजूषा, पृ० २०३।

"शब्दोपहितरूपोंस्तु बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधत्वेन मन्यते ।।"[1]

शब्द से किस अर्थ का निर्देश होता है ? मीमांसक जाति रूप अर्थ का संकेत मानते हैं, नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति रूप अर्थ मानते हैं, बौद्ध अपोह रूप अर्थ मानते हैं तथा वैयाकरणों में भी इसमें एकमत नहीं है । अस्तु, इस मत-मतान्तर के निर्देश के अनन्तर शब्द के प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप अर्थ पर विचार किया गया है जिसे कि वैयाकरण जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप चार प्रकार का मानते हैं ।

साथ ही लौकिक और वैदिक संस्कृत तथा पालि-प्राकृत आदि भाषाओं के सर्वेक्षण से प्राचीन भाषा-शास्त्री अर्थ-परिवर्तन के सम्बन्ध में अथवा उसकी प्रक्रिया या स्वरूप से अपरिचित नहीं थे । अर्थ-परिवर्तन के सम्बन्ध में कहा गया है—

"अपकर्षश्चोत्कर्षौ विस्तारादेशभावसंकोचाः ।
विनिमयविसर्पिणी चेदर्थारोपो हि परिवृतिश्चार्थे ।।"

अर्थ-विस्तार के सम्बन्ध में पतञ्जलि कहते हैं—"विशेषस्याविवक्षित्वात् सामान्यस्य च विवक्षित्वात् सिद्धम् ।"[2]

अर्थादेश के सम्बन्ध में भर्तृहरि कहते हैं—

"एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक् ।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ।।"[3]

पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरण दार्शनिकों के अनुसार अर्थ नित्य है । यह अर्थ की नित्यता धारावाहिक नित्यता है । इसी नित्यता का निर्देश करते हुए कात्यायन ने लिखा है—"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे चेति ।" जिसका भाष्यकार ने सविधि प्रतिपादन किया है । भर्तृहरि की दृष्टि में अर्थ से शब्द पृथक् नहीं और शब्द नित्य है । अतः अर्थ भी नित्य है । दूसरी ओर शब्दब्रह्म का ही विवर्त रूप होने से अर्थ नित्य है । यह नित्यता पारमार्थिक हो सकती है, किन्तु जातिगत अथवा प्रवाहगत अर्थ-नित्यता तो व्यावहारिक दृष्टि से भी माननी ही पड़ेगी । इस खण्ड के अन्त में इसी अर्थ-नित्यता का विचार किया गया है ।

सम्बन्ध-विमर्श—शब्दार्थ विचार के अनन्तर शब्द एवं अर्थ उभयनिष्ठ 'सम्बन्ध' का विचार आवश्यक होता है । अतः सम्बन्ध विमर्श में सर्वप्रथम सम्बन्ध प्रयोजन तथा सम्बन्ध स्वरूप के विषय में मत-मतान्तरों का निर्देश किया गया है। तदनन्तर सम्बन्ध प्रकार (या भेद) के विषय में विविध मतों की समीक्षा करने का प्रयास किया गया है । 'अस्य शब्दस्यायमर्थः' इस षष्ठी विभक्ति के निर्देश से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध द्योतित होता है । वैयाकरण इस सम्बन्ध को वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं—

---

१. शब्द-शक्ति प्रकाशिका पृ० २० । वाक्यपदीय ३/७/५ ।

२. वाक्यपदीय, २/३१५-१६ । महाभाष्य १/२/६८ ।

३. वाक्यपदीय २/१३६ ।

"अस्यायं वाचको वाच्यः इति षष्ठ्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थयोस्तत्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥"[1]

इसके अतिरिक्त योग्यता सम्बन्ध, प्रकाश्य-प्रकाशक आदि अनेक सम्बन्धों का निर्देश भी वाक्यपदीय में किया गया है।[2]

नागेश ने शब्द और अर्थ में इतरेतराध्यास रूप तादात्म्य सम्बन्ध का निर्देश किया है।[3]

शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में भी दो सम्प्रदाय हैं—एक तो शब्द तथा अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध मानता है और दूसरा कृत्रिम सम्बन्ध। इसका भी मूल कारण शब्द-विषयक नित्यता सम्बन्धी मतभेद ही है। शब्द-नित्यवादियों के अनुसार सम्बन्ध सिद्ध है, और अनित्यवादियों के अनुसार असिद्ध है। सिद्ध सम्बन्धवादी 'सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्धे' के आधार पर सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं तथा असिद्धवादी उसे अनित्य मानते हैं। इसमें भी समन्वय-स्थापन का प्रयास किया गया है, क्योंकि नित्यता और अनित्यता का जो प्रतिपादन आचार्यों ने किया है, उसमें दृष्टिकोण (या विषय) का अन्तर है। शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष के सम्बन्ध की अनित्यता नित्यवादी वैयाकरण भी मानते हैं, किन्तु शब्द सामान्य से अर्थ-सामान्य का सम्बन्ध नित्य मानते हैं, जबकि अनित्यवादी नैयायिकों आदि ने सम्बन्ध की अनित्यता के प्रतिपादन में अर्थ विशेष को ही अनित्यता को कारण के रूप में निर्देश किया है। अतः दोनों की मूल भावनायें एक मानी जा सकती है।

इस प्रकार सम्बन्ध-प्रयोजन स्वरूप तथा भेद आदि के विवेचन के बाद शब्द-वृत्ति के विषय में विचार किया गया है। नागेश ने मंजूषा में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीन शक्तियों का निरूपण किया है। इनके पूर्व के वैयाकरणों ने व्यंजना शक्ति का निर्देश नहीं किया है और लक्षणा का भी साक्षात् कथन नहीं किया है। पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि ने आरोपित या उपचरित अर्थों का निरूपण अवश्य किया है, किन्तु उससे सम्बन्ध शब्दव्यापार को लक्षणा के रूप में लिखा नहीं है। वैयाकरणों की भाँति अन्य दार्शनिक लक्षणा-वृत्ति को मानते हैं, किन्तु व्यंजना का खण्डन करते हैं। उक्त तीनों वृत्तियों का पूर्णतया प्रतिपादन साहित्य-शास्त्रियों ने किया है, जिसमें आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि ने व्यंजना की विधिवत स्थापना की तथा उसका आधार वैयाकरणों की ध्वनि तथा स्फोट को माना।[4]

अस्तु, शब्द की इन शक्तियों के सम्बन्ध में मत-मतान्तरों का निर्देश करने के बाद शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का विवेचन किया गया है। सम्बन्ध की नित्यता का निर्देश करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—

---

१. वाक्यपदीय ३/३/३१। २. वाक्यपदीय ३/३/२९।
३. लघु मंजूषा, पृ० २३। ४. ध्वन्यालोक १/१।

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥"[1]

शब्दार्थ का विषय अत्यन्त व्यापक और दुरूह है। उसमें भी प्राचीन महर्षियों के सन्तुलित एवं सूत्रात्मक शैली में कथित भाषा-शास्त्रीय सिद्धान्तों का 'इदमित्थम्' रूप में कह पाना कठिन है। भारतीय मनीषियों ने लगभग शब्दार्थ के सभी विषयों को अपने चिन्तन में समाहित कर लिया था। एक ओर शब्दार्थ के अन्तर्गत सम्पूर्ण भाषा-शास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप निहित है तो दूसरी ओर संस्कृत वैयाकरणों का दार्शनिक विचार। एक ओर ध्वनिविज्ञान से वाक्य-विज्ञान तक, अर्थ विज्ञान से सम्बन्ध विज्ञान तक तथा संस्कृत (प्राचीनतम भाषा) भाषा से हिन्दी-अंग्रेजी भाषा तक का सम्पूर्ण भाषा-विज्ञान शब्दार्थ के अन्तर्गत आता है तो दूसरी ओर वैयाकरणों के अनुसार ब्राह्मण से कीट-पतंग तक सब कुछ शब्दार्थ के अन्तर्गत आता है, यद्यदि इसमें विरोधाभास है, फिर भी वैयाकरणों की यह महती उपलब्धि है, जिस पर भारतीय-चिन्तकों (भारतीय-चिन्तकों) ने पाश्चात्य के चाकचिक्य के प्रभाव से अभी तक कम सोचा था किन्तु अब स्वतन्त्र भारत में स्वतन्त्र चिन्तन पुनः आरम्भ हुआ है। उक्त कथन के अनुसार शब्दार्थ के सम्बन्ध में पूर्वनिर्दिष्ट विषयों के अनुसार ही यथाशक्ति संकलनात्मिका बुद्धि से कृतप्रयत्न हूँ। सफल प्रयत्न पण्डितजनों की अनुग्रहात्मिकी प्रज्ञा के अधीन है।

———

१. वा० प० १/२३।

प्रथम कल्प

भाषाशास्त्रीय चिन्तन एवं परम्परा

मानवी सृष्टि के समान, मनीषियों की अन्तःसाधना एवं चिन्तन का परिणाम, लोक-व्यवहार की अधिष्ठात्री तथा समस्त संसार की संयोजिका भाषा की अवतारणा कब और कैसे हुई ? इस प्रश्न का समाधान अभी तक भाषा-वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं ऐतिह्य चिन्तकों से दूर है। यह सत्य है कि आधुनिक भाषा-विज्ञान ने भाषाओं के अनेक तत्वों—ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक आदि का विश्लेषणात्मक एवं तात्विक अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा करने में रत है, किन्तु भाषोत्पत्ति-सिद्धान्त के विवेचन में अभी अक्षम ही है।

भारत अथवा यूरोप में भाषा-विज्ञान का जो स्वरूप आज है, वह प्राचीनकाल से भिन्न है। वस्तुतः प्राचीनकाल में भाषाशास्त्रीय चिन्तन व्याकरणमूलक रहा है। जिस प्रकार भारत में शिक्षा, निरुक्त, प्रातिशाख्य तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के रूप में भाषाशास्त्र का चिन्तन हुआ उसी प्रकार यूरोप में भी प्रारम्भ में भाषाशास्त्रीय चिन्तन व्याकरणमूलक रहा। यही कारण है कि प्राचीनकाल में भाषाविज्ञान को तुलनात्मक व्याकरण कहा जाने लगा था। भारत में पुराकाल से भाषा का तात्विक विवेचन होता रहा है। भाषा में व्याकरण की दृष्टि से शब्द महत्वपूर्ण तत्व है। अतः ऋग्वेदकाल से अद्यावधि 'शब्दार्थ' का तात्विक विवेचन होता रहा है। अस्तु, प्रकृत में शब्दार्थ चिन्तन-परम्परा का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत है।

वेद—वेद ज्ञान है। ज्ञान ब्रह्म है। ब्रह्म, शब्दतत्वरूप है। अतएव वेद सभी दर्शनों एवं विचारों का अधिष्ठान है तथा प्रत्येक मानसिक एवं बौद्धिक व्यापारों की प्रकृति है। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, स्मृति, पुराण, दर्शन आदि सभी शास्त्रों का स्रोत वेद ही है। कोई भी ऐसा विचार नहीं है, जिसका मूल वेद में अनुपलब्ध हो, तब 'वाग्रूप ब्रह्म' के विषय में ही वह मुखर न हुआ हो, कैसे सम्भव है ?

'व्याक्रियन्ते' व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति, व्याकरणम् के अनुसार वेदों में व्याकरणात्मक प्रवृत्ति का पर्याप्त संकेत मिलता है—

(१) यज्ञो न यज्ञमयजन्त देवा।	ऋग्वेद, १/१६४/५०
(२) ये सहांसि सहसा सहन्ते।	ऋग्वेद, ६/६/९
(३) केतपूः केतम् नः पुनातु।	यजुर्वेद, ११/७
(४) येन देवा पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।	सामवेद, ५/२/८/५
(५) धान्यमसि धिनुहि देवान्।	यजु०, १/२०
(६) तीर्थैस्तरन्ति।	अथर्ववेद, १८/४/८।

इनकी व्याख्या व्याकरण में इस प्रकार हुई है—"यज्ञः कस्मात् प्रख्यातम् यजति कर्मेति नैरुक्ताः।" यज् से 'अनङ्०' हुआ है। 'सहते' सह से 'असुन्' हुआ है।

किया गया होगा तभी इनकी रचना भी हुई होगी। सम्प्रति प्राप्त शिक्षाग्रन्थों के आधार पर उनके काल का निर्णय सम्भव नहीं है, क्योंकि—

१. उनके पाठ विकृत हैं,

२. उनमें प्रक्षिप्तांश एवं परिवर्तन विशेष रूप से है तथा

३. किसी एक निश्चित् शैली में ग्रथित नहीं है।

ऐलेन ने शिक्षाग्रन्थों का काल ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के मध्य माना है, किन्तु कतिपय तर्कों एवं युक्तियों से डॉ० भोलानाथ तिवारी ने उसका खण्डन किया है तथा शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों की पूर्वापरता का विवेचन करते हुये पाणिनीय शिक्षा को प्राचीनतम मानकर शिक्षा-ग्रन्थों का रचनकाल ५०० ई० पू० माना है।[१] डॉ० भोलनाथ तिवारी ने शिक्षा का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये उसका पाँच चरणों में विकास माना है[२]—

१. शिक्षा शब्द एक सामान्य सह शब्द के रूप में प्रयुक्त होता रहा होगा—ध्वनि-शिक्षा या वेद-शिक्षा।

२. शिक्षा संस्थानों में उच्चारण विषयक सामान्य शिक्षा के लिए शिक्षा शब्द का प्रयोग होने लगा होगा और सह शब्द का लोप हो गया होगा।

३. शिक्षा शब्द ध्वनि-विज्ञान का पर्याय हो गया होगा। इसी काल में शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई होगी जिसके आधार पर प्रातिशाख्य लिखे गये।

४. सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक विकसित शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई। इस काल में प्रातिशाख्यों का भी शिक्षा-ग्रन्थ के प्रणयन में आधार लिया गया है।

५. कुछ परवर्ती शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई जो सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक दोनों बातों के मिश्रण थे और इसी काल में कुछ शिक्षाग्रन्थों को वेद या वेद की शाखाओं से सम्बन्धित कर दिया गया।

आज उपलब्ध शिक्षाग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ वेदों या वेद की शाखाओं से सम्बन्धित हैं—

१. **ऋग्वेद** (क)—शमान शिक्षा-स्वर-व्यञ्जन शिक्षा।

(ख) पाणिनि शिक्षा का एक पाठ ऋग्वेद से सम्बद्ध है।

२ (क) **कृष्ण यजुर्वेद**—हारीत शिक्षा, सर्व सम्मता शिक्षा, वाल्मीकि शिक्षा, वशिष्ठ शिक्षा, आख्य शिक्षा, काल-निर्णय शिक्षा, भारद्वाज शिक्षा, कौहलीया शिक्षा, बोधायन शिक्षा, चारायण शिक्षा, आपिशलि शिक्षा, व्यास शिक्षा, पारिशिक्षा, सिद्धान्त शिक्षा, शंभु शिक्षा, पाणिनि शिक्षा, (का भी एक पाठ इससे सम्बद्ध है)।

२ (ख) **शुक्ल यजुर्वेद**—याज्ञवल्क्य शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, मांडवी शिक्षा,

---

१. भाषा-विज्ञान की भूमिका पृ० २१७-१८।

२. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० ११७-१८।

पाराशरी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, केशवी शिक्षा, अमोघा नंदिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा।

३. सामवेद—लोमशी शिक्षा, गौतमी शिक्षा, नारदीया शिक्षा (शिक्षा)।

४. अथर्ववेद— मांडूकी शिक्षा।

उपर्युक्त शिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त उपलब्ध शिक्षाग्रन्थों में से निम्नलिखित प्रमुख शिक्षाग्रन्थ हैं—मांडूक्य, अमरेश, काल, मनस्वार, प्रातिशाख्य प्रदीप, लघ्वमोघा, नन्दिनी, माध्यन्दिन, लघु, माध्यन्दिन, शैशिरीय केशवी, पद्यात्मिका, स्वरांकुशा, स्वरभक्ति लक्षण, स्वराष्टक, षोडषश्लोकी, मल्ल शर्मा, क्रम-संधान, क्रम कारिका गहतक, कालनिर्णय, वासिष्ठी, अवसान निर्णय, सर्वसम्मत, चारायणीय, विलंघ्यम्, पदकारिका, रत्नमाला, कण्व हारीत, गालव तथा वर्णोच्चार शिक्षा आदि।

उपर्युक्त शिक्षाग्रन्थों में से कुछ में केवल विशिष्ट प्रकार के शब्दों की सूचियाँ हैं। जैसे—मांडवी शिक्षा में ओष्ठ्य वर्ण वाले शब्दों की सूची है। इसी प्रकार भरद्वाज-सिद्धान्त तथा शमान शिक्षा आदि में भी विभिन्न प्रकार की सूचियाँ हैं। अधिकांशतः शिक्षा-ग्रन्थ सैद्धान्तिक हैं, उनमें उच्चारण, स्थान, प्रयत्न (वाह्याभ्यन्तर आदि) करण, स्वर व्यञ्जन तथा उनके भेदोपभेद, संयुक्त व्यञ्जन, ह्रस्व, दीर्घादि मात्रायें वृत्तियाँ, अवग्रह, विवृत्ति, विरामादि चिह्न, सन्धि, स्वराघात, ध्वनि, आगम, लोप विकार तथा उच्चारण के गुण-दोष आदि विषयक सामग्रियाँ प्रचुर मात्रा में हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार शिक्षाग्रन्थों का वर्ण्यविषय वर्ण, स्वर, मात्रा, साम (लय—Tempo) तथा संतान आदि हैं।

प्रातिशाख्य—भारतवर्ष में वेदों को समझने और शुद्धोच्चारण के लिए कई विधाओं का जन्म हुआ जिनमें शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण—ये ६ वेदाङ्गों के के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि प्रातिशाख्यों की गणना इनमें नहीं है तथापि इनका उद्देश्य तथा स्वरूप शिक्षा एवं व्याकरण से भिन्न नहीं है। इसीलिये प्रातिशाख्यों को कुछ विद्वान् शिक्षा के अन्तर्गत तथा कुछ विद्वान् व्याकरण के अन्तर्गत मानते है। प्रातिशाख्यों के वर्ण्य-विषय के अनुसार उन्हें शिक्षाग्रन्थ के रूप में माना जा सकता है, क्योंकि इनमें ध्वनियों और सन्धियों आदि का ही प्रायेण वर्णन है। डा० भोलानाथ तिवारी ने शिक्षा को सामान्य ध्वनि-विज्ञान तथा प्रातिशाख्यों को प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान का ग्रन्थ माना है।[1] इनमें प्रकृति-प्रत्यय रूप व्याकृति का निर्देश न होने के कारण व्याकरण का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता और न ही किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने व्याकरण नाम से स्मरण ही किया है, तथापि व्याकरण के एकदेश सन्धि आदि का वर्णन होने से लोक में सामान्यतः वैदिक व्याकरण के रूप में माना जाता है। प्राचीनकाल में प्रातिशाख्यों के लिए पार्षद तथा पारिषद नाम प्रयुक्त होता था।[2]

१. भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० २२७।

२. निरुक्त १/१७ दुर्ग टीका। महाभाष्य, सर्व वेद पारिषदं हीदं शास्त्रम्, ३/६/१४

पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि के पार्षद का अर्थ कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने प्रातिशाख्य किया है।[1]

पर्षद् अथवा 'परिषद्' से सम्बद्ध को पार्षद कहा जा सकता है। काशिकाकार तथा जगद्धर के अनुसार चरण का अर्थ वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध अध्येताओं का समूह है।[2] इससे प्रतीत होता है कि 'चरण' एक शाखा से सम्बद्ध अध्ययन-अध्यापन करने वाली संस्था के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा। प्रत्येक चरण में आवश्यकताओं के अनुसार परिषदें हुआ करती थीं। इन्हीं को 'पार्षद' भी कहा गया होगा। इन पार्षदों से सम्बद्ध ग्रन्थ को 'पार्षद' कहा जाता था।[3] चरण शब्द से किसी एक संहिता के विभिन्न आचार्यों के प्रवचन द्वारा पाठभेद होने के कारण अवान्तर विभागों में विभक्त हुई सभी शाखाओं का बोध होता है।[4]

'शाखां शाखां प्रति प्रतिशाख्यम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्' के अनुसार वेद की एक-एक शाखा के नियमों से सम्बद्ध ग्रन्थ को प्रातिशाख्य कहा जाता था; किन्तु यास्क तथा कुमारिल भट्ट ने वेदों के एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों से सम्बद्ध माना है। मैक्समूलर तथा विश्वबन्धु आदि की मान्यताओं को भ्रान्तिपूर्ण मानते हुये युधिष्ठिर मीमांसक ने चरणों के साथ ही सम्बद्ध माना है शाखाओं के साथ नहीं।[5] डा० भोलानाथ तिवारी ने 'प्रातिशाख्य' में प्रति का अर्थ प्रत्येक मानते हुये लिखा है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध किसी एक शाखा से नहीं, अपितु प्रत्येक शाखाओं से था।[6] युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रतिशाखा का अर्थ 'शाखां प्रति गता शाखा, प्रति शाखा' किया है अर्थात् जो शाखा पुनः प्रतिशाखा भाव को प्राप्त हुई हो, वह प्रतिशाखा है तथा अपने इस कथन में अनेक युक्तियाँ तथा प्रमाण दिये हैं।[7] इस विवेचना के अनुसार भी प्रतिशाख्यों का सम्बन्ध चरणों की समस्त अवान्तर शाखाओं के साथ सिद्ध होता है।

अस्तु, पूर्वापर परिस्थितियों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेदों की सभी शाखाओं से नहीं रहा होगा। यह हो सकता है कि कुछ प्रातिशाख्यों का वेद की कुछ शाखाओं से सम्बन्ध रहा हो। इस सम्बन्ध में

---

१. वत्। पृ० २२१ में उद्धृत।
२. काशिका २/४/३ तथा मालतीमाधवम्। निर्णयसागर सं० १९२६ पृ० ६.
३. पाणिनि कालीन भारत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा, पृ० २८७–९४।
४. सं० व्या० शा० का इतिहास, युधिष्ठिर मीमांसक पृ० ३२८
५. द्रष्टव्य—वही, पृ० ३२७।
६. भा० वि० की भूमिका; पृ० २२३।
७. द्र० सं० व्या० शा० का इतिहास पृ० ३२८–२९।

आज इतना ही कहा जा ककता है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेदों की कुछ शाखाओं या प्रतिशाखाओं से है।

प्रातिशाख्यों की संख्या कितनी थी, यह भी विवादमान प्रश्न है, किन्तु प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसकी संख्या १०० से अधिक ही होगी। सम्प्रति केवल निम्नलिखित प्रातिशाख्य उपलब्ध है—

१. ऋक् प्रातिशाख्य, प्रणयन कर्त्ता		शौनक
२. वाजसनेयि प्रातिशाख्य	"	कात्यायन
३. तैत्तरीय प्रातिशाख्य	"	—
४. सामवेद—प्रातिशाख्य	"	पुष्पर्षि या वररुचि
५. अथर्ववेद प्रातिशाख्य		
६. मैत्रायणी प्रातिशाख्य।		

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित चार प्रातिशाख्यों के नाम प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, जो आज उपलब्ध नहीं है—[२]

१. आश्वलायन प्रातिशाख्य
२. वाष्कल प्रातिशाख्य,
३. शांखायन प्रातिशाख्य,
४. चारायणीय प्रातिशाख्य।

प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य लक्षण-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जो विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से प्रातिशाख्य के समान ही है[३]—

१. वेद चतुराध्यायी,	२. प्रतिज्ञा सूत्र,
३. भाषिक सूत्र,	४. ऋक्तन्त्र
५. लघु ऋक् तन्त्र,	६. साम तन्त्र।
७. अक्षर तन्त्र	८. छंदोग व्याकरण।

प्रातिशाख्यों का काल डा० भोलानाथ तिवारी ने ५०० ई० पू० से १५० वर्ष ई० पू० के मध्य माना है।[४] इनमें ऋक् प्रातिशाख्य प्राचीनतम है तथा ऋक् तन्त्र सबसे बाद का है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार प्रातिशाख्यों का काल ३००० वर्ष विक्रम पूर्व से पाणिनि काल के मध्य में है।[५] वस्तुतः इन यत् किंचिदुपलब्ध प्रातिशाख्यों के आधार पर कालनिर्णय एक समस्या है।

प्रतिपाद्य विषय—प्रातिशाख्यों में प्रमुखतः उच्चारण–प्रक्रिया स्थान-प्रयत्न,

---

१. भाषाविज्ञान की भूमिका पृ० २२४
२. सं० व्या० शा० का इतिहास, पृ० ३२५–२६।
३. सं० व्या० शा० का इतिहास; पृ० २२६।
४. भा० वि० की भूमिका, पृ० २२४।
५. सं० व्या० शा० का इति०, पृ० ३५६।

ध्वनियों का वर्गीकरण, मात्रा काल, स्वराघात, सन्धि, ध्वनि-परिवर्तन (आगम, लोप, विकार आदि) वैदिक मन्त्रों के पढ़ने का ढंग तथा हस्त-संचालनादि के नियमों का विवेचन है। इन नियमों का विवेचन सम्बन्धित वेदों के सन्दर्भ में होते भी बाहुल्येन ध्वनि-सामान्य से सम्बन्धित माना जा सकता है।[1]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में शब्द-प्रयोग के सन्दर्भ में लिखा है—लौकिकानाम-र्थपूर्वकत्वात्।[2] अर्थात् लौकिक शब्दों का प्रयोग अर्थपूर्वक ही होता है। वर्णागम के सम्बन्ध में एक सूत्र है—"इति वच्चचार्याम्।"[3] उव्वट ने इसका भाष्य करते हुये लिखा है—"यथा इति करणे परत्रावस्थिते।" आगमा विकाराश्च न भवन्ति एव-मिहामि न भवन्ति। एवं हि आहुः—

"लोपागम विकाराश्च नैवेति करणेस्मृताः।
अवग्रहस्तु चर्चायामिति ना चोपदिश्यते॥"

ऋक् प्रातिशाख्य में अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ तथा औ—ये आठ स्वर बताये गये हैं—'अकारर्काराविउए ओ ऐ औ।" लृ स्वर पद के आदि और अन्त में नहीं होता, केवल मध्य में ही होता है—"पदाद्यन्तयोर्नलृकारः स्वरेषु।" उपर्युक्त स्वरों में पूर्वार्द्ध चार मूलस्वर तथा उत्तरार्द्ध चार को सन्ध्यस्वर कहा गया है। व्यंजनों के भी 'कु चु टु तु पु' इसी क्रम का वर्णन है, केवल 'शर्' वर्णों का क्रम 'हशषसाः' रूप में माना गया है।[4]

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वर्ण लोप तथा वर्णविकार का निर्देश किया गया है—[5]
(१) "वर्णस्य विकारलोपौ"
(२) "विनाशो लोपः।"

इससे वर्ण के अनित्यत्व की भावना व्यंजित होती है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में शब्द को वाय्व्वात्मक बताते हुये अनित्य माना गया है।[6]

प्रातिशाख्य सदृश ही शोनककृत बृहद्देवता ग्रन्थ है, जिसमें क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य तीन देवता माने गये हैं। इससे सूर्य को ही प्रभव और विलय का स्थान मान कर उन्हें शब्द-ब्रह्म रूप माना गया है।[7] बृहद्देवता में शब्द-ब्रह्म का स्पष्ट वर्णन है—ब्रह्मवाग् ब्रह्मसत्यं च ब्रह्मसर्वमिदं जगत्[8]।" शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में लिखा गया है—

---

१. द्र० वाजसनेयि प्रातिशाख्य, सं० वेंकटराम शर्मा, प्र० भदपुरी वि० विद्यालय तैत्तरीय प्रातिशाख्य, सं० राजेन्द्रलाल मिश्र, प० ऐसियाटिक सोसाइटी बंगाल १८। अथर्ववेद प्रातिशाख्य, श्री विद्यार्थी तथा डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा संपादित।

२. वाजसनेयि संहिता। ३. वही। ४. द्र० ऋग्वेद प्रातिशाख्य प्रथम पटल।

५. पूर्वोद्धृत, तै० प्रातिशाख्य, १/५६, ५७। ६. वाजसनेयि प्राति० प्रथम अध्याय।

७. बृहद्देवता १/६९, सं० चार्ल्स रालवेल, हरवर्ड यूनिवर्सिटी १९०४।

८. वही १/७०।

"प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणा यत्र इष्यते ।
तस्मान्नानात्वपायोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत् ।।"[1]

अर्थविकार के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है—

"सामान्यवाचिनः शब्दाविशेषस्थापिताः क्वचिद् ।
विशेषवाचिनस्त्वन्ये सामान्ये स्थापिताः क्वचित् ।।"[2]

एतावता प्रातिशाख्यों के वर्ण्य-विषयों का अवलोकन एवं विवेचन करने से स्पष्ट रूप से यह धारणा बनती है कि प्रातिशाख्यों में उन सभी विषयों का न्यूनाधिक रूप से वर्णन है जो आधुनिक दृष्टि से ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। जिस समय भारतीय मनीषियों ने ध्वनि, शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्धों का अतिपूर्वकाल में सुन्दर, स्पष्ट तथा वैज्ञानिक विवेचन कर चुके थे, उस समय पाश्चात्य देशों में इसका श्रीगणेश भी नहीं हुआ था। सच तो यह है कि उन्नीसवीं सदी के पश्चात् जो कुछ ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में यूरोपीय देशों में कार्य हुआ है, उनके पीछे उन भारतीय चिन्तनों का बहुत बड़ा हाथ है। मैक्डानल, यस्पर्शन, जोन्स, ब्लूमफील्ड तथा फर्थ आदि अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं। फर्थ ने तो अथर्ववेद प्रातिशाख्य के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि यह ध्वनि-विज्ञान की बहुत सी आधुनिक पुस्तकों से कहीं अच्छी) है।[3] ध्वनि-विवेचन की दृष्टि से ऋक् प्रातिशाख्य तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रातिशाख्यों के काल तक भारत में भाषा-विज्ञान के अंगभूत ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन उच्च स्तर पर पहुँच चुका था तथा विविध प्रातिशाख्यों में मत-मतान्तरों एवं विविध पारिभाषिक शब्दावलियों के प्रयोग से यह भी प्रतीत होता है कि कुछ विषयों में तथा वेदों की पृथक्-पृथक् शाखाओं—प्रतिशाखाओं के ध्वनियों के सम्बन्ध में अनेक सम्प्रदाय भी थे।

अस्तु, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि शिक्षाग्रन्थ एवं प्रातिशाख्य भारत में ही नहीं, अपितु विश्व में हुये भाषा-वैज्ञानिक ध्वनि विवेचक राज्यों में सबसे प्राचीन एवं तात्त्विक चिन्तनपरक शास्त्र हैं तथा आधुनिक भाषा-विज्ञान की आधारशिला है।

निरुक्त—भारतीय प्राचीन भाषाशास्त्रियों में यास्क एक महान भाषाशास्त्री था जिसने अपने 'निरुक्त' शास्त्र के माध्यम से सहस्रों वर्ष पूर्व भाषा-विज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और भाषा-शास्त्र को चिन्तन की एक नई दिशा प्रदान की। 'निरुक्त' शास्त्र छः वेदाङ्गों में एक अंग (अंग) है। इसमें निघण्टु और निरुक्त दो विभाग हैं। निघण्टु में पाँच अध्याय तथा निरुक्त में १३ अध्याय हैं। निघण्टु शब्द-कोश के समान है तथा निरुक्त में मुख्यतः वैदिक शब्दों का निर्वचन

---

१. वही, २/९९।

२. वही, २/१०९, १०।

३. द्र०, Archivum Linguasticum, वाल्यूम १, पृ० १०८।

(व्युत्पत्तिपरक चिन्तन) किया गया है। निर्वचन के साथ ही इसमें ध्वनि, भाषोत्पत्ति तथा पद-विभाग आदि के सम्बन्ध में मत-मतान्तर समीक्षणपूर्वक गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

यास्क के नैरुक्त-सम्प्रदाय, वैयाकरण-सम्प्रदाय, याज्ञिक-सम्प्रदाय तथा ऐतिह्य-सम्प्रदाय आदि अनेकों उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने इन सभी सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है। ध्वनि-विचार के सम्बन्ध में वे प्रातिशाख्यों की भी चर्चा करते हैं। यास्क ने ध्वनि के सम्बन्ध में उपधा-लोप (गम् जग्मुः), वर्णविपर्यय (श्चुत = स्तोका, कृत–तुर्क), वर्णोपजन (अस्–आस्थत्) तथा समाक्षर लोप (त्रि + ऋच् = तृचः) आदि सिद्धान्तों का निर्देश किया है।[1]

निर्वचन का कार्य आज भले ही हमें साधारण प्रतीत होता हो, किन्तु २५०० ई० पू० जब इसका आविष्कार हुआ तब निश्चित रूप से अत्यन्त बुद्धिमत्ता का विषय था। निर्वचन के सम्बन्ध में यह विचार अत्यन्त सार्थक और निष्पक्ष प्रतीत होता है कि "यद्यपि वेद के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से निरुक्त का विशेष महत्त्व है। उसके बिना वेद के वास्तविक महत्त्व को जानना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, किन्तु मेरी (लेखक की) दृष्टि में उसका सबसे बड़ा महत्त्व भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से है, जिसने कि भाषाविदों को एक नई दृष्टि दी, उन्हें भाषा की उप्पत्ति-सम्बन्धी एक सिद्धान्त दिया जो आज कितने महत्त्व का है और ऐसा लगता है कि शोध के अन्त में यही भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर रह सकेगा।"[2]

यास्क के निर्वचन सम्बन्धी सिद्धान्त में एक आधारशिला अन्तर्निहित है। उनका मत है कि किसी भी नाम के पूर्व उसका एक मूलतत्त्व होता है और वह मूलतत्त्व धातु रूप होता है, उस धातु को खोजकर शब्द का निर्वचन करना चाहिये। किसी भी शब्द को अनिर्वाच्य कह कर नहीं छोड़ना चाहिये। यास्क एक भाषा-वैज्ञानिक की भाँति व्याकरण सम्बन्धी रूप को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहता, क्योंकि ये नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति सार्वत्रिक या सार्वभौम नहीं होते हैं। निर्वचन के समय लोप, आगम, विपर्यय आदि विकारों को ध्यान में रखना चाहिये। व्याकरणात्मक प्रक्रिया के अनुसार अदृश्यमान धात्वंशों के लिए समानार्थक शब्दों को आधार माना जा सकता है।

कभी-कभी अविवेकपूर्ण निर्वचन से भयंकर परिणाम होते हैं। यास्क ने लिखा है कि प्रकरण से पृथक् एकाकी शब्द का निर्वचन नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रकरण ज्ञान के बिना किसी शब्द का सही अर्थ जानना बहुधा कठिन होता है। साथ ही निर्वचन का कथन वैयाकरण अथवा अन्तेवासी के प्रति ही करना चाहिये—नैकपदानि

---

१. निरुक्त, १/१, २।

२. निरुक्त, भूमिका, लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित।

निर्ब्रूयात्, नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे, नित्यं ह्यविज्ञातुं विज्ञाने सूया। उपसन्नाय निर्ब्रूयात् या बालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा।"[1]

निर्वचन के सम्बन्ध में यास्क एक और बात का निर्देश करता है कि निर्वचन अर्थ की दृष्टि से ही करना चाहिये। यदि उनके अर्थ समान हैं तो निर्वचन भी समान होना चाहिये, यदि अर्थ भिन्न हैं तो निर्वचन भी भिन्न होना चाहिये—"एवमन्येषामपि सत्वानामपि संदेहाः विद्यन्ते। तानि चेत् समानकर्माणि समान निर्वचनानि। नाना कर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि। तानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि।"[2]

इस प्रकार यास्क की निर्वचन प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसमें आधुनिक भाषा-विज्ञान के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निहित हैं। यास्क बहुज्ञ थे, किन्तु बहुभाषाविद् नहीं। इस कारण हो सकता है तुलनात्मक भाषा विज्ञान की दृष्टि से उनके नियम यत्र-कुत्रापि अपवादित होते हों फिर भी यास्क के नियम तुलनात्मक दृष्टि से भी अत्यन्त व्यापी हैं। इसका कारण है कि वे लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत के आधार पर भाषा के विकास तथा परिवर्तन आदि के नियमों से परिचित थे और उसके सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार कर चुके थे जिसके परिणामस्वरूप अनेक भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सभी भाषाओं के परिवर्तन की दिशा पूर्णतया एक तो नहीं, किन्तु समान अवश्य होती है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का विकास आयोनिक (Ionic) और ऐटिक (Attic) के पारस्परिक सम्बन्ध के समान था। प्लेटो ने निर्वचन को व्यक्ति की अटकलों का संग्रह कहा है, किन्तु इसे प्लेटो की भूल ही कहा जा सकता है, क्योंकि यास्क प्रत्यय, उपसर्ग तथा आगम आदि को पृथक् करके पुनः धातु की खोज करता था और तब सामान्य नियम का निर्धारण करता था। इस विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से परिचित न होने के कारण ही प्लेटो की उक्त धारणा बनी। यास्क के इस दृष्टिकोण के पीछे चाहे ग्रीक की अपेक्षा संस्कृत में विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के ज्ञान की सरलता हो, चाहे उनके पूर्व विद्वानों की विचार-दृष्टि, किन्तु स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि यास्क प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस प्रकार का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।[3]

भाषा के सम्बन्ध में यास्क ने लिखा है—"व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणम् व्यवहारार्थम् लोके।"[4] अर्थात् लोक में दैनन्दिन व्यवहार में वस्तुओं की संज्ञा के लिए शब्द व्याप्तिमान् तथा सूक्ष्म होने के कारण प्रयुक्त किये जाते हैं। व्याप्तिमत्वात् की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने शब्द की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति दो

---

१. निरुक्त २/३।

२. निरुक्त २/६।

३. उद्धृत, निरुक्त, भूमिका, पृ० ६५, लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित।

४. द्रष्टव्य—निरक्त अध्याय–१।

अवस्थाओं का निर्देश करते हुए उच्चारण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। यास्क शब्द को 'अणीय' कह कर भाषा के स्वरूप को इंगित चेष्टादि क्रियाओं से पृथक् कर दिया है।

अत्यन्त विवदमान विषय भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क ने निर्वचन के द्वारा धातुज सिद्धान्त का निर्देश किया है जिसका मैक्समूलर आदि आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ समर्थन किया।[1] अद्यावधि विभृष्ट भाषा की उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्तों में यह सर्वाधिक समर्थित एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त माना जा सकता है। भाषोत्पत्तिविषयक सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनुकरण के सिद्धान्त पर भी संक्षिप्त विवाद प्रस्तुत किया गया है—"भाषोत्पत्ति न शब्दानुकृतिर्विद्यते इत्योपमन्यव:।"

औपमन्यव शब्दानुकृति को नहीं मानते, किन्तु यास्क के अनुसार कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो प्रकृति की ध्वनियों की अनुकृति से बनाये गये हैं। अधिकांशतः पक्षियों के नाम काक, तीतर आदि। इसके अतिरिक्त कितव, दुन्दुभि, कृक आदि शब्द भी अनुकृतियों पर आधारित हैं। यास्क की दृष्टि में शब्दानुकृति का भाषा के निर्माण में विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव वह तथाकथित बाऊ-बाऊ सिद्धान्त (सिद्वान्त) का निराकरण करता है, जबकि प्लेटो ध्वनियों के मूल कारण को प्रकृति में खोजने का प्रयत्न करता है और कहता है कि भाषा में शब्दानुकृति का विशेष महत्त्व है।[2]

यास्क ने भाषा-वैज्ञानिक होने के कारण तत्कालीन स्थानीय बोल-चाल की भाषाओं की भी चर्चा की है – " अथादि प्रकृतय एवैकेषु भाषयन्ते। विकृतय एकेषु शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।...एवमेक पदानि निर्ब्रूयात्।"[3] साथ ही यास्क चतुर्धा पद-विभाग आदि के सम्बन्ध में भी मत-मतान्तरों का निर्देश करता है। यास्क पदार्थों के नामकरण के सम्बन्ध में लिखता है कि नाम धातुज होते हैं[4]"नामधातुज-माहनिरुक्ते। नाम खल्वपि धातुजम्। एवमाहु नैरुक्ता:। व्याकरणे शकटस्य च लोकम्। व्याकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति।"—[5] नामकरण में गुण, धर्म क्रिया आदि आधार होते हैं। अनेक व्यापारशील अथवा गुण-धर्मों वाली वस्तुओं के किसी एक गुण-धर्म या व्यापार के अनुसार नाम रखे जाते हैं।[6] आधुनिक पाश्चात्य

---

१. उद्धृत, निरुक्त, भूमिका, पृ० ६५ लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित।

२. भाषाविज्ञान, मैक्समूलर, भाग १, पृ० ४०७–४१७।

३. निरुक्त, २/२।

४. उद्धृत— निरुक्त की भूमिका, संपादित लक्ष्मण स्वरूप।

५. उद्धृत—निरुक्त की भूमिका, संपादित लक्ष्मण स्वरूप।

६. निरुक्त, १/१२–१४।

भाषावैज्ञानिक ग्रीत तथा मैक्समूलर आदि ने भी इस प्रकार का मत व्यक्त किया है।[1]

निरुक्त में यद्यपि प्राधान्येन निर्वचन ही किया गया है, तथापि उसमें भाषा-विज्ञान के इतने अधिक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निक्षिप्त है जिन्हें आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्तों से न्यून कथमपि नहीं कहा जा सकता। यास्क अपने काल का सर्वश्रेष्ठ भाषाशास्त्री था।

व्याकरण—वेदाङ्गों में व्याकरणशास्त्र प्रधान अंग माना जाता है—मुखम् व्याकरणम् स्मृतम्।" व्याकरणशास्त्र का मुख्य उद्देश्य भाषा को नियमित तथा संशोधित करना तथा प्रकृतिप्रत्यय निर्देशपूर्वक शब्द साधुत्व आदि है, किन्तु संस्कृत व्याकरण उसका अपवाद है। उसमें भारतीय चिन्तन की अन्य बहुत सी निधियाँ भी समाहित हैं। उसमें एक ओर व्याकरण को दर्शनशास्त्र के रूप में विकसित करके शब्द-ब्रह्म की स्थापना की गयी है तो दूसरी ओर भाषा-विज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। शब्दार्थ-चिन्तन के अन्तर्गत इन दोनों प्रक्रियाओं का समावेश किया जा सकता है जो व्याकरण के मूल उद्देश्य से पूर्णतः भिन्न नहीं हैं।

व्याकरणशास्त्र में शब्दार्थ-चिन्तन का आरम्भ कब हुआ ? इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पाणिनि के' अवङ् स्फोटाय नस्य' सूत्र से तथा यास्क के शब्दार्थ के सम्बन्ध में अनेक पूर्व विद्वानों के नामोल्लेख से यह अवश्य प्रतीत होता है कि इनके बहुत पूर्व ही इस प्रकार का चिन्तन आरम्भ हो गया था।

महर्षि पाणिनि के पूर्व का कोई ग्रन्थ नहीं है किन्तु उनके मतों का उल्लेख अनन्तरकालीन ग्रन्थों में अवश्य प्राप्त होता है। आचार्य स्फोटायन को हरदत्त ने काशिका में स्फोट सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में स्मरण किया है।[2] शब्द–नित्वत्यवादी औदुम्बरायण का यास्क ने इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।[3]" के रूप में स्मरण किया है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वातक्षि और औदुम्बरायण का उल्लेख किया है।[4]

वैयाकरण दार्शनिक आचार्य व्याडि का कोई ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनके संग्रह नामक ग्रन्थ की अनेकत्र चर्चा की गयी है[5] तथा उसके बहुत से श्लोक भी यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार संग्रह में शब्द नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया था–" संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति।"[6]

भर्तृहरि ने उक्त भाष्य की टीका करते हुये संग्रह में चौदह सहस्र तथा नागेश ने एक लक्ष श्लोकों की संख्या मानी है। व्याडि के अन्य बहुत से सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। उन्होंने अपभ्रंश की प्रकृति शब्द को मान कर भाषा-विकास के सिद्धान्त

१. भाषाविज्ञान पर वक्तृतायें, षष्ठ संस्करण, भाग २,
पृष्ठ ७०–८६ तथा शब्दार्थ विज्ञान, इंगलिश अनुवाद। अ० १८, पृ० १७१, ७२,

२. काशिका पा० सू०६/१/१२३ ३. निरुक्त १/१

४. वा०प० २/३४२ ५. म० भाष्य २/३/६६

६, म० भाष्यपश्प० पृ० ४६, मोतीलाल प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।

का निर्देश किया है—" शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारः ।"[1] अर्थ-विचार के सम्बन्ध में व्याडि का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—

" नहि किंचित पदं नामरूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थदिव जायते ।।"[2]

अस्तु, इस सम्बन्ध में इतना अवश्य माना जा सकता है कि व्याडि का संग्रह शब्द के तात्विक चिन्तन का एक महान् ग्रन्थ था ।

संस्कृत व्याकरण के महान् प्रणेता पाणिनि ने अष्टाध्यायी में विशुद्ध रूप से व्याकरणात्मक प्रक्रिया का निर्देश किया है तथापि उनके सूत्रों में यत्र-तत्र शब्द एवं अर्थ का तात्विक चिन्तन निहित है । पाणिनि ने अपगे शिक्षा-ग्रन्थ में शब्द की उच्चारणप्रक्रिया, ध्वनियों के स्थान-प्रयत्न तथा उसके वर्गीकरण आदि को विशेष रूप से सिद्धान्तित प्रतिपादित किया है ।

पाणिनि के सुधी व्याख्याकार कात्यायन ने शब्द के तात्विक पक्ष का विशेषरूप से विस्तार किया । उनका प्रथम वार्तिक' सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे ······ ।"[3] एक ओर सम्पूर्ण व्याकरण दर्शन के स्वरूप का निर्देश करता है तो दूसरी भाषा के तात्विक स्वरूप का विवेचन है । कात्यायन की दार्शनिक देन का सूचक इससे और अधिक प्रमाण क्या हो सकता है कि महावैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का वृत्ति समुद्देश्य कात्यायन ने कुछ वार्तिकों की व्याख्यामात्र है । हेलाराज ने टीका करते समय सम्बन्धित वार्तिकों को उद्धृत करके इसे स्पष्ट कर दिया है[4] । कात्यायन के सम्बन्ध में डा० रामसुरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि—

व्याकरण दर्शन का ऐसा कोई अङ्ग नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गयी हो । आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषा वृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है, प्रायः वे सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं । उनके 'वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और न्याय का रूप ले लेती हैं । कात्यायन ने व्याकर-णदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया है ।[5]

महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण के सबसे प्रामाणिक व्याख्याकार माने जाते हैं । पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि इन मुनित्रय के सम्बन्ध में कहा गया है—"यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम् ।" भर्तृहरि की दृष्टि में पतञ्जलि तीर्थदर्शी हैं और उनका महाभाष्य संग्रह का प्रतिकंचुक (प्रतिनिधि कल्प) है तथा सभी न्याय बीजों का अधिष्ठान है---

"कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ।।
+ +
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रह प्रति कंचुके ।"[6]

---

१. वा० प० १/१४८ हरिवृत्ति । २. वा० १/२४ ।
३. म० भाष्य, पश्य०, पृ० ४७: मोतीलाल प्रकाशन, वाराणसी १९६७ ।
४. द्र० वा०प०, तृतीय काण्ड, वृत्ति समुद्देश, हेलाराज टीका ।
५. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० १२ ६. वा० प०, २/४८-५०

लगभग दो शताब्दी ईसा पूर्व पाणिनि की अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें उन्होंने वररुचि (कात्यायन) के वार्तिकों की परीक्षा करते हुये पाणिनि के समर्थन के साथ उनके सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। महाभाष्य आकार, गुण तथा प्रभाव सब में महान् हैं। इसमें केवल संस्कृत भाषा का विश्लेषण मात्र नहीं अपितु भाषा सम्बन्धी दर्शन है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने महाभाष्यकार को गुरु-रूप में स्मरण किया है और उनके वाक्यपदीय का आधार भी बहुत अंशों में महाभाष्य ही है। सच तो यह है कि भर्तृहरि का शब्द-दर्शन जो स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत है, वह महाभाष्य में ही इतस्ततः विकीर्ण भाषा दर्शन या व्याकरण दर्शन के सिद्धान्त का संकलन तथा पल्लवन है।

महाभाष्य में वर्ण, शब्द, वाक्य, पद, पदभेद, जाति, व्यक्ति पद-पदार्थ, लिंग-संख्या-काल, भाषा के स्वरूप, भाषा के विकास, शब्द नित्यानित्यत्व तथा शब्द ब्रह्म आदि विषयों पर वैधानिक विश्लेषण किया है, प्रायः भाषा-दर्शन का कोई विषय पतञ्जलि से अछूता नहीं रहा है। शब्द की परिभाषा करते हुये लिखते हैं—

"येनोच्चरितेन सास्ना लांगूल कुकुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययेन भवति स शब्दः।"[1]

महाभाष्यकार आगे लिखते हैं—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते।"[2] शब्द-नित्यता तथा शब्द-ब्रह्म का भी सुन्दर विवेचन किया है।[3] महाभाष्य के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को प्रस्तुत निबन्ध में यथावसर उद्धृत किया गया है।

महान वैयाकरण एवं भाषाशास्त्री भर्तृहरि ने लगभग ईसवीय पञ्चम शताब्दी[4] में अपने गुरु वसुरात[5] के उपदेश तथा अन्य शैवदार्शनिक ग्रन्थों का आलोडन करके वाक्यपदीय नामक महान् ग्रन्थ की रचना की। इसमें कुल तीन काण्ड हैं। प्रथम दो पर स्वोयज्ञ वृत्ति टीका भी स्वयं ने लिखी है[6]। इसके अतिरिक्त महाभाष्य के प्रथम तीन आह्निक पर टीका भी लिखी है जो महाभाष्य-दीपिका या महाभाष्य त्रिपादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके शब्द-धातु समीक्षा नामक अनुपलब्ध ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।[7] महाभाष्यदीपिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरिशतक ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसासूत्र-वृत्ति आदि ग्रन्थ भी

---

१. म० भाष्य पश्प० पृ०७, मो० प्र० वाराणसी १९६७

२. वही, पश्य० पृ० ५, प्रकाशन, वही। ३. म० भाष्य पश्यशाह्निक।

४. द्र० सं० व्या० दर्शन भूमिका पृ० १५

५. द्र० वही तथा सं० व्या० का इतिहास पृ० ३९९ द्वितीय संस्करण।

६. द्रष्टव्य, वही।

७. द्र० सं० व्या० द० भूमिका, पृ० २२

भर्तृहरि द्वारा लिखे हुये माने जाते हैं, किन्तु वे वैयाकरण भर्तृहरि ही थे, यह विवादास्पद है।[1]

भर्तृहरि का सबसे प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वाक्यपदीय है। अतः इस पर अनेक विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं जिनमें वृषभदेव, पुण्यराज, हेलाराज तथा धर्मपाल प्रमुख टीकाकार हैं। आधुनिक विद्वानों में पं० रघुनाथ शर्मा ने 'अम्बाकर्त्री' नामक टीका लिख कर वाक्यपदीय के अध्येताओं का बड़ा उपकार किया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने फुल्लराज तथा गंगादास दो अन्य टीकाकारों का भी उल्लेख किया है।[2]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में व्याकरणात्मक प्रक्रिया से कुछ अलग हट कर उससे सम्बद्ध भाषा-वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। भर्तृहरि ही वह वैयाकरण है जिसने व्याकरणशास्त्र को दर्शन के पद पर प्रतिष्ठित किया तथा भाषा-विज्ञान के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का सर्वप्रथम विवेचन किया।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय के आलोडन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा पर मत-खण्डन, स्वमत-स्थापन से निरपेक्ष होकर अपने पूर्व के विद्वानों के मतों को स्थान दिया है और उनका खण्डन न करके केवल स्वमत का समर्थन किया है तथा असाम्प्रदायिक भाव से दूसरे के उचित सिद्धान्तों को स्वीकार भी किया है। यही कारण है कि उत्तरकालीन विद्वान् यत्र तत्र उनके मतों तथा अन्य के उद्धृत मतों में अन्तर नहीं कर सके। यथा—"शब्दोत्पत्ति प्रक्रिया, शब्द-भेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, शब्दार्थ प्रवृत्ति निमित, वाक्य-लक्षण आदि विवदमान विषयों में भर्तृहरि ने अन्यान्य दर्शनों के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।[3] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड के प्रारम्भ में वाक्य के अनेकों लक्षणों का संग्रह किया तथा "वाक्यम् प्रतिमतिभिन्ना"[4] कह कर इसका संकेत भी कर दिया है किन्तु कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्तिक' तथा उसी की टीका में सुचरित मिश्र एवं पार्थसारथि मिश्र ने वाक्य के उस लक्षण को वैयाकरणों का सिद्धान्त मानकर खंडन किया। भर्तृहरि एक समन्वयवादी एवं स्वतन्त्र विचारक विद्वान् थे। उन्होंने त्याज्य को त्यागा है और ग्राह्य को ग्रहण किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

भर्तृहरि का वाक्यपदीय ग्रन्थ व्याकरण-दर्शन एवं भाषाशास्त्र का रत्नाकर है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों को आज भी वह चुनौती दे रहा है। इसके तीन काण्डों को विषय-विवेचन के अनुसार ही ब्रह्म-काण्ड वाक्य-काण्ड तथा पद-काण्ड (प्रकीर्णकाण्ड भी) कहा जाता है। प्रथम काण्ड में अक्षर ब्रह्म की सिद्धि की गयी है। सम्पूर्ण भौतिक जगत् को उसी अक्षर ब्रह्म का विवर्त माना गया है—

---

१. द्र० वही, पृ० २५।
२. द्र० सं० व्या० शा० का इति० भाग २, द्वितीय संस्करण, पृ० ४०९-१०।
३. द्र० वा०प०, प्रथम काण्ड तथा द्वितीय काण्ड।
४, वाप० २/१।

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वम् यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।"[१]

इसी काण्ड में स्फोट सिद्धि, शब्द-नित्यत्ववाद, शब्द और अर्थ में अभेद निरूपण, शब्दोपत्ति प्रक्रिया, परा-पश्यन्ती-मध्यमा वैखरी वाणी-विभाग, आदि का भी विवेचन किया गया है। द्वितीय काण्ड में वाक्यलक्षण, शब्दार्थ-भेद, उपचरित या आरोपित अर्थ जाति-व्यक्ति रूप अर्थ आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। तृतीय काण्ड पद-काण्ड है। अतः उसमें पदों के सम्बन्ध में शब्दार्थ सम्बन्ध, जाति, द्रव्य, गुण, दिक्, क्रिया, काल, पुरुष, संख्या, उपग्रह, लिंग, वृत्ति एवं साधन आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

वाक्यपदीय पर डा० सत्यकाम वर्मा ने भाषा-तत्व और वाक्यपदीय नामक एक भाषा-वैज्ञानिक अनुसन्धानात्मक निबन्ध लिख कर भर्तृहरि को आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से परखा है। इसके अतिरिक्त डा० रामसुरेश त्रिपाठी, डा० कपिलदेव द्विवेदी तथा डा० गौरीनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने अपने विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से भर्तृहरि को समझने के लिए मार्ग-निर्दिष्ट किया है।

भर्तृहरि के बाद व्याकरणात्मक शास्त्रीय-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पर्याप्त ऊहापोहात्मक धारणायें अवतरित हुई, जैसा कि अपेक्षित था, क्योंकि एक महान् भाषा-शास्त्रीय ग्रन्थ की अवतारणा के पश्चात् कितने ही परम्परित या अपरीक्षित सिद्धान्तवादियों में भ्रान्तियों का होना स्वाभाविक है। बौद्ध दार्शनिकों ने उनके सिद्धान्तों की समीक्षा की। विशेष रूप से बौद्ध-दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा प्रमाण-वार्तिक के टीकाकार कर्णकगोमी तथा प्रज्ञाकर गुप्त ने वाक्यपदीय की कारिकाओं को उद्धृत करते हुये उनकी समीक्षा की है। शांतरक्षित और कमलशील भी भर्तृहरि से बहुत प्रभावित[२] थे। जैनाचार्यों में वादिदेव सूरि तथा प्रभाचन्द्र आदि ने उनके सिद्धान्तों पर विचार किया। भट्टकलंक देव ने तत्वार्थ वार्तिक में शब्द को मूर्त या पौद्गलिक माना है तथा ध्वनि के संचरण आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया है[३]—शरीर वाङ्मनः प्राणायानाः पुद्गलानाम्। न्याय विनिश्चय विवरण टीका में वादिरानसूरि ने शब्द-स्वरूप संकेतग्रह तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध में विचार किया है।[४] मीमांसा-शास्त्रियों में कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि ने भी उद्धृत-अनुद्धृत रूप में उनकी आलोचना तथा खण्डन किया। मण्डन मिश्र ने मीमांसक होते हुए भी एक ओर कुमारिल भट्ट के कुछ तर्कों का खण्डन किया और दूसरी ओर 'स्फोटसिद्धि'

---

१. वा० प० १/१।

२. द्र० तत्वसंग्रह, १२८ से १३८ कारिका, भाग १ तथा भाग २ में वर्णन है।

३. तत्वार्थ वार्तिक ५/१६

४. न्यायविनिश्चय विवरण टीका अ० २/सू० २८।

नामक ३६ कारिकाओं वाले एक ग्रन्थ की रचना करके[1] स्फोट सिद्धान्त को स्थिर करने का प्रयास किया है। इससे व्याकरण-दर्शन के प्रति उनकी सहृदयता का परिचय मिलता है। डा० रामसुरेश त्रिपाठी के अनुसार स्फोट-सिद्धि की रचना का उद्देश्य व्याकरण के सिद्धान्तों के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खंडन प्रमुख था ।[2] नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने न्याय-मंजरी में व्याकरणशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों की आलोचना की है। न्यायमंजरी के अवलोकन से डा० रामसुरेश त्रिपाठी की यह बात नितान्त सत्य प्रतीत होती है कि उनका हृदय व्याकरण दर्शन की ओर है और मस्तिष्क न्याय-दर्शन की ओर।[3]

पाणिनि व्याकरण की परम्परा में कात्यायन तथा पतञ्जलि के अतिरिक्त उनकी अष्टाध्यायी के व्याख्याकार जयादित्य तथा वामन हैं। सप्तम शताब्दी में दोनों विद्वानों ने मिलकर अष्टाध्यायी की सर्वाङ्गीण व्याख्या और उसके अनुसार साधुत्व प्रक्रिया का विवेचन किया। तदनन्तर जिनेन्द्र बुद्धि द्वारा 'न्यास' या 'काशिका विवरण पंजिका' तथा हरिदत्त द्वारा पदमञ्जरी टीकाएँ भी लिखी गई। इन सब का व्याकरण की साधुत्व-प्रक्रिया से विशेष सम्बन्ध होते हुये भी यत्र-तत्र व्याकरण-दर्शन की सामग्री विद्यमान है।

पतञ्जलि के महाभाष्य पर लगभग नवम शताब्दी में[4] काश्मीरी पण्डित कैयट ने 'प्रदीप' नामक महत्वपूर्ण टीका लिखी। सतरहवीं शती में महाराष्ट्रीय विद्वान् नागेश भट्ट ने कैयट के प्रदीप पर 'उद्योत' नामक टीका लिखी[5]। ये दोनों ही टीकायें महाभाष्य के गूढ एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के समझने में विशेष सहायक सिद्ध हुई तथा कहीं-कहीं इन विद्वानों ने अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रस्तुत किये हैं। यथा—

"भाष्यकारस्तु कुणि-दर्शनम् अशिश्रियत्"
\+ \+
"ज्ञानस्य शब्दरूपात्वापत्तिरितिदर्शनमात्रम् भाष्यकारस्य"[6]

छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक व्याकरण-दर्शन अथवा भाषाशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ नहीं लिखे गये। दशम शताब्दी में भोजराज ने 'श्रृङ्गार प्रकाश' तथा 'सरस्वती कण्ठाभरण' दो ग्रन्थ लिखे जिनमें से 'श्रृङ्गार-प्रकाश' में व्याकरण-दर्शन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। भोज ने श्रृङ्गार प्रकाश में वाक्यपदीय, महाभाष्य दीपिका

१. व्या० शा० का इतिहास, पृ० ४१० द्वितीय भाग, द्वि० संस्करण।
२. सं० व्याकरण दर्शन, पृ० ३०।
३. वही, पृ० ३०।
४. सं० व्या० द० भूमिका, पृ० ३०।
५. सं० व्या० शा० का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०८।
६. महाभाष्य प्रदीप १/१/६४, १/४/२६।

तथा अन्य व्याकरण के अज्ञात-ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण दिया है तथा भर्तृहरि के प्रतिभादर्शन आदि सिद्धान्तों की कतिपय स्थलों पर समीक्षा भी की है। भोज ने 'स्फोटवाद' और 'शब्दब्रह्मवाद' का अपने ढङ्ग से उल्लेख किया है।[1]

ग्यारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य वैयाकरणों का जाल-सा बिछा हुआ है जिसमें व्याकरणिक प्रक्रिया से सम्बद्ध ग्रन्थ अधिक हैं तथा भाषाशास्त्रीय या दार्शनिक ग्रन्थों की न्यूनता है। व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थों में पुरुषोत्तम देव का 'कारकचक्र' सायण का 'सर्वदर्शन संग्रह' जिसमें पाणिनि दर्शन के नाम से व्याकरण-दर्शन का उल्लेख किया गया है तथा शेष श्रीकृष्ण का 'स्फोटतत्व निरूपण' आदि है। भट्टोजिदीक्षित (१६०० ई०) के शब्दकौस्तुभ में व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य अनेक आचार्यों ने व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ लिखे। कौण्ड भट्ट का वैयाकरण भूषण जो भट्टोजिदीक्षित की कारिकाओं की व्याख्या है तथा उसका लघु संस्करण वैयाकरण भूषणसार एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कौण्ड भट्ट ने नैयायिकों, वेदान्तियों तथा मीमांसकों आदि के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया है।

आधुनिक वैयाकरणों में नागेश भट्ट व्याकरण-दर्शन के अच्छे विद्वान् थे। महाभाष्य तथा वाक्यपदीय का भली-भाँति आलोडन किया था। शैव-दर्शन से अधिक प्रभावित थे। उनके ग्रन्थ 'वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा' तथा उसके लघु-संस्करण 'परमलघु मंजूषा' का आधार वाक्यपदीय, महाभाष्य तथा शैव-दर्शन के ग्रन्थ विशेष रूप से हैं। नागेश में मंजूषा में शब्द-शक्ति, स्फोट, बौद्धपदार्थ, शब्द-ब्रह्म शब्दसाधुत्वासाधुत्व अपभ्रंश शब्द आदि विषयों पर विशेष रूप से विचार किया है। भर्तृहरि उनके आधार होते हुये भी कहीं-कहीं पर नागेश ने उनसे मतभेद प्रदर्शित किया है। यथा—भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म को अनादि या परब्रह्म माना है[2] किन्तु नागेश ने शब्दब्रह्म को परब्रह्म से भिन्न माना है।[3] नागेश का स्फोटवाद भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो अड्यार लायब्रेरी से प्रकाशित है।[4] इनके अतिरिक्त नागेश द्वारा 'बृहच्छब्देन्दुशेखर', भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार उसकी व्याख्या के रूप में, लिखा गया है तथा परिभाषेन्दुशेखर में लोक एवं शास्त्रसम्बन्धी अनेक सामान्य-सिद्धान्तों को परिभाषा के रूप में निबद्ध किया गया है। भाषाशास्त्र एवं व्याकरण के नियमों की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अर्वाचीन व्याकरणदर्शन तथा भाषाशास्त्र के ग्रन्थों में जगदीश भट्टाचार्य

---

१. सं० व्या० द० पृ० ३१।
२. वाक्यपदीय, १/१।
३. ल० मंजूषा, पृ० १४५।
४. सं० व्या० द० भूमिका, पृ० ३२।

की शब्द-शक्ति प्रकाशिका गोकुलनाथ रचित 'पदवाक्यरत्नाकर' तथा मौनी श्रीकृष्ण भट्ट की 'स्फोटचन्द्रिका' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' यद्यपि प्रधानतया न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है, तथापि व्याकरण के सिद्धान्तों के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है।

दर्शनशास्त्र में भाषाशास्त्रीय तत्व—

व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा, वेदान्त तथा शैवदर्शन में भी यत्किंचित् भाषा-शास्त्रीय तत्वों का विवेचन किया गया है। यद्यपि कुछ शास्त्रों का उद्देश्य प्राधान्येन शाब्दिक—विचार नहीं है तथापि प्रसंगतः तत्सम्बद्ध अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

गौतम के न्याय-सूत्र में शब्द का नित्यानित्यत्व शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त तथा शब्द के आरोपित अर्थ आदि के सम्बन्ध में विचार निहित हैं।[1] न्यायसूत्र पर वात्स्यायनकृत भाष्य अत्यन्त उपयोगी है। जयन्त भट्ट की 'न्यायमञ्जरी' में व्याकरणदर्शन के अनेक सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है। गदाधर भट्टाचार्य के 'शक्तिवाद' तथा व्युत्पत्तिवाद' में शब्दशक्ति के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया गया है। विश्वनाथ पंचानन ने न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली में शब्दार्थबोधप्रक्रिया, शब्दार्थबोध के उपकरणभूत आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा जाति या व्यक्ति रूप अर्थ के सम्बन्ध में तात्विक विचार किया है। शब्द को आकाश का गुण माना है तथा ध्वनि की संचरणशीलता आदि पर वैज्ञानिक विचार किया है। जगदीश भट्टाचार्य की 'शब्द शक्ति प्रकाशिका' प्रसिद्ध पुस्तक है जिसमें शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में प्रौढ़ विचार निहित हैं। इसके अतिरिक्त उद्योतकर के न्यायवार्तिक वाचस्पति मिश्र के न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका तथा नागेश के तत्वचिन्तामणि में भाषाशास्त्रीय कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन है।

मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट का 'मीमांसा-श्लोक-वार्तिक' भाषाशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कुमारिल भट्ट ने वर्ण पद, वाक्य, स्फोट तथा प्रतिभा आदि विषयों का विवेचन किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण व्याकरण सम्मत न होकर आलोचनात्मक रहा है। उन्हीं का अनुगमन उनके टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने भी किया है। 'मीमांसादर्शन' तथा उसके शाबरभाष्य में भी यत्र-तत्र शब्द-शास्त्रीय तत्व उपलब्ध हैं। मीमांसा भाष्य की बृहती टीका में प्रभाकर के कतिपय सिद्धान्त निहित हैं जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं।

वाचस्पति मिश्र की भामती तथा आदिशेषकृत परमार्थसार में बौद्ध-पदार्थ का अत्यन्त बौद्धिक विवेचन किया गया है जिसका शब्दार्थ-सम्बन्ध की दृष्टि से अधिक महत्व है। वेदान्त-दर्शन के शांकर-भाष्य में भी बौद्धार्थ तथा स्फोट आदि सिद्धान्तों का उल्लेख है। तन्त्र एवं शैव-दर्शन से सम्बद्ध दो सिद्धान्तों का विवेचन

---

१. न्यायदर्शन सू० २/१/५०-५७, २/२/१३-१८, ५६-५८।

विशेष रूप से किया गया है—एक तो शब्द-ब्रह्म का तथा दूसरा परा; पश्यन्ती आदि वाणी विभाग का। इसके अतिरिक्त ध्वनि, वर्ण आदि के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र विवेचन किया गया है। अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्श' यद्यपि तांत्रिक ग्रन्थ हैं तथापि अक्षरों तथा वर्णों के महत्व-प्रतिष्ठापनार्थ अक्षर ब्रह्म तथा वाणीविभाग (परा, पश्यन्ती आदि) का विशद विवेचन किया गया है। ध्वनि आदि का भी अत्यन्त वैज्ञानिक वर्णन है—[1]

"एक नादात्मकोवर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सो नस्तमित रूपत्वादनाहत इवोदित ॥२१७॥"

+ +

"सतु सद्भावो मातृसद्भाव एव सः।
परा सैकक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम् ॥२१८॥"

अभिनवगुप्त ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति-विमर्श में भी उक्त विषयों का विवेचन किया है। सोमानन्द पाद की 'शिवदृष्टि' तथा उस पर उत्पल की वृत्ति शंकराचार्य के प्रपंचसार, भास्करराय के 'सौभाग्य भास्कर' तथा राघवभट्ट के पदार्थादश में भी अक्षर-ब्रह्म तथा वाणी-विभाग का वर्णन है। स्वच्छन्द तन्त्र तथा भास्करराय के सेतुबन्ध (नित्यषोडशिका की टीका) में भी शब्द के तात्विक विषयों पर विचार किया गया है। इन ग्रन्थों तथा इनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है, इनके विवेचन का दृष्टिकोण भाषा-शास्त्रीय तान्त्रिक साधनाओं से विशेष सम्बन्धित है। अतएव इनमें वर्णों तथा ध्वनियों आदि में पृथक्-पृथक् देवताओं का निवास भी माना गया है। नाद ब्रह्म की सिद्धि इनका परमलक्ष्य था।[2]

साहित्यशास्त्र में भाषाशास्त्रीय तत्त्व—

व्याकरण या भाषाशास्त्र शब्द के वाच्य अर्थ के सम्बन्ध में ही मुख्यतः विचार करता है किन्तु काव्यशास्त्र में वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) मात्र का कहने वाला काव्य निम्नकोटि का माना जाता है। अतः वाच्यातिरिक्त लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ प्राधान्येन अपेक्षित होता है। अतएव कतिपय काव्याचार्यों ने शब्द-वृत्तियों के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है। व्यंजना-वृत्ति की स्थापना आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में तथा मम्मट ने काव्यप्रकाश में की है। महिमभट्ट ने व्यक्ति-विवेक में व्यंजना का खण्डन किया है। मुकुल भट्ट ने अभिधा वृत्ति मात्रिका तथा मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणा का तात्त्विक विवेचन किया है। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने भी शब्दशक्तियों का विवेचन किया है।

---

१. द्र० तन्त्रालोक, ६/२१७-१८, ३/२४६ आदि;
दि रिसर्च डिपार्टमेन्ट जम्मू एण्ड काश्मीर स्टेट श्रीनगर।
२. सेतुबन्ध, २३२।

आधुनिक भाषाशास्त्रीय उपलब्धियाँ—

इस प्रकार भाषाशास्त्रीय भारतीय-चिन्तन परम्परा, जिसका प्रारम्भ वेदों से हुआ, बहुमुखी होती हुई किसी न किसी रूप में सभी क्षेत्रों में स्थान ग्रहण कर चुकी थी, किन्तु १९वीं शताब्दी में पाश्चात्य चिन्तन पद्धति के प्रभाव से उसकी दिशा परिवर्तित सी हो गयी और मौलिक विचारों का त्याग करके उनके उच्छिष्ट विचारों के ग्रहण में ही हम अहम्मन्य होने लगे। इन परिस्थितियों में भी अनेकों आधुनिक विद्वानों ने इस दिशा में भारतीय विचारों को पुनरुज्जीवित करते हुये उसको प्रकाश में लाने में विशेष कार्य किया। पूर्वोक्त सभी शास्त्रों के आलोडन से एक समन्वयात्मक एवं अधुनातन विचारों को स्थिर करने का प्रयास किया। आधुनिक शोध-प्रबन्धों तथा गवेषणात्मक निबन्धों में विशेषत: उल्लेखनीय है—गोपीनाथ कविराज का "डाक्टरिन आफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी", प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती की दो पुस्तकें 'फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर' तथा लिंग्विस्टिक स्पैकुलेशन आफ दि हिन्दूज' तथा रामाज्ञा पाण्डेय कृत 'प्रतिभादर्शन' एवम् व्याकरणदर्शन भूमिका। डा० गौरीनाथ शास्त्री का 'द फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग' एक उच्च कोटि का भाषा-शास्त्रीय शोधप्रबन्ध है। अर्थ-विचार से सम्बन्धित डा० कपिलदेव द्विवेदी का व्याकरणदर्शन तथा अर्थविज्ञान एवं डा० रामचन्द्र पाण्डेय का 'प्राब्लम आफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी' उच्चकोटि के शोधप्रबन्ध हैं। डा० रामसुरेश त्रिपाठी ने संस्कृत-व्याकरण दर्शन में से सूक्ष्म प्रज्ञा से भाषाशास्त्रीय विषयों का संकलन किया है। डा० सत्यकाम वर्मा ने वाक्यपदीय के भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों को आधुनिक भाषा-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया है। हरिशंकर जोशी ने 'प्रतिभादर्शन' में प्राचीन भाषा-शास्त्रीय सिद्धान्तों को नये सन्दर्भों में देखने का प्रयास किया है। डा० विद्यानिवास मिश्र ने भी पाणिनीय भाषा-दर्शन और भारतीय-चिन्तन के सम्बन्ध में अत्यन्त मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। पण्डित रामप्रसाद का 'प्रमाण समीक्षा' अत्यन्त गवेषणात्मक शोधप्रबन्ध है। इन विद्वानों ने अत्यन्त गूढ़ तथा अस्पष्ट विचारस्थली को स्वकीय प्रतिमा से प्रकाशित करके उस अतीत की गौरवमयी चिन्तन परम्परा को अग्रसर करने के लिए मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है।

———

द्वितीय कल्प

शब्द-स्वरूप-विमर्श

भारतीय चिन्तन मूलतः वाक्-केन्द्रित चिन्तन है। इस धारणा के तीन आधार हैं—प्रथम यह कि समस्त विधायें ही नहीं, समस्त कलाएँ भी वाग् द्वारा ही या दूसरे शब्दों में वाचिक व्यापार द्वारा प्रेरित हैं, यही पौरस्त्य कला दृष्टि और पाश्चात्य कला दृष्टि में मौलिक अन्तर है। पूर्वी कला दृष्टि में कला किसी प्रसिद्ध कृति, आख्यान या लोकगाथा के सन्दर्भ में ही उद्भूत होती है, पश्चिम में वह स्वतन्त्र रूप में जीवन को अभिव्यक्त करती है।

द्वितीय आधार यह है कि भारतीय चिन्तन में प्रातिभ शब्द-ज्ञान की साधना, ज्ञान, उपासना तथा लोकजीवन के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। सर्वत्र किसी न किसी रूप में ऐसी शब्दराशि का प्रामाण्य स्वीकृत है, जो या तो अपौरुषेय है (चाहे विराट् सत्य की समष्टि चित्त के द्वारा उपलब्धि के कारण अपौरुषेय माना जाय अथवा विशाल लोकमानस में एक साथ झंकृत होने की क्षमता के कारण अपौरुषेय माना जाय) अथवा किसी आप्त अर्थात् तपः सिद्ध, ज्ञान-सिद्ध लोकमान्य व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट है।

तृतीय आधार यह है कि भारतीय संस्कृति में सत्य को सबसे ऊँचे मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। सत्य पर ही यह पृथिवी टिकी हुई है और सत्य ही से आकाश प्रकाशित है। इस सत्य की अभिव्यक्ति वाचिक रूप में होती है। ब्राह्मण और श्रमण दोनों संस्कृतियों में 'सच्चकिरिया' (सत्यक्रिया) के द्वारा अपने सत्य आचरण की शपथ लेकर असम्भव को सम्भव बनाने की घटनाएँ बहु वर्णित हैं। यह सत्यक्रिया वास्तव में वाचिक, मानसिक और कायिक आचरण की एकान्विति ही है। इसलिए भी कि वाचिकरूप में अभिव्यक्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती रही है। वाक् शब्द समस्त सृष्टि प्रक्रिया का समस्त परिशुद्धता का और समस्त शाश्वत गुणवत्ता का उपलक्षण है। समूची सृष्टि ही 'देवस्य काव्यम्' के रूप में देखी गई है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है सविता एक कवि के रूप में समस्त द्विपदों और चतुष्पदों के कल्याण के लिए विश्व के असीम रूपों की सृष्टि करते हैं—

"विश्वा रूपाणि प्रति मुन्वते कविः।
प्रासावीद भद्रम् द्विपदे चतुष्पदे॥"[1]

इस नामरूप (शब्द-अर्थ) का व्याकरण ही सृष्टि के रहस्य की कुंजी है। आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में 'सोऽहम्' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे शब्दों द्वारा प्रतीयमान अस्तिभाव यद्यपि भीतरी रूप में आत्म-संकल्प का व्यापार लगता है; तथापि बाह्य रूप में यह दृश्य सृष्टि व्यापार ही है। यह एक ओर अतिरिक्त प्रजनन है,

१. ऋग्वेद; ५/८१/१३।

दूसरी बार नवसंस्कृत जन्य है और दूसरी ओर यह एक तष्ट (सुघड़) और सौद्देश्य साध्यरूप बौद्धिक रचना भी।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य में प्रकाश और ध्वनि दोनों शक्तियों का आधान किया गया है, इसलिए इस शब्द की व्युत्पत्ति में दो धातुओं की खोज की गई है, जिनका आकार तो सदृश है पर अर्थ भिन्न, एक का अर्थ प्रकाशित करना या प्रकाशित होना और दूसरे का अर्थ स्वरायमान या ध्वनित होना।

ऋग्वेद में वाक् के मुख से कहलाया गया है कि मैं स्वयं यह बात उद्घोषित करती हूँ जो कि देवताओं और मनुष्यों दोनों को स्वीकृत होगी, जिसे चाहूँ उसे सर्वाधिक ओजस्वी बना दूं, मन्त्रद्रष्टा ऋषि बना दूं, जिसे चाहूँ उसे मेधावी बना दूं—

"अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोभि तं ब्रह्माणतमृषिं तं सुमेधाम्॥"[2]

इसी अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है—सम्पूर्ण सृष्टि शब्द का ही परिणाम है। यह मान्यता वेदशास्त्रादि सम्मत है—"शब्दस्य परिणामो भित्याम्नाय विदोविदुः।"[3]

द्विधा विभक्त यह जगत् नामरूप (शब्द और अर्थ) की ही समन्वित सत्ता है। वही शब्द रूप में प्रकाशक और अर्थ रूप प्रकाश्य है—"प्रकाशक प्रकाश्यत्वं कार्य कारण रूपता"।[4]

शब्द ही एक तत्व है जो निखिल जगत् को एकात्मकता के सूत्र में गूँथे हुये है। संसार का समस्त व्यवहार शब्द के ही अधीन है। बालक की कर्त्तव्यता के ज्ञान का साधन शब्द रूप है। शब्द शक्ति विरहित ज्ञान वस्तु के बोधन में समर्थ नहीं हो सकता। उसकी स्थिति चैतन्यहीन शरीर या तेजोहीन अग्नि जैसी होगी।[5]

समस्त विद्याओं और कलाओं का ज्ञान शब्दाधीन है। दण्डी के अनुसार शब्द रूपी ज्योति यदि इस जगत् में प्रदीप्त न हो तो समस्त जगत् गहन अन्धकार में डूबा रहे—

"इदमन्धलमः कृत्स्नं जायते सचराचरम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥"[6]

जिस शब्द के महत्व का वर्णन शब्द की शक्ति से सर्वथा परे है, उस शब्द का स्वरूप या उसका लक्षण भी निश्चित कर पाना संभव नहीं है, तथापि भाषा-वैज्ञानिकों तथा वैयाकरणों तथा अन्य दार्शनिकों ने शब्द के स्वरूप को विवेचित करने की पूर्ण चेष्टा की है। भारतीय चिन्तन असत्य से सत्य की ओर, अवस्तु से वस्तु की ओर तथा जड़

---

१. वैदिक एग्ज़ोलरिज्म, आनन्द कुमार स्वामी।
२. ऋग्वेद, वाक् सूक्त १०/१२५/५।
३. वा० प०, १/१२०। ४. वही, २/३२।
५. वही, १/११६–१२५। ६. काव्यादर्श, १/४।

से चेतन की ओर सतत गमनशील रहा है। शब्द के चिन्तन के सम्बन्ध में यही व्याकरणिक प्रक्रिया उसकी ब्रह्म-रूपता तक पहुँचाने में समर्थ होती है। यह ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा किसी स्थूल पदार्थ को स्वीकार करके उसके अन्तिम रूप तक पहुँचने पर उस नित्य, शाश्वत् तत्व (ब्रह्म) की उपलब्धि हो सकती है, जिसका विवर्त यह सम्पूर्ण स्थूल पदार्थ है।

यही कारण है कि शब्द के सम्बन्ध में प्रायः सभी भारतीय आस्तिक दर्शनों में विचार किया गया है और उन सबका मूल अनादि और अपौरुषेय वेद है। दूसरे शब्दों में सभी शास्त्रों में वैदिक भावनाओं की ही व्याख्या की गई है। वैदिक काल से आज तक तथा पौरस्त्य से पाश्चात्य तक ब्रह्मात्मक शब्द भावना से लेकर भौतिक शब्द रूप तक के सम्बन्ध में जो विचार-शृंखला बनी है, वह एक ही हो, उसमें ग्रन्थियाँ न हों, कड़ियाँ न हों, यह सम्भव नहीं है।

शब्द-स्वरूप के निर्धारण में जितनी ही गहराई से विचार किया जाय उतनी ही उलझने सामने आती जाती हैं। कुछ विद्वान् शब्द को भाषा की स्वतंत्र इकाई मानते हैं और कुछ विद्वान् वाक्य को। शब्द तो वाक्य का काल्पनिक भेद है।

कुछ विद्वान् शब्द को नित्य और विभु मानते हैं तो कुछ आचार्यों की दृष्टि में वह अनित्य और कृतक है। अस्तु, अत्यन्त विवादों के होते हुए भी शब्द के स्वरूप में अन्तर्सामंजस्य प्रतीत होता है। भाषा से वाक्य और शब्द का सम्बन्ध कितना भी उलझा क्यों न हो, किन्तु दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है। मत-मतान्तरों के अनुसार शब्द का स्वरूप प्रस्तुत है। व्याकरणिक प्रक्रिया द्वारा जब हम भाषा का विश्लेषण करते हैं तब क्रमशः भाषा-वाक्य-शब्द और वर्ण का स्वरूप सामने आता है। अतएव वर्ण संघटन को शब्द तथा शब्द-समूह को वाक्य माना जाता है। यह शास्त्रिय लक्षण नहीं।

शब्द-स्वरूप—शब्द स्वरूप—'शब्दयते इति शब्दः' शब्द धातु से घञ् प्रत्यय करके 'शब्द' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'शब्द' शब्द का प्रयोग सुदूर अतीत से अनेक रूपों में हुआ है और उसके अनेक स्वरूपों का विवेचन भी किया गया है। शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्य में शब्द का प्रयोग ध्वनि सामान्य के अर्थ में किया गया है—

"शब्दस्तत्। शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मकः इत्यर्थकः।"

× × ×

"सम्यक् करणैरुपहितो हृदिवायुर्वेणुशंखादिभिः शब्दीभवति।"[1]

अर्थात् आकाश से उत्पन्न वायुकारणात्मक शब्द होता है। जिस प्रकार वायु शंख वेणु आदि के द्वारा शब्दायमान होती है, उसी प्रकार इन्द्रियों से उपहित वायु हृत प्रदेश में शब्द रूप को प्राप्त होती है। जो वायु इन्द्रिय-सम्प्रेषण से स्वतः शंखादि के द्वारा शब्दत्व को प्राप्त होती है, वही वायु संघात पुरुष प्रयत्न से उच्चारण स्थानों

१. शुक्ल यजुर्वेदप्रातिशाख्य सू ७/८।

के संघर्ष से वर्ण, शब्द और वाक् (वाणी) रूप को प्राप्त होती है।[1] व्यक्त-अव्यक्त, स्पष्ट-अस्पष्ट तथा सार्थक-निरर्थक सभी प्रकार की ध्वनियाँ शब्दपदेनाअभिधेय हैं। इसी अभिप्राय से न्यायदर्शन में लिखा है—

द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च ।"[2]

शब्द दो प्रकार का होता है। वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक (मात्र)। महाभाष्यकार भी कहते हैं[3] "ध्वनिः शब्दः" अर्थात् ध्वनिमात्र को शब्द कहा जा सकता है। भर्तृहरि ने जिस परावाणी को अनादि निधन शब्द तत्व की संज्ञा दी है, वह भी तो अव्यक्त, अक्रम तथा कत्व, खत्व आदि वर्ण धर्म से रहित ही है। (इसका विशद विवेचन ध्वनि और शब्द प्रकरण में किया जायगा)। अतः शब्द ब्रह्म, अक्षर आदि पदाभिधेय व्यक्ताव्यक्त ध्वनिमात्र को शब्द रूप कहना असगत नहीं, अपितु तर्कसंगत होगा। लोक-व्यवहार में भी प्रायशः ऐसे प्रयोग होते हैं।

सामान्य रूप से 'शब्द' शब्द के कहने से शब्दमात्र (ध्वनिरूप एवं वर्ण रूप) का बोध होता है, तथापि जिस शब्द स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत प्रकरण का विषय है वह ध्वनिमात्र (कोरी आवाज) नहीं, अपितु वर्णात्मक ध्वनि-समूह रूप शब्द है। लौकिक व्यवहार में शब्द के कथन से वर्णात्मक ध्वनि समूह का ही बोध होता है। अंग्रेजी का (Word) शब्द भी इसी अर्थ की ओर सकेत करता है। संस्कृत के अनेक भाषा-शास्त्रियों और आधुनिक चिन्तकों ने शब्द के इसी स्वरूप को ग्रहण किया है। सम्पुष्टि में कुछ मान्यताएँ और विचार प्रस्तुत हैं—

महाभाष्य के प्रारम्भ में ही 'अर्थशब्दानुशासनम्' कहकर यह प्रश्न स्थापित किया गया है कि किन शब्दों को अनुशासित करना है— केषां शब्दानां ? यहाँ पर केषाम् का अभिप्राय वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक शब्द से नहीं, अपितु वर्णात्मक लौकिक या वैदिक शब्द से था।[4]

गौरित्यत्र कः शब्दः ? के उत्तर में वृत्तिकार ने लिखा है—"गकारौ कार विसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः। अर्थात् उपवर्ष के अनुसार 'ग्, औः, वर्णसमूह ही शब्द है। आगे कहते हैं—

श्रोत्र ग्रहणे हार्थे शब्द शब्दः प्रसिद्धः । यद्येवमर्थे प्रत्ययोनोपपद्येत । अतो गकारादि व्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् ।"[5]

शब्द उस वर्ण समूह को नहीं कहते जिनके संयोग से शब्द रूप बनता है, अपितु शब्द वह ध्वनि समुदाय है जिससे किसी अर्थ की प्रतीति हो।

भाष्यकार ने आगे स्वयं ही शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखा है—

---

१. शुक्ल युजर्वेद प्रातिशाख्य ७८।
२. न्यायदर्शन, वा० भा० पृ० २६४।
३. महाभाष्य प्रदीपोद्योत पश्य, पृ० १९, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
४. महाभाष्य प्रदीपोद्योत पश्य, पृ० १, बम्बई प्रकाशन १९५१ ई०।
५. वृत्तिकार ग्रन्थ, पृ० ४५।

"येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिमां संप्रत्ययो भवति स शब्दः ।" "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्दः ।" "तस्माद् ध्वनिः शब्दः ।[1] (अर्थात् जिस उच्चारित ध्वनिसमूह से अर्थ का सम्प्रत्यय हो वह शब्द है।)

यहाँ पर भाष्यकार ने शब्द के दो लक्षण दिये हैं—प्रथम लक्षण है, जिसके उच्चारण से अर्थ का सम्प्रत्यय हो वह शब्द है। अथवा वह ध्वनिरूप भी शब्द है जिससे कि अर्थ प्रतीति हो। अर्थ सम्प्रत्यय का हेतु आन्तरिक शब्द होता है। उसी से अर्थ का प्रकाशन होता है। अतएव नागेश और कैयट ने 'उच्चारितेन' का अर्थ 'प्रकाशितेन' किया है। अर्थात् जिससे अर्थ प्रकाशित होता है।[2]

दूसरे लक्षण से ध्वनि को शब्द माना गया है। ध्वनि साक्षात् अर्थाभिधायी नहीं होती, अपितु वह आन्तरिक शब्द की अभिव्यंजिका होती है। अत एव इसका अभिप्राय बाह्यभूत ध्वनिरूप शब्द से है। शब्द की यह परिभाषा व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक है। औदुम्बरायण आदि आचार्यों के "इन्द्रिय नित्यं वचनम्" से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है।

यास्क ने पहले ही निरुक्त में 'अर्थः नित्यं परीक्षेत्' (अर्थ द्वारा ही शब्द की परीक्षा होनी चाहिये) के द्वारा यह सकेत किया था। भर्तृहरि ने भी लिखा है—
"शब्दादथर्थ प्रतीयन्ते स भेदानां विधायकः।[3]"

शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जिससे अर्थ की प्रतीति न हो, वह शब्द नहीं है, अपितु तद्रूप या रूपमात्र है। अर्थ से भिन्न ध्वनि समूह शब्द नहीं हो सकता।[4]

पाणिनि ने भी "स्वं रूपं शब्दऽस्या शब्द संज्ञा।" तथा "वचोऽशब्द संज्ञायाम् "आदि सूत्रों से सार्थक शब्द एवं तद्रूप शब्द का कथन किया है (विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।)

पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक यस्पर्शन ने लिखा है—

"Word are linguistic units but they are not phonetic unite, no marely phonetic analysis a......Etc."[5]

प्रो० ह्वाट ने लिखा है—

"A word is from this point of view, a cohesiv sequence of phone mes the arrangement of which is determined by strong internal probabilities."[6]

अर्थात् शब्द स्वरूप का निर्धारण किन्हीं आन्तरिक समस्याओं के आधार पर निश्चित होता है।

---

१. महा भाष्य प्रदीपोद्योत पश्य, पृ० १९।

२. महा भाष्य प्रदीपोद्योत पश्य, वृत। पृ० १८।

३. वा० प०, ३/१४/१९९। ४. वही, १/५६।

५. फिलासफी आफ ग्रामर पृ० ९२।

६. Language NAL. PP 69.

स्वरूपमिति सूत्र में कैयट ने भी कहा है—"सर्वार्थ प्रत्यायन शक्तियुक्तो हि शब्दः।" "अर्थात् सकल अर्थ का ज्ञान कराने वाला ही शब्द होता है।

भामह ने काव्यालंकार में शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"नन्वकारादि वर्णानां समुदायोऽभिधेयवान्।
अर्थं प्रतीतयेगीतः शब्द इत्यभिधीयते ॥"[१]

अर्थात् वह अकारादि वर्ण समुदाय जिससे अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द है।

डा० आर० सी० पाण्डेय ने भी अर्थबाहन में सक्षम ध्वनि समूह को शब्द माना है—

"Speech is acollaction of sounds aranged in a certain way and endwed with the power to convey some sence. In other words, it is in verbal form and bears a meaning. Those forms of words which do not yield any sence to any one are not taken as speech."[२]

भर्तृहरि ने शब्द को लौकिक एवं शास्त्रीय दो प्रकार का बताया है। लोक-व्यवहार में शब्द का वास्तविक स्वरूप अर्थ को समझा जाता है और शास्त्र में उसके बाह्य रूप तथा अर्थ दोनों का विचार होता है।[३] उनके अनुसार अर्थ भावना के द्योतन या प्रत्यापन में समर्थ हुये बिना शब्द के बाह्याकार (अर्थात् ध्वनि रूप) का कोई महत्व नहीं है। अर्थाभिधायकता ही शब्द का जीवन है। वैसे तो अहर्निश प्रकृति में शब्द होते रहते हैं, किन्तु उन सब को भाषाशास्त्र की दृष्टि में शब्द नहीं माना जा सकता। यथा—

"विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाशते।
न सतयैव तैऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥"[४]

डा० सत्यकाम वर्मा के अनुसार शब्द केवल उस वर्णसमूह या ध्वनि समूह का नाम नहीं, जो एक साथ या निरन्तर रूप में उच्चरित किया जाता है, बल्कि उस ध्वनि समूह का नाम है, जो उच्चारण समकाल ही किसी प्रतीति का साक्षात्कार करा देती है।[५]

प्रो० उलेमान के अनुसार शब्द भावनाओं का लिखित या उच्चरित वह प्रतीक है जो सामान्यतः भाषा की सबसे छोटी स्वतंत्र एवं अर्थपूर्ण इकाई होती है। इसे भाषा की सबसे छोटी प्रायोगिक इकाई कहा जा सकता है।[६]

ब्लूम फील्ड और पामर[७] (Palmar) ने भी शब्द की ऐसी ही परिभाषा की है।

---

१. काव्यालंकार, षष्ठ परि० पृ० ८

२. प्राब्लम आफ मीनिंग, पृ० ५४।

३. वा० प० २/१३३। ४. वा० प० १/५६।

५. भा० त० और वा० प०, पृ० १२१।

६. डिक्सनरी आफ लिंग्विस्टिक।

७. ब० स्मालेस्ट स्पीच यूनिट कैपेबुल आफ फूँक्शनिंग ऐज ए कम्पलीट अन्टरैन्स (डिक्शनरी आफ लिंग्विस्टिक्स)।

किसी भी भाषा का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होगा कि उसमें किसी प्रकार का कोई प्रभाव समझाने या कहने के लिये शब्द या शब्द समूह की आवश्यकता पड़ती है। 'इंजे-इंजे' जाति वालों की एक शब्दीयाभाषा में भी शब्द का प्रयोग होता ही है, भले ही उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में केवल एक शब्द क्यों न हो। आचार्य चतुर्वेदी ने भी, 'वर्णों के उस समूह को, जिससे कोई अर्थ निकलता हो', शब्द माना है।[1]

चैम्बर विश्वकोष के अनुसार बोलते समय हम शब्द नहीं बोलते, बल्कि एक श्वास में एक बार निकलने वाले और साधारणतः एक पूरे वाक्य से छोटे श्वासवर्ग का प्रयोग करते हैं और इसमें वक्ता के अभिप्राय का एक अंश व्यक्त हो जाता है। यह एक शब्द में प्रारम्भ होकर एक शब्द में ही समाप्त भी हो सकता है। अतएव शब्द की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि आदि और अन्त रखने वाली तथा एक श्वास वर्ग में प्रयुक्त होने वाली रूप की इकाई शब्द है।[2]

गार्डिनर के शब्दों में प्रत्येक शब्द अतीत से मिलने वाला एक उतराधिकार है और उसे जो अर्थ दिया गया है, वह उसने एक-दूसरे से थोड़े या बहुत भिन्न अनेकों विवरणों के लिये असंख्य बार प्रयुक्त होकर प्राप्त किया है।[3]

समीक्षा—उपर्युक्त शब्द स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य, आधुनिक एवं प्राचीन सभी आचार्यों के मत कुछ अंशों में एकरूप प्रतीत होते हैं। वह अंश यह है कि शब्द अर्थ का प्रत्यायक तथा ध्वनि या समूह होता है। परन्तु शब्द का यह व्यावहारिक, सहजानुभूत तथा अत्यन्त स्थूल रूप कहा जा सकता है। अतः शब्द के उक्त स्वरूप को भाषाशास्त्रीय रूप या अन्वाख्येय रूप माना जा सकता है।

शब्द को मौलिक रूप से विश्लेषित किया जाय तो उसमें कई प्रकार के अवान्तर प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या ध्वनि रूप शब्द ही सीधे अर्थ का बोधक होता है? क्या अर्थ-वहन करने वाली ध्वनि या ध्वनि समूह को शब्द नहीं कहा जा सकता? यदि नहीं कहा जा सकता तो क्यों? इत्यादि प्रश्नों को ध्यान में रखकर 'शब्द' की मीमांसा की जाय तो शब्द के निम्नलिखित स्वरूप सामने आते हैं।

शब्द मूलतः ध्वनि सामान्य को कहा जाता है परन्तु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से सार्थक ध्वनि समूह को ही शब्द कहा जाता है। कुछ शब्द भाषात्मक (अर्थवाही) होते हैं और कुछ नहीं। अर्थवाही ध्वन्यात्मक शब्द भी दो प्रकार का होता है—आन्तर शब्द और बाह्य शब्द। आन्तर शब्द ही शब्द का निमित्त होता है अथवा वही बाह्य शब्द (ध्वन्यात्मक शब्द) के रूप में परिणत होता है। उस बाह्य शब्द की भी मत-

---

१. वाग् विज्ञान पृ० १९२।

२. भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्द कोष, पृ० २४९।

३. स्पीच ऐण्ड लैंग्वेज, पृ० २५।

मतान्तरों से विविधरूपता मानी गयी है। इन स्वरूपों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

शब्द (ध्वनिमात्र)
- भाषात्मक या वर्णात्मक शब्द (अर्थवाहक)
  - बाह्य (ध्वनि) शब्द
    - १. ज्ञानात्मक शब्द
    - २. वाटवात्मक शब्द
    - ३. अणवात्मक शब्द
  - आन्तर (स्फोट रूप) शब्द
- अभाषात्मक या अवर्णात्मक शब्द (अर्थहीन)

आगे अब शब्द के इन्हीं स्वरूपों का विवेचन किया जायगा।

व्यक्त एवं अव्यक्त शब्द

महर्षि पाणिनि वैय्याकरण थे। उनका उद्देश्य अष्टाध्यायी के द्वारा व्यवहृत सम्प्रेषणीय शब्दों को ही अनुशासित करना था। तथापि उन्होंने पूर्वोक्त विचारों के अनुसार शब्द का व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों रूपों में प्रयोग किया है। 'वचोऽशब्द संज्ञायाम्'–(७/३/६३) तथा 'स्वरूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा' (१/१/६८) इन सूत्रों में शब्द का प्रयोग वर्णात्मक ध्वनि समूह के अर्थ में हुआ है। जो शब्द मानवीय हो तथा लोकार्थ सम्प्रेषणीयता से युक्त हो वही भाषाशास्त्रियों के विचार का विषय है। अन्यत्र 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व मेघेभ्य: करणे' (३/३/१७) इस सूत्र में पाणिनि ने 'शब्द' शब्द का प्रयोग मात्र ध्वनि (कोरी आवाज) के अर्थ में किया है। इस शब्द के लिए आवश्यक नहीं है कि वह मानवीय हो या अर्थवाहक हो। अपि च—"शब्द दर्दुरं करोति' (४/४/३४) में 'शब्द' शब्द से अतिरिक्त दर्दुर शब्द का पाठ किया है, अतः यहाँ पर 'शब्द' का अर्थ मानवीय ही है। अतएव शब्दं करोति इति शाब्दिक:। तत्व-बोधिनी टीका में लिखा है—'शब्दं करोति प्रकृतिप्रत्ययविभागेन व्युत्पादयतीत्यर्थ:[1]।' अतएव दर्दुर (ध्वनि) करने वाला दार्दुरिक होता है।

पाणिनि के उक्त अभिप्राय में परोक्ष रूप से शब्दों की धातुमूलकता का महत्व-पूर्ण स्थान है। प्राय: यह माना जाता है कि संज्ञा से क्रिया तक अधिकांश शब्द धातुज हैं। धातुओं के अर्थ विवेचन में व्यक्त और अव्यक्त शब्द का कथन (हाद् अव्यक्ते शब्दे, गद् व्यक्तायां वाचि, णद् अव्यक्ते शब्दे आदि) इस ओर संकेत करता है कि 'शब्द' का प्रयोग व्यक्त (वर्णात्मक) या अव्यक्त (अवर्णात्मक) उभयविध ध्वनियों के लिए किया जाता था। अपि च शब्दार्थक बहुत सी ऐसी धातुयें भी हैं, जो मानवीय एवं अन्य

---

१. सि०कौ० त०बो०, पृ० २७२।

प्राणियों के भी शब्द के लिए प्रयुक्त होती हैं। गर्ज–शब्दे। गर्ज धातु का प्रयोग भी दोनों प्रकार से होता है—मेघा: गर्जन्ति। रणस्थले योद्धार: गर्जन्ति।

पाणिनि ने व्यक्त 'वाक् और अव्यक्त 'वाक्' के बीच भेद किया है। व्यक्त वाक् मनुष्यों की है क्योंकि मनुष्य की वाणी विविक्त रूप में उपस्थित होती है और अव्यक्त 'वाक्' पशु-पक्षियों की, जिसमें व्यक्तता नहीं होती है, क्योंकि उनकी आवाज या शब्द का परिमार्जन या परिष्करण नहीं हुआ। प्रारम्भ में मनुष्य की वाणी भी अधिकांश भाषा-वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में वैसी ही थी, किन्तु अब उसका परिष्करण तथा परिमार्जन हो चुका है। वह व्याकृत वाणी हो चुकी है। अतएव व्यक्त वाणी कही जाती है। एतावता पाणिनि की दृष्टि में शब्द का स्वरूप ध्वनि समूह मात्र से है। व्यक्त और अव्यक्त का विवेचन लोक दृष्टि से बाद में किया गया।

जिस किसी भी प्रकार की ध्वनि को शब्द कहा जाता है[1]। जैसे यह कुत्ते का शब्द है। खट-खट का शब्द हो रहा है। हवा चलने से जंगल में बहुत तेज शब्द हो रहा है। यहाँ पर कुत्ते का शब्द, खट-खट शब्द तथा जंगल में होने वाला शब्द केवल ध्वनि या ध्वनि समुदाय का बोध कराता है, किसी अर्थ का नहीं। या यों कह सकते हैं कि उक्त वाक्यों में प्रयुक्त शब्द का अर्थ ही अव्यक्त ध्वनि है। खट खट वौं-वौं, सर-सर आदि शब्द ही वाक्य में प्रयुक्त 'शब्द' शब्द के अर्थ या शब्द के वाच्य हो जाते हैं। अत: शब्द (वाच्य प्रयुक्त) वाचक हुआ और खट-खटादि वाच्य हुए। दूसरी ओर सार्थक ध्वनि समुदाय के सम्बन्ध में विचार किया जाय। 'यह अग्नि शब्द लिखा है।' 'यह शब्दकोष है।' आदि वाक्यों में 'शब्द' पदवाच्य 'अग्नि' शब्द भी अन्यार्थ का वाचक है। शब्दकोष एक ऐसी पुस्तक है जिसमें सहस्रों शब्द लिखे हुये होते हैं। उसके प्रत्येक शब्द 'शब्द' पदवाच्य तथा सम्पूर्ण शब्द शब्दकोष पदवाच्य होते हैं। अपि च, वाक्यों में प्रयुक्त सभी 'शब्द' शब्द पदवाच्य होते हुये स्व-स्व अर्थ के भी वाचक हैं। इस प्रकार अव्यक्त और व्यक्त शब्द का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अव्यक्त शब्द का तात्पर्य हुआ कि वे (अर्थ के) वाचक शब्द नहीं, अपितु 'शब्द' शब्द से वाच्य होते हैं। जिस प्रकार गउओं का स्थान गोष्ठ शब्द वाच्य है।

अत: अव्यक्त शब्द या अवर्णात्मक ध्वनि-समूह को भी शब्द कह सकते हैं। अर्थात् वे शब्द पदवाच्य हैं। अव्यक्त ध्वनि-समूह (शब्द) मानवेतर जड़-चेतन, पशु-पक्षी आदि किसी के द्वारा किसी भी प्रकार का हो–चाहे पक्षियों का कूजन हो, चाहे बादलों की गर्जना, चाहे पशुओं की दहाड़, चाहे कीड़ों का सींकना, सभी अव्यक्त शब्द, शब्द पदवाच्य तो हैं ही, किन्तु स्वय अन्य किसी अर्थ के वाचक नहीं हैं। अत: उन शब्दों को शब्द कहने का अभिप्राय यह है कि वे शब्द पदाभिधेय हैं या कि वे स्वयं

---

१. 'शब्द' शब्द का प्रयोग नदी, घोष आदि के रूप में भी देखा जाता है।
(सं० व्या० द्व०, पृ० ८२)

शब्द रूप और मानवीय शब्द, जिनके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि ज्ञानात्मक होते हैं, शब्द पदवाच्य होते हुये स्वयं अन्य अर्थ (स्व-स्व अर्थ) के वाचक भी होते हैं। इन्हें ही अंग्रेजी में वर्ड (word) कहा गया है। फ्रेंच शब्द पारेल का भी अर्थ व्यक्त शब्द ही होता है। अतएव तत्तद् अव्यक्त ध्वनि समुदाय शब्द होते हुये भी व्याकरण के द्वारा अनुशासनीय नहीं हैं। द्विधा शक्ति (प्रकाशित-प्रकाशक) निष्ठ न होने के कारण भाषा के क्षेत्र में उनका कोई स्थान नहीं है। शब्द की इसी द्विविधरूपता को न्यायदर्शन में वर्णात्मक शब्द एवं ध्वन्यात्मक शब्द के रूप में कहा गया है।

'द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मकोध्वन्यात्मकश्च ।'[1]

\+ \+

'शब्दो ध्वनिश्चवर्णश्च मृदङ्गादिभवोध्वनिः ।'[2]

पतञ्जलि ने—'तस्माद् ध्वनिः शब्द' से व्यक्ताव्यक्त उभयविध शब्द का संकेत किया है, क्योंकि लोकोपयोगी शब्द की परिभाषा तो वे पहले ही कर चुके हैं।[3] अस्तु, अव्यक्त (ध्वनि मात्र) एवं व्यक्त (वर्णात्मक) उभयविध शब्द लोक में दृष्टिगत होते हैं तथा पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा स्वीकृत हैं। तथापि भाषात्मक या लोकोपयोगी शब्द व्यक्त शब्द ही हैं, अव्यक्त नहीं। अव्यक्त 'शब्द' रूप ही होता है। उसमें अर्थ-वहन की क्षमता नहीं होती। वह अन्य शब्द का वाच्य तो हो सकता है, किन्तु किसी का वाचक नहीं। अतः भाषाशास्त्रियों के विचार का विषय ध्वन्यात्मक या अव्यक्त शब्द नहीं है, अपितु वर्णात्मक ध्वनि-समूह रूप शब्द हैं, जिनकी सार्थकता सिद्ध है। सार्थक ध्वनि-समूह (रूप शब्द) विवेचन आगे किया जायगा।

आन्तर एवं बाह्य शब्द

सार्थक ध्वनि समूह रूप शब्द, जिसके स्वरूप का विवेचन किया जायगा, शब्द का व्यावहारिक अर्थात् उच्चरित रूप है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने इसी को शब्द के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु शब्द का यह स्वरूप बाह्यभूत है। वक्ता अपनी अन्तःस्थ भावना को प्रकट करने के लिए शब्द-भावना करता है। वही शब्द-भावना उसके प्रयत्नों से ध्वनि रूपात्मक शब्द के रूप में व्यवहृत होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धिस्थ अर्थ शब्दानुप्राणित होता है, तब वही स्वयं को प्रकट करने के लिए कण्ठताल्वाद्यविघात से ध्वन्यात्मक शब्द रूप हो जाता है। अतः शब्द की दो स्थितियाँ प्रत्यक्ष अनुभूत होती हैं, जिससे दो प्रकार के शब्द की स्पष्ट प्रतीत होती हैं—

१. ध्वन्यात्मक या व्यावहारिक शब्द और
२. तात्विक या आन्तरिक शब्द।

---

१. न्यायदर्शन, पृ० २६४।

२. न्या० सि० मु०, शब्द नि०, पृ० २४६।

३. संग्रह, वाक्यपदीय, १/४४, हरिवृत्ति में उद्धृत।

१. व्यावहारिक शब्द वह है जो लोक-व्यवहार में घट-पदादि के रूप में वक्ता की दृष्टि से अभिव्यक्त होता है और श्रोता की दृष्टि से अन्तःस्थ अर्थसंश्लिष्ट शब्द को अभिव्यंजित करता है।

२. दूसरा तात्विक शब्द वह है जो ध्वनि समूह के द्वारा अभिव्यक्त होकर अर्थज्ञान कराता है। यह शब्द-भावना से वक्ता में पहले से विद्यमान रहता है—

"अस्त्यन्यद् स्वशब्दस्येति। किं पुनस्तद् ? अर्थः।"[1]

यही शब्द रूप स्फोट पद से व्यवहृत होता है। शब्द की पूर्णता के लिए तथा लोक-व्यवहार संचालन के लिए उक्त उभयविध शब्द अपेक्षित है।

१. व्यावहारिक शब्द—

सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार इसी के द्वारा सम्पादित होते हैं। 'शाशपिभ्यां ददनौ' इस सूत्र से उणादिकार ने, 'व्यवहार साधनार्थ ही शब्द का प्रयोग होता है', की ओर संकेत किया है। 'शब्द' शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में शब्द प्रवृत्ति नामकरणात्मिका हुई है। उणादि वृत्तिकार ने आह्वान करने को ही शब्द बतलाया है।

शपन्ति तेनेति शब्दः। संस्कृता वाक्। करणमिति। इस प्रकार 'शपन्ति व्यपदिशन्ति आह्वयन्तिवाऽनेन वाग्व्यापारेण स खलु शब्दः। अथवा 'शप्यते आहूयतेऽनेनेतिसशब्दोनादः।[2] शब्द की व्युत्पत्ति की गई है।

शब्द की यह व्युत्पत्ति व्यावहारिक दृष्टिकोण से है। व्यवहार में सामन्यरूप से तात्विक शब्द का अनुभव नहीं होता है। इसी दृष्टि से पतञ्जलि ने लिखा है—

"अथवा प्रतीत पदार्थलोकेध्वनिः शब्दः इत्युच्यते, तस्मादध्वनिः शब्दः"[3] वहीं पर पतञ्जलि का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये नागेश ने लिखा है—'लोके व्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यत्वात् वर्णरूप ध्वनि समूह एव शब्द इत्यर्थः।[4] अर्थात् लोक में पदार्थ बोधन में प्रसिद्ध श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वर्णात्मक ध्वनि समूह ही शब्द है।

'शब्द' शब्द का प्रयोग नादात्मक अथवा ध्वन्यात्मक तथा अन्तःस्थ अथवा बाह्य शब्द के लिए अभेद बुद्धि से ही होता है, क्योंकि भाषा की दृष्टि से व्यवाहारिक शब्द ही अभिप्रेत है। इसी ध्वन्यात्मक शब्द से स्फोटात्मक शब्द का ग्रहण होता है। एतावता लौकिक प्रयोग के बिना तात्विक शब्द परिणाम शून्य हो सकता है। प्रश्न होता है, नाम रूपात्मक जगत् में ध्वन्यात्मक शब्द के अभाव में भी अर्थबोध होता है (चिन्तन-मनन में)। अतः सर्वत्र (अर्थ मात्र में) व्यावहारिक शब्द का क्या महत्व है ?

---

१. म० भा० १/१/६८।
२. उ० सू० ४/९७, दयानन्द व्याख्या।
३. महाभाष्य प्रदीपोद्योत पश्य, पृ० ११, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
४. वही।

प्रारम्भ में सम्पूर्ण अर्थ जगत् का ज्ञान यत्किंचित् संकेत ग्राहक शब्द से ही हुआ है तथा बाल्यावस्था में होता भी है। अतएव इस नाम रूपात्मक जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो शब्दाभिधेय न हो। शब्द की इसी व्यापकता को दृष्टि में रखकर लिखा है—

शब्दोऽर्थ इत्यसतद्वैतं यदविद्या विलासजनितम्।
तच्छब्दतत्वं ब्रह्माहतमात्मानं मनसा भजे॥"[1]

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ जगत् की प्रकृति शब्द तत्व रूप ब्रह्म ही है। अतः हम यह कह सकते हैं कि ध्वन्यात्मक (लौकिक) शब्द के प्रयोग के बिना अर्थ (रूप) का ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि तात्विक शब्द तो अर्थ रूप ही है और उसका प्रत्यायक लौकिक शब्द है। चिन्तन-मनन की अवस्था में तदर्थ पूव प्रयुक्त शब्द ही उसका अनुस्मारक होता है। अतएव पतञ्जलि ने लिखा है—रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्यनान्तरेण लौकिकप्रयोगम्।"[2]

शब्द के व्यावहारिक स्वरूप को ही स्वीकार करके मीमांसक सूत्र की व्याख्या करते हुए उपवर्ष ने लिखा है—"अथ गौरित्यत्रकः शब्दः गकारौकारविसर्जनीय इति।" इससे ध्वन्यात्मक शब्द रूप को स्वीकार किया है। इस अभिप्राय को पाणिनि के 'वचोऽशब्द संज्ञायाम्'।[3] सूत्र से सम्बद्ध किया जा सकता है, जिससे वाच्य और वाक्य की निष्पत्ति होती है। वाक्य व्यावहारिक शब्द समुदाय हैं और वाच्य वह है जो शब्दाभिव्यंग्य अर्थात् स्फोट रूप शब्द (अर्थ से अभिन्न) है। पतञ्जलि ध्वन्यात्मक शब्द के स्फोटात्मक शब्द का उपकारी होने से उसे शब्द गुण कहते हैं—"ध्वनिः शब्दगुण" इति।[4]

महाभाष्यकार ने ध्वन्यात्मक शब्द की तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया है—(१) श्रोत्रोपलब्धिः, (२) बुद्धिनिर्ग्राह्यः, (३) प्रयोगेणाभि ज्वलितः।[5] प्रथम दो धाराएँ शब्द ग्रहण से तथा तीसरी उच्चारण से सम्बन्धित है।

अपि च "अथ शब्दानुशासनम्" यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्द' का भी अभिप्राय व्यावहारिक शब्द से ही है, क्योंकि सम्पूर्ण निरुक्त कार्य व्यावहारिक शब्द में ही संभव है, स्फोटात्मक शब्द में नहीं। व्याकरण, भाषाशास्त्र तथा आधुनिक भाषा विज्ञान के विवेचन एवं अध्ययन का विषय भी व्यावहारिक शब्द ही है, तात्विक नहीं। तदन्तर्गत नाद का जन्म सक्रम होता है। इसी नाद के क्रम जन्मा होने के

१. सारस्वती सुषमा अङ्क १२, ३-४, शारदी २०२०।
२. म० भा० ६/४/१६।
३. पा० सू० ७/३/६३।
४. महाभाष्य, प्रदीपोद्योत, पश्य०, पृ० सं० २० बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
५. महाभाष्य अ इ उ ण सूत्र।

कारण शब्द भी क्रमवान या भेदवान प्रतीत होता है ।[1] व्यावहारिक या ध्वन्यात्मक शब्द वैखरी रूप है । परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी[2] चतुर्धा वाणी क्रम पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता की शब्द भावना क्रमशः वैखरी रूपात्मक होकर श्रोता के अन्तःस्थ स्फोटात्मक शब्द को अभिव्यक्त करके अर्थबोध कराती है । इसी से "ध्वनिः शब्द गुणः" महाभाष्य की टीका करते हुए प्रदीपकार ने लिखा है ध्वनि शब्द का गुण है अर्थात् स्फोटात्मक शब्द का अभिव्यंजक है । भर्तृहरि "उक्तः शब्दः" की व्याख्या करते हुये लिखते हैं—'स्वभावोऽस्य व्याख्यातः । ध्वनिः शब्दः ।[3] स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मक शब्द तात्विक शब्द का व्यंजक है, साक्षात् अर्थ-बोधक नहीं । इसी व्यावहारिक शब्द की ही परिभाषा करते हुये भामह ने लिखा है—

"नन्वकारादि वर्णानां समुदायोऽभिधेयवान् ।
अर्थप्रतीतये गीतः शब्द इत्यभिधीयते ॥"[4]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में भी दो प्रकार के शब्दों का वर्णन करते हुये ध्वन्यात्मक शब्द को नियत अर्थाभिधायी शब्द (तात्विक शब्द) का व्यंजक माना है । ध्वन्यात्मक शब्द पूर्व वितर्कित अर्थाभिधायी शब्द का ग्राहक होता है । महाभाष्य टीका में "गौरित्यत्र कः शब्दः" भाष्य की व्याख्या करते हुये दो प्रकार का शब्द माना गया है—(१) अर्थरूप शब्द (स्फोटात्मक) और (२) वर्णरूप शब्द (ध्वन्यात्मक शब्द) ।

"द्वौ शब्दात्मानौ । नित्यः कार्यश्चेति" महाभाष्य की व्याख्या करते हुये लिखा है—"कश्चित् नित्योऽयमिति दृष्टः, कैश्चिदनित्य इति । अथवा जातिर्व्यक्तिश्चेति । अथवा स्फोटो ध्वनिश्च ।"[5]

अर्थात् शब्द दो प्रकार का होता है । उसे कुछ लोग नित्य और अनित्य भेद से कहते हैं । कुछ आचार्य जाति और व्यक्ति भेद से तथा अन्य आचार्य स्फोट और ध्वनि भेद से दो प्रकार का मानते है । ध्यातव्य है कि उक्त द्विविध रूप शब्द को नित्य मानते हैं । नैयायिक, बौद्ध आदि जो ध्वन्यात्मक शब्द के अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द नहीं मानते हैं, वे शब्द को अनित्य मानते हैं । 'गौरित्यत्र कः शब्दः' की व्याख्या करते हुये भर्तृहरि लिखते हैं—प्रसिद्ध्युपरोधात् ध्वन्यात्मक शब्द के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं है, अपितु शब्द के तात्विक स्वरूप के सम्बन्ध में है । अतएव भाष्यकार ने आगे लिखा है—"अथवा प्रतीत पदार्थकः इतिः ।" ध्वनि शब्द का गुण है और ध्वनिजन्य पदार्थ का बोध कराने वाला स्फोट रूप ही शब्द है । ध्वनि इसका अभिधेय है ।[6]

---

१. वा० प० १/४८ ।
२. आगे इनका वर्णन किया जायेगा ।
३. महाभाष्य टीका पृ० २ ।
४. काव्यालङ्कार ६/८
५. महाभाष्य टीका, पृ० ५ ।
६. महाभाष्य टीका, पृ० ५ ।

"स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते परायां चोदनायां ध्वनि शब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावादेकत्वे न व्यपदेशः । इतरः न चेत् प्रसिद्ध्युपरोधः । य एव लौकिकः असावेवाश्रियते ।"[1]

आधुनिक भाषा वैज्ञानिक श्यामसुन्दरदास ने उक्त शब्द द्वैविध्य को स्वीकार करते हुये लिखा है कि प्रथम ध्वनि मात्र कारक या रूप निर्धारक होता है और द्वितीय स्फोटात्मक शब्द अर्थबोधक होता है ।[2]

पण्डित रघुनाथ शर्मा ने वेदान्तपरक दृष्टि से स्फोटात्मक शब्द को सूक्ष्म वाक् और ध्वन्यात्मक शब्द स्थूल वाक् के रूप में स्वीकार किया है ।[3]

सूक्ष्मं वाक्तत्वमेव ज्ञातृरूपेणावस्थित सद् स्वपरिणामेन स्थूलशब्देन प्रकाशितं स्वपरिणाम भूतमर्थं पश्यति । तदेव वाक्-तत्वं विवक्षा प्रयुक्त प्रयत्नवद् वक्तृरूपेणावस्थितं स्वपरिणामभूतं स्थूल शब्दं ब्रवीति । कण्ठ ताल्वाद्यभिघातं चोल्चाद्य स्थूल शब्दमुच्चारयति । तदेव वाक्तत्वं स्वस्मिन् निहितमविभागेन शक्ति'स्वरूपेणावस्थितमर्थं-विषयजातं दैनन्दिने सर्गे प्रबोधवृत्या सन्तनोति ।[4]

अर्थात् विवक्षा रूप प्रयत्न से वक्ता द्वारा स्थूल वाणी (शब्द) का उच्चारण होता है जिससे (अन्य) वाणी में ही अविभक्त रूप से शक्ति रूप में अवस्थित अर्थ का दैनन्दित जीवन में ज्ञान होता है ।

वस्तुतः वह ध्वन्यात्मक (वर्णसमूह) शब्द जो वक्ता के कण्ठताल्वाद्यभिघात रूप प्रयत्न से उत्पन्न होता है, श्रोता के कर्णशष्कुल्यादि तद्ग्राहक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहीत होता है, वह बाह्य वस्तुओं के संकेत का परिचायक है । उसका साक्षात् सम्बन्ध बाह्य जगत् से है । बाह्य पदार्थ के अतिरिक्त बौद्ध पदार्थ है,[5] जो बुद्धिगत होता है । जिस प्रकार बाह्य पदार्थों से ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क होने पर तदाकारात्मक ज्ञान अन्तःकरण के द्वारा अवधीत होता है, उसी प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द बाह्येन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) के द्वारा ग्रहीत होकर साक्षात् अनुभूति का विषय नहीं होता, अपितु कर्णरन्ध्र के माध्यम से शब्दानुविद्ध[6] अर्थ को या अर्थ संश्लिष्ट शब्द को ही उद्भासित करता है । तब वह अन्तःस्थ शब्द ही स्वरूपाकारात्मक अर्थ के अनुभूति का कारण बनता है । यह अन्तःस्थ शब्द ही स्फोटात्मक शब्द है । जो अन्तर्गत में स्वरूप और तदनुस्यूत अर्थ रूप में विद्यमान रहता है । 'इदं पुस्तकम्' कहने पर ये दोनों ही ध्वन्यात्मक शब्द अन्तःस्थ शब्द को अभिव्यंजित करते हैं और 'इदम्' इत्याकारक शब्द आसन्नवती तथा 'पुस्तक' शब्द से 'पुस्तक रूपात्मक' स्फोट शब्द व्यंजित होकर, यह पुस्तक है, इस ज्ञान की अनुभूति आत्मा को होती है । स्फोटात्मक शब्द संस्कार रूप में विद्यमान

---

१. महाभाष्य टीका, पृ० ५ ।   २. भाषा रहस्य, पृ० सं० ५३ ।

३. सरस्वती सुषमा, १२, ३-४, शारदी २०२० ।

४. सरस्वती सुषुमा अङ्क १२, ३-४ शारदी २०२० ।

५. अर्थप्रकरण देखिये ।   ६. वा० प० १/१२०, पुण्यराज ।

रहता है और ध्वन्यात्मक शब्द उसको अभिव्यंजित करता है।[1] जिस प्रकार वेदान्त में स्थूल और सूक्ष्म शरीर भेद द्विविध प्रपंच को स्वीकार करके स्थूल प्रपंच के लय का स्थान सूक्ष्म प्रपंच को माना गया है, उसी प्रकार स्थूल शब्द (ध्वन्यात्मक शब्द) के लय का स्थान भी सूक्ष्म (स्फोट) शब्द है। किन्तु जब तक सूक्ष्म शब्द का उद्‌भावक स्थूल शब्द न हो तब तक उसका कोई अस्तित्व नहीं। उसका कोई उपयोग भी नहीं है। अतएव सूक्ष्म (स्फोट) शब्द का महत्व विशेषकर दार्शनिक दृष्टि से है। यद्यपि स्थूल शब्द से सीधे ज्ञान नहीं होता है तथापि व्यावहारिक जगत् में सामान्य रूप से स्फोट शब्द से ही लोक-व्यवहार सम्भव प्रतीत होता है। अतएव शब्दानुशासन का विषय व्यवहारात्मक शब्द ही है। सम्पूर्ण भाषाशास्त्र और वाग्व्यवहारिक शब्द से ही सम्पादित होता है।

उसी व्यवहारात्मकता को या उसके बाह्य रूप को ही देखकर कुछ दार्शनिकों ने भी शब्द को अनित्य मानते हुये उसके ध्वन्यात्मक स्वरूप को ही स्वीकार किया है—"द्विविधश्चार्यं शब्दोवर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च।"[2]

अर्थात् शब्द दो प्रकार का होता है—वर्णात्मक (व्यवहारात्मक) और ध्वन्यात्मक (अव्यक्त) शब्द। यहाँ पर ध्वनि शब्द अव्यक्त ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त है। बौद्धाचार्य महाकलंक देव के अनुसार भी शब्द दो प्रकार का होता है—भाषात्मक और अभाषात्मक।[3] भाषात्मक वर्ण समुदाय और अभाषात्मक अव्यक्त ध्वनि रूप होता है। यहाँ भाषात्मक शब्द भी मात्र व्यावहारिक शब्द ही है, तदतिरिक्त अन्य शब्द की (स्फोट की) कल्पना को अर्थ बताया गया है। अतएव इन दार्शनिकों ने शब्द को अनित्य माना है। व्याकरण दर्शन में भी ध्वन्यात्मक शब्द को अनित्य ही माना गया है।[4]

स्वरूपबोधक तथा अर्थबोधक शब्द

प्रस्तुत व्यावहारिक शब्द का प्रयोग भी दो रूपों में होता है। प्रथमतः लोक में प्रयुक्त शब्द तन्नियत संकेत के अनुसार अर्थ का बोध कराता है। जैसे 'पुस्तकं आनय' कहने पर पुस्तक के आनयन' कहने पर पुस्तक के आनयन रूप कर्म में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् शब्द स्वपद बोध्य अर्थ का ग्राहक होता है। द्वितीयतः शब्द स्वरूप परक होता है। जिस शब्द का उच्चारण किया जाता हैं वह स्वपद बोध्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं कराता, अपितु स्व-स्वरूप का बोध कराता है। जैसे—"गौरित साधु, गावीत्याद्यसाधु।" यहाँ पर 'गौः' एवं 'गावी' शब्द स्वरूपपरक हैं तथा साधु और असाधु शब्द अर्थपरक हैं। इसका निर्देश पाणिनि के सूत्रों में भी मिलता है। 'अग्नेर्ढक् सूत्र में अग्नि शब्द स्वरूपपरक हैं अर्थपरक नहीं; क्योंकि अग्निरूप अर्थ से ढक् नहीं होता

१. स्फोट विमर्श देखिये।
२. न्या० सू० पृ० ३६४।
३. तन्त्रार्थ वार्तिक ५/२५।
४. द्रष्टव्य—नित्यानित्यत्व विचार प्रस्तुत निबन्ध।

अपितु 'अग्नि' रूप शब्द से ही ढक् प्रत्यय होता है। पाणिनि के 'स्वंरूपंऽशब्दस्या शब्द संज्ञासूत्र से इस अभिप्राय की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। आधुनिक भाषाशास्त्र में प्रयुक्त 'साइन' शब्द इस धारणा के अधिक निकट है।

दूसरे रूप में—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इस सूत्र में सभी शब्द स्वरूपपरक न होकर अर्थपरक हैं। यह बात और है कि अर्थ-बोधकता भी दो प्रकार की होती है। एक शास्त्रविषयक और दूसरी लोकविषयक। शास्त्रविषयक प्रयोग जैसे उपर्युक्त (अर्थवदित्यादि) सूत्र में प्रयुक्त शब्द भाषाशास्त्र में इसी प्रकार के शब्दों का विशेष प्रयोग होता है। दूसरा अर्थ-परक शब्द का प्रयोग शुद्ध रूप से 'अर्थ' ज्ञान के लिये होता है। जैसे 'गच्छतीति गौः'—चलने वाले को 'गौः' कहते हैं। कहीं-कहीं पर शास्त्र में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे 'अदर्शनं लोपः'। यहाँ पर अभिधेय का वाचक शब्द न तो बाह्यार्थ का वाचक है और न प्रयोजन के अर्थ में प्रयुक्त है और न ही निमित्त या विषय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह शुद्ध रूप से भाषिक आन्तरिक अर्थ के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह दूसरी बात है कि वह भाषिक अर्थ भी काव्य-जगत् के बाह्य रूप का भाषिक संवादी होता है। इस प्रकार पाणिनि के मास्तिष्क में अर्थ के दो 'स्तर' विद्यमान थे। एक स्तर है जो भाषा के भीतर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सही-सही पहचान से, निरन्तर अभ्यास से बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि बाह्य अर्थ का ग्रहण किया जाय। दूसरा स्तर है शब्द प्रयोग के लिये मन में उठे बाह्यार्थ की कल्पना को भासित करने वाले घट-पट आदि बाह्येन्द्रिय गोचर अर्थ या सुख-दुःख आदि मानसेन्द्रिय गोचर अर्थ। इस प्रकार के अर्थ के लिये प्रयोक्तव्य शब्द को भाषा के क्षेत्र से बाहर जाना होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी के 'प्रधान प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्य प्रमाणत्वात्।[1]' जैसे सूत्रों में इसी प्रकार के अर्थ के सन्दर्भ में तदभिधायी शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ इस अर्थ का प्रामाण्य भाषा से व्यतिरिक्त (इतर) में अवस्थित होने के कारण ही पाणिनि यह सीमा बांधते हैं कि इस प्रकार अर्थ का विवेचन शब्दानुशासन के क्षेत्र से बाहर हैं, क्योंकि इसके प्रामाण्य के लिये उन्हें भाषा के क्षेत्र से बाहर जाना होगा। स्पष्ट है कि पाणिनि के अनुसार शब्दों की अर्थग्रहणशीलता दो प्रकार की है और तदर्थ प्रयोक्तव्य शब्द के दो स्तर हैं। एक (अर्थ) का ग्राहक भाषा का बौद्धिक संस्कार है और दूसरे का ग्राहक बाह्येन्द्रिय और मन है।

इस विचार की प्रामाणिकता भर्तृहरि के वाक्यपदीय से भी सिद्ध होती है। उनके अनुसार शब्दक्रम में अपने स्वरूप प्रयोक्ता के संस्कार में निहित वाच्यार्थ और बाह्यार्थ का प्रकाशक होता है, व्यावहारिक विश्लेषण के सापेक्ष स्तरों पर यह तीनों पृथक्-पृथक् अवस्थित माने जाते हैं—

---

१. पाणिनि; अष्टाध्यायी; १/२/५६।

"ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चरितैः तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ।।"[1]

अस्तु व्यावहारिक शब्द भी दो प्रकार का सिद्ध होता है। यथा—(१) स्वरूप-बोधक शब्द और (२) अर्थबोधक शब्द ।

२. तात्विक शब्द स्वरूप—

वर्णात्मक ध्वनि संघातरूप शब्द के अतिरिक्त एक अन्य शब्द है जिसे तात्विक शब्द स्वरूप या स्फोट रूप शब्द कहा जा सकता है। वक्ता के पूर्व निश्चय के अनुसार जिस शब्द संस्कार को ध्वनि के माध्यम से प्रकट करता है, वही तात्विक शब्द स्वरूप है। महर्षि पाणिनि की एतद्विषयक अवधारणा उनके "स्वंरूपं शब्दस्या शब्द संज्ञा" इस सूत्र से अभिव्यंजित होती है। शब्द की दो दशाएँ हैं—एक रूपात्मक और दूसरी अर्थात्मक। प्रथम शब्द स्वरूपात्मक है अर्थात् निजोच्चारित रूप है और द्वितीय तदभिव्यंग्यशब्दानुविद्ध अर्थ रूपात्मक है। प्रथम का भाषाशास्त्र में और द्वितीय का लोकव्यवहार में प्राधान्य है। इस संकेतमात्र को स्पष्ट करते हुये पतञ्जलि ने शब्दगत द्विविध सत्व को स्वीकार किया—"अस्त्यन्यद्रूपाद् एवं शब्दस्येति किं पुनस्तत् ? अर्थः[2]।" इसी को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि ध्वन्यात्मक शब्द के उच्चारण के पूर्व वक्ता के मन में विवक्षा रूप शब्द भावना अनिवार्य है। वही शब्द-भावना ही वक्ता को नियत अर्थ के अभिधायक शब्द के उच्चारण के लिये प्रेरित करती है। इन द्विविध शब्दों का साङ्कर्य अर्थ ज्ञान का कारण होता है। इनकी पार्थक्येन प्रतीति शास्त्रज्ञों को भी श्रमसाध्य होती है। जिस प्रकार—"घटमहं जानामि" वाक्य में कम्बुग्रीवादिमत् घट रूपात्मक बोध तथा तदाकाराकारिता ज्ञानस्वरूप में साङ्कर्य के कारण दोनों की अन्तःप्रतीति सहजतया होती है, वैसे ही श्रुत शब्द में शब्दभावना रूप अर्थ एवं शब्दस्वरूप दोनों ही विद्यमान रहते हैं।[3] भर्तृहरि ने भावनात्मक शब्द को ध्वनि रूप शब्द का निमित्त माना है।[4] इसीलिये महाभाष्य में ध्वन्यात्मक शब्द को शब्द गुण कहा गया है—'ध्वनिः शब्द गुणः'। आगे अन्य कारिका में भर्तृहरि कहते हैं कि अन्तःस्थ व्यक्त वागात्मा ही स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये कण्ठताल्वादिसंयोग से लोक में प्रसिद्ध ध्वन्यात्मक शब्द में परिवर्तित हो जाती है।[5]

अपि च वक्ता के द्वारा वक्ष्यमाण शब्द की अवधारणा और तदर्थ सन्निवेश

---

१. वा० प० ३/३१।।
२. म० भा० १/१/६८ ।।
३. वा० प० १/५०
४. वही, १/४४
५. वही, १/११२

उच्चारण के पूर्व ही हो जाता है। ध्वनि केवल उस पूर्व वितर्कित शब्द का ग्रहण कराती है।[१]

महाभाष्य टीका में 'अथवा स्फोटोध्वनिश्च' के द्वारा अन्तःस्थ शब्द भावना रूप शब्द को स्फोट की संज्ञा दी गई है। स्फोट का विवेचन आगे किया जायगा।

स्फोटात्मक शब्द ही ध्वन्यात्मक शब्द से अभिव्यंग्य है, एतन्मूलक विचार महाभाष्य की टीका में प्रदीपकार ने लिखा है—

"शब्दस्य व्यंजकाध्वन्यः उपाध्यायेनोत्पाद्यमाना भिन्नाऽपि सादृश्यातत्वेनाध्यवसीयमाना श्रोतुः पुनः पुनः श्रोत्र देशं गच्छन्तो व्यक्तिस्फोटरूपं जातिस्फोटरूपं वा शब्दमभिव्यंजयन्ति।"[२] नादात्मक शब्द से अतिरिक्त तात्विक शब्द का स्वरूप भामह ने इस प्रकार बताया है—

"स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दाः संकेनितानर्थान् मन्यन्यंते पारमार्थिकान्॥"

वैयाकरण मूर्धन्य नागेश ने "ननु कोऽसौ शक्त्याश्रयः शब्दः? इस प्रश्न के समाधान में ध्वन्यात्मक शब्द को असमर्थ बताते हुये लिखा है—

"नापि संहताः उच्चरित प्रध्वंसित्वेन यौगपद्यासम्भवात्, उत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वाक्षणस्थायित्वात्। 'अतः वर्ण समुदाय रूप शब्द शक्त्याश्रय (अर्थबोधक) नहीं हो सकता है। उनके अनुसार स्फोट ही शक्त्याश्रय है।

"तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः[३]। अर्थात् मध्यमा वाणी ही स्फोटात्मक है। वही वास्तविक शब्द है। वैखरी के द्वारा वही अभिव्यंग्य है। वही शक्त्याश्रय शब्द है।

वैखरी नाद के द्वारा उच्चार्यमाण शब्द सक्रम एवं उच्चरित प्रध्वंसी होता है। अतः उसमें पौर्वापर्य एवं यौगपद्य का अभाव होने से वह अर्थ ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में नागेश ने 'परः सन्निकर्षः' १/४/१०९ सूत्र के भाष्य को उद्धृत करते हुये बुद्धिस्थ शब्द के द्वारा उसका समाधान किया है—[४]

"बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम्॥

बुद्धि विषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्। यः एषः मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति — 'अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः अस्मिंश्च शब्देऽयं तावद्वर्णास्ततोऽयं ततोऽयम् इति।"[५]

---

१. वा० प०, १/१४७।
२. लघु मञ्जूषा; रत्नप्रभा टीका पृ० १९५।
३. लघु मञ्जूषा पृ० १३५।
४. लघु मञ्जूषा पृ० १५१।
५. म० भा० १/४/१०९।

अर्थात् वक्ता की बुद्धि में स्थित शब्द सहित तद्वाच्य अर्थ को पौर्वापर्य रूप से समझ कर उसी रूप में उसका प्रयोग करता है। 'इस शब्द' का 'यह' अर्थ है, 'इस' शब्द में प्रथमतः 'इस' वर्ण का उच्चारण होगा। यह निर्णय बुद्धि में स्थित शब्द को अभिव्यंजित करने वाले सूक्ष्म उच्चारण के द्वारा पहले करके तब उसी रूप में वैखरी नाद का उच्चारण होता।

"अयमिति बुद्ध्युपारूढ स्वमात्रश्रव्य सूक्ष्मोच्चारण—व्यंग्यशब्दः परामर्शः।[1]

लोक व्यवहारोपयोगी पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी रूप वाक् क्रमशः उत्तरोत्तर स्थूलतर हैं। अतएव बुद्धिस्थपश्यन्ती रूप शब्द ही सूक्ष्मोच्चाण से अभिव्यञ्जित होकर क्रमशः ध्वन्यात्मकता को प्राप्त होता है। पश्यन्ती रूपा वाक् अर्थानुविद्ध होती है। इसका भी मूल है परावाक्, जिसका हृदयदेशाकाश में निवास है। नागेश ध्वनि रूप एवं तदभिव्यंग्यस्फोट रूप शब्द दोनों की सत्ता स्वीकार करते हुये लिखते हैं।—

"अयं च शब्दस्तत्तत्प्राणिहृदयदेशावच्छिन्नाकाश देशस्थः, सर्वसमष्टेर्विराजो हृदयरूप बाह्याकाश देशस्थश्च। स च लाघवात् विभुः एक एव।"[2] पूर्वोक्त शब्द (परारूप) व्यष्टि रूप से प्राणियों के हृदयदेशाकाश में रहता है और समष्टि रूप विराट्, जिसका सम्पूर्ण ब्रह्माण्डगत आकाश ही हृदय है, उस विराट् के हृदयरूप बाह्य आकाश में भी शब्द रहता है। विभु और लघु होने से वह सर्वत्र एक काल में रह सकता है। एतावता अन्तर्हृदयाकाश में स्थित शब्द स्फोटात्मक है और बाह्यकाश में स्थित शब्द ध्वन्यात्मक है। बाह्याकाश में ही शब्द की ध्वनि तरंगें रहती हैं। उन्हीं ध्वनि तरंगों से अन्तःस्थ शब्द अभिव्यजित होता है।

डा० राम सुरेश त्रिपाठी ने नागेश के मत को उद्धृत करते हुये लिखा है— "नागेश ने प्रतीत पदार्थ को पदार्थबोधक रूप में लिया है। उनके अनुसार पदार्थबोधक रूप में प्रसिद्ध श्रोत्र ग्राह्य ध्वनि समूह का नाम शब्द है। किसी के मत में प्रतीत पदार्थक शब्द या वक्तव्य उन लोगों के लिये है जो स्फोट को नहीं मानते, किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते हैं। उनके मत में समुदित वर्ण समूह का किसी वस्तुविशेष के लिये बुद्धि द्वारा उपपादित संस्कार शब्द है।[3]

मञ्जूषा सम्बन्धी उनकी मान्ताओं को दृष्टिगत करते हुये कहा जा सकता है कि नागेश ध्वन्यात्मक एवं स्फोटात्मक उभयविध शब्दों को मानते थे। साथ ही प्रमुख- स्फोटात्मक शब्द की है, क्योंकि उन्होंने अर्थ बोधकता उसी में माना है। इस अभिप्राय को अधिक स्पष्ट करते हुये लिखते हैं— वक्ता के यत्न से उत्पन्न वर्ण रूप ध्वनियाँ ही नष्ट होती हैं, शब्द नहीं। शब्द स्वानुरक्त अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार शब्दगत क्रमिकता एवं ध्वन्यात्मकता (जो आरोपित है) के नाश हो जाने पर भी पुरुष बुद्धिस्थ अर्थ का बोध तत्रस्थ शब्द कराता है, क्योंकि (एक देशस्थ होने से) उसी

१. मंजूषा, पृ० १६० ।
२. ल० मञ्जूषा, पृ० १६२ ।
३. सं० व्या० द० इ० पृ० ।

से उसका सम्बन्ध है। वह (स्फोटात्मक) शब्द वर्ण-संस्कारों से प्रतिबिम्बित होकर अनन्त पदरूपता को प्राप्त होता है और सर्वार्थाभिधान में समर्थ होता है।[1]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द की परिभाषा करते हुये लिखा है—येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।[2]

उक्त लक्षण 'गौरित्यत्र कः शब्द ?' के उत्तर में बताया है। सामान्य रूप से इसका अर्थ यही होता है कि जिसके उच्चारण से सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर एवं सींग वाले प्राणी (रूप अर्थ) का बोध हो वह शब्द है।

महाभाष्य की टीका में भर्तृहरि ने 'येनोच्चारितेन' के सम्बन्ध में लिखा है कि इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं–"अत्रानेक दर्शनं······येनोच्चारितेनप्रकाशितेनेत्यादि। "कुछ आचार्य सक्रम उच्चारण को शब्द मानते हैं, अन्य अक्रम शब्दात्मा, जो बुद्धि रूप अर्थ का विगाहन करती है, उसे शब्द मानते हैं। इसका तर्क है जैसे अर्थान्तर में निबन्धित अर्थान्तर का प्रत्यायन नहीं करा सकता उसी प्रकार जो स्वरूप में निबन्धित है वह भी किसी अर्थ का प्रत्यायन नहीं हो सकता। अर्थात् 'स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' के अनुसार स्वरूपपरक शब्द अर्थ-बोधक नहीं हो सकता। कुछ आचार्य मानते हैं जिस प्रकार वर्ण का तुरीय भाग (वैखरीनाद) वर्ण जाति का अभिव्यञ्जक होता है, उसी प्रकार पद (शब्द) का तुरीयवर्ण (अन्तिम वर्ण) शब्द जाति का व्यञ्जक होता है। तस्मात् क्रमजन्मा वर्णों में अंतिम वर्ण से पद जाति रूप (यथा वृक्ष से 'वृक्षत्व' रूप) व्यंजित होता है। अर्थात् जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यही अर्थरूप शब्द ही स्फोट ह।

कुछ आचार्यों के अनुसार शब्द दीपक के समान द्विधा शक्ति सम्पन्न होता है—एक तो स्वरूप प्रकाशन की शक्ति और दूसरी स्वबोध्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति। अतः 'येनोच्चारितेन' का अर्थ प्रकाशितेन तथा उच्चारितेन दोनों प्रकार से करके यह सिद्ध करते हैं कि शब्द-स्वरूप का प्रकाशन तथा स्ववाच्य अर्थ का भी प्रकाशन करता है।[4]

समीक्षा—इस प्रकार हमारे सामने तीन प्रकार के विचार आते हैं—

१. सक्रम वर्ण समुदाय (ध्वन्यात्मक) शब्द,

२. अक्रम अर्थ संश्लिष्ट बुद्धिस्थ शब्द,

३. प्रकाश्य एवं प्रकाश शक्ति सम्पन्न शब्द।

ध्वनिरूप शब्द का उच्चारण अनिवार्य रूप से स्वानुरूप बुद्धिस्थ शब्द को अभिव्यंजित करता है और यह अभिव्यक्ति शब्द स्वानुविद्ध अर्थ का प्रत्यायन करता

१. ल० मञ्जूषा, स्फोटनिरूपण।

२. म० भा० पश्य, पृ०; १७ बम्बई प्रकाशन; १९५१।

३. म० भा० पश्य शा०, त्रिपादी टीका, पृ० ५ ।।

४. म० भा० त्रिपादि टीका पृ० ५।

है। ध्वनि से अभिव्यंजित हुआ बुद्धिस्थ शब्द का प्रत्यायक होता है। वह विश्लेषण लोकव्यवहार से अतिरिक्त आन्तरिक शास्त्रीय विवेचन है। वस्तुतः यही तो महाभाष्य का भी विवेच्य विषय है। जैसा कि आगे चलकर "तपरस्तत्कालस्य" एवं "परः सन्निकर्षः" आदि सूत्रों में विशद रूप से वर्णित है। अतएव टीका में भर्तृहरि कहते हैं—'य एव लौकिकः, असावेवाश्रियते'। अपि च, बोधनेच्छा से उच्चरित वर्ण-समुदाय। (भाषात्मक) बुद्धिस्थ शब्द का परिणाम है। अथवा श्रोता में बुद्धिस्थ शब्द अनिवार्य रूप से अभिव्यंजित होकर अर्थ का बोध कराता है। प्रतीक पदार्थ ध्वनि से दीपक के समान प्रकाश एवं उच्चारण द्विविध शक्ति सम्पन्न शब्द का ग्रहण किया जाना उचित है।

मेरी इस धारणा की पुष्टि इस रूप में भी होती है कि भाष्यकार ने प्रमुखता प्रदान करते हुये पहले 'येनोच्चारितेन प्रकाशितेन"[1] के द्वारा बुद्धि स्फोट रूप शब्द का कथन किया है और बाद में अनुशास्य रूप ध्वन्यात्मक शब्द का कथन किया है। इस प्रकार प्रारम्भ में सूत्र रूप में प्रयोगपरक (ध्वन्यात्मक) और भाषा तात्विक (स्फोटात्मक) उभयविध शब्द का कथन करके आगे उसको विस्पष्ट किया है।

अर्थप्रतिपादक अन्तःस्थ शब्द की कल्पना यद्यपि पाणिनि ने भी की थी, महाभाष्यकार ने उसको सुस्पष्टता प्रदान की, किन्तु महान् भाषाशास्त्री भर्तृहरि ने उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हुये विचार और तर्क की कसौटी पर कस कर खरा बना दिया। वाक्यपदीय के प्रारम्भ में ही कहते हैं—

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"[2]

शब्द तत्व अक्षर, अनादि और अखिल जगत् का स्वशक्ति से विस्तारक है। सम्पूर्ण सांसारिक प्रक्रिया उसी शब्द रूप ब्रह्म का विवर्त है। पर यह तो शब्द का आन्तरिक स्वरूप हुआ जो सूक्ष्म है, अन्तरिन्द्रिय संवेद्य है। बहिरिन्द्रिय ग्राह्य स्थूल शब्द है, जिसे ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक कहा जाता है। उक्त विवर्त का स्पष्टीकरण हम इस रूप में देखते हैं—

"तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रतिपद्यते॥"[3]

शब्द का सबसे भीतरी स्तर (जहाँ शब्द और अर्थ एकाकार हैं) स्फोट है, जो बुद्धि में (धारण योग तथा मन से परे है) अवस्थित है, मन विवक्षा से युक्त होकर प्राण को प्रेरित करता है, तब प्राण के विभिन्न प्रकार के प्रयत्न संघात के कारण "वैखरी वाक्" प्रकाशित होती है। मन के स्तर से भेद का प्रतिभास प्रारम्भ हो जाता

१. महाभाष्य टीका पृ० ५, ६।
२. वा० प० १/१।
३. वा० प० १/१७॥

है। अन्तःस्थ शब्द तत्व का ही विवर्त ध्वनि रूपात्मक शब्द है। आगे भर्तृहरि लिखते हैं—

"द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एकोनिमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥"[१]

अर्थात् उपादान (वाचक) शब्द दो प्रकार के होते हैं। इनमें से (अर्थबोध के लिये) एक शब्द दूसरे प्रकार के शब्दों का कारण है और दूसरे का प्रयोग अर्थ ज्ञान के लिये होता है। भर्तृहरि ने शब्द मात्र के लिये उपादान शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् ध्वन्यात्मक और स्फोटात्मक उभयविध शब्द उपादान पद वाच्य हैं।

शब्दोच्चारण के अनन्तर शब्दस्वरूप एवं उसके अर्थ में दो प्रकार की क्रिया देखी जाती है। एक तो वर्णसमूह रूप शब्द का उच्चारण होता है और दूसरे उस उच्चरित शब्द से अर्थ प्रत्यायक शब्द (स्फोटात्मक शब्द) अभिव्यक्त होकर अर्थज्ञान कराता है। अतः जो अर्थ प्रत्यायक (बुद्धिस्थ) शब्द है उसका निमित्त ध्वन्यात्मक शब्द हुआ। अर्थ प्रत्यापन में एक शब्द साक्षात् कारण है और दूसरा उसका निमित्त कारण हुआ। ये दोनों प्रकार के शब्द (निमित्त एवं प्रत्यायक) उपादान कहे जाते हैं।[२]

१. स्फोटात्मक शब्द उपादान है, क्योंकि उससे अर्थ का ज्ञान होता है। 'उपादीयतेऽनेनार्थः' जिससे अर्थ का उपादान (आग्रहण) होता है, वह स्फोटात्मक शब्द उपादान है। वक्ता की दृष्टि से यह (स्फोटात्मक शब्द) ध्वनि का उपादान कारण है, क्योंकि अन्तःस्थ शब्द विवक्षा से प्रेरित होकर वही ध्वनि रूप में विवर्तित हो जाता है। श्रोता की दृष्टि से ध्वनि रूप शब्द स्फोटात्मक शब्द को अभिव्यंजित करता है (अर्थ के बोधन में समर्थ बनाता है)। अतः ध्वनि रूप शब्द भी उपादान कारण है (बुद्धिस्थ शब्द का)। तस्माद् उभयविध शब्द उपादान पद वाच्य हुये। यह व्याख्या हरिवृत्ति में भी की गई है—

उपादेये समुदायः उपादानः। तथाहि स्वरूप पदार्थेषु अवयवानामनुपादेयत्वात् विभागानाम प्रतिपत्तिः।"[३]

डॉ० त्रिपाठी ने भी इसी अभिप्राय का समर्थन करते हुये लिखा है—"द्विविध शब्दों में एक निमित्त और दूसरा प्रतिपादक है। अन्वय व्यतिरेक की दृष्टि से दोनों निमित्त और प्रतिपादक होते हैं। "अक्रम को निमित्त और सक्रम को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अक्रम क्रमवान का निमित्त होता है। श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है अर्थात् क्रम अक्रम का निमित्त हो जाता है, क्योंकि उच्चरित शब्द क्रमवान् के रूप में श्रोता तक पहुँचता है, परन्तु उसी क्षण श्रोता की प्रत्यापक शक्ति अक्रम रूप में ही रहती है।[४]

---

१. वा० प० १/४४ ॥
२. सं० व्या० द०; त्रिपाठी; पृ० ८३।
३. वा० प० हरिवृत्ति, १/४४।
४. सं० व्या० द०, पृ० ८३।

भर्तृहरि ने भाषातात्विक शब्द (स्फोटात्मक शब्द) की पूर्व कल्पना को स्थिरता एवं प्रौढ़ता प्रदान करते हुये अनेक विधि से उसका प्रतिपादन किया है—"यदन्तः शब्दतत्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।"[1] बुद्धिस्थ शब्द को भर्तृहरि ने अक्रम रूप बताया है और ध्वन्यात्मक शब्द को सक्रम । जिस समय वक्ता और श्रोता दोनों शान्त रहते हैं उस समय बुद्धिस्थ शब्द अपने सम्पूर्ण अवयवों को समेटे हुये अक्रम और शान्त अवस्था में विद्यमान रहता है । जिस प्रकार गुण संसार की लय दशा में साम्यावस्था को प्राप्त होकर शान्त रहते हैं किन्तु उसके विक्षोभ से सर्ग प्रारम्भ होता है । वैसे ही जब वक्ता बुद्धिस्थ[2] जगत् का बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का या श्रोता अथवा स्वयं के मानसिक जगत् का विस्तार करने की इच्छा करता है तब विवक्षा से वक्ता के बुद्धिस्थ शब्द (अक्रम) में विक्षोभ होकर प्राणोत्क्रमण आदि प्रयत्नों से इष्टार्थ मात्र के प्रत्यापक शब्द सक्रम हो उठते हैं और कण्ठताल्वद्यभिघात से ध्वनि के रूप में विकृत हो जाते हैं। तब वह सक्रम ध्वनि श्रोता के कर्णरन्ध्र के माध्यम से अन्तर्निविष्ट होकर उसके बुद्धिस्थ शब्द (अक्रम) को अभिव्यंजित करती हैं । यद्यपि ग्रहण सक्रम होता है, किन्तु अर्थ प्रत्यापन की स्थिति तक पहुंचने में वह भी अक्रम हो जाता है । इस प्रकार वक्ता की दृष्टि से पहले शब्द अक्रम रहता है, विवक्ष से वही सक्रम हो जाता है तथा श्रोता की दृष्टि से उच्चारित सक्रम ध्वनि बुद्धिस्थ अक्रम शब्द को अभिव्यंजित करके स्वयं तदाकाराकार हो जाती है । अर्थात् पुनः अक्रमता की स्थिति में आ जाती है । उसी अक्रम एवं बुद्धिस्थ शब्द को स्फोट रूप या तात्विक रूप शब्द कहा जाता है। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि में भी इसका अनुमोन हुआ है । यद्यपि अधिक विचार इसलिये नहीं किया कि इसका सम्बन्ध साक्षात् भाषा से नहीं है, अपितु यह एक दार्शनिक विवेचन है और भाषाविज्ञान का प्रयोजन मात्र भाषात्मक शब्दों से ही होता है । अतएव भाषोपयोगी व्याकरण में भी इसका विवेचन उतना नहीं हुआ है जितना व्याकरण दर्शन के ग्रन्थों में हुआ है ।

हेराविलतुस के अनुसार 'शब्द का अस्तित्व प्रकृति में है । शब्द पदार्थों की छाया के समान हैं । ये उन पर्वतों, वृक्षों आदि के चित्र के समान हैं, जिनकी छाया एक स्वच्छ नदी में पड़ती है । अथवा यह हमारी उस छाया के समान है, जो दर्पण के समान हमें दिखाई पड़ती है ।[3] इसी सम्बन्ध में डेमाक्रितुस का कहना है कि शब्द प्रकृति की मूर्तियाँ नहीं हैं और न ही आत्मा के दर्पण पर प्रकृति द्वारा बनायी गयी छायाये ही हैं, अपितु वे मूर्तियाँ हैं, कलाकृतियाँ हैं, भले ही वे पत्थर या धातु की बनी न हों । वे ध्वनि द्वारा निर्मित मूर्तियाँ हैं ।[4] इन छाया चित्रों की तुलना स्फोट

---

१. वा० प० २/३० ।

२. बौद्धार्थ निरूपण, मंजूषा ।

३. 'भाषाविज्ञान पर भाषण' में मैक्समूलर द्वारा उद्धृत, पृ० २०६ ।

४. वही, उद्धृत ।

या अन्तःस्थ शब्द से करने पर दोनों में अत्यन्त एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। अन्तःस्थ शब्द को आधुनिक भाषावैज्ञानिक बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'भाषा रहस्य' में, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने 'वाग्विज्ञान' में तथा अन्य भाषावैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।

ज्ञानात्मक शब्द

शब्द अर्थात्मक भावना से वियुक्त नहीं होता, यत्किंचित् ज्ञानात्मक ही होता है। ज्ञान का ही परिणाम या विवर्त शब्द है। इन दोनों पक्षों का निर्देश वाक्यपदीय में किया गया है।[१]

"एवं च ज्ञानस्यैव परिणामो विवर्तो वा शब्दः।"[२]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द के ज्ञानात्मक होने का निर्देश प्रकाशशीलता के माध्यम से किया है—"अथवा ज्योतिर्वज्जज्ञानानि भवन्ति।" इसकी टीका करते हुये कैयट ने लिखा है—"ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति।"[३] अर्थात् ज्ञान की शब्दरूपता प्राप्त होती है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए हरि ने लिखा है—शब्द के उच्चारण में शब्दभावना का होना अनिवार्य है। वह शब्दभावना वक्ता के ज्ञान के आश्रित हो सकती है।[४] अतः वक्त ज्ञानाश्रित शब्दभावना ही उसकी वाणी का निमित्त होता है। अतएव वक्ता और श्रोता के सामंजस्य से ही शब्दव्यापार का प्रयोजन सिद्ध होता है। जिस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये वक्ता शब्द का उच्चारण करता है, श्रोता उस शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण करता है। यही ज्ञान की शब्दरूपता है।

ज्ञान की शब्दत्मकता को भर्तृहरि ने विशेषरूप से स्पष्ट किया है—'स मनोभावमापद्य ....।'[५] इसी को मनीषियों ने प्रतीकात्मक शैली में भी कहा है—चत्वारि ऋङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः........................त्रिधाबद्धो वृषभोरोरवीति इत्यादि। वृषभ की भाँति ही वक्ता में विद्यमान शब्द श्रोता के अर्थबोधन के लिये शब्द संस्कार रूप गर्भ का वपन करता है। अर्थात् शब्दोच्चारण से वक्ता की बुद्धि के साथ श्रोता की बुद्धि में स्थित शब्द के साथ सायुज्य होता है। इसे ही शाब्दिक जगत में परम पुरुषार्थ माना गया है।[६] पुनश्च ज्ञान प्रकाश रूप होता है। अतएव अवबोधात्मक ज्ञान ही शब्दरूपता को प्राप्त करता है और वही (शब्द ही) प्रकाशक होता है। शब्द के अभाव में ज्ञान होते हुये भी वह प्रकाश रूप नहीं हो सकेगा, क्योंकि

---

१. वा० प० १/१०८, १/११२–१५।
२. व्या० दर्शन पीठिका, रामाज्ञा पाण्डेय, पृ० १०।
३. म० भा० १/४/२६
४. वा० प० १/१२२
५. वा० प० १/११३–१५
६. वही, वा० प० १/१३२–३१।

'शब्दानुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते'।[1] यद्यपि अक्षनिकोचादि से भी ज्ञान का प्रकाश होता है, किन्तु जिस रूप में शब्दरूपता से ज्ञान प्रकाशित होता है उस रूप में अन्य संकेतादि के द्वारा नहीं। अतः सर्वविध ज्ञान, विज्ञान और कला की उपनिबन्धनी शब्दरूपता ही है। इससे ज्ञान की शब्दरूपता सिद्ध होती है।

स्पष्ट करने के लिये प्रकारान्तर से हम इस प्रकार कह सकते हैं कि आन्तर ज्ञान ही सूक्ष्म वाणी (परा वाणी) के रूप में स्थित है। वही अपने को प्रकाशित करने के लिये या व्यक्त करने के लिये शब्द रूप में विवर्तित होता है। प्रकाशरूप शब्द मनोभाव को प्राप्त होकर तेज (शरीर-व्यापक अग्नि) से परिपक्व होकर प्राणवायु में प्रवेश करता है। यही प्राणवायु उर्ध्व प्रेरित होती है। अन्तःकरण तत्व के आश्रयीभूत वायु अन्तःकरण धर्म से समाविष्ट होकर शरीर की अन्तःस्थ ऊष्मा की सहायता से विवर्तित होती है। आत्मग्रन्थि को पृथक्-पृथक् रूप में विभक्त करके प्राणवायु वर्णों को अभिव्यक्त करके स्वयं लीन हो जाती है। वक्ता का प्रकाश रूप ज्ञान स्वयं की अभिव्यक्ति के लिये पश्यन्ती अवस्था में रूपायित होता है। इस अवस्था में न्यूनतः अभिव्यक्त हुआ शब्द और अर्थ उभयात्मक ज्ञान (जो मनोभाव को प्राप्त हो चुका है) वैद्युत तेज से परिपक्व होकर प्राणवायु का आश्रय लेता है। यह उर्ध्वगतिक ज्ञान ही शब्द और अर्थ के रूप में मध्यमावस्था को प्राप्त होता है। अनन्तर वही प्राण वायु के द्वारा कण्ठाद्यभिघात से वैखरी रूप में अभिव्यक्त होता है जिससे उस ज्ञान की वर्णात्मक अभिव्यक्ति होती है—

"स एव जीवोविवरप्रसूतिः प्राणेनघोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोभवं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरोवर्ण इतिस्थविष्ठः॥"

मंत्र महाविज्ञान में बताया गया है कि मानसिक चिन्तन का रूप भी शब्द (वैखरी) की तरह तरङ्गायित होकर परितः व्याप्त हो जाता है। स्पन्दनक्रिया अहर्निशिकी है। इसलिये मन्त्रों द्वारा आन्तरिक चिन्तनों की फोटो भी ली जा सकती है। स्पन्दन-जनित ध्वनि से अर्थरूप जगत् अनुप्राणित है एतावता शब्द की ज्ञानात्मकता सिद्ध होती है।[2]

२. वाय्वात्मक शब्द—

वक्ता विवक्षा से अभिप्रेत अर्थ को एकत्र कर प्रणिधान करता हुआ उच्चारण के लिये प्रयत्न करता है। उस प्रयत्न से प्रेरित वायु लब्धक्रिय होकर कण्ठादि अभिघात से शब्दरूपता को प्राप्त होती है। 'स प्रतिद्यद्रव्यस्य पृथिव्यादेः संयोगाद् विभागस्योत्तिर्दृष्टा ना प्रतिद्यद्रव्यस्य वायोः कण्ठताल्वादिषु यः संयोगः तस्य विभागजनकता न सम्भवति। ततश्च वायुः कण्ठताल्वादेः संयोगेनविभागमुत्पाद्य इति न युज्यते इति चेत्, तत्रोच्यते—

---

१. वा० प० १/१२३

२. मंत्र महाविज्ञान, पृ० ११३ चमन लाल गौतम, ख्वाजा कुतुबनगर, बरेली।

"तस्यकारण सामर्थ्यात् वेगप्रचयधर्मण: ।
सन्निपाताद् विभज्यन्ते साखत्योऽपिमूर्तय: ।।"[1]

वायु की शब्दरूपता तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट है । तै० प्रा० का सू० है—"वायु शरीर समीरणात् कण्ठोरसो: सन्धाने ।" २/२।।

यहाँ वायु शरीर में टीकाकार ने दो प्रकार से समास किया है । "वायुश्चशरीरञ्चतयो: समीरणं तस्मात् अन्येत्वाहु: वायो शरीरे सत: समीरणं तस्मात् शब्दोत्पत्तिः । अत्र, राजदन्तादित्वाच्छरीरशब्दस्यपरनिपातः । शरीरे वायु:, वायु शरीरं, तस्य समीरणं तस्मात् अस्मिन् मते वायोः समीरण कर्तृत्वमेव, न तु कर्मत्वम् ।"

वाय्वात्मक शब्द का निर्देश मतान्तरों के द्वारा भर्तृहरि ने भी किया है ।[2] शुक्ल यजुर्वेद में भी वाय्वात्मक शब्द का निर्देश है । "यो वायु: सम्यक् करणैरूपाहितोवेणुशंखादिभि: शब्दी भवति स एव संघातीन् प्राप्य वाग्भवति ।"[3]

मीमांसा दर्शन में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पट में तन्तु के समान शब्द में वायवीय अवयव नहीं रहते हैं । यदि ऐसा होता तो शब्द का भी वायु के समान स्पर्श किया जा सकता, बधिर को भी स्पर्श से शब्द का अनुभव होता और श्रोत्र के द्वारा उसकी उपलब्धि न हो सकती—

शिक्षाकारा: आहु: वायुरापद्यते शब्द शब्दतामिति । नैतदेवम् । वायवीयश्चच्छब्दो भवेद् वायो: सन्निवेश: स्यात् । न च वायवीयानवयवाञ्छब्दे सत: प्रत्यभिजानीमो यत्रपटस्य तन्तुमयान् । न चैवं भवति । स्याच्चेदेवं स्पर्शनेनोपलभेमहि । न च वायवीयानवयवाञ्छब्दगतानुस्पृशामस्तस्मान् न वायु कारणक: अतो नित्य: ।[4] अपि च—

"न चैतदुपद्यते । वायवीयश्च्छब्दोभवेत् । स्पर्शनेनबधिरैरप्युपलभ्येत् । स्थान्मतम् अभिभूतत्वात् स्पर्शनेनानुपलब्धिरिति । तत्र प्रत्ययोपलब्ध्यर्हत्वात् । यदि ह्यसावभिभूत: श्रोत्रेणापि नोपलभ्येत इति ।[5]

अण्वात्मक शब्द

परमाणुवादी आचार्यों के अनुसार सर्वसमर्थ परमाणु है । उनके अनुसार भेद और संसर्ग दो वृत्ति होती हैं । इन्हीं वृत्तियों से वे परमाणु ही छायातपादिवत् शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं, किन्तु परमाणु की नित्यता से शब्द की उपलब्धि नित्य

---

१. वा० प० १/१०९ ।
२. वही, १/१०८, ११५ ।
३. शु० य० प्रा० (१/८–९)
४. शा० भा० मी० द० १/१/२२
५. प्र० पं०, पृ० ३५५

नहीं होती। अर्थ बोध-नेच्छा प्रयत्न से प्रेरित शब्द परमाणु शब्द तन्मात्र रूपता को प्राप्त होते हैं।[1]

"शब्दः पुद्गल पर्यायः स्कन्धः छायातमादिवद्।[2] यह मत मुख्यतः जैनियों का है। इस मत में भी मीमांसकों के द्वारा कई आक्षेप प्रस्तुत किये गये। अदृश्यमान अवयव रूप पुद्गल से अवयवी कैसे उत्पन्न हो सकता है? बहुत से पुद्गलों के एकत्रीकरण में काठिन्य क्यों नहीं होता? कृश शब्द श्रोता के पास जाते हुये उड़ा क्यों नहीं दिया जाता? वाय्वाभिघात से वृक्षादिवत् उसका भी भेदन क्यों नहीं हो जाता! इत्यादि।[3] बाद में जैनाचार्य ने इन सभी प्रश्नों का निराकरण किया है।[4] शब्द स्पर्शवत्वात् मूर्त है। शब्द स्कंध रूप सावयव है। "यत्तु शब्दस्य स्कन्धात्मकत्वे वायुना अभिहतस्य लोकान्तर प्रसर्पणम्, इन्द्रियान्तरेण दर्शनं चेत्याक्षिप्यते तत् तमसो द्रव्यत्वमिच्छताम् मीमांसकाणाम् स एव दोषः आपद्यते।[5]

समीक्षा—अण्वात्मक शब्द सम्बन्धी मान्यता का निर्देश भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है—"अभ्राणीवप्रचीयन्ते शब्दख्याः परमाणवः।[6] अस्तु, इस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द के सम्बन्ध में तीन प्रकार की मान्यताएँ हैं। इनमें से किसी का सहजतया प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञानात्मक शब्द की मान्यता अधिक समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु वायु भी शब्द की उत्पत्ति में निमित्त कारण अवश्य है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर परमाणुवाद की मान्यता निराधार नहीं प्रतीत होती, किन्तु यह विषय शुद्ध रूप से 'विज्ञान' का होने के कारण आज 'इदमित्थम्' रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।

भाषा में वास्तविक सत्ता वाक्य की होते हुए भी भाषाशास्त्र में शब्द तत्व इतना महत्वपूर्ण एवं व्यापक प्रायोगिक इकाई है जिसके आधार पर ही सम्पूर्ण भाषात्मक ढाँचा स्थिर है। यह शब्द स्वरूप की कल्पना असत्य होते हुये भी सत्य रूप वाक्य से कहीं अधिक दृढ़ एवं विचार का समर्थ आधार है।

शब्दोत्पत्ति विषयक वैमत्य—

१. **उत्पत्तिवाद**—विचार-स्वातन्त्र्य भारतीय परम्परा की विविध-विधायिनी प्रक्रिया रही है। भारत में आस्तिक और नास्तिक उभयविध दर्शन का जन्म हुआ।

---

१. वा० प० १/१११–१२।
२. सि० वि० ६/२
३. न्या० मंजरी भा०, पृ० १६२।
४. द्रष्टव्य, सि० वि० टी० ८/१, पृ० ५६४–६५।
५. वही।
६. वा० प० १/११६।

नास्तिक दर्शन की दृष्टि में शब्द अनित्य अ कृतक स्वीकृत किया ही गया, किन्च कुछ आस्तिक दर्शनों ने जैसे न्याय, सांख्य, वैशेषिक आदि ने भी शब्द को कृतक और अनित्य सिद्ध किया है। इन सभी दर्शनों में विशेष रूप से न्यायदर्शन में ही शब्द के विषय में विचार किया गया है। नैयायिकों (परमाणुवादी के अनुसार वाय्वाभिघात से शब्द धर्मी परमाणुओं में घर्षण होता है और शब्द की उत्पत्ति होती है। अतः शब्द कृतक है और 'कृतकस्यानित्यत्वात्' उसका विनाश होता है। द्रव्यवत् शब्द भी उत्पन्न-विनष्ट होता है। अतः ये शब्द की उत्पत्ति और विनाश स्वीकार करते हैं।[1]

२. **अभिव्यक्तिवाद**—शब्द तत्व को स्वीकार करने वाले शाब्दिक तथा वेदान्ती शब्द की उत्पत्ति न मानकर उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि में शब्द उत्पन्न नहीं होता, अपितु अनुकूल परिस्थितियों से उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये उसका विनाश भी नहीं होता। वह नित्य है, कूटस्थ है, अविचलित है। वैयाकरण और वेदान्ती—ये दोनों ही शब्द को नित्य स्वीकार करते हैं। शब्द नित्य-तन्मात्रा रूप में विद्यमान रहता है। अनुकूल परिस्थितियों से वह अभिव्यक्त हो उठता है। अर्थात् श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य हो जाता है। महाभाष्यकार ने पश्पशाह्निक में तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्म-काण्ड में इसे स्वीकार किया है। इस निबन्ध में भी प्रसंगतः इसका विवेचन आगे किया जायगा।

३. **उभयमत विवेचन**—विचारणीय है कि उत्पत्ति और अभिव्यक्ति किसकी होती है? जैनियों के 'स्याद्वाद' सांख्य के सत्कार्यवाद और वेदान्त के भ्रमवाद के अनुसार उत्पत्ति उसी की होती है, जो पहले से कारण रूप में विद्यमान रहता है।[2] जो नहीं है (नितान्त अभाव है) उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। लेकिन अन्य नैयायिक मानते हैं कि किसी द्रव्य मात्र के विकार से अन्य की उत्पत्ति है और इस सिद्धान्त को पोषकता प्रदान करने के लिये 'अभाव' को भी एक तत्व मानते हैं।[3]

शब्द की उत्पत्ति के पूर्व उसका प्रागभाव रहता है और उच्चारण के बाद 'उच्चरितप्रध्वंसी' वर्ण का प्रध्वंशाभाव हो जाता है। उच्चारण प्रक्रिया से वर्ण उत्पन्न होता है और स्थिति के बाद विनष्ट हो जाता है। पर इस मत को समीचीन न मानते हुये अभिव्यक्तिवादी अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। ये वर्ण की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। इनका तर्क है कि उत्पत्ति उसी की होती है जिसका पहले से अभाव रहता है, किन्तु वर्ण या शब्द के विषय में ऐसा नहीं है। उसकी सत्ता सदैव विद्यमान रहती है। जैसे 'आकाश' वायु से सदैव पूरित रहने पर भी हमें उसकी प्रतीति तब तक नहीं होती, जब तक व्यज्यमान न हो, उसमें प्रवहण न हो। उसी प्रकार शब्द

---

१. न्यायदर्शन, गौतमसूत्र १३–१४।
२. सांख्यकारिका, कारिका ८, वेदान्तसार।
३. तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखण्ड।

के रहते हुए भी उच्चारण प्रक्रिया के अभाव में हमें उसकी तद्रूप में प्रतीति नहीं होती। श्रुतिवचन है—'तस्माद्वा एतदस्मात्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यो पृथिवी पृथिव्या अन्नौषधयः।' अर्थात् कूटस्थ, नित्य आत्मा की उपाधि रूप माया से (विवर्तभूत) आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि ·········आदि। इस मन्त्र में भी श्री पं० रघुनाथ शर्मा ने आकाश का अर्थ शब्द तन्मात्रा किया है।[१] उनके अनुसार अद्वैत सिद्धान्त में जो सूक्ष्मभूत पद से व्यवहृत होता है, वही सांख्यमत में शब्द तन्मात्रा पद से, न्याय मत में परमाणु पद से अभिहित किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मायोपहित आत्मा से शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। यद्यपि शब्द तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति कही गई है तथापि इसी (शब्द तन्मात्रा) से श्रोत्रेन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है और स्थूल शब्द की भी उत्पत्ति इसी से होती है। इस प्रकार शब्द तन्मात्रा से श्रोत्र, वायु और स्थूल शब्द (इन तीन) की उत्पत्ति होती है। एतावता शब्द तन्मात्रा सभी तन्मात्राओं की प्रकृति है। अतएव इसकी व्यापकता सिद्ध होती है। साथ ही नित्य विद्यमानता भी। अतएव पंचदशी में लिखा है—

"क्षितौ चटचटाशब्दो जले बुदुबुदुध्वनिः।
वह्नौ भुगुभुगु ध्वनिर्वायौ वीसीतिशब्दनम्॥[२]

अर्थात् जड़ चेतन द्रव्यमात्र में मूल रूप शब्द की स्थिति रहती है। इस प्रकार शब्द सर्वविद्यमानता सिद्ध हो जाने पर शब्द उत्पत्ति नहीं, अपितु उसकी प्रतीति ही मानना समीचीन है। यह तर्क मुख्यतः अद्वैत सिद्धान्त पर आधारित है।

पुनश्च शाब्द मत में भी अनेकधा तर्कों से वर्णाभिव्यक्ति ही स्वीकार किया गया है। महर्षि पाणिनि ने शिक्षासूत्र में शब्दोत्पत्ति प्रक्रिया का जो वर्णन "आत्माबुद्ध्या समेत्यर्क्षव् ······ वर्णान् जनयते।" इत्यादि से किया है। इसमें 'जन्' धातु का अभिव्यक्ति अर्थ में लक्षणा है। पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में 'सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक शब्द की नित्यता का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद का मन्त्र है—"वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे।"[३] नागेश ने भी मंजूषा में उद्धृत किया है।[४]

"बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवो व्यक्तात्मको भवत्।
स एव श्रुति सम्पन्नैः शब्द ब्रह्मेति गीयते।"

इनके अनुसार ब्रह्म की सिसृक्षात्मिका वृत्ति (माया) से बिन्दु की उत्पत्ति होती है।[५] यहाँ अचित् अंश से ही शब्द और अर्थ दोनों के संस्कार रूप अविद्या

---

१. चित्र निबन्धावली, पृ० ३।
२. पंचदशी, उद्धृत, चित्र निबन्धावली, पृ० ३ में।
३. यावद् ब्रह्मवितिष्ठतम् तावती वाक्—ऋग्वेद।
४. प्रपंचसारतंत्र, पट पटल १२ लोक।
५. लघु मञ्जूषा पृ० १४२।

का ग्रहण किया है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने अनेकधा शब्द की नित्यता सिद्ध करते हुये अभिव्यक्तिवाद को पोषित किया है—

"स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेनेसमीरिताः।
अभ्राणीव प्रतीयन्ते शब्दाख्यः परमाणवः॥"[1]

+

शब्दस्यपरिणामो यभित्याम्नाय विदोविदुः।
छान्दोभ्य एव प्रथमं एतद् विश्वं व्यवर्तत॥[2]

उपर्युक्त हरिकारिका से शब्द की नित्यता और व्यापकता सिद्ध होती है। और भी लिखा है—

"अजस्र वृतिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वेनोपलभ्यते।
व्यजनाद्वापुरिव स स्वनिमित्तात् प्रतीयते॥" ११७॥

अर्थात् अजस्र वृत्यात्मक शब्द, जो सूक्ष्म भूत के रूप में उपलब्ध होता है, वही वायु प्रतिघात से वैखरी रूप श्रोतव्य होता है। इस प्रकार इन्होंने भी शब्द की नित्यता को स्वीकार करके उसकी अभिव्यक्ति ही माना है। यदि शब्द की नित्यता (जो सभी वैयाकरणों ने माना है) स्वीकृत है तो उसकी उत्पत्ति नहीं, अपितु अभिव्यक्ति ही मानना पड़ेगा। अन्यथा—"एकदेशाविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते।" के अनुसार शब्द तन्मात्रा की भी नित्यता का व्याकोप संभव होगा। उक्त रीति से सिद्ध होता है कि शब्द ही प्रकृति का उपादान कारण है। अतः नैयायिकों का 'शब्दगुणक्रम आकाशः।' यह सिद्धान्त निरस्त हो जाता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो रेडियो आदि यन्त्रों के द्वारा जो शब्दों को ग्रहण किया जाता है, उसमें गतिशीलता का अनुभव किया जाता है, वह सम्भव हो जायगा, क्योंकि गुण निष्क्रिय होते हैं (गुणानां निष्क्रियत्वात्)।

समीक्षा—यद्यपि स्थूल रूप में उत्पत्ति और अभिव्यक्तिवाद में अन्तर दृष्टिगत होता है, किन्तु सूक्ष्मतया अवलोकन से यह भेद वास्तविक नहीं प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एक विचार प्रस्तुत है। "येनोच्चारितेन ······ शब्दः।" भाष्य में कैयट ने लिखा है—"वैयाकरणा वर्ण व्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्यवा० वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादि वर्णोच्चारणानर्थक्य प्रसङ्गात्। अनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्ति पक्षे यौगपद्येनोत्पत्यभावात् अभिव्यक्ति पक्षे क्रमेणै वाभिव्यक्त्या समुदायाभावादेक स्मृत्युपारुटनां वाचकत्वे सरोरसः इत्यादावर्थ प्रतिपत्य विशेष प्रसंगात्तद् व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यंग्यो वाचकः।'

अर्थात् वैयाकरण वर्ण से अतिरिक्त पद और वाक्य को ही वाचक मानते हैं। प्रत्येक वर्ण को वाचक मान लेने पर पदैक देश वर्ण के वाचक हो जाने पर द्वितीयादि

---

१. वा० पा० १/१११।
२. वा० प० १/१२१।

वर्ण अनर्थक हो जायेंगे। तब समुदाय में वाचकता मानने पर उत्पत्ति पक्ष में पदगत वर्णों की एकशः प्राप्ति नहीं होती, उनकी उत्पत्ति क्रमशः होती है और अभिव्यक्ति पक्ष में भी वर्णों का यौगपद्य दुर्लभ है, क्योंकि अभिव्यक्ति भी क्रम से ही होती है। अतः किसी भी पक्ष में वर्ण समुदाय (यौगपद्यवर्ण) की प्राप्ति सम्भव नहीं। यदि दोनों पक्षों में—"पूर्वपूर्व वर्णानुभव संस्कार सहकृतान्त्य वर्णानुभव हेतुकैकस्मृत्युपारुढानां पदानां वाचकत्वं स्यात्" के अनुसार वाचकता मान ली जाय तो नैयायिकों के मत में कार्य चल जायगा, क्योंकि वे वर्ण को अनित्य मानते हैं, लेकिन वैयाकरणों के मत में वर्ण की नित्यता के कारण सर्वदा अर्थ की प्रतीति सम्भव है—"ननु तस्य नित्यत्वे सर्वदार्थ प्रतीति प्रसङ्गः।"

और भी, सरो रसः इत्यादि में विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। अतः नाद रूप शब्द से अभिव्यङ्ग्य स्फोट रूप[1] शब्द ही वाचक होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्पत्ति पक्ष में (इस मत में उत्पत्ति के पूर्व वर्ण का कथंचिद् स्वरूप नहीं रहता) सभी ध्वनियों की एक साथ उत्पत्ति सम्भव नहीं। समुदाय के अभाव में शब्दवाचक नहीं हो सकते। यदि यह माना जाय कि क्रमशः जिन वर्णों की उत्पत्ति होती है, उसी क्रम से उनकी अर्थवाचकता को स्वीकार कर लिया जाय तो सर, रस आदि में विलोमार्थ प्रतीति हो सकती है। इसीलिये कैयट ने ध्वनि से व्यतिरिक्त स्फोट को वाचक माना है, किन्तु ध्वनियों का उच्चारण दोनों ही पक्षों (उत्पत्ति और अभिव्यक्ति) में आवश्यक है। उत्पत्ति पक्ष में वर्ण, शब्द, वाक्य आदि की पूर्व स्थिति नहीं रहती, वायु के संसर्ग से कण्ठताल्वादि अभिघात से ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। एक पद की, आदि से अन्त तक, सभी ध्वनियों का संस्कार बनता जाता है और पद रूप में बुद्धिस्थ संस्कार ही अर्थ प्रत्यापक होता है। इस मत में (अन्तःकरण) में किसी प्रकार की शाब्दी प्रकृति नहीं रहती है।

अभिव्यक्ति पक्ष में इतना तक उसी रूप में माना जा सकता है कि क्रमशः कण्ठताल्वाद्यभिघात से वर्णों की उत्पत्ति होती है (और इन ध्वनियों का नाश भी होता है) किन्तु इसके आगे इन्हीं को अर्थाभिधायक नहीं मानते, अपितु हृदिस्थ स्फोटात्मक शब्द को ध्वनियाँ (उच्चरित क्रम से) अभिज्वलित कर देती हैं और वही (स्फोट रूप शब्द) ही वाचक होता है। एतावता नाद रूप शब्द की उत्पत्ति[2] से स्फोट रूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है और वही अर्थाभिधायक होता है।

अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार शब्द की दो स्थितियाँ मानी गयी है—

(१) बाह्य स्थिति एवम्

(२) आन्तर स्थिति।

---

१. 'शब्द स्वरूप' प्रकरण में देखिये।

२. कृत्स्न शब्दस्वरूपस्यग्राहकः प्रयोग एव भवतीति पतञ्जलिना व्याचष्ट।

बाह्य शब्द ध्वन्यात्मक होता है।[1] कण्ठताल्वाद्यभिघात से उसी की उत्पत्ति होती है। आन्तर शब्द स्फोटात्मक अर्थात् अर्थबोधक होता है। उसी (आन्तर शब्द) की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति का कारण ध्वन्यात्मक शब्द होता है। अभिव्यक्ति-वादियों के अनुसार भी ध्वनि को उच्चरित प्रध्वंशी माना गया है।

इस प्रकार ध्वनियों की उत्पत्ति दोनों ही मतों में मानी गयी है, किन्तु वैयाकरणों आदि ने उसके एक पग और आगे सोचकर उसकी (शब्द की) नित्यता, व्यापकता को अवगत करके अभिव्यक्ति का सिद्धान्त प्रस्थापित किया। आधुनिक यन्त्रों द्वारा विविध रूपों में जो शब्द तरंग (Sound waves) का प्रयोग, आदान-प्रदान आदि किया जा रहा है, इन सबको ध्यानस्थ करने पर भी अभिव्यक्ति पक्ष ही समीचीन है।

शब्दोत्पत्तिक्रम (प्रक्रिया)

"वर्णा एव पदमिति भगवानुपवर्ष:"—शब्द वर्णों का समुदाय है। वर्ण ध्वनि रूप है। किन्तु वर्णरूप ध्वनि सामान्य (अव्यक्त) ध्वनि से भिन्न है। "शब्द तन्मात्रेभ्यो ध्वनिर्वर्णश्च द्विविधः समुत्पद्यते ······ध्वनिवर्णरूपतया वैजात्यं द्वैविध्यन्वशब्दस्य इदमपिच अत्र बोध्यम्। यथा वर्णा कत्वादि धर्मेभिन्ना एव तथा ध्वनयो पि परस्परं विजातीया एव। तच्च वैजात्यं तेषामनुभूयते कण्ठताल्वाद्यभिघातेषु कोणादिवादनेषु चाभिव्यक्तानाम्······।"[2]

शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार वैदिक काल से ही होता आ रहा है। ऋग्वेद में इस पर मौलिक विचार किया गया। तदनन्तर पाणिनि, पतञ्जलि आदि आचार्यों ने विशद विवेचन किया है। प्राचीन परम्परा में भर्तृहरि सबसे बड़े भाषा-शास्त्री थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में मौलिक और गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किये।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त में वाणी के चार चरण बताये गये हैं। इस सूक्त के देवता ज्ञान हैं। जिस ऋचा में किसी देवता को अधिकृत करके ऋषि के द्वारा प्रार्थना की जाती है, अथवा वर्णन किया जाता है, वह उस ऋचा का देवता होता है—"यत्कामऋषिर्यस्यां देवता यामर्थवत्यामिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।[3] इससे यह व्यक्त होता है कि वाणी और देवता का सम्बन्ध अवश्य है। शब्द विचारों के आदान-प्रदान का साधन है। हमें विषय का ज्ञान शब्द के द्वारा होता और हम अपने ज्ञान (बुद्धिस्थ विषय) को दूसरे को प्रदान करना चाहते हैं तो शब्दभावना ही होती है। यहाँ तक कि संकेत में भी शब्द-भावना होती है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। शब्दानुविद्ध मिवज्ञानं सर्वो शब्देन भासते।"[4]

---

१ शब्द स्वरूप प्रकरण में विवेचन किया गया है।

२ चित्रनिबन्धावली, शब्दार्थ सम्बन्ध विचार, पृ० ७।

३. यास्क—निरुक्त, अ०—१।

४. वा० प० १/१२३।

इससे शब्द ज्ञानात्मक अथवा इच्छात्मक होता है। वक्ता जो कुछ कहने की इच्छा करता है, वह शब्दभावना है। जब अन्तस् में शब्दभावना होती है, तब वही शब्दभावना ध्वन्यात्मक शब्द रूप में उच्चरित होती है। श्रोता अपनी श्रवणेन्द्रिय से जिस शब्द को सुनता है वह वक्ता की आत्मा का ही विषय होता है—"वागात्मनि-स्थितमान्तरं ज्ञानं स्वरूपाभिव्यक्तये शब्दरूपेण व्यक्तं भवति।"[1] इन प्रक्रियाओं का उल्लेख ऋग्वेद में इस प्रकार है —

प्रथम चरण—ऋग्वेद में चार चरणों में विभक्त वागुत्पत्तिक्रम में प्रथम चरण का वर्णन है—"प्राणातदेषां निहितं गुहातिः।"[2] ऋग्वेद के अनुसार वाणी की अभिव्यक्ति का मूल स्थान गुहा है। यहीं पर मनुष्य आत्मा की अभिव्यक्ति की इच्छा से बोलने के लिये प्रेरित होते हैं, किन्तु गुहा में स्थित इस वाणी में किसी प्रकार का संकेत या नाद नहीं होता, क्योंकि परा वाणी रूप ही है (जिसका वर्णन आगे किया जायगा)। यद्यपि ऋग्वेद में इस वाणी परा आदि के रूप में कहीं नाम निर्देश नहीं है, तथापि भर्तृहरि आदि विद्वानों ने जो परा का स्वरूप बताया हैं, वह यही है। अतः इसे परा वाणी के रूप में जाना जा सकता है। पश्यन्ती, मध्यमा आदि सभी वाग्विकार का मूल कारण यही गुहास्थित वाणी है। वक्ता की सर्वप्रथम अव्यक्त इच्छा इसी में होती है। इसी वाणी में हुआ परिणाम शब्द रूप में परिणमित होता है।

द्वितीय चरण—द्वितीय चरण में विवक्षा से वाग्विषयक मन का व्यापार वक्ता में होता है और अर्थाभिधायक शब्द के अनुसार वाणी के स्वरूप का निर्धारण होता है। जैसे 'गौ' पद के उच्चारण की इच्छा जब प्रथम चरण में होती है तो द्वितीय चरण में उसी इच्छा के अनुसार मनोव्यापार के द्वारा वक्ता में ('गौ' एतादृक्) पद का निर्धारण होता है, क्योंकि इच्छा और ज्ञान आत्मा का विषय है तथा चिन्तन और मनन है मन का विषय। द्वितीय चरण में भी वाणी अव्यक्त ही होती है। यह व्यक्त नहीं होती, किन्तु शब्द और अर्थ की प्रतीति पार्थक्येन हो जाती है। इसे ही बाद में विद्वानों ने पश्यन्ती नाम से अभिहित किया। इसका उल्लेख भी ऋग्वेद में वहीं पर है—

"यत्र धीरा मनसा वाचमक्रमत।"[3]

तृतीय चरण—तृतीय चरण सम्बन्धी ऋग्वेद का मन्त्र है—

"यज्ञेन वाचः पदमीयमायन्, तामन्वविन्दद ऋषिषु प्रविष्टाम्।"[4]

इसी मन्त्र में ऋषि शब्द इन्द्रिय के अर्थ में प्रयुक्त है। वैदिक काल में अनेकत्र ऋषि का प्रयोग इन्द्रिय के अर्थ में हुआ है—

---

१. वा० प० १/११२।
२. ऋग्वेद १०/७१/१।
३. ऋग्वेद १०/७१/२।
४. वही, १०/७१/३।

१. "सप्त ऋषयः प्रतिहताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम ।
सप्तायः स्वपतो लोकभीषुस्तमजाग्रतोऽस्वप्नजो सत्र सदो च देवो ।[१]
२. "सप्तऋषयः षडिन्द्रियाणि वामनः षष्ठानि विद्या सप्तमानि ।"[२]
३. "ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः ।"[३]

तृतीय चरण ही वाणी (मध्यमा) की उत्पत्ति का प्रसवकाल है। वैखरी वाणी की यही पृष्ठभूमि है। इसी स्थिति में अर्थ से संस्कृत हुई वाणी प्रसव के लिये मुख में प्रस्तुत होती है। यह (मध्यमा वाणी ही) वागुच्चारण सम्बन्धी इन्द्रिय के माध्यम से कण्ठताल्वादि में प्राण वायु के सहकार से अभिव्यक्त होती है। वाचक शब्द गत ध्वनियों के उच्चारण के लिये जो स्थान प्राणवायु के लिये उपयुक्त होते हैं, उसी स्थान के अभिघात के लिये (इस स्थिति में) निश्चय होता है और जिस वाणी का उच्चारण स्थान निश्चित नहीं होता वह वाणी स्खलित हो जाती है, व्यक्त नहीं हो पाती।

चतुर्थ चरण—वाणी का चतुर्थ चरण वह है जिसमें वाणी का वक्ता द्वारा मुख से उच्चारण किया जाता है और श्रोता के द्वारा सुना जाता है। यही लोक-व्यवहार की वाणी है। ऋग्वेद का मन्त्र है—"तामामृत्याव्यदधुः पुरुत्रा तां समरेभा अभिसंनिवन्ते।"[४] यही वाणी ह्रस्व-दीर्घादि के रूप में प्राकृत और वैकृत ध्वनि द्वारा जाती है। यही तुरीया वाणी ही पूर्वोक्त स्वरूपमय वाणी का परिणाम है। इस चतुर्थचरणात्मिका वाणी को—"चतुर्थं वाचां मनुष्याः वदन्ति" महाभाष्य में कहा गया है और अन्यत्र भी वैखरी वाणी से इसी का उल्लेख है। यही वाणी स्फोटात्मक (बौद्ध रूप) वाणी का ध्वन्यात्मक परिणाम रूप शब्द है।[५]

छान्दोग्योपनिषद्—

शब्दोच्चारण की प्रक्रिया का साक्षात् तो नहीं, किन्तु कुछ सांकेतिक विचार छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णित हैं—आचार्य आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को वाणी के मूलभूत परा वाणी का उपदेश देते हैं—

"अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते। मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।"[६]

अपि च, वक्ता की परा वाक् तेज से, प्राण से और मन से संयुक्त होकर ज्ञान का निमित्त बनती है और श्रोता के द्वारा यही सुनी हुई वाणी क्रमशः मन में, प्राण में, तेज में और परातत्व में सम्मिलित हो जाती है। इस प्रकार आरुणि उद्दालक के वचन का विचार करने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि परा वाणी तेज के साथ

---

१. यजु० संहिता ३४/५५।
२. निघंटु ५/६/२५। ३. वही, १/५/१३।
४. ऋग्वेद, १०/७१/३। ५. वा० प० १/१२०।
६. छा० उ० ६/८/६।

सम्प्रयुक्त होकर पश्यन्ती वाणी होती है और वही प्राण से सम्प्रयुक्त होकर कुछ अभिव्यक्त हुई मध्यमा वाणी होती है। वही (वाणी) मन से सम्प्रयुक्त होकर लोक-व्यवहार जनिका तथा सम्प्रत्यय रूपात्मिका वैखरी वाणी हो जाती है। "मन से सम्प्रयुक्त होकर (परा तत्व ही) वैखरी वाणी हो जाती है।" इस आशय का बादरायण ने उल्लेख किया है—"वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दस्य"...।[1]

यजुर्वेद—

शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया है—

वायु आकाश से उत्पन्न होती है। वही शब्द का कारण है। वाय्वात्मक शब्द की उपलब्धि सार्वत्रिक नहीं होती। जैसे वेणु शंखादि के साथ वायु का संयोग होने पर ही शब्द होता है वैसे हृदयस्थ वायु के उच्चारण सम्बन्धी अवयवों से उपहित होने पर ही वह (वायु) वाग्रूपता को प्राप्त होती है। हृदयस्थ वायु जब बाहर निकलती हुई मुख में आती है, तब ताल्वादि स्थानों में अभिघात से स्पष्ट वर्णों की उत्पत्ति होती है। एतावता वायु ही वर्णात्मकता को प्राप्त होकर पदवाक्य आदि रूप में सम्पूर्ण अर्थ जगत् को प्रकाशित करती है।

वायुः खात्।

शब्दस्तत्।

सङ्करोप।[2]

स सङ्घातादीन् वाक्।[3]

या वायुः सम्यक्करणै रूपहितो वेणुशंखादिभिः शब्दी भवति। स एव संघातादीन् प्राप्य वाग् भवति संघातः। पुरुषप्रयत्नः स आदौ येषां स्तानादीनां ते संघातादयः तान् प्राप्य वाग् भवति वर्णो भवति—इत्यर्थः।

शरीरे।[4] किं शरीराद्वायुर्निगच्छन् मात्रादि वर्णविशेषव्यक्तिमापद्यते। नेत्याह शरीरे। शरीरैक देशे मुखे प्राप्तो वायुस्ताल्वादि स्थानेषु निषकःकरणैन विशेष व्यक्तिरूपेण वर्णत्वमापद्यते।

... ...वायुपद वाक्य रूपेण सर्वं प्रकाशयतीत्युक्तम्।[5]

वह्वृचां प्रातिशाख्य के मत का उल्लेख वाक्यपदीय में इस प्रकार है—"वायुः कौष्ठ्यस्थानमनु प्रदान मापद्यते। स कंठगतः श्वासतां नादतां वा इत्यादि।[6]

---

१. वे० द० ४/२/१।

२. शुक्ल यजुर्वेद, १/६-८।

३. वही, १/६।

४. वही, १/१४।

५. शुक्ल यजुर्वेद, १/१६।

६. वा० प०, हरिवृत्ति, १/११६।

अर्थात् वायु कोष्ठ स्थान में पहुँच कर अनु प्रदान को प्राप्त होती है और वही कण्ठगत होकर श्वास और नाद रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार कण्ठ के विवृत होने पर श्वास और संवृत होने पर नाद की सृष्टि होती है। अनुप्रदान शब्द की न्यासकार ने कई व्याख्यायें की हैं—

"उपरिवर्तिनो तौ श्वास नादौ अनुप्रदानमिति केचिदाचक्षंते। वर्ण निष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम्। अन्ये तु बृवन्ते अनुप्रदान मनुस्वानो घण्टानिहृदिवत्।" (न्यास—१-१-६) अर्थात् कुछ लोग श्वास और नाद को अनुप्रदान कहते हैं, कुछ लोग वर्ण निष्पत्ति के अनन्तर प्रतीति को अनुप्रदान मानते हैं और कुछ आचार्य घण्टानाद के समान अनुरणन (अनुस्वान) को अनुप्रदान मानते हैं। इसका सम्यक् विवेचन पाणिनीय शिक्षा के प्रयत्न विवेचन में किया गया है।[1]

एक अन्य प्रातिशाख्य मत का भी उल्लेख किया गया है—

"मनोभिहितः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन्मूर्धनि अभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते क ङ्इति क ख इति वा।"[2]

पाणिनि मत—

वेदों में शब्द की उत्पत्ति का मौलिक विचार किया गया है, किंतु उसकी स्पष्टतर व्याख्या और प्रक्रिया का निर्देश महर्षि पाणिनि ने (पाणिनि शिक्षा में) किया है।

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥६॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पंचधास्मृतः॥९॥
स्वरतः: कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्ण विदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत॥१०॥"[3]

अर्थात् वक्ता को जब शब्द द्वारा कुछ कहने की इच्छा होती है तो पहले आत्मा बुद्धि से तदर्थ का संयोग कराती है। ततः अर्थसंश्लिष्ट बुद्धि का मन से संयोग होता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है। कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु हृदय देश से चलती मन्द स्वर करती है। क्रमशः कण्ठ स्थान में पहुँच कर मध्यम स्वर करती है और शीर्ष में पहुँचकर तार स्वर करती है। आगे मूर्धा से टकराकर लौटती हुई पुनः कण्ठ नालिका से मुख में आकर कण्ठताल्वादि स्थानों के अभिघात से ककारादि वर्णों की उत्पत्ति करती है।

---

१. पाणिनि शिक्षा।
२. वा० प० हरिवृत्ति १/११६।
३. पा० शि० ६/६।

आपिशलीय शिक्षा में भी इसी प्रकार का वर्णन है—

"नाभिप्रदेशात् प्रयत्न प्रेरितो वायुरुर्ध्वमाक्रामन् उरस्यादीनां स्थानानाम न्यतमं स्थानमभिहन्ति। ततः शब्द निष्पत्तिः"[1]

पूर्वनिर्दिष्ट ऋक् सम्मत वागभिव्यक्ति में जा गुहा के रूप में निर्दिष्ट है वही पाणिनि क्रम में आत्म पद से कहा गया है। पाणिनि के मत में भी चार चरणों की कल्पना लक्षित होती है। यथा—

१. ······आत्मा + + + + विवक्षया,

२. ······मनः कायाग्नि माहन्ति,

३. ······स प्रेरयति मारुतम्, ······मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयतेस्वरम्।

४. ······वक्त्रमापद्यवर्णान् जनयते।

वाक्तुरिच्छा से वागात्मा में एक विशेष संस्कार होता है, वही व्यक्त वाणी के रूप में परिणमित होता है। वायु उसे अभिव्यक्त करने का साधन है अर्थात् वायु निमित्त कारण है न कि समवायि कारण। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार 'शब्दतरंग' का वाही वायु एक साधन है। अन्य और साधन हैं जल, ताम्बा, आल्युमुनियम आदि, जो कि द्रुततरवाही हैं। वाय्वात्मक कण्ठताल्वाद्यभिघात से अनभिव्यक्त रूप से रहने वाली ध्वनि अभिव्यक्त होकर आन्तर शब्द को भी अभिव्यंजित कर देती है। ऐसा सत्कार्यवादी सांख्य मानता है।

न्यायवैशेषिक-मत—(प्रशस्तपाद भाष्य)

प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार—आकाश गुण, श्रोत्र ग्राह्य शब्द क्षणिक है। संयोग-वियोग प्रक्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है। वर्णात्मक ध्वनि की उत्पत्ति के पूर्व आत्मा और मन के संयोग से स्मृति की अपेक्षा से वर्णोच्चारण की इच्छा होती है। ततः तदनुकूल प्रयत्न के परिणामस्वरूप आत्मा और वायु के संयोग से वायु में कर्म की उत्पत्ति होती है। तब वह वायु ऊपर को जाती हुई कण्ठादि का अभिहनन करती है। ततः मुख में भिन्न-भिन्न स्थानों के वायु के संयोग से भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति भी भेरी दण्ड संयोग जन्य शब्द के समान ही है। ततः वीचि सन्तानवत् शब्द गतिशील होकर कर्ण देश को पहुँचता है—

"शब्दोऽम्बर गुणः श्रोत्रग्राह्यक्षिणकः कार्यकारणोभयविरोधी संयोग विभाग-शब्दजः प्रदेशवृत्तिः समानासमान जातीयकारणः। स द्विविधो वर्ण-लक्षणो ध्वनि-लक्षणश्च। तत्र अकारादि वर्ण लक्षणः शंखादिनिमित्तो ध्वनि लक्षणश्च तत्र वर्ण लक्षणस्योत्पत्तिः। आत्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षणाद्वर्णोच्चारणेच्छा तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्म वायु संयोगाद्वायौ कर्म जायते। सचोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभि-हन्ति ततः स्थान वायु संयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः। अवर्णलक्षणो अपि भेरी दंडसंयोगापेक्षाद्भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते। वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाश

1. वा० पदीय, हरिवृत्ति (१/११६) में उद्धृत।

विगाच्च शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद्वीचि सन्तानवच्छब्द सन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्र प्रदेशमागतस्य ग्रहणं, नास्ति, परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति ।"[1]

पूर्व निर्दिष्ट त्रिविध शब्द स्वरूप में से न्याय वैशेषिक के अनुसार भी वायु ही शब्दरूपता को प्राप्त होती है । वायु उपादानकारण हैं । आकाश तथा तज्जन्य संयोग और विभाग निमित्त कारण हैं । सम्पूर्ण संसार में एक वस्तु (से अवच्छिन्न आकाश) पर संयोग विभाग प्रक्रिया से आघात होने पर शब्द होता है । जैसे भेरी से दण्ड का संयोग तद्वच्छिन्न का संयोग होता है और दोनों (भेरी दण्ड के विभाग से तद्वच्छिन्न आकाश का विभाग होता है । इसी आकाश के संयोग और विभाग के द्वारा वीची सन्तान के समान शब्द सन्तान की उत्पत्ति होती है । जिस प्रकार भेरी पर दण्ड के अभिघात से शब्द उत्पन्न होता है । उसी प्रकार वक्ता के विवक्षा जनित प्रयत्न से हृदयाकाश में स्थित वायु प्रेरित होकर ऊपर उठती हुई कण्ठनालिका से मुख में आकर तत्तद्वर्णोत्पादक कण्ठताल्वादि के अभिघात से वर्ण की उत्पत्ति होती है ।

"किमिदमुच्चारणं नामेति ? विवक्षा जनितेन प्रयत्नेन कोष्ठस्य वाचोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वादि प्रतिघातः प्रतिसिद्धं च संयोगस्य व्यंजकत्वम् । तस्मान्न यंजकाभावाद्-ग्रहणम् अपित्वा भावादेवेति ।"[2] जिस प्रकार जल में पत्थर फेंकने पर जल की तरंग परितः दौड़ पड़ती है उसी प्रकार उच्चरित शब्द तरंगें परितः प्रस्तुत होती हैं और श्रोता के श्रोत्र देश को पहुँचकर अर्थावबोध में समर्थ होती हैं ।

भर्तृहरि मत—

हरि ने 'वायोरणूनामित्यादि'[3] कारिका में तीन मतों का उल्लेख किया है— वायुवादी, अणुवादी और ज्ञानवादी । ये पहले आचार्य हैं जिन्होंने सभी मतों की पर्यालोचना के साथ ही सब मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है । इन्होंने इस कारिक में प्रातिशाख्य शिक्षा तथा अन्य दार्शनिकों के मतों की विवेचना की है ।

वायुवादी—शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार शब्द वाय्वात्मक माना गया है—"वायु रवात्" "शब्दस्तत्" ।[4] तैत्तरीय प्रातिशाख्य में भी शब्द की उत्पत्ति में वायु को कारण माना गया है ।[5] ऋक् तन्त्र व्याकरणकार ने भी वायु को शब्द की प्रकृति माना है—"वायुः प्रकृतिमाचार्याः ।[6] इस मत का समर्थन भर्तृहरि ने किया है ।[7] आपिशलि शिक्षा में सर्वविध नाद का प्रयोजक वायु को माना गया है । अतएव अल्पसंघात से अल्प प्राण वर्ण और महत् वायु संघात से महाप्राण वर्ण की निष्पत्ति होती है—"महतिवायौ महाप्राणाः अल्पेवायौ अल्प पाणाः"।[8]

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य । २. न्यायभाष्य शू० १८, टीका पृ० ३४७ ।
३. वा० प० १/११०-१२ । ४. शु० य० जु० प्रा० १/६ ।
५. तै० पा० १/२२/१२ । ६. ऋ० त० व्या० १/१-२ ।
७. वा० प० १/१०८, ११५ । ८. आपि० शि० सू० ८/१६-१७ ।

इस प्रकार वायु के आघात भेद से ही अल्प प्राण और महाप्राण आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्ण होते हैं। वक्तुरिच्छा से प्रयत्न प्रेरित समान वायु हृदय स्थान में पुंजीभूत होती है। वही पुंजीभूत वायु प्राणवायु कहलाती है। उस पुंजीभूत प्राण-वायु के कण्ठताल्वाद्यभिघात से ध्वनिरूप वर्णों की उत्पत्ति होती है। यही वर्णों का आत्मलाभ है—"तत्र नाभि प्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितोप्राणोनाम वायुरुर्ध्वम् आक्रामन्नुरः प्रभृतीनां स्थानानामन्यतस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। स विधार्यमानो वायुः स्थानमभिहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघातात् ध्वनिरुत्पद्यते आकाशे। स वर्णश्रुतिः। वर्णस्यात्मलाभः।[1] स्थानाभिघात काल में गल विवर के विवृत रहने पर विवार और संवृत रहने पर संवार प्रयत्न वाले वर्णों की उत्पत्ति होती है।

"स इदानीं प्राणोनाम वायुरुर्वध्मुत्क्रामन् मूर्ध्निप्रतिहतः निवृतोयदा कोष्ठम-भिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने गलबिलस्य विवृतत्वात् विवारः संवृतत्वात् संवारो जायते।"[2]

अपि च—

"आकाशवायुप्रभवः समुच्चरन् वक्त्रमुपैतिनादः।
स्थानावान्तरेषु प्रविभज्यमानोवर्णत्व मागच्छति सशब्दः।"

इसी प्रकार आचार्य चन्द्र गोभी ने स्थान करण प्रयत्न ने वर्णोत्पत्ति माना है—'स्थानकरण प्रयत्नेस्यो वर्णाः जायन्ते।[3]

अणुवादी—भर्तृहरि ने 'अर्णवः सर्वशक्तित्वात्......'[4] दो कारिकाओं में अणु-वादियों के मत का निर्देश किया है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में वर्षा के पूर्व आकाश मेघ संघात से आच्छन्न हो जाता है, उसी प्रकार वक्ता की विवक्षा पर अनेक शब्दाणुओं का संघात संगठित हो उठता है, किन्तु उनमें कुछ ही शब्द अभिव्यक्त होते हैं। अभ्रवत् संहत बाणी को परावाणी माना जा सकता है और उससे अभिव्यक्त वाणी ही परश्रवण गोचर होती है। अभिव्यक्त रूप में संहत शब्दाणुओं में से जो (परावाणी में) पश्यन्ती रूप में अभिव्यक्त नहीं होती, वह व्यक्तता को न प्राप्त होकर अव्यक्त रूप में स्खलित हो जाती है।

सम्पूर्ण आकाश विविध परमाणुओं से अभिव्यक्त है। करण व्यापार के द्वारा प्रचीयमान शब्दात्मक परमाणु श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य स्थूल ध्वनि के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार आकाश में सूक्ष्म परमाणु कल्प अभ्रों के संघात स्थूल अभ्र (बादल) के रूप में परिणत हो जाते हैं।[5] हरि के अनुसार शब्द तत्व अविक्रिय धर्मा है और ध्वनि विक्रिय धर्मा। अविक्रिय धर्मा आन्तर शब्द विक्रिय धर्मा ध्वनि का प्रतिपादक है। अर्थात् प्रतीयमान ध्वनि में करण व्यापार में अभ्रसंघात के समान उपलभ्य स्थूल नाद से शब्द उच्चरित होता है और सुना जाता है।

---

१. आपि० शि० सू० ८/१६/१७। २. वही ८/७।
३. चां० शि० सू० १। ४. वा० पदीय १/११०-१११।
५. वा० प०, १/११०,१११ स्वोपज्ञ टीका।

"अविक्रिया धर्मकं हि शब्दतत्वं ध्वनि विक्रियाधर्मानिमनुविक्रियते । तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनि करण व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसंघातवदुपलभ्येन नादात्मनाप्राप्तविवर्तेन तद्विवर्तानुकारेणात्यन्तमविवर्तमानेन विवर्त मानमिवगृह्यते ।"[१]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य में कात्यायन मुनि ने वर्णमाला में परमाणुओं की सत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार अर्द्धमात्रिक वर्ण (व्यंजन) परमाणु रूप होता है। एकमात्रिक स्वर दो परमाणुओं का होता है—"परमाणुर्द्धमात्रा, व्यंजनमर्द्ध मात्रा, तस्मान्न स्वरो ह्रस्वः, मात्रा च, द्विस्तावान् दीर्घः, प्लुतः त्रिः।"[२] इस प्रकार इस मत में भी अणु एवं परमाणु संघात को ही ध्वनि माना गया प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी चार अणुओं की एक मात्रा और मात्रा कल्प (मात्रा-समुदाय) को शब्द माना गया है। इसके अनुसार गवाक्ष के छिद्रों से संप्राप्त सूर्य रश्मियों में कणिका दिखाई देती है, उसकी अणुमात्रा होती है।

"सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते, आणवस्य तु सा मात्रा तु चतुराणवी। मानसे चाणवी विघात कण्ठेविघाद्द्विराणवम् । त्रिराणवम् निःसृतंमात्रिकं विदुः ।[३]

याज्ञवल्क्य के अनुसार भी स्वरूपोपलम्भक और स्थिति नियामक अणु संघात को माना जा सकता है। उच्चारण के पूर्व वक्ता में शब्दात्मा स्थिर रहती है। विवक्षानन्तर वागात्मक वायु के द्वारा शब्द रूप जितना परमाणुपुञ्ज समाश्रित होता है उतनी ही शब्द की उपलब्धि और स्थिति होती है।

जैनों के अनुसार अणुवाद—दिगम्बराचार्य कुन्द कुन्द स्कन्दों से शब्द की उत्पत्ति मानते हैं—"सद्दो संघप्प भवो संघो परमाण संगसंघादी । पुट्ठेषु तेषु जायदि सद्दो उप्पादिगो निपदो ।"[४]

मृत चद्राचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए पुद्गल स्कन्द को शब्द का पर्याय माना है—"शब्दस्यपुद्गलपर्यायस्त्वस्थापनमेतत् ।"[५] यहाँ स्कन्द परमाणु संघात को कहा गया है। जैनों के अनुसार पुद्गल के दो भेद होते हैं—(१) परमाणु और (२) स्कन्द। उमास्वामी ने पुद्गल को वर्ण, स्पर्श, रस और गन्धात्मक माना है। पुद्गल के दश विकार होते हैं। उनमें शब्द भी एक विकार है—"रसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । शब्दगन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य संस्थान भेदतमश्च्छा यातपो द्योतवन्तः । एतैर्दर्शभिः पुद्गलविकारैः सहिताः पुद्गलाः भवन्ति ।"[६]

सर्वविध कार्यविद्यायि स्कन्ध होता है। स्कन्ध का अर्धभाग स्कन्ध देश कहलाता है और उसका भी अर्धभाग स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। जिसका विभाजन न किया जा

१. वा० प० स्वोपज्ञ टीका १-४७ ।
२. वाजस० प्रा० १/६१, ५६; ५५; ५६; ५७, ५८ ।
३. या० व० शि० ६/१० ।
४. पञ्चास्तिकार्य संग्रह, पृ० ७६ ।
५. वही; टीका ।
६. तत्वार्थ सूत्र वृति ५/२३; २४; २५ ।

सके वह परमाणु है।[1] परमाणुओं के संघात को स्कन्ध कहा जाता है—"एषामेव परमाणूनां संघातः स्कन्धो भवति।"[2] इसी स्कन्ध से शब्द की उत्पति होती है। पुद्गल भी परमाणु का संघात है। अतएव परमाणुओं से शब्द की उत्पति मानी जाती है। अपि च—"आर्हतास्त्वाहुः सूक्ष्मैः शब्दपुद्गलैः आरध शरीरः शब्दः स्वप्रभव-भूमेः निष्क्रम्य प्रति पुरुषं कार्यमूलमुपसर्पतीति।"[3]

न्याय विनिश्चय में भी ऐसी ही प्रक्रिया का वर्णन है। छायातमादिवत् शब्द भी पुद्गल स्कन्ध का पर्याय है। कण्ठताल्वादि भौतिक कारणों के अभिघात से पहले शब्द वक्ता के मुख में उत्पन्न होता है। ततः उस निमित्त को पाकर आकाश में भरे हुये शब्दाणुओं (विशेष प्रकार के पुद्गल) में ध्वनि रूपा झनझनाहट पैदा हो जाती है। यह ध्वनि वीचि तरंग के समान होती है। उसी प्रकार शब्द की उत्पत्ति होती है। आज का विज्ञान भी स्वीकार करता है कि शब्द परमाणु वातावरण में कुछ समय तक अपनी सूक्ष्मता रखता है। जहाँ उसको ग्रहण करने वाले ग्राहक यन्त्र विद्यमान हैं वहाँ उसका (शब्दों का) ग्रहण हो जाता है। रिकार्डों में शब्दों का भरा जाना भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। यन्त्र विशेष के द्वारा उत्पन्न शब्द विशेष प्रकार पुद्गल रिकार्ड का ऐसा सूक्ष्म शब्दरूप पर्याय उत्पन्न कर देता है कि वह अमुक काल तक सुई के सम्पर्क से उसी प्रकार के शब्दों को उत्पन्न करता रहता है।[4]

बौद्ध दर्शन के अनुसार महाभूतों के संयोग विशेष से उत्पन्न होने वाला शब्द अनाश्रित है। उत्पत्तिधर्मी और निरोध धर्मी है।[5] इनके अनुसार शब्द अणु का संघात है—"शब्दा एवं संहता श्रोत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकाराः।"[6]

शिशुवत् शब्द की उत्पत्ति

शब्द की उत्पत्ति पूर्णतया शिशु की उत्पत्ति के समान है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी का क्रमशः वाम, दक्षिण और मध्य नासापुट में निवास है। मध्यस्थ नासापुट का ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध है। ब्रह्मरन्ध्र शिर के मध्य में होता है। सम्पूर्ण ज्ञान एतन्मूलक ही होता है। अतएव ब्रह्मरन्ध्र भेदन प्रक्रिया का वर्णन आता है। योगदर्शन के अनुसार मूलाधार चक्र में ही सम्पूर्ण वागजाल स्थित है। सुषुम्ना मूला-धार के ब्रह्मरन्ध्र तक सम्बन्धित है। नासा के अग्रभाग में उसकी नली है। सुषुम्ना नाड़ी ही सम्पूर्ण ज्ञान की अधिष्ठात्री है। अतएव उसके द्वारा सुख-दुःख का अनुभव शीघ्र और विशेष रूप से होता है। दक्षिण नासापुट की नलिका दक्षिण अण्डकोश

१. पंचास्तिकार्य संग्रह, पृ० ७५।

२. न्याय मंजरी, चौखम्बा, पृ० १६८।

३. वही, द्रष्टव्य।

४. न्याय विनिश्च टीका—वादिराज सूरि २/२८।

५. न्याय दर्शन २ आ० ५७, ५६, की टीका।

६. प्रमाण समुच्चय, जिनेन्द्र बुद्धि, पृ० ७७।

और वाम-नासापुट की नलिका वाम अण्डकोश से सम्बन्धित है। वागुत्पत्ति की प्रक्रिया में आनन्दावस्था से आत्मिक सम्पर्क से मूलाधार में स्थित वाकतत्व का उत्क्रमण (वायु के आश्रय से) होता है। वायु के क्रमशः हृदय, कण्ठ और बुद्धि से संसर्गित, परिष्कृत एवं परिपुष्ट होने तथा ब्रह्मरन्ध्र से प्रतिनिवृत्त होकर कण्ठ-नलिका से मुख में स्थान प्रतिघात से बाह्य रूप (वैखरी रूप) बाणी की स्थिति सम्भव होती है। यह प्रक्रिया शिशु-जन्म प्रक्रिया के समान ही है। आनन्द की अवस्था से मूलाधार में, जो नाभि से सम्बन्धित होता है, गर्भाधान होता है। हृदयदेशावच्छिन्न स्तनपायी होने से उसका सम्बर्द्धन होता है। ततः बुद्धि का विकास होता है और तब वह बाह्य सांसारिक सत्तावान् होता है।

मनुष्य और ध्वनि के उत्पत्ति के विषय में अद्भुत साम्य देखकर अवश्य ही आश्चर्य होता है। शिशु-जन्म के पूर्व आत्मा अपनी आनन्दावस्था में रहता है, उसमें स्पन्दन (विक्षोभ) होता है। अनन्तर गर्भाधान होता है, जिसका स्थान नाभि प्रान्त होता है। गर्भावस्था में बालक के शिर के ऊपर का छिद्र (ब्रह्मरन्ध्र) खुला रहता है जिससे पोषणिकाशक्ति प्राप्त होती है। उसके बन्द हो जाने पर बालक का जन्म होता है और उसका सम्बन्ध माता के स्तन से होता है जो उसके हृदयदेश में स्थित है। अनन्तर बच्चे का सम्बन्ध बुद्धि से होता है, जबकि वह सांसारिक सम्बन्धों का ज्ञान करता है। इसके बाद बालक अपना सम्बन्ध पूर्णतया बाह्य संसार से स्थापित कर लेता है। इस प्रकार निष्कर्षतः सिद्ध हुआ कि बालक के जन्म में क्रमशः आनन्दावस्था, मूलाधार, हृदय देश, बुद्धि और बाह्य विषय आदि उत्तरोत्तर कारण होते हैं। इसी प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में आत्मा आनन्दावस्था में रहती है। जब विवक्षा से विक्षोभ होना होता है तो मूलाधार स्थित प्राणवायु (या अविभक्त परावाणी) में सर्वप्रथम विक्षोभ होता है। मूलाधार में जातरूप (प्राणवायु) नाभि देश में नाभि से हृदय देश में पहुँचती है जहाँ पश्यन्ती रूपा होकर कण्ठदेश (गा) होती है (जो बुद्धि-गम्या होती है) जिसे मध्यमावाग कहा जाता है। यही वाणी और आगे जाकर त्रिकुटी (नासापुट) से होती हुयी मुख में तत्तद् स्थानों का अभिघात करते हुये बाह्य संसार से अभिसम्बद्ध वैखरी रूपावाणी के स्वरूप को धारण करती है। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति में भी क्रमशः मूलाधार, नाभिदेश, हृदयदेश, कण्ठदेश और बाह्य संसार आदि उत्तरोत्तर साधन होते हैं।

यह कितना रहस्यमय किन्तु सत्य तथ्य है कि शब्द की उत्पत्ति भी पूर्णतया बालक की उत्पत्ति से साम्य रखती है। दोनों के ही विकास में क्रमशः नाभिप्रान्त-हृदय-बुद्धि और बाह्य रूप कारण होते हैं। इस ध्वनि प्रजनन और शिशु प्रजनन की समता से हमें शब्द (सार्थक) के विकास क्रम के ज्ञान भी पर्याप्त सहायता मिलती है।

समीक्षा—व्याकरण और वेदान्त की दृष्टि में शब्द का उपादान कारण ज्ञान है, न्याय वैशेषिक आपिशलि आदि की दृष्टि में वायु, तथा जैन, बौद्ध और याज्ञवल्क्य आदि की

दृष्टि में अणुसंघात ही शब्द के उपादान कारण हैं। महावैय्याकरण भर्तृहरि ने यद्यपि शब्द का उपादान कारण ज्ञान को माना है[1] फिर भी भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त तीनों मतों की समन्वयात्मक पद्धति का संकेत किया है। ये मतभेद मौलिक नहीं, अपितु स्थूल दृष्टि से ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि मात्र ज्ञान, वायु अथवा अणु से शब्दोत्पत्ति सम्भव नहीं, अपितु (सभी) तत्संघात अपेक्षित है।[2] भर्तृहरि के मत में शब्द दो प्रकार का होता है–(१) बुद्ध्यधिष्ठान और (२) प्राणाधिष्ठान। 'प्राणोवायुः'[3] के अनुसार प्राण का अर्थ वायु हुआ। वायु की अवस्था विशेष का नाम ही प्राण वायु है जो हृदयस्थ मानी जाती है –"हृदिप्राणोगुदेऽपानः समानोनाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशेस्यात् व्यानः सर्वशरीरणः।[4]" शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य की व्याख्या करते हुये उव्वटाचार्य ने किसी आचार्य के मत में प्राण वायु को शब्द का निष्पादक माना है। कुछ आचार्य उदान वायु को वर्ण निष्पादक मानते हैं—प्राणोहि नामे रूपमिष्टाद् व्याप्यास्ये व्यभिचरति। .... एवं वाचि वर्तमान प्राणमेके आचार्य मन्यन्ते। अपर उदानं मन्यन्ते।[5]"

प्राण और बुद्धि से अभिव्यक्त शब्द ही अर्थबोधन में सक्षम होता है। प्राण-मात्र से अभिव्यक्त अर्थबोधक नहीं होता है क्योंकि उसमें ज्ञान परिणाम का अभाव रहता है। प्राणवायु बुद्धि और सत्व (ज्ञान) के साथ समाविष्ट होकर उर्ध्व की ओर उत्क्रमण करती है तब क्रमशः कण्ठतालु आदि के अभिघात से विभिन्नतया प्रतीयमान शब्दात्मा में वर्ण-शब्द भेद पूर्वक उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्दोत्पत्ति में प्राण वायु की सत्ता अनिवार्य है। उसके बिना वर्णोत्पत्ति सम्भव नहीं। प्राण के अभाव में मन की सत्ता भी नहीं रहती है जैसे मृत शरीरादि में। मानसिक व्यापार के अभाव में मध्यमा, वैखर्यादि वाणी की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। प्राणवायु और ज्ञान के अतिरिक्त तेज भी अनिवार्य उपकरण है उसके अभाव में शब्द की उत्पत्ति सम्भव नहीं—"मनः कायाग्नि माहन्ति।" अतः कायाग्नि (तेज) ज्ञान (वागात्मा) के संयोग से आश्रय प्राप्त करके स्वकीय अग्निरूपता का परित्याग करके तेजमात्र (चैतन्यरूप) ही शेष रह जाता है। वायु भी स्वरूपहीनता से प्राणमात्र अवशिष्ट रहता है और बुद्धि ज्ञान तत्व के रूप में रहता है। शब्दोत्पत्ति में तेज, प्राण एवं ज्ञान इन तीनों तत्वों का उपयोग होता है। यही मत वैदिक प्रातिशाख्यों एवं शिक्षादि ग्रन्थों में वर्णित है। इस तत्व त्रितय से शब्द की उत्पत्ति होती है। अतएव भर्तृहरि

१. वा० प० १/११५।
२. वा० प० १/११७ (तस्य प्राणे च या शक्ति) ....।
३. ऋक् प्रा० १३/१।
४. अमरकोष १/१/६३।
५. ऋ० प्रा० १३/१,३ उव्वट भाष्य।

लिखते हैं—"स मनोभाव मापद्य········· ।[1]" शब्द ज्ञानात्मक होते हुये भी प्राण के बिना उर्ध्व प्रवृत्तिक नहीं हो सकता और प्राण का भी उर्ध्व प्रवृत्ति होने के लिए तेज का आश्रय मानना आवश्यक है। अतः तीनों समन्वित रूप में ही शब्दोत्पत्ति में समर्थ होते हैं। अतएव कुछ मनीषि ज्ञानात्मक शब्द को वृषभ रूप में उद्धृत करते हैं— "चत्वारि शृंगाणि त्रयो अस्य पादाः, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो ······ त्रिधा बद्धो वृषभो रवीति ।[2]" जिस प्रकार वृषभ वत्स हेतु गऊ में वपन करता है। उसी प्रकार वक्ता में विद्यमान शब्द होता है। श्रोता को अर्थबोध कराने की इच्छा से वक्ता शब्द संस्कारमय धर्म का वपन करता है। पूर्व निर्दिष्ट शिशु जन्म से भी इसकी तुलना की जा सकती है। ततः वक्ता के उच्चरित शब्द से श्रोतृ बुद्धिस्थ शब्द का सायुज्य होता है। शाब्दिक जगत् में यही परम पुरुषार्थ है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण—ध्वनिविज्ञान के अनुसार कम्पन से ध्वनि पैदा होती है। कम्पन संयोग-वियोगात्मिका प्रक्रिया है।[3] संयोग और वियोग के लिए आकाश का आघातक तत्व का होना आवश्यक है। ये सभी उपकरण (निमित्तकारण) मात्र हैं। अत. इनके लिए किसी प्रेरक तत्व का होना आवश्यक है। इस प्रकार शब्दों की उत्पत्ति में यही वैज्ञानिक प्रक्रिया दृष्टिगत होती है। हृदय के अन्तर्गत आकाश देश है जहाँ बाह्य जगत् की भाँति अनेक परमाणु प्रचीयमान हैं। आत्मतत्व की प्रेरणा से मन और बुद्धि में स्पन्दन होता है और उस प्रक्रिया से वायु प्रेरित होकर फेफड़ों से निकलती है। वायु शब्द परमाणुओं को साथ लेकर प्रेरक चैतन्य अंश की सहायता से ऊपर को उठती है तब कण्ठस्थित स्वरयन्त्रों की झिल्लियों में कम्पन होने लगता है।[4] जिससे शब्द (ध्वनि) की उत्पत्ति होती है। भाषाशास्त्रीय शब्दों में यों कह सकते हैं—व्यक्ति के अन्दर विवक्षा होने पर हृदयदेश में स्थित जीवात्मा में बुद्धि के साथ सम्बन्ध करने के लिए जब परिस्पन्दन होता है तब बुद्धि के साथ संयोग होने पर सूक्ष्म रव होता है। बुद्धि संयोग से पूर्व आत्मनिष्ठ स्पन्दन के द्वारा जो ध्वनि होती है, वही (ध्वनि) क्रमिक रूप से संयोगान्तर को प्राप्त होती हुई कण्ठताल्वादि स्थान से अकारादि रूप में बाहर अभिव्यक्त होती है।

शब्द आकाश की तन्मात्रा है। उसमें अन्य का संसर्ग नहीं है। अतः शब्द तत्व को हरि ने ब्रह्म माना है। वही अवस्था शब्दानुविद्ध मानी गयी है। अणु संघात जगत् है। अतः शब्दाणु ज्ञानात्मक भी है। वह प्राकृत स्थिति है। उसको उद्वेजित या अभिव्यंजित करने का प्रमुख साधन है। अतः अपेक्षित ज्ञानमूलक शब्दाणु वायु साहचर्य से अभिव्यक्त हो उठते हैं। इन तीनों मतों का समन्वय आवश्यक और सैद्धान्तिक है।

---

१. वा० पा० १/११३।

२. ऋक् संहिता ४/५८/३।

३. ध्वनिविज्ञान, ललित किशोर सिंह, पृ० ६।

४. वही।

अतएव भर्तृहरि लिखते हैं—"प्रतिशाखम् शिक्षासु भिन्नं आगम दर्शनं दृश्यमानं सर्व-प्रपंचेन समर्थयितव्यम्।"[1]

वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया का यह विवेचन यान्त्रिक नहीं, अपितु मात्र प्रक्रिया, कारण और साधन का विवेचन है। पाणिनि ने अपनी शिक्षा में यान्त्रिक विवेचन भी किया है जिसके आधार पर वर्णों का स्थान और प्रयत्न का निर्धारण किया है। वर्णोत्पत्ति का यान्त्रिक विवेचन आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने विशेष रूप से किया है। उपर्युक्त वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा भी स्वीकृत है।[2] मैक्समूलर ने लिखा है कि वाग् ध्वनियों का उच्चारण शरीर के अन्तर्गत कई मन्त्रों की सहायता से होता है। फेफड़े से निकलने वाला श्वास मुख-नलिका के समान रूप ग्रहण करने से मुख से होकर उससे बाहर निकलता है। इसमें कभी-कभी मुख का स्वरूप वंशी का-सा हो जाता है। फेफड़े से निकलने के बाद शरीर के बाहर की हवा से मिल जातीहै। फेफड़े से निकलने वाली ध्वनि उत्पादक मांसपेशियों से होकर निकलती है। ये मांस-पेशियाँ समय-समय पर वायु में कम्पन पैदा करती हैं। जितनी बार कम्पन पैदा करेंगी उसके अनुसार ही ध्वनि के तारत्व और लघुत्व का अनुभव होता है। ...... जिन्हें हम स्वर कहते हैं, वे हमारी वाणी के सरगम हैं, वे वायु कम्पन के रूप पर आधारित हैं। ये वायु के कम्पन से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा-शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक मत में अत्यन्त साम्य है।

शब्द ग्रहण

वक्ता अपने भावों से दूसरे को अवगत कराने के लिये शब्द का उच्चारण करता है। श्रोता वक्तृबुद्धिस्थ अर्थज्ञान के लिये शब्द को ग्रहण करता है। शब्द का उच्चारण और ग्रहण अर्थ पूर्वक होता है। दोनों की बुद्धि शब्द और अर्थ से संस्कृत होती है। लोक-व्यवहार से शब्द का अर्थ के साथ वक्ता और श्रोता दोनों की बुद्धि में (दार्शनिक दृष्ट्या चित्त में) सायुज्य या एकरूपता रहती है। तभी जिस अर्थ का उद्देश्य करके वक्ता द्वारा शब्द का प्रयोग किया जाता है, श्रोता उस शब्द से उसी अर्थ का बोध करता है। दोनों में सामंजस्य न होने पर लोक-व्यवहार ही नहीं चल सकता। अतएव व्याकरण-सम्प्रदाय बौद्ध पदार्थ स्वीकार करता है।[4] बौद्ध या आन्तर शब्द का ध्वन्यात्मक शब्द अभिव्यंजक माना जाता है। वक्ता के उच्चारण द्वारा आन्तर शब्द (अर्थ संश्लिष्ट) अभिव्यक्त होकर स्थूल रूप में परश्रवणगोचर हो जाता है। उच्चरित शब्द श्रोता के श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत होकर आन्तर शब्द को अभिव्यंजित करता है। तब श्रोता को उस अभिव्यक्त शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

१, वा० प० हरिवृत्ति १/११६।

२. ध्वनिविज्ञान–आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, डॉ० भोलानाथ तिवारी जो वान्द्रियैज ब्लूम फील्ड आदि।

३. भाषाविज्ञान पर भाषण, पृ० ७८।

४. वा० प० ३/३/३२, ३३ तथा १/१०४,५,३।

सार्थक वागुच्चारण के पूर्व चार प्रक्रियाएँ होती हैं—(१) इच्छा, (२) मनोभाव, (२) प्रयत्न, (४) ध्वनि श्रोता में ये चारों प्रक्रिया विपरीत क्रम से होती है। पहले वक्ता के मुख से निःसृत ध्वनि श्रोता के कर्णविवर को व्याप्त कर लेती है। तब इस ध्वनि से कर्णपटह (कान की झिल्लियाँ) पर आघात होता है। इस प्रक्रिया को श्रुति संवेदना कहा जा सकता है। शक्ति ग्रहात्मक मन के द्वारा उसका (ध्वनि का) ग्रहण होता है। उसी समय श्रोतृ बुद्धिस्थ स्फोट रूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है। तब अभिव्यक्त शब्द वक्ता की बुद्धि के साथ सायुज्य प्राप्त कर श्रोता को अर्थबोध कराता है, क्योंकि वक्ता और श्रोता की बुद्धि का एक ही अर्थ में तादात्म्य सम्पादन ही शब्दव्यापार का प्रयोजन है।[1]

शब्द के सम्बन्ध में भाष्यकार ने कहा है—श्रोत्रोपलब्धिः बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः। आकाश देशः शब्दः।[2] अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द आकाश देशस्थ होने के कारण श्रोता के कर्ण शष्कुलीवर्ती आकाश का विषय होता है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाशतत्व का स्वरूप है। अतः उसी से शब्द का ग्रहण होता है। श्रोत्राकाशदेशी शब्द का ही ग्रहण श्रवणेन्द्रिय कर सकती है, क्योंकि उसमें गतिशीलता नहीं है। वह अपने विषय के पास जाकर उसका ग्रहण नहीं कर सकती—'ध्वनयोहि श्रोत्रदेशमागत्यापि शब्दं व्यञ्जयन्त्यः स्वोत्पत्ति देशमिव स्वविशिष्टं शब्द भासयन्ति।[3]

भर्तृहरि ने भी श्रोतृ और चक्षु को प्राप्यकारी माना है। बौद्धमत में चक्षु, मन और श्रोत्र अप्राप्यकारी है तथा घ्राण, रसना और त्वक् प्राप्यकारी हैं। अतएव चक्षुरादि से एक ही काल में हस्तगत लेखनी तथा दूरस्थ चन्द्रमा देखा जा सकता है।[4] वैशेषिक और मीमांसक के अनुसार भी श्रोत्र स्वदेशस्थ ही शब्द का ग्रहण करता है।[5] अतः महाभाष्यकार में 'श्रोत्रोपलब्धिः' का अभिप्राय लिया है कि उच्चरित ध्वनि श्रोत्र देश में पहुँचती है तभी श्रोत्र गृहीत होती है। दूसरी स्थिति है—'बुद्धिनिर्ग्राह्यः' बुद्धि से ग्रहण किया जाना। कैयट ने इसकी व्याख्या करते हुये लिखा है—

पूर्व पूर्व ध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनित संस्कार परम्परा प्राप्त परिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः।[6] अर्थात् श्रोत्रोपलब्धि प्रत्येक वर्णों की क्रमशः होती जाती है। युगपद् स्थिति सम्भव नहीं होती श्रोत्रोपलब्ध प्रत्येक वर्ण का पौर्वापर्य क्रम से बुद्धि में संस्कार बनता जाता है। उसका परिपाक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान के साथ पूर्ण शब्द का तथा शब्द क्रम से वाक्य का ग्रहण हो जाता है। इसे ही बुद्धि

१. मंजूषा, बौद्ध पदार्थ निरूपण।
२. म० भा० २/१ (अ इ उ ण सूत्र)
३. शास्त्रदीपिका, पृ० ३६३।
४. अभि धर्म दीप १/१/४६।
५. अ० धर्म दी०, पृ० ३४। ६. म० भा० २/१ कैयट टीका।

निर्ग्राह्य कहा गया है। नागेश के अनुसार शब्द-संस्कार विशिष्ट अन्तःकरण से संयुक्त, संस्कार विशिष्ट श्रोत्र से अन्तिम वर्ण का सम्बन्ध होने पर वर्ण समुदाय के प्रतिबिम्ब से युक्त अखण्ड स्फोट रूपी पद-वाक्य आदि का प्रत्यक्ष होता है। श्रोता के द्वारा शब्दग्रहण और शब्दबोध में यह संस्कार आवश्यक होता है। भर्तृहरि लिखते हैं—नाद अक्षत् ध्वनियों से बीज का आधान होता है तथा अन्त्य ध्वनि के साथ आवृत्तियों से बुद्धि में शब्द की अवधारणा होती है। "नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिनासह। आवृतपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधायते।[1]

श्रोत्रोपलब्धि और बुद्धिनिर्ग्राह्यता दोनों ही प्रयोगेणाभिज्वलित शब्द (ध्वनि) की होती है। यहाँ पर प्रयोगपद ध्वन्यर्थक है। अतः प्रयोग से अभिज्वलित अर्थात् प्रकाशित (अभिव्यक्त) शब्द ही श्रोत्रोपलब्धि तथा बुद्धि निर्ग्राह्य होता है।

१. ध्वनि उत्पन्न होकर कान को संस्कृत करती है तब शब्द की उपलब्धि होती है।

२. ध्वनि के संसर्ग से शब्द में ही संस्कार होता है, उसी से वह सुनायी पड़ता है। जैसे सूखी हुई पृथ्वी पर पानी पड़ने से गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। वैसे ही इन्द्रिय का नहीं, अपितु शब्द का संस्कार होता है।

३. ध्वनि कान और शब्द दोनों को संस्कृत करती है। जैसे प्रकाश वस्तु और नेत्र दोनों को संस्कृत करता है।

कुमारिल भट्ट श्लोकवार्तिक में अन्य का खण्डन करते हुये विषय का संस्कार मानते हैं। अर्थात् शब्द का ही संस्कार होता है। यदि इन्द्रिय का संस्कार माना जाय तो एक बार कान के संस्कृत हो जाने पर सभी शब्द सुनायी पड़ जाने चाहिये, जैसे आँख के संस्कृत होने पर घर पर सभी का ज्ञान हो जाता है।[2] दीपक से आँख का संस्कार भी यदि मान लिया जाय तो भी एक कमरे में स्थित सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं होगा जब तक तत्तद् वस्तुओं का संस्कार नहीं हो जाता। अतः विषय का ही संस्कार मानना उचित है।[3]

वस्तुतः पीछे यह बता आये हैं कि श्रोत्र प्राप्यकारी इन्द्रिय है। अतः वह स्वदेशस्थ ही शब्द का ग्रहण करता है। ध्वनि ही श्रोत्र तक जाती है। जैसा कि ध्वनि प्रचलन को वीचि तरंग की तरह या कदम्ब-गोलक के समान नैयायिकों ने माना है। आधुनिक विज्ञान ने ध्वनि तरंगों की गति के आधार पर रेडियो, तार आदि का आविष्कार किया है। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि ही कान के पास जाती है। अतः ध्वनि कान को संस्कृत करती है, किन्तु कान के संस्कृत हो जाने पर भी सभी शब्द नहीं सुनाई पड़ते, सीमित शब्द ही श्रवणगोचर होते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द का भी संस्कार होता है। इस प्रकार संस्कृत शब्द ही संस्कृत कान के

१. वा० प० १/८४ ८५।
२. श्लोक वार्तिक ६०-६१। ३. वही, ४५/४६।

द्वारा सुना जाता है। यदि प्रकाश से आँख के ही संस्कृत होने पर वस्तु दर्शन होता तो सभी वस्तुओं का होना चाहिये, पर नहीं होता। यदि वस्तु मात्र के संस्कार से दर्शन होता तो बन्द आँख पर भी दर्शन होना चाहिये, किन्तु नहीं होता ; अतः ध्वनि से शब्द और श्रोत्र दोनों का ही संस्कार होता है।

प्रयोगेणभिज्वलितः से एक और तथ्य की ओर संकेत किया गया है। ध्वनि जो कर्णपटल को अभिघातित करती है, वह स्फोट संश्लिष्ट होती है, ध्वनि मात्र नहीं होती है। अर्थ ज्ञान पूर्वक जो अन्तर शब्द ध्वनि रूप विवर्तित हो जाता है, उसमें स्फोट शब्द और अर्थ दोनों का संश्लेषण रहता है। अतएव लिखा कि—"प्रयोगेण ध्वनिना अभिज्वलितः प्रकाशितः शब्दः।"[1] अर्थात् ध्वनि के साथ स्फोट रूप शब्द श्रोत्रोपलब्ध होता है। अतएव बाह्य स्फोट की भी सत्ता स्वीकार की गयी है।[2] जिस प्रकार सागर की लहरें यद्यपि जल से पृथक् प्रतीत होती है किन्तु अन्ततः जल का ही उनमें अस्तित्व रहता है, उसी प्रकार ध्वनि में सूक्ष्म स्फोट रूप शब्द भी रहता है। अथवा प्रकाश और प्रकाशित वस्तु का पार्थक्य सम्भव नहीं, उसी प्रकार स्फोट और ध्वनि में पार्थक्य असम्भव होने के कारण दोनों का ग्रहण होता है। भर्तृहरि भी ऐसा ही मानते हैं।[3] कुछ विद्वान् श्रोत्र के द्वारा केवल ध्वनि का ही ग्रहण मानते हैं। गृहीतः ध्वनि पुनः आन्तर शब्द को अभिज्वलित करती है। कुछ विद्वानों के अनुसार ध्वनि अपने स्वरूप से असंवेद्य होते हुये भी रूपरसादि युक्त पदार्थ की भाँति शब्द का ग्रहण कराती है। अन्य विद्वानों के अनुसार दूरस्थ, अस्पष्ट स्फोट प्रकाशमान होने के कारण ध्वनि से उसकी स्पष्टता कर देने पर स्फोट प्रत्यक्ष हो जाता है। इनका उल्लेख भर्तृहरि ने किया है—"स्फोट रूपाऽविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते। कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यस्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशते।"[4] अतः ध्वनि विशिष्ट स्फोट का ग्रहण श्रोत्र द्वारा होता है। ततः संस्कार विशिष्ट शब्द का बुद्धि के द्वारा निर्ग्रहण होता है। यही भाष्यकार का अभिप्राय प्रतीत होता है।

संस्कार के विषय में भी वैमत्य है। भर्तृहरि ने तीन मतों का उल्लेख किया है—

"इन्द्रिस्यैवसंस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥"[5]

अर्थात् अभिव्यक्तिवादी के अनुसार ध्वनि से इन्द्रिय (कर्ण) का संस्कार, शब्द का संस्कार तथा दोनों का संस्कार माना जाता है। न्यायदर्शन के अनुसार मृदङ्गादि से अव्यक्त एवं कण्ठताल्वाद्य के संयोग विभाग द्वारा व्यक्त ध्वनि (वर्णात्मक) उत्पन्न होती है। उत्पन्न ध्वनि मनोवृत्ति है। अतः उत्पन्न ध्वनियों की तरंगे (Sound waves) चलती हैं। वह धारा खण्डित गुण रूप होती है। प्रथम ध्वनि

१. म० भा० पश्य० प्रदीपोद्योत, पृ० ९७–९८, बम्बई प्रकाशन, १९५१।
२. स्फोट निरूपण देखिये। ३. वा० प०, १/९७
४. वा० प० १/८२ तथा पुण्यराज टीका। ५. वही १/७९।

तरंगें से द्वितीय तरंग और द्वितीय से तृतीय आदि ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती जाती हैं। शब्द-संतति कर्ण देश पर्यन्त पहुँच जाती है। श्रवण देश में उत्पन्न शब्द धारा ही श्रोत्र द्वारा ग्रहण की जाती है। प्रथम ध्वनि तरंग के अतिरिक्त द्वितीय ध्वनि से चरम ध्वनि पर्यन्त (श्रोत्रग्राह्य ध्वनि तक) ध्वनि तरंग को ध्वन्यात्मक शब्द माना जाता है, अर्थात् इस शब्द के प्रति ध्वन्यात्मक शब्द ही कारण है। न्यायदर्शन के अनुसार वीचि तरंग की भाँति ध्वनि तरंगों की उत्पत्ति होती है। अन्तिम ध्वनि तरंग कर्णगोचर होती है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी वीची तरंग न्याय से शब्द सन्तति प्रसारित होती है और कर्णन्द्रिय से उसका ग्रहण होता है।

"कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते वादयोमताः।
सर्वः शब्दो नमोवृत्तिः श्रोत्रोत्यन्नस्तुगृह्यते ॥
वीचितरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥"[1]

न्याय वैशेषिक के अनुसार शब्दग्रहण वीचि तरंग न्याय से अथवा कदम्ब-गोलक न्याय से बताया गया है। प्रथमतः उत्पन्न शब्द अन्य १० शब्दों को उत्पन्न करता है। पुनः वे दशों शब्द दश-दश शब्दों को उत्पन्न करते हैं। एतावता कर्णेन्द्रिय तक शब्द पहुँच जाता है।[2] वीचि तरंग न्याय का भाव है जैसे जलाशय में वीचि एक साथ सभी दिशाओं में तरंगों को उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार प्रथमोत्पन्न शब्द से भी परितः शब्द तरंगे उत्पन्न हो जाती हैं, किन्तु यद्देशाभिमुख वायुप्रवाह होता है तद्देशाभिमुख अधिक शब्द तरंगें पैदा होती है।[3] इस प्रकार संयोग विभागज शब्द सन्तान की उत्पति से श्रोत्र प्रत्यासन्न शब्द का ग्रहण होता है। इसके अनुसार भी श्रोत्र स्वदेशगत शब्द का ही ग्रहण करता है और श्रोत्रेन्द्रिय का ही संस्कार प्रतीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के अमूर्त होने के कारण शब्द देश में गमन संभव नहीं और यदि विषय देश में श्रोत्र का गमन मान भी लिया जाय तो शब्दानुकूल वायु के दूर होने पर तथा शब्द एवं श्रवण के प्रतिकूल वायु होने के कारण समीप में ही उच्चारण होने पर भी सुनना संभव नहीं होगा—"वायौ शब्दानुकूले हि च न तस्य श्रवणं भवेत्। गच्छन्त्या प्रतिकूलो हि श्रोत्रवृतेः समारुतः।"

कर्ण शण्कुल्यवच्छिन्न नभ ही श्रोत्र पद वाच्य है। नभ के व्यापक होने के कारण उसमें देशान्तर गमन की क्रिया संभव नहीं तथा कर्ण शण्कुली के अभाव में शब्द श्रवण संभव नहीं हो सकता। ऐसा होने पर वाराणसी में उच्चरित शब्द प्रयाग में भी सुनाई पड़ सकता है। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि तरंग ही कान के पास जाकर सुनाई पड़ती है।

---

१. न्याय सि० मु० १६५, १६६।
२. न्यायवार्तिक।
३. मुक्तावली भाष्य, पृ० २४८, चौखम्बा प्रकाशन।

न्याय सिद्धाञ्जन में दोनों मतों का उल्लेख किया गया है कि (१) श्रोत्रेन्द्रिय के पास शब्द पहुँचता है। (२) या शब्द के पास श्रोत्रेन्द्रिय पहुँच कर शब्द का ग्रहण करती है। वरद नारायण भट्टारक के अनुसार श्रोत्र देश में ही प्राप्त हुआ शब्द का ग्रहण होता है—

"दूरे शब्दः समीपे च प्राच्यांचेत्यादि दर्शनात्। गत्वाश्रोत्रेन्द्रियं तत्र शब्द क्षमम् आगता दूरतः शब्द मात्रा श्रोत्रेण गृह्यते समवायद्यवि तदैवं न गृह्येत दूरजा।"[1]

अर्थात् दूरस्थ शब्द श्रोत्र देश में जाता है और वहीं शब्द का ग्रहण होता है। विशेष विचार परीक्षण के बाद सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय दूरस्थ पदार्थ का ग्रहण वहाँ पहुँच कर करती है, उसी प्रकार कर्ण भी शब्द देश में जाकर शब्द का ग्रहण करता है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—

(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। जिससे जिन अर्थ की उपलब्धि तथा उपयोग होता है वह भाव इन्द्रिय है—"लब्ध्युपयोगि भावेन्द्रियम्।"[3] व्यावहारिक उपकरण द्रव्येन्द्रिय है—"निवृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।"[4] शब्द के ग्रहण में दोनों प्रकार की श्रवण इन्द्रिय का उपयोग होता है। भावेन्द्रिय के द्वारा गृहीत शब्द श्रोता को अवगत होता है और धर्म द्रव्य के कारण शब्द उच्चरित होकर श्रोता के श्रवणेन्द्रिय पर्यन्त जाता है और अधर्म द्रव्य के कारण भावेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। जिस प्रकार जल-जन्तुओं का गमनागमन जलनिमित्त होता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी एक द्रव्य विशेष होता है जो स्वाभाविक गतिशील प्राणियों एवं पुद्गलों की गतिशीलता के प्रति निमित (कारण) होता है—"उदयं वहभच्छाणं गमणाणु ग्गहरं हवदि लोए। तहजीवपोग्गलाणं धम्मंदव्वंविया णाहि।[5] अधर्म द्रव्य द्रव्यों की स्थिति के प्रति निमित कारण होता है। जिस प्रकार पृथ्वी वस्तु मात्र की स्थिति के प्रतिकारण होती है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी स्वतः स्थित द्रव्य वस्तुओं की स्थिति में निमित्तमात्र होता है। एवम् धर्माधर्मद्रव्य विशेष के द्वारा ही पुद्गल शब्द रूप में विकृत होते हैं। उमा स्वामी ने पुद्गल को शब्द का उपकारी माना है—"शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्।"[6] इस मत में शब्द को आकाश का गुण

---

१. न्याय सिद्धाञ्जन, पृ० ५६२।
२. वहीं, पृ० ५८०–५८५।
३. तत्वा० सू० २/१८
४. वही २/१७
५. पंचास्तिकाय संग्रह ८५, ८६।
६. तत्वा० सू० ५/२६।

नहीं माना जाता और न ही स्फोटत्मा शब्द को माना जाता है, अपितु शब्द पुद्गल विकार मात्र है।[1] इस मत का संकेत भर्तृहरि ने भी किया है—

"स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥"[2]

आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार कर्ण के तीन भाग होते हैं—

१. बाह्य भाग जो ध्वनि को बाहर से पकड़ता है।

२. मध्य भाग, जो वायुपूरित ध्वनि तरंगों को आगे बढ़ाता है।

३. सम्पूरित आन्तर तरल कर्ण जिसमें श्रवण के अन्तरांग अर्थात् ग्राहक होते हैं। इसमें निकलने वाली श्रवण तन्त्री तथा उसके मार्ग मष्तिस्क के श्रवण केन्द्र से संबंधित होते हैं।[3] ध्वनि की तरंगें जब श्रवण देश में पहुँचती है तो बाह्य कर्ण की झिल्ली पर कम्पन होता है। इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें पैदा होती हैं जिसकी सूचना श्रवण की ज्ञान तन्त्री द्वारा मस्तिष्क के श्रवण केन्द्रस्थ ज्ञान तन्त्री में पहुँचती है। कान के द्वारा जिस ध्वनि का ग्रहण होता है, उसमें कोई आकार नहीं होता, अपितु गतिविशेष होती है। वही गतिविशिष्ट ध्वनि ही विविध वर्णों एवं अल्पमहत् आदि की अवबोधिका होती है—

"ध्वनिस्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तुखलु लक्ष्यते।
अल्पेमहौश्च केषाचिदुभयं तत्स्वभावतः॥"[4]

इन ध्वनि तरंगों को, जर्मन विद्वान् हेल्म होलत्स ने, देखने के ढंग का भी आविष्कार किया। संगीतात्मक स्वर लहरियों के समान वाक् ध्वनि तरंगों को माना है। सब से धीमी ध्वनि तरंग एक सेकेण्ड में तीस बार तथा सब से तेज तरंग एक सेकेण्ड में चार हजार बार गति करती है।[5] भाषाविज्ञान के अनुसार भी श्रवण की यही विधा स्वीकृत है।[6]

समीक्षा—शब्द ग्रहण के अन्तर्गत शब्द का ग्रहण कान से होता है। यह सर्वसम्मत है। विवाद केवल ध्वनि और शब्द का संयोग, स्फोट विशिष्ट ध्वनि का ग्रहण और विषय (ध्वनि) तथा इन्द्रिय (कान) के संस्कार के सम्बन्ध में है। इन प्रश्नों के समाधान में आज के वैज्ञानिक सिद्धान्त विशेष रूप से सहायक हो सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार पंचमहाभूत के पांच तन्मात्राएँ हैं। ये तन्मात्राएँ पंच-

---

१. तत्वा० सूत्र ५/२४, श्लोक वा० २–३।

२. वा० प० १/१११।

३. मानव शारीरिकी, एडिथ इस्पाइल, अनु० कृष्णाशंकर, पृ० २२२।

४. म० भा० १/१/१०, वा० ५।

५. भाषाविज्ञान पर भाषण, मैक्समूलर, पृ० ७७।

६. भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ० १६५।

भौतिक जगत् के सर्वविध भौतिक द्रव्यों में रहने वाला एक प्रकार का गुण है। इन गुणों (या तन्मात्राओं) का ज्ञान उनसे सम्बन्धित इन्द्रिय के द्वारा होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये क्रमशः श्रोत्र, चक्षु' जिह्वा, घ्राण और त्वक् के विषय हैं। अतः ये इन्द्रियाँ अव्यभिचरित रूप से अपने-अपने विषय का ग्रहण करती हैं। मन एकादश इन्द्रिय है। अतः स्वाभाविक रूप से इन्द्रियाँ बाह्य विषय का ही ज्ञान करती हैं और उस ज्ञान से मन को अवगत कराती हैं।

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के सम्बन्ध में दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक सीमित क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र के अन्दर प्राप्त स्वविषय का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है। अनुभव प्रत्यक्ष है कि कर्ण के क्षेत्र में प्राप्त ध्वनि का श्रवण होता है। नासिकाग्र में आगत गन्ध का घ्राण होता है। जिह्वागत रस की ही अनुभूति होती है। त्वक् समीपवर्ती वायु का ही त्वचा स्पर्श होता है। नेत्र के सम्बन्ध में यद्यपि ऐसा अनुभव नहीं होता, किन्तु वहाँ नेत्र तेज का अंश होने के कारण तैजस होता है। तेजोव्यापी नेत्र की सीमा के अन्तर्गत प्राप्त रूप का ही प्रत्यक्ष होता है। अतिदूरस्थ या व्यवहित रूप का नहीं। अतएव दूरस्थ चन्द्र सूर्य को देख लेते हैं, किन्तु दूरस्थ हिमालय को नहीं देख पाते, क्योंकि उस विषय (चन्द्र सूर्य) में गति है। अतः वह नेत्र की सीमा में आ जाता है। जैसे दूरस्थ गन्ध वायु के संसर्ग से नासिका विवर के पास आकर घ्राण का विषय बन जाता है। अतः सभी इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। स्वदेश में आगत स्व-विषय का ही ग्रहण करती है। आधुनिक ध्वनिविज्ञान से भी यही तथ्य सत्य प्रतिपादित है। अतएव उच्चरित ध्वनि वीचि तरंग न्याय से श्रोत्रदेश में पहुँच कर श्रुतिगोचर होती है।

उच्चरित ध्वनि अर्थ संश्लिष्ट शब्द का परिणाम या विवर्त है। सूक्ष्म शब्द का स्थूल रूप है। अनभिव्यक्त शब्द का अभिव्यक्त रूप है। जो आन्तर स्वसंवेद्य होता है वही ध्वनिरूपता को प्राप्त होकर परसंवेद्य हो जाता है। यदि स्फोट से विशिष्ट या अर्थ संश्लिष्ट ध्वनि का ग्रहण न हो तो ध्वनि को शब्द का विकार मानना पड़ेगा। विकृत रूप स्व प्रागवस्था में नहीं आ सकता। दधि से दूध नहीं बन सकता है और विवर्त की अवस्था में प्रागूरूप मात्र का परित्याग होता है, मौलिकता का नहीं। विवर्तिरूप अपने मूल रूप में पुनः आ सकता है जैसे जल की तरंगें या बुद्-बुद आदि पुनः स्वरूप (जल रूप) में आ जाते हैं। अतः ध्वनि शब्द का विवर्त होने के कारण अर्थ संश्लिष्ट नहीं रहती। भर्तृहरि का स्फोट विशिष्ट ध्वनि के ग्रहण का मत ही समीचीन है। स्फोट विशिष्ट ध्वनि का कर्णेन्द्रिय से ग्रहण होता है—

"व्यक्तानां ध्वनिः स्फोटाश्चे त्युभयं गृह्यते।
अव्यक्तानातु केवलं ध्वनिरेव ॥"[२]

---

१. वा० प० १/७८, ८१।
२. म० भा० कैयट १/१/७०।

जहाँ तक विषय या इन्द्रिय के संस्कार का प्रश्न है एक के संस्कृत होने पर ही व्यवहार सम्पादन नहीं हो सकता। ध्वनि उच्चरित होती है। उसकी तरंगें गतिशील होकर कर्णदेश में पहुँचती हैं। तभी श्रावण प्रत्यक्ष होता है। अतः ध्वनि का संस्कार होता है। इतने पर भी जब तक कर्णेन्द्रिय का संस्कार नहीं होता, तब तक ध्वनि का सम्बन्ध मस्तिष्क के श्रवणकेन्द्रस्थ ज्ञानतंत्री से नहीं हो सकता। जब ध्वनि तरंगें कर्णपटह (झिल्ली) पर आघात करती हैं, तब उसमें कम्पन पैदा होता है। उस कम्पन से अन्तर कर्ण के द्रव मूलक पदार्थ में लहरें उठती हैं, तब उसका ग्रहण श्रावणी सिरा के ज्ञानतन्तुओं से होता है, जो मस्तिष्क से सम्बन्धित है। तभी भाष्यकार के अनुसार 'श्रोत्रोपलब्धिः बुद्धि निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाश देशः शब्दः' की प्रक्रिया से शाब्दिक प्रत्यक्ष होता है। भाषा वैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक सिद्धांतों के पर्यालोचन से यही प्रक्रिया उचित प्रतीत होती है। अतः कर्णेन्द्रिय का भी संस्कार होता है। विषय इन्द्रिय दोनों के संस्कृत होने पर श्रावण प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर बुद्धि भी संस्कृत होती है, जिसे बुद्धि का परिपाक कहा गया है। तभी बुद्धि में पूर्व-पूर्व वर्ण अंकित होते जाते हैं और अंतिम ध्वनि (वर्ण) के साथ परिपक्व बुद्धि में पूर्व शब्द का प्रत्यक्ष होता है। यही क्रम वाक्य के सम्बन्ध में है तभी शब्दार्थ और वाक्यार्थ का बोध होता है।

शब्दों में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का एवं अल्प-महत् का जो भेद प्रतिलक्षित होता है वह वैक्तृ ध्वनिकृत है, क्योंकि न्यायदर्शन के अनुसार वैकृत ध्वनि ही श्रवणगोचर होती है। अतएव महाभाष्यकार ने कहा है—"अल्पोमहाश्च केषांचिदुभयं तत-स्वभावतः।" इन्हीं ध्वनि तरंगों को जर्मन विद्वान हेल्म होल्त्स ने विभिन्न रूपों में चित्रित किया है।[1] और उनकी विभिन्नता का आधार उनकी गतिशीलता को माना है, जिसे भाष्यकार ने ध्वनि वृत्ति कहा है।

शब्द की अवस्थायें

शब्द के उच्चारण और ग्रहण से तात्पर्य है वैखरी वाणी से। शब्द की तुरीय या अन्तिम अवस्था को ही वैखरी वाक् कहते हैं। इसी को महाभाष्यकार ने कहा है—"तुरीयां वाचां मनुष्याः वदन्ति।" लोक व्यवहार इसी के द्वारा सम्पापित होता है, क्योंकि परश्रवण गोचर यही वाणी होती है। इसके पूर्व शब्द की अवस्था को मध्यमा वाणी कहते हैं। यह वाणी स्वसंवेद्य होती है। मनन-चिन्तन में इसी वाणी का उच्चारण होता है। इसके पूर्व की दो अवस्थायें और होती हैं, जिन्हें परा और पश्यन्ती वाणी कहा जाता है।

उच्चारण प्रक्रिया में शब्द की इन चारों अवस्थाओं का वर्णन स्थान-भेद से आता है। उच्चारण के पूर्व शब्दतत्व अपनी मूल अवस्था में रहता है। उसी शब्द-तत्व को भर्तृहरि ने अनादि, अक्षर ब्रह्म कहा है। इसे विद्वानों ने परावाणी कहा है। पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी आदि इसी के विवर्त हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् इसी वाणी का विवर्त है—

---

१. पूर्व पृष्ठ में उद्धृत।

"अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"[1]

शब्द की उत्पत्ति में परा वाणी उपादान कारण है । वह उत्पत्ति विनाश रहित तथा पूर्वापरीभाव रूप से भी रहित है ।[2]

उच्चारण में नाभि, हृदय, कण्ठ और मुख—इन स्थानों का सहयोग अपेक्षित होता है । ये चारों स्थान ही क्रमशः परा आदि वाणी के स्थान हैं । अतएव परा पश्यन्ती आदि शब्द के भेद नहीं अपितु अवस्थायें हैं । व्यवहार सम्पादन में मध्यमा और वैखरी का ही उपयोग होता है । अतः भाषाविज्ञान का सम्बन्ध मुख्य रूप से वैखरी से है । गौण रूप में उपकारी एवं स्वसंवेद्य होने के कारण मध्यमा से भी सम्बन्ध है, किन्तु पश्यन्ती और परा से उसका कथमपि सम्बन्ध नहीं है । अतएव आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने परा पश्यन्ती के विषय में विचार नहीं किया । तात्विक दृष्टि से परा और पश्यन्ती वाक् भी विचार का विषय है । इसीलिये भारतीय दर्शनों में भी इस पर विचार किया गया है । साथ ही संस्कृत व्याकरण जब दर्शन के रूप में अवतरित होता है तब व्याकरण दर्शन का सम्बन्ध अन्य दर्शनों की अपेक्षा परादि वाणी से अधिक हो जाता है । परिणामस्वरूप सं० व्याकरण में इन पर विशेष विचार किया गया है ।

शब्द स्वरूप प्रकरण में द्विविध शब्द का प्रतिपादन किया गया है—

१. भाषिक एवं २. भाषा तात्विक ।

प्रथम (भाषिक) शब्द ध्वन्यात्मक है और द्वितीय (भाषा तात्विक) शब्द आन्तर अर्थात् स्फोट रूप है । इनमें भी प्रथम ध्वन्यात्मक शब्द ही अनुशासनीय है । पर उसमें स्फोट रूप का समावेश रहता है तभी उसकी अर्थवत्ता सिद्ध होती है । इन द्विविध शब्दों के स्थान भेद या देश भेद से तीन स्वरूप माने जा सकते हैं । "अनेकतीर्थभेदायाः त्रय्याः वाचः परमम् पदम् ।[3] एतावता वैखरी वाणी ध्वन्यात्मक शब्द है । पश्यन्ती और मध्यमा का समुदित रूप स्फोट स्वरूप शब्द है । इसीलिये साधुता के प्रसंग में भर्तृहरि तीन ही प्रकार की वाणी का उल्लेख करते हैं । इन त्रिविध अनुशासनीय शब्दों का मूल स्पन्दनहीन 'परा' वाणी है । वही 'परा' शब्द से अभिहित होती है । हम यहाँ पर इन चतुर्विध वाणी से सम्बन्धित मतभेद, इनके अधिष्ठान, स्वरूप एवं उपयोग आदि पर विचार करना चाहेंगे ।

चतुर्विध वाक्—शब्द की चार अवस्थाओं और उनके स्वरूपों का विचार व्याकरण दर्शन के अतिरिक्त शैवागम और तन्त्रशास्त्रों में विशेष रूप से किया गया है । इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु कुछ ऐसी ऋचायें हैं, जिनकी व्याख्या एतत्परक की गई है । ऋग्वेद की ऋचा है —

---

१. वा० प० १/१ । २. वा० प० १/१४२ ।
३. वा० प० १/१४१ ।

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयां वाचो मनुष्याः वदन्ति ॥"[१]

सायणाचार्य और माधवाचार्य ने ऋग्भाष्य में चत्वारि वाक् परिमिता पदानि का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चतुर्विध वाक् किया है, किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'चत्वादि वाक्......' से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार प्रकार का पद माना है।[२] नन्दिकेश्वर सूरि ने भी चार प्रकार की वाणी का उल्लेख करते हुये लिखा है—

"सर्वं परात्मकं पूर्वंज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।
ज्ञप्ते बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम्।
वक्त्रे विशुद्ध चक्राख्ये वैखरी सा मता ततः।
वृत्ति वृत्तिमतोरत्र भेदलेशोन विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयो यद्तद्यथा वागर्थयोरपि ॥"[३]

महाभारत के अश्वमेधिक पूर्व भी में इनका वर्णन है। भर्तृहरि ने उसी को अपना आधार बनाया है। उसके अनुसार "वैखरी प्राणवृत्ति निबन्धना, मध्यमा सक्रमा उपादान बुद्धि है और पश्यन्ती अक्रमा, अविभागा, स्वप्रकाशा, नित्या, अविकृता और अमृत कला है।"[४]

"चत्वारि श्रृङ्गाश्व्योऽस्य पादाः......" इत्यादि मन्त्र के चत्वारि पद से आचार्य रघुनाथ शर्मा परा पश्यन्ती आदि चतुर्विध वाणी का अर्थ माना है। महा-वैयाकरण भर्तृहरि के पूर्व पाणिनि, कात्यायन पतञ्जलि और यास्क आदि किसी वैयाकरण ने परा पश्यन्ती आदि वाणी की चार अवस्थाओं पर विचार नहीं किया। इसलिये उनके अनुसार संख्या का निर्धारण बुद्धि संगत नहीं है। इसका एक कारण भी है कि इन वैयाकरणों ने भाषा की दृष्टि से व्याकरणात्मक विषयों पर ही स्पष्ट रूप से विचार किया है, दर्शन की गहराई में प्रवेश करने का प्रयास नहीं किया है, प्रसंगतः यत्किंचित् निर्देश भले ही कर दिया हो। व्याकरण का विषय वैखरी वाक् (तुरीय वाक्) है, अतः उसी को लक्षित करके व्याकरण विषय का प्रतिपादन मुख्य रूप से किया है।

भर्तृहरि ने भी सर्वप्रथम 'त्र्ययाः वाचाः परमम् पदम्' से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन प्रकार की ही वाणी का उल्लेख किया, उन्होंने 'परा' वाणी का स्पष्ट निर्देश कहीं नहीं किया है। "स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परा-वागनपायिनी।" इस कारिका में 'परा' वाक् का जो उल्लेख भी है, त्रिविध वाक् सम्प्रदाय उसके स्थान पर

---

१. ऋग्वेद सं० १/१६४/४५।
२. महाभाष्य, पश्य० पृ० ४२, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
३. वै० ल० मं० में उद्धृत, पृ० १५०।
४. वा० प० १/१४३, हरिवृत्ति में उद्धृत।

'सूक्ष्मा वागनपायिनी' पाठ मानता है। व्याकरण को पूर्ण रूप से दार्शनिकता का परिवेश देने वाले भर्तृहरि ही थे। शब्द ब्रह्म का उन्होंने स्पष्टतया विवेचन किया। अतः 'परा' का गम्भीर दार्शनिक विषय होने के कारण उन्होंने उल्लेख न किया हो, यह तर्क अधिक युक्ति संगत नहीं लगता। 'परा' सहित चतुर्विध वाक् 'परा' रहित त्रिविध वाक् सम्बन्धी धारणायें विकसित हुई। प्रायः प्राचीन वैयाकरणों ने त्रिविध वाक् ही स्वीकार किया है। नागेश (जो शैव मतानुयायी थे) नव्य वैयाकरण थे, जिन्होंने सबसे पहले तर्क पूर्ण विचारों से 'परा' को स्थान देकर चार प्रकार की वाणी स्वीकार किया। बाद में अधिकांश नव्य वैयाकरणों ने भी चार प्रकार की वाणी को स्वीकार किया।

शैवागम एवं तन्त्रों के अनुसार चार प्रकार की वाणी की स्वीकृति की गई है। भर्तृहरि ही इनके विवेचन के मुख्य आधार हैं, किन्तु वाक् संख्यान के विषय में वैमत्य है। शिव दृष्टि, तन्त्रालोक, मालिनी तन्त्र, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी आदि में चार प्रकार की वाणी को स्वीकार किया गया है। वाक्यपदीयकार जगत् का विकास प्रतिभा से मानते हैं—

"तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्वप्रभवां भावविकारप्रवृत्ति सतां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुद्धा नियता क्षेमप्राप्तिरिति।"[1] शैवागम में जगत् का कारण 'परा' वाक् को माना गया है। वही महासत्ता है—

"चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥"[2]

अर्थात् परावाक् चिति स्वरूप है। वह प्रकाश और विमर्श, शब्द और अर्थ का संचित् रूप है। मालिनी तन्त्र वार्तिक में लिखा गया है, "नवाच्यं पृथक् जातु वाचका-द्व्यवतिष्ठते।" अभिनवगुप्त ने प्राचीन वैयाकरणों के परा वाणी न मानने पर आक्षेप किया है—"ननुपश्यन्त्येव परं तत्वमिति जरद् वैयाकरणाः मन्यन्ते॥"

अस्तु वाणी के त्रिविध रूप पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी में कोई वैमत्य नहीं है। केवल परा की स्वीकृति और अस्वीकृति में है। अधिकांश प्राचीन वैयाकरण एवं कुछ नव्य वैयाकरण 'परा' को नहीं मानते। इनके अतिरिक्त कुछ वैयाकरण, शैव और तान्त्रिक लोग परा को स्वीकार करते हैं। अतएव 'परा' के वैमत्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत हैं—

१. सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋचा—'चत्वारि पद जातानि······(पूर्व उद्धृत)' विवाद का विषय रही है। सायणाचार्य ने इसका भाष्य करते हुए 'परा' वाक् को स्वीकार किया है—

"वाक् वाचः कृत्स्नायाः पदानि चत्वारि परिमित्यपरिमितानि। लोके या

---

१. वा० प० १/१३२ हरिवृत्ति।	२. उत्पलकारिका, १३।
३. ई० प्र० वि० वि०, पृ० १६१, पृ० १६१।

वागस्ति सा चतुर्विधा विभक्तेत्यर्थः। कानि तानि चत्वारि इत्यत्र बह्वः स्वस्वमतानुरोधेन बहुधा वर्णयन्ति······अपरे मातृकाः (पाठभेद-मान्त्रिका) प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति परा, पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति।"[1]

स्पष्ट है तीन प्रकार की वाक् और चार प्रकार की वाक् (परादि) से सम्बन्धित अर्थ सायण ने लिया है, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि चतुर्विध पद रूप नहीं लिया है।

२. पतञ्जलि उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्ग निपातश्च।··· तुरीयं वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः।[2] विचारणीय है कि महाभाष्यकार यहाँ व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसके पूर्व "चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्यपादाः" की व्याख्या में नामाख्यात आदि चार पदों का निर्देश कर चुके हैं। पुनः तन्मूलक चार पदों का उल्लेख क्यों किया गया? व्याकरण का विषय नामाख्यात पद ही है, परादि वाक् नहीं। पुनः चार पदों का पहले उल्लेख करके आगे लिखते हैं—

"एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थम्॥"

अर्थात् इन चारों पदों का जो चतुर्थ भाग (तुरीय अवस्था) वैखरी रूप वाक् है। मनुष्य उसी को बोलते हैं। अन्य वाक् (मध्यमा पश्यन्ती आदि) का बोलना (उच्चारण) नहीं होता, अपितु वे जानी जाती हैं। अतएव 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः ·········स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति 'अह अर्थसंगत होता है। अर्थात् इन चारों पदों के चार रूपों (परादि) को जानने पर ही स्वर्गभुक् हो सकता है। अपि च, "तानि विदुर्ब्राह्मण ये मनीषिणः" उन चारों वाक् को मनीषि ही जानते हैं।

"गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति, न चेष्टन्ते। न निमिषन्तीत्यर्थः"। अर्थात् तुरीय वागंश के अतिरिक्त परा, पश्यन्ती, मध्यमा ये त्रिविध वाक् गुहा में रहती हैं अर्थात् अज्ञातरूपा हैं। मनीषि लोग (वैयाकरण) उस गुहा को विदीर्ण करके चारों प्रकार की वाणी को जान सकते हैं। अतः महाभाष्यकार ने उक्त विचार पर दार्शनिक होने के कारण विशद एवं स्पष्ट विचार नहीं किया, किन्तु यहाँ उनका अभिप्राय यही था कि नामाख्यात आदि चारों पदों के चारों रूपों को (परादि चतुर्विध वाक् को) जानना भी व्याकरण का प्रयोजन है, क्योंकि उनके (पदों के) स्थूल ज्ञान रूप प्रयोजन का उल्लेख तो पहले ही कर चुके हैं। अतः यहाँ पदों के सूक्ष्म रूप (परादि) का ज्ञान भी व्याकरण का प्रयोजन है। इसी दृष्टि से इस श्लोक को उद्धृत किया। यह अर्थ न मानने पर निम्न आपत्तियाँ आ सकती है—

(क) यदि उक्त भाष्य का अर्थ नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही लिया जाय तो क्या मनुष्य केवल निपात का ही प्रयोग करते हैं?

---

१. ऋ० सं० १/१६४/४५ सायणाचार्य।

२. म० भा० पश्य० पृ० ४२, बम्बई प्रकाशन, १९५१।

(ख) नाम, आख्यात और उपसर्ग क्या ये ही गुहा में रहते हैं। ये चेष्टायुक्त नहीं होते ? तो लोक व्यवहार कैसे संभव होगा ?

(ग) अथवा वह कौन-सी तुरीय वाणी है जिसको मनुष्य बोलते हैं ?

(घ) पाणिनि स्वीकृत द्विधापद की अवहेलना करके पतञ्जलि ने चार पद कैसे माना ?

अतः उक्त मन्त्र के 'चत्वारि पद जातानि' का अभिप्राय भाष्यकार की दृष्टि में भी परादि चतुर्विध वाक् ही है। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार चार प्रकार की वाक् मनुष्य, पशु, पक्षी और क्षुद्र जन्तुओं की मानी जाय[1] जैसा कि रामसुरेश त्रिपाठी जी ने संकेत किया है[2] तो भी मन्त्र की पूर्वापर अर्थसंगति नहीं होती। क्षुद्र जन्तुओं के शब्द 'वाक्' का प्रयोग अन्यत्र कहीं-कहीं हुआ है। उन्हें मनीषि लोग कैसे जानते हैं ? यदि असंगतियाँ अवस्थित रहती हैं।

पतञ्जलि के अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों की भी (उक्त मन्त्र की) व्याख्या 'नामाख्यातादि' से सम्बद्ध प्रतीत होती है। यास्क ने लिखा है—'नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणाः।'[3] वहाँ पर यास्क ने सभी दृष्टान्त वैखरी वाणी दिये हैं।[4] अतः उन्हें भी परादि सम्बन्धित अर्थ ही अभीष्ट है। नागेश ने यास्क से वैमत्य प्रदर्शित करते हुए परादि अर्थ स्वीकार किया है—

"नामादीनां मध्ये एकैकं चतुष्पादकमेव सामान्य मनुष्या वदन्ति। अतस्तेन परादि गृहीता।"

सायण के अतिरिक्त माधवाचार्य ने भी उक्त मन्त्र का (परादि) चतुर्विध वाक् रूप ही अर्थ स्वीकार किया है।[5] यदि मन्त्र में नाम-आख्यात्, उपसर्ग और निपात अर्थ लिया जाय तो मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की अर्थ संगति नहीं हो पायेगी। अतः इस मन्त्र में परादि चार प्रकार की वाग् स्वीकार करना चाहिये न कि नामाख्यातादि। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय तथा अन्य उत्तरकालीन साहित्य यत्र तत्र परादि वाणी का विचार प्रारम्भ हो गया था। पतञ्जलि स्पष्ट कथन के प्रति कृपण थे।

शैवागमाचार्य श्री सोमानन्द नाथ ने वाक्यपदीय के आधार पर पश्यन्ती को ही परा वाक् स्वीकार किया है—"अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदा शिवरूपता, वैयाकरण साधूनां पश्यन्ती सा परास्थितिः।"[6]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने तीन वाक् ही मानी है—"शब्दब्रह्ममयं पश्यन्ती रूपमात्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः श्री सदाशिव पदमध्यासिताः तद्भूमिकाः सर्वं दर्शनस्थितयः।"[7]

---

१. श० प० ब्रा० ४/१/३/१६
२. सं० व्या० द०; पृ० ८४।
३. निरुक्त १३/१/९
४. वही, दुर्गाचार्य।
५. इसी अध्याय में पहले उद्धृत है।
६. शिव दृष्टि २/१
७. प्रत्यभिज्ञाहृदय ८, पृ० ४३।

वाक्यपदीय की टीका करते हुए श्री सूर्यनारायण शुक्ल ने भी पश्यन्त्यादि तीन ही वाक् मानी है—"पश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति त्रिविधैव वाक्। पश्यन्त्येव सूक्ष्मत्वेन परावाक्।"[1]

डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने भी पश्यन्ती को ही शब्दतत्व मानकर वैखरी को अन्तिम वाक् माना, इसीलिये मध्यमा (मध्यगत) वाक् संज्ञा की सार्थकता है। इस प्रकार तर्कणापूर्वक तीन वाक् स्वीकार किया है।[2]

बहुत से आचार्य भर्तृहरि के द्वारा तीन वाणी की स्वीकृति मानते हैं। इसके विपरीत अधिकांश नव्य वैयाकरण तथा अन्य दार्शनिक विद्वान् चतुर्विध वाणी में ही उनका अभिप्राय मानते हैं।

यद्यपि भर्तृहरि ने स्पष्टतः परावाक् का उल्लेख नहीं किया तथापि उसे कहीं पर भी अस्वीकृत नहीं किया है, अपितु प्रकारान्तर से उसका उल्लेख भी किया है। उन्होंने 'परा' को वाग्भेद न मानकर शब्दब्रह्म माना है। अतः अनादि, अक्षर और अविकृति माना है।

त्रिविध वाक् 'परा' मूल प्रकृति है, पश्यन्ती और मध्यमा प्रकृति और विकृति दोनों है, वैखरीमात्र विकृति है। अतः उच्चारणानन्तर सभी विकृतियाँ शान्त या लय हो जाती हैं। केवल 'परा रूप वाक्' ही ऐसी है जो सर्वकाल में अपने स्वरूप में स्थित रहती है। अतएव वाणी के भेद के साथ उसका उल्लेख उचित न समझकर ही उन्होंने तीन ही प्रकार की वाक् का निर्देश किया और परा वाणी को 'स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' कहा। वह ज्योति रूपा है, अनपायिनी है।

नागेश ने परावाणी को स्वीकार करते हुये लिखा है—मूलाधार में स्थित स्पन्दनरहित शब्द ब्रह्म ही परावाक् है, जो संस्कृत पवन से अभिव्यक्त होकर पश्यन्त्यादि वाग्रूपता को प्राप्त होती है—"तदभिव्यक्तं शब्द ब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दम् 'परावाग्' इत्युच्यते।" प्रमाणस्वरूप वाक्यपदीय की प्रथम कारिका को उद्धृत किया है।[3]

"वैखर्याः............" की व्याख्या करते हुये स्वोपज्ञकार ने तुरीया 'वाक्' की चर्चा की है।[4] और वहीं "चत्वारि वाक् परिमितापदानि" ऋङ्० मन्त्र को उद्धृत करके चतुर्थी वाणी की व्याख्या की है—या प्रत्यस्तमित भेदायाः वाचः प्रकृति रूच्यते तामेव परां वाचं बाचां सत्यां प्रकृतिं समाचष्ट—"सो व्यवकीर्णा वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति। प्रत्यस्तमित सविकारोल्लेख मात्रां परां प्रकृति प्रतिपद्यते।"[5] अर्थात् अनेक तीर्थ भेदा वाणी त्रिविधा है और प्रत्यस्तमित भेदा

१. वा० प० १/१४२ टीका।
२. फिलासफी आफ वर्ड ऐण्ड मीनिंग, पेज नं० ६७, ६८।
३. वै० ल० म० पृ० १४५।
४. वा० प० १/१४२ स्वोपज्ञ०
५. वही,

वाक् एक ही परा रूप वाक् है जो सभी की प्रकृति है। एतावता वाणी की अवस्थाओं के सन्दर्भ में भर्तृहरि एक रहस्य बने हुये हैं जिसे खोलने के लिये विद्वान् मनीषि अपनी-अपनी तर्कणा और प्रतिभा का प्रयोग करते रहे हैं। किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह और भी गूढ़ ही होता जा रहा है।

(क) 'वैखर्या: मध्यमाया:............'[1] कारिका के पूर्व की कारिका में व्याकरण प्रयोजन के सन्दर्भ में व्याकरणानुशासनीय शब्दों का विचार किया गया है। व्याकरणानुशासनीय अर्थबोधिका एवं सविभक्ता वाक् तीन ही हैं।[2] वैखर्यादि वाणी उत्तरोत्तर क्रमशः सूक्ष्मतर होती हुयी अन्त में 'परा' वाणी निर्विकल्पक समाधि से अनुगम्य है। अनेक तीर्थभेदा न होने के कारण यह व्याकरण का विषय नहीं है। अत: हरि ने तीन वाणी के सन्दर्भ में परा का नाम नहीं लिया।

(ख) परावाक् निर्विषया, अविभागा, अर्थ संस्कारशून्या है। वह पुण्यतम् ज्योतिरूपा, शब्द ब्रह्म है, अतः व्याकरण का विषय नहीं है।[3] पश्यन्ती वाक् अनेक तीर्थभेदा है। प्राप्तार्थ संस्कारा एवं प्राप्त शब्द संस्कारा होने से रूप विभागवती है। अत: पश्यन्ती को शब्द ब्रह्म नहीं माना जा सकता है और न ही परा तथा पश्यन्ती एक रूप हो सकती हैं। तदविरिक्त सूक्ष्मतमावाक् 'परा' ही है। पश्यन्त्यादि त्रिविध वाक् पुण्यतमा ज्योतिरूपा परा-वाक् की प्राप्ति के साधन हैं, साध्य नहीं। जैसे अन्धकार में वस्तु और तम के साङ्कर्य के कारण वस्तु का दर्शन नहीं होता तथा प्रकाश से हो जाता है, वैसे ही मध्यमादि वाणी से शब्द और अर्थ का सांकर्य रहता है, व्याकरण के प्रकाश से परा रूपा शुद्ध वाक् का दर्शन होता है। पतञ्जलि ने सांकर्य की चर्चा करते हुये योगदर्शन में लिखा है "शब्दार्थ प्रत्ययान मितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूत रुत ज्ञानम्। य एषां प्रविभाग: स सर्ववित्।"[4] अत: पश्यन्ती वाणी के भी शब्दार्थ साङ्कर्यवती होने के कारण तदतिरिक्त परिशुद्धा 'परा' वाक् तत्व हरि को अभीष्ट थी।

(ग) उक्त रहस्य को जान कर ही शैवाचार्यों ने 'परा' वाणी को स्वीकार करके तदनुकूल व्याख्या कर डाली।

(घ) आचार्य सूर्यनारायण एवं डॉ० गौरीनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने त्रिविधा वाक् मानने में 'मध्यमा' नाम की सार्थकता को आधार माना है, यद्यपि तर्क सही है किन्तु यह मध्यमा वाक् प्रायोगिकी वाणी की ही मध्यमा है। अस्पष्टा वाक् पश्यन्ती, स्पष्टा मध्यमा, सुस्पष्ट वैखरी वाक् है। अतएव मध्यमा वाक् मानना सार्थक है, किन्तु इससे परा की अस्वीकृति उचित नहीं है।

(ङ) भर्तृहरि ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने भाषावैज्ञानिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण चतुर्विध वाणी का स्वरूप प्रस्तुत किया। नादात्मिका बैखरी वाणी स्फोटात्मिका

---

१. वा० प० १/१४२,
२. इसी अध्याय के प्रारम्भ में देखिये।
३. वा० प० १/१२,
४. योगदर्शन ३/१७, व्या० समा।

मध्यमा वाणी का कारण है । भाषाशास्त्री नाद और स्फोट को ही अर्थवाचक मानते हैं। आचार्य रघुनाथ शर्मा ने हरि की चतुर्विध वाणी को पाण्डित्यपूर्ण विवेचन से प्रतिपादित किया है।[१] डा० सत्काम वर्मा ने भी चतुर्विध वाणी को स्वीकार किया है।[२]

भर्तृहरि की चतुर्विध वाक् में स्वीकृति मानना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

चतुर्विध वाणी का स्वरूप

स्फोट (पश्यन्ती एवं मध्यमा) एवं नाद का उपादान परावक् है। यास्क ने परावाक् को व्यापक माना है—'व्याप्तिमत्वातु शब्दस्य'[३]। परावाक् तत्व शब्द और अर्थ संस्कार से शून्य है। स्पन्दनरहित है। उसके स्पन्दन से विवर्त का विकास होता है।[४] जिस प्रकार सुवर्ण अनेकविध आभूषणों में परिवर्तित होता है। अन्त में कुण्डलादि आकृतियों का भेदन कर देने पर पुनः सुवर्ण शेष रहता है, उसी प्रकार परावाक् अनेक रूपों में विवर्तित होती है और अन्त में वही परावाक् शेष रहती है। सुवर्ण की तरह उसमें विकार नहीं आता। कुण्डलादि के समान शब्द भी परावाक् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह वाच्य वाचक उभय रूप है। जिस प्रकार सतत विद्यमान वायु व्यञ्जनाभिघात से घनीभूत होकर अनुभव का विषय होती है। उसी प्रकार प्राणवायु के द्वारा कारणाभिघात से शब्द भी सुनाई पड़ता है।[५] भर्तृहरि ने इसी को परब्रह्म भी कहा है जिसे व्याकरण के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है—"तद व्याकरणभागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।[६]" मैत्राण्युपनिषद् के अनुसार परावाक् रूप शब्द ब्रह्म को प्राप्त करके परब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है—

"द्वे ब्रह्माणि वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्माणि निष्णात् : परंब्रह्मादिगच्छति ॥"[७]

बृहद्देवता में परावाक् को अमृता ज्योतिरूपा कहा गया है—

"स ब्रह्मामृतमत्यन्तं योनिं सदसतोधुर्वम्।
महच्चाणु च विश्वेशंविशति ज्योतिरुत्तमम् ॥"[८]

जैसे असत् से सद् की प्राप्ति होती है। अन्धकार से प्रकाश की प्राप्ति होती है वैसे ही तमसाच्छन्न स्थूल वैखरी वाणी से प्रकाश रूपा सूक्ष्मा परावाक् की प्राप्ति होती है। इस प्रकार का विचार वेदोपनिषद् में बहुधा वर्णित है—"तमसो मा

१. चित्र निबन्धावली, शब्दाद्वैतविमर्श।
२. भाषातत्व और वा० प०, पृ० ४५।
३. निरुक्त १/१/२
४. वा० प० १/१
५. वा० प० १/११६, १२
६. वही, १/२२
७. मै० उ० ६/२२
८. बृहद्देवता ८/१४०।

ज्योतिर्गमय[1]। इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने—"स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी" कहा है। यह ज्योति स्वरूपा परा वाक् भौतिक तेज नहीं, अपितु दिव्य ज्योति है। वह ज्ञानात्मिका वाक् चित् पद वाच्य है। परा वाक् निर्विकल्प (चिन्मात्र-विषया) समाधिविषया है। पश्यन्ती सविकल्पक समाधिविषया है।[2]

भर्तृहरि की अनादिनिधना परावाक् का समर्थन भगवान् शंकराचार्य ने भी किया है—"अनादिनिधनैर्युजः शब्द वाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्राः।"[3] यह सूक्ष्मा वाक् ही ज्ञान रूप में अवस्थित रहती है। प्रयत्न द्वारा स्वयं स्थूल शब्द (वैखरी) में परिणमित होकर स्वपरिणामभूत अर्थ का अवगमन कराती है। अतएव वह शब्दार्थाविभागा है।[4] वैखरीरूपा वाणी को व्याकरण के द्वारा संस्कृत किया जाता है। मध्यमा और पश्यन्ती वाणी क्रमशः प्राण और बुद्धि में निविष्ट रहती है। मध्यमावाग् अविद्या रूपा है। पश्यन्ती वाणी अहंकार रूपा है। परावाग् ज्योतिरूपा है। अतः मध्यमा और पश्यन्ती का विवेक ज्ञान से साक्षात्कार कर लेने पर छिन्न ग्रन्थि होकर पराज्योति को प्राप्त किया जा सकता है। वही परा वाग् ही परब्रह्म रूप है।[5]

महावैयाकरण श्री रामप्रसाद मिश्र ने भी चार प्रकार की वाणी मानते हुये परा वाक् को स्पन्दनशून्या, अनादिनिधना शब्द ब्रह्म रूप माना है, वही अनुपहित चैतन्य है—

"स्पन्दनशून्या शब्द ब्रह्म रूपा अनादि निधना या वाक् सैवपरा इत्युच्चते। अनुपहित चितिरिवेयम्।[6]" परावाक् तत्व सर्वत्र व्याप्त है। उसके स्पन्दन से नाद होता है। उस नादात्मक परमाणु का परिणाम ही जगत् है। "व्याप्ति मत्वातु शब्दस्य।"[7] इस अनादिनिधन परावाक् तत्व को नागेश ने परब्रह्म न मानकर शब्द-ब्रह्म माना है। उनके अनुसार शब्दब्रह्म और परब्रह्म दो तत्व हैं—"शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" के अनुसार शब्दब्रह्म एव परब्रह्म को साध्य साधन के रूप में देखते हैं।[8] परन्तु पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने शब्दब्रह्म और परब्रह्म को एक ही मानते हैं। शब्दब्रह्म विकारी नहीं है। अपितु संसार उसका विवर्त है, उच्छ्वास है। अतः परा वाग्रूप ही परब्रह्म है।

पश्यन्ती—वक्ता के विवक्षाजनित प्रयत्नों से सूक्ष्म स्पन्दन होता है। इसी स्थिति में ज्ञात या अनुभूत अर्थ और शब्द का योग होता है। वाणी की यही प्रथम स्थिति पश्यन्ती वाणी है। इसी स्थिति में अर्थतत्व का दर्शन होता है अतएव वाणी

१. बृ० उ० १/३/८
२. वै० ल० म० शक्त्याश्रय० पृ० १४८।
३. शां० भा०
४. चित्रनिबन्धावली, पृ० ३०, ३२।
५. चित्रनिबन्धावली, पृ० ४१।
६. प्रमाणसमीक्षा द्वि० पुष्प, वाग्विचार।
७. निरुक्त १/२/२
८. वै० ल० मं० शक्त्याश्रय नि०, पृ० १४५।

की इस स्थिति को पश्यन्ती कहा जाता है। यह क्रमयुक्ता और सस्पन्दा होती है। इस अवस्था में शब्दों का क्रम रहता है। यह प्रति संहृतक्रमा होती है। प्रतिसंहृतक्रमा को हरि ने स्पष्ट किया है—

"यत्र प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्धयानिमित्तान्तरोप सम्प्राप्तम व्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमल्पमिव साक्षात् क्रियतेतत् प्रतिसंहृतक्रमम्।"[1]

अर्थात् अक्रम अव्यक्त शब्द का क्रमशक्ति युक्ता बुद्धि से योग करने पर उस अध्यारोपित क्रम को ही अक्रम शब्द में साक्षात्कार ही प्रतिसंहृतक्रम है अथवा ऐसा कह सकते हैं जो अक्रमा परावाक् है, स्पन्द से बुद्धि का जब संयोग होता है तो बुद्धिगत शब्दक्रम के कारण वह अक्रमा वाणी भी सक्रमा प्रतीत होने लगती है।

भर्तृहरि ने पश्यन्ती का स्वरूप बताया है—"प्रतिसंहुतक्रमासत्यप्य भेदे समाविष्ट क्रम शक्तिः पश्यन्ती। "अर्थात् पश्यन्तीवाक् प्रति संहृतक्रमा है। भेदरहित होते हुये क्रमशक्ति युक्ता है। बुद्धि मात्र समधिगम्य होने के कारण यह बुद्धि मात्र समधिगम्य होने के कारण यह बुद्धि विषय तथा मनोविषया है, क्योंकि मनोभाव को प्राप्त होकर ही वाणी नियत अर्थ में नियत (ध्वन्यात्मक) शब्द को प्रेरित करने में समर्थ होती है।[2] पाणिनि ने भी वागभिव्यक्ति के लिये मनोयोग आवश्यक माना है।[3] पश्यन्ती वाणी अर्थवान् शब्द की प्रयोजिका है।[4]

हेलाराज के अनुसार विविक्तार्थज्ञाना और संसृष्टार्थज्ञाना है। अर्थात् वहाँ अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है और संसृष्ट रूप से भी होती है। एक तीसरी स्थिति भी होती है जिसमें अर्थतत्व की प्रतीति प्रशान्त रहती है। वस्तुतः ये सब पश्यन्ती वाक् की स्थितियाँ या दशायें हैं।[5]

इनके अतिरिक्त और भी दशायें बतायी गयी हैं—चलाचला, प्रति बद्धसमाधाना, सन्निविष्ट गेयाकारा प्रलीनाकारा और निराकारा आदि। पश्यन्ती वाणी लोकव्यवहारातीत है। व्याकरणपूर्वक साधु शब्द का ज्ञान होता है और साधु शब्द पूर्वक योग से उस (पश्यन्ती वाणी) की प्राप्ति होती है।[6]

नागेश ने भी पश्यन्ती को लोक-व्यवहारातीत माना है किन्तु योगियों को उस अवस्था में प्रकृति प्रत्यय विभाग का ज्ञान रहता है। यह ज्ञान परा में नही रहता—

---

१. वा० प० २/१९ हरिवृत्ति।

२. वा० प० ११/१३। ३. पा० शि०; ६ कारिका।

४. वा० प० १/४७।

५. वा० प० १/१४४, हेलाराजटीका।

६. वा० प० १/१४४ हेलराज।

"पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता, योगिनां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्यय विभागा-वगतिरस्ति, परायां तु नेति त्र्यया इत्युक्तम् ।"[1]

डॉ० त्रिपाठी ने पश्यन्ती को सक्रमा, अक्रमा, प्रकाश प्रकाशक एवं संविद् रूप माना है ।[2]

वस्तुतः परा की स्वीकृति में जो मतभेद है उसका प्रभाव परा और पश्यन्ती के स्वरूप निर्धारण में पड़ता है । परा को अस्वीकार करने वाले आचार्यों की दृष्टि में पश्यन्ती के द्विविध स्वरूप प्राप्त होते हैं ।

चतुर्विध वाक् मानने वाले आचार्यों के अनुसार पश्यन्ती की अवस्थायें हैं—अक्रम, सक्रम, अर्थ संश्लिष्ट, अर्थ विश्लिष्ट आदि । उनमें एक से एक अवस्था परा वाक् है और दूसरी अवस्था (बाद की) पश्यन्ती वाक् है । अतः 'या सर्वं पश्यति पश्यन्ती' के अनुसार शब्दार्थ विभागा वाक् ही पश्यन्ती वाक् है ।

मध्यमा—नाभि देशस्थ पश्यन्ती वाणी जब प्राण वायु से उद्वेजित होकर हृदयाकाश में आ जाती है तब वह मध्यमा वाणी कहलाती है । (मध्यमा में प्राण-वायु का प्रभाव अधिक होता है । अतएव यह प्राणस्था भी मानी जाती है ।) इसमें प्राणवायु के साथ वक्ता का मनोवेग भी प्रबल होता है । शब्दोच्चारण के पूर्व ही इस मध्यमा वाणी के द्वारा वक्ता को स्वंस्मृत भावनाओं या विचारों का अनुभव होने लगता है । अतएव वक्ता की आकृति से उसके अन्तःस्थ सुख-दुःख, मैत्री, करुणादि जनित प्रभावों का अनुमान किया जा सकता है । मध्यमा वाणी की वह अवस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भावों को स्वयं समझ सकता है, किन्तु शब्द-प्रक्रिया से अन्य व्यक्ति को अवगत नहीं करा सकता है । इस स्थिति में वागिन्द्रियाँ शब्द का उच्चारण तो नहीं कर सकतीं, किन्तु उस शब्दगुम्फ अपने को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार रहता है ।

अर्थानुस्मृत शब्द मनोभाव को प्राप्त हुये रहते हैं । अतएव शब्द पूर्विका, मनोभावना, संकेतादि चेष्टाओं द्वारा भी कभी-कभी कुछ व्यक्ति दूसरे के अवबोधनार्थ अभिव्यक्त करते हैं । एतावता मध्यमा वाक् ही शब्दपूर्वक अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ है । अक्षि निकोचादि संकेतों के द्वारा भी जो दूसरे को भावों से अवगत कराया जाता है, उस स्थिति में प्रयोक्ता के अन्तर्गत मध्यमा वाक् की स्थिति होती है, क्योंकि स्वयं को भी अर्थमात्र की प्रतीति शब्दानुविद्ध ही होता है, शब्दरहित अर्थभावना होती ही नहीं है । मूक व्यक्ति की शब्द-भावना में भी शब्द की सत्ता रहती है । इसका संकेत भाष्यकार ने किया है—"अन्तरेण खल्वपि शब्द प्रयोगं बहवोऽर्थावगम्यन्ते । अक्षि निकोचैः पाणिविहारैश्च ।"[3] इन संकेतों में अव्यक्त वर्ण संस्कार रहते हैं । मध्यमा वाक् अन्तः संकल्प रूपा है । इसका उपादान कारण बुद्धि है । प्राणवृत्ति से परे क्रमयुक्ता है । व्यवहारभूत वैखरी वाणी का कारणभूत है—

१. म० भाष्य, उद्योत, पश्य०, पृ० ४४, (बम्बई प्रकाशन, १९५६)
२. सं० व्या० द०, पृ० ४० । ३. म० भा० १/१/३४ ।

"केवलं बुद्ध्युपादानाक्रम रूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रान्ता मध्यमावाक् प्रवर्तते ।।"[1]

भर्तृहरि ने मध्यमा वाक् में पाँच भेदों का अध्यारोप माना है । ये भेद हैं—उच्च, मन्द, उपांशु, परमोपांश और संहृत क्रम । चिन्तन, मनन एवं उपांशु जप आदि की अवस्थाओं में होते हैं जिसके द्वारा शब्दार्थ की प्रतीत प्रयोक्ता को होती है वही मध्यमा वाक् है । डा० गौरीनाथ शास्त्री, आ० सूर्यनारायण शुक्ल, डा० रामसुरेश त्रिपाठी आदि ने त्रिविधा वाक् मानते हुये वैखरी और पश्यन्ती के मध्य में होने के कारण अर्थात् मध्य अवस्था को अभिव्यञ्जित करने के कारण इसे मध्यमा वाणी माना है ।

नागेश ने मध्यमा का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि पश्यन्ती वाणी ही वायु के द्वारा हृदय देश में अभिव्यक्त होकर, शब्दार्थ संस्करण युक्त होकर बुद्धि का विषय होती है । स्वसंवेद्य तथा परश्रवण ग्रहण के अयोग्य होती है । उसमें प्राणवायु का अभिघात बहुत कम होता है । अतएव कान का बाहरी भाग बन्द कर लेने पर अपांशु शब्द प्रयोग में वह मध्यमा वाणी श्रुतिगोचर होती है ।

इस प्रकार प्रणव रूपा वाक् की यह तीसरी स्थिति है । परा वाक् सूक्ष्मतमा, पश्यन्ती सूक्ष्मतरा और मध्यमा सूक्ष्मावाक् है । "ततो हृदयदेश पर्यन्तमागच्छता तेन वायुना हृदयदेशेऽभिव्यक्तिं तत्तदर्थविशेषतत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्धया विषयीकृता हिरण्यगर्भदेवत्या परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा मध्यमावाग् इत्युच्चते । स्वयं तु कर्णपिधाने सूक्ष्म वास्वाभिघातेन उपांशु शब्द प्रयोगे च श्रूयमाणा सा इत्याहुः ।"[2]

वैखरी—ध्वन्यात्मक शब्द ही लोक का प्रायोगिक स्वरूप होता है । वह नादात्मक स्वरूप ही वैखरी वाणी है । शरीरान्तः संचारी तेज मन से अभिहत होकर प्राणवायु को प्रेरित करता है । वह प्राणवायु नाभि से उठता हुआ कण्ठ देश में पहुँचता है । पुनः मूर्धा से टकराकर लौटता है तब वागुपकरणभूत स्थानों के अभिघात से ध्वनि उत्पन्न होती है ।[3] अथवा वह प्राणवायु कण्ठ ताल्वादि करणों से अभिघात करके अपने को विभिन्न रूपों में विभक्त करके वह प्राण वायु ही विविध वर्णों में विवर्तित हो जाती है ।[4] अतः कण्ठ-ताल्वादि अभिघात से जिस ध्वनि की उत्पत्ति होती है, वही वैखरी वाणी है । इसी के द्वारा श्रोता अर्थ का ज्ञान कराता है । नाद से अवबोद्धा की बुद्धि में वाचक शब्द का निश्चय होता है, क्योंकि यह ध्वन्यात्मक शब्द ही श्रोता के आन्तर शब्द (स्फोट) को अभिव्यञ्जित करता है ।[5]

महाभाष्यकार के अनुसार करण व्यापारों से अद्भुत श्रोत्रज्ञान विषयक वाणी ही वैखरी वाक् है—"वैखरी करणव्यापारानुग्रहा श्रोत्रज्ञानविषया शब्द बुद्धिः ।[6] भर्तृहरि

१. वा० प० १/१४३ ।
२. वै० ल० म० श० नि० पृ० १४८ ।
३. वा० शि० सू० तथा वै० ल० म०, पृ० १४८
४. वा० प० १/११५ ५. वा० प० १/८४ ६. म० भा० ।

व्यक्त (वर्णात्मक) अव्यक्त (अवर्णात्मक) सभी प्रकार की ध्वनियों को वैखरी वाक् मानते हैं। अतः अनेकविध ध्वनियों के कारण वैखरी के अतिरिक्त भेद भी किये जा सकते हैं।[1]

जयन्त भट्ट के अनुसार विखर शब्द का अर्थ है देह और इन्द्रियों का समूह। उससे (देह से) उत्पन्न होने वाले शब्द को वैखरी कहते हैं—

"विखर इति देहेन्द्रिय संघात उच्यते तत्र भवा वैखरी।"[2]

वादि देवसूरि के अनुसार—"वक्तृभिः विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्ट रूपायां भवा वैखरी।"[3] अर्थात् वक्ता के द्वारा विशिष्ट रूप से तीव्र (स्वर) एवं स्पष्ट रूप में व्यक्त होने वाली वाणी ही वैखरी वाणी है।

विचारणीय है कि वैखरी वाणी को कुछ आचार्यों ने ध्वनिमात्र माना है और कुछ विद्वानों ने बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त कण्ठ ताल्वादि वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित ध्वनि को ही वैखरी वाक् माना है, किन्तु वैखरी वाणी ध्वनि मात्र को नहीं माना जा सकता है। व्यक्त ध्वनि तथा अव्यक्त ध्वनि ये भेद वैखरी वाणी के नहीं, अपितु शब्द के भेद हैं। अभेदोपचार की दृष्टि से भी वैखरी वाणी के ये भेदसंगत नहीं प्रतीत होते।[4] इसका कारण, एक तो पतञ्जलि, भर्तृहरि, जयन्तभट्ट आदि आचार्यों ने वैखरी वाणी को प्राणवायु के कण्ठ-ताल्वादि अभिघात से उत्पन्न मानते हैं। ऐसी उत्पत्ति दुन्दुभि वीणा आदि के शब्दों की नहीं होती है। दूसरे परा, पश्यन्ती, मध्यमा आदि वैखरी की पूर्वावस्थायें हैं जो कि अव्यक्त (अभाषात्मक) ध्वनियों में नहीं होती। वैखरी, मध्यमा आदि मनुष्य वाक् की अवस्थायें हैं न कि ध्वनि के भेद। वैखरी वाक् चतुर्थावस्था वाली ध्वनि है। अन्य ध्वनियों की चार अवस्थायें नहीं होती हैं। यदि हम ऐसा मानते हैं तो वैखरी की परिभाषा जो सभी आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट है, व्यभिचरित होने लगेगी। चिल्लाना आदि मनुष्य वाक् होने के कारण उनमें भी वाक् की चार अवस्थाएँ सम्भव हैं।

वैखरी वाणी स्वसंवेद्य परसंवेद्य दोनों हैं। वही व्याकरण का मुख्य विषय है। साधु-असाधु का विचार भी इसी के आधार पर होता है। श्रोत्र ग्राह्य एवं स्फोटाभिव्यञ्जक यह वैखरी वाक् ही है।

शैवागम एवं तन्त्रों के अनुसार शब्द की चतुर्विध अवस्थायें

शैवागम में वाक् एक सूक्ष्म सत्ता है। वही परमेश्वर है। वाच्य और वाचक रूप जगत् तथा प्रकाश और विमर्श ये दोनों उसी सूक्ष्म सत्ता की द्विविध शक्तियाँ है।[5]

१. वा० प० १/१४३ हरिवृत्ति। २. व्या० मं०, पृ० ३४३ (चौखम्भा)
३. स्याद्वाद रत्नाकर १/७ पृ० १८७।
४. सं० व्या० द० पृ० ३८।
५. ईश्वर प्रत्यभिज्ञादर्शन, उत्पल कारिका।

पूर्वोक्त चतुर्विध वाक् परा पश्यन्ती और मध्यमा को शैवागम एवं तन्त्रों में विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है।

डा० त्रिपाठी के अनुसार शैवागम के वाग्विचार का मुख्य आधार वाक्यपदीय ही है, किन्तु भर्तृहरि से एक पग और आगे बढ़ाकर परावाक् को भी स्वीकार किया गया और इसका प्रभाव अनन्तरकालीन सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य पर पड़ा।[१]

अतएव शैवागम एवं तन्त्रों का दृष्टिकोण संक्षेप में प्रस्तुत है। चतुर्विध वाणी का प्रतीकात्मक स्वरूप इस प्रकार हैं—"परा भू-जन्म पश्यन्ती वल्लीगुच्छ समुद्भवा। मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ।[२]

परा— शब्द की चरम अवस्था परावाणी है। 'पूर्णत्वात्परा' पूर्ण होने के कारण परा कहते हैं तथा व्यक्ति विश्वम् अपलयति प्रत्यवमर्शेन इति वाक् 'प्रत्यवमर्श द्वारा सम्पूर्ण संसार का कथन करती है, अतः इसे वाणी कहते हैं। परा वाणी चिद्रूप, स्वात्म विश्रान्त 'अहं' इस रूप में नित्य उदित परमात्मा के मुख्य स्वातन्त्र्य रूप से अनन्यापेक्ष होकर वर्तमान रहती है। देश काल से अविशिष्ट यह वाणी स्वतः सिद्ध महासत्ता के नाम से कही जाती है।

"चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वर सोदिता।
स्वातन्त्र्य मेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुटता महासत्ता देश कालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥"[३]

तन्त्रशास्त्र के अनुसार वाणी की चार अवस्थाओं (वैखरी मध्यमा आदि) को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय रूप में भी माना गया है। 'परा' तुरीय वाणी है। वही शब्दब्रह्म है।[४] अनुपाधिमान चिदात्मक स्वरूप वैखरी का परस्वरूप है।[५] वामकेशर तन्त्र के अनुसार जब परावाक् स्वनिष्ठ स्फुरता का ईक्षण करती है, तभी विश्व का उदय होता है—

"यथा सा परा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी
स्फुतरस्तामात्मनः पश्येन्तदा चक्रस्य सम्भवः।"[६]

परावाणी अव्यक्त, निःस्पन्द तथा प्रकाश और विमर्श का शान्त रूप है। इसके स्फुरण से जगत् का विकास होता है। अतः वह कारणबिन्दु भी कही जाती हैं—

"आत्मनः स्फुरणं पश्येद यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूप मापन्ना परा वाक् समुदीरिता।।"[७]

आचार्य परमपाद ने वाणी के सात भेद बताये हैं—शून्य, संवित्, परा, सूक्ष्म,

---

१. सं० व्या० द०, पृ० ४४। २. कामकला विलास टीका, पृ० २४।
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा दर्शन। ४. परिवस्था रहस्य, पृ० २३।
५. तन्त्रालोक ३/२४६। ६. विवरण (प्रपञ्च सार तन्त्रटीका) पृ० ६।
७. योगिनी हृदय ३६/१।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ।[1] शून्या = अनुपत्पन्न, स्पन्दनहीन है । संवित् उत्पन्न होने की इच्छा वाली, सूक्ष्मा उत्पत्यवस्था वाली है । सत्व, रज और तम क्रमशः ज्ञान, क्रिया और इच्छा के प्रतीक हैं । परा मूलाधार में स्थित रहती है । शरीरगत मूलाधार भी सर्वगत चिदात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण मूलाधार कहा जाता है । उसी से परावाक् उदित होती है—मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्य भावः पराख्यः ।"[2]

परा को शुद्ध प्रकृति कहा जा सकता है । इच्छा आदि उसमें शक्ति रूप से विद्यमान रहती हैं । इच्छादि शक्तियाँ ही संकुचित होकर सत्वादि के रूप में प्रतीत होती हैं । योग सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है —

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमिच्छति ।
यत्तु दृष्टि पथं प्राप्तम् तन्मायेव सुतुच्छकम् ।।"

पदार्थादर्श में परा का स्वरूप बताया गया है—"अथवा चित्शक्तिरेव पराख्या चैतन्या भास विशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्यन्दा परावाक् इत्यर्थः ।[3]

इस प्रकार यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों की पश्यन्ती और नवीनों की परा का स्वरूप ही शैव एवं तन्त्र ग्रन्थों में भी बताया गया है, किन्तु व्याकरण दर्शन के अनुसार परा वाक् तत्व ही परब्रह्म है और शैवागम के अनुसार वह शब्दब्रह्म है, जो परब्रह्म की चित् शक्ति है । अर्थात् ब्रह्म की द्वितीय अवस्था है । व्याकरण के अनुसार परा के अस्तित्व में भले ही मतभेद हों किन्तु परा या पश्यन्ती (जो परा को नहीं मानते) का एक ही स्वरूप है ।

पश्यन्ती—तन्त्रों में पश्यन्ती वाणी को कार्यबिन्दु कहा गया है । कारण बिन्दु जब पवन प्रेरित होकर नाभि देश को प्राप्त होकर विमर्शात्मिक मन से युक्त होता है तो उसे ही सामान्य स्पन्द प्रकाश रूप, कार्यबिन्दुमय पश्यन्ती वाक् की व्याख्या मिलती है—

"तदेव नाभि देश पर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्त विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यबिन्दुमयं स पश्यन्ती वागुच्यते ।"[4]

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है । मध्यमा के ज्ञान शक्ति और वैखरी को क्रिया शक्ति माना गया है । जैसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया का अनुग्राहक है वैसे ही पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की अनुग्राहिका है । पश्यन्ती बोध और बोध्यस्वभावा है । पश्यन्ती में अभिव्यंज्यमान अर्थ का भी दर्शन होता है । इसीलिए उसे पश्यन्ती वाक् कहा जाता है—

"पश्यन्तीति पश्यन्ती । पश्यति सर्वं स्वात्मानि करणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णा, तेनेयं पश्यन्तीत्युत्तीर्णोऽप्युदीर्यतेभावा ।"[5]

---

१. प्रपञ्चसार टीका, पृ० ३४, द्वि० प० ।

२. प्रपञ्च सा० तं० ठी० पद्माचार्य, द्वि० प० ।

३. पदार्थादर्श, पृ० ६१ ।

४. सौ० भास्कर पृ० ६६ । ५, सौ० भास्कर, पृ० १०० ।

पश्यन्ती में चिन्तन की सत्ता रहती है। अतएव वह परा वाक् से भिन्न है—"यतः पश्यन्त्यां प्रमाणोपन्नं चिन्ता मयत्वं ततः पश्यन्त्याः परत्वं शिव दृष्टि शास्त्रे निवारितम् ।"[1]

पश्यन्ती वाणी को वट धनिका रूप बताया गया है। जैसे बीज में वट का स्वरूप अन्तर्निहित रहता है उसी प्रकार पश्यन्ती में आर्थीभाव भी अन्तर्निहित रहता है। तन्त्र दृष्टि से पश्यन्ती के तीन भेद होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर पश्यन्ती। षड्जादि स्वरों के मेल अथवा वर्णों के विभाग से रहित आलाप द्वारा माधुर्यातिशय या आह्लाद को प्रदान करने वाली प्राथमिक नाद मात्र जिसका स्वभाव है, वह स्थूल पश्यन्ती है—"तत्र या स्वरसंदर्भसुभगा नादरूपिणी। सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्य-प्रविभागः।"[2]

जिगासा (गाने की इच्छा) का अनुसन्धान ही पश्यन्ती का सूक्ष्म रूप है। परचिदत्मक, उपाधिहीन रूप ही परपश्यन्ती है।[3] इसी लिये कुछ आगम शास्त्रों में जिस पश्यन्ती को परा वाक् भी कहा है, उसे सोमानन्द एवं उत्पल ने परा का पश्यन्ती में उपचार माना है। सोमानन्द ने परब्रह्माद्वयवाद का खण्डन करते हुये पश्यन्ती को व्याकरणसम्मत रूप बताया है। ईश्वर द्वयवाद में जो ज्ञानशक्ति अथवा सदा शिव रूपता है वही वैयाकरणों के यहाँ पश्यन्ती है, जिसे लोभ परतत्व मानते हैं। यह अनादि अक्षय शब्दतत्व है। इसे पश्यन्ती संज्ञक परा कहते हैं। वही शब्द ब्रह्म सम्पूर्ण देहों में वर्तमान आतमा है। ज्ञेय, रूप शून्य तथा चिन्मात्र उस शब्दतत्व को भोक्ता भी कहते हैं। यह दर्शन का निरतिशय स्थान अथवा पराकाष्ठा है। इन्द्रिय वृत्तियों से हीन देश और कालकृत अवच्छेद से शून्य, क्रमात्मक संसार से रहित अतएव ग्राह्य और ग्राहकात्मक आकार से वर्जित पश्यन्ती ही पराकाष्ठा है, परमार्थ एवं परब्रह्म है।[4]

आचार्य अभिनवगुप्त पश्यन्ती के तीन स्वरूप मानते हैं पश्यन्ती, महापश्यन्ती और परम महापश्यन्ती सदा शिवेश्वर दशा महापश्यन्ती है। परामर्शात्मक या माया प्रमातृगत रूप पश्यन्ती है तथा परम महा पश्यन्ती ही परा वाक् है।[5]

सोमानन्द पश्यन्ती को ज्ञानशक्ति कहते हैं। अन्य तन्त्र एवं अभिनवगुप्त की दृष्टि में पश्यन्ती इच्छा शक्ति है। इच्छाशक्ति में बोध्य वस्तु का पूर्णरूपेण प्रकाशन होता है। इच्छाशक्ति ज्ञान और क्रिया शक्ति अनुग्राहिका बीजावस्था है और जानने की इच्छा भी बोधस्वभावा है। इसीलिये आचार्य उत्पल ने ज्ञानशक्ति रूपता को उपचरित माना है।[6] पश्यन्ती का मूल स्थान नाभिप्रदेश है।

---

१. ई० प्र० वि० विमर्श पृ० १६२।
२. तन्त्रालोक तृतीय पटल। ३. तन्त्रालोक तृतीय पटल।
४. शिव दृष्टि, अ० २। ५. ई० प्र० वि० वि०, पृ० १६५–६७।
६. मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० ३८।

मध्यमा—वैखरी वर्णों का वासनात्मक सूक्ष्म रूप ही मध्यमा वाणी है। वैखरी में वर्ण स्थूल होते हैं, मध्यमा में सूक्ष्मवर्ण होते हैं। मध्यमा वाक् हिरण्यगर्भ शब्द है। इसे शैवागम एवं तन्त्रों में नाद भी कहा जाता है। पश्यन्ती वाक् वायु से अभिव्यञ्जित होकर नाभि से हृदय पर्यन्त अभिव्यक्त होती हुयी निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त होकर विशेष स्पन्दन, प्रकाश रूप एवं नादमय मध्यमा वाक् के नाम से कही जाती है।

"अथ तदेव शब्द ब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमविभज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्धया युक्तं विशेषस्पन्द प्रकाश रूप नादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते।"[1]

इसका मूल स्थान हृदय है। इसमें विद्यमान प्रकाशांश को ज्येष्ठा शक्ति और विमर्शांश को ज्ञान शक्ति कहते हैं। शब्द जगत् का सृजन मध्यमा द्वारा ही होता है। मध्यमा की संघटक शक्तियाँ हैं—विष्णु पर्याय ज्येष्ठा शक्ति और विष्णु शक्ति पृथिवी के पर्याय स्वरूप ज्ञान शक्ति। अतएव उक्त वाणी विश्व की स्थिति में कारण बनती है।[2]

पद्म पादाचार्य ने मध्यमा शक्ति की व्युत्पत्ति—"मध्ये मा बुद्धिर्यस्या सा मध्यमा" किया है। सौ० भास्कर में—'मध्येस्थिता मध्यमा। ··· ··· प्रश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्ण्य नापि वैखरीव बहिः। स्फुटतर निखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात्।"[3] अर्थात् यह इच्छा शक्ति रूपा पश्यन्ती और क्रिया शक्ति रूपा वैखरी के मध्य में स्थित होने के कारण मध्यमा है। न तो पश्यन्ती के समान अति मानस है और न ही वैखरी के समान नितान्त बाह्य है।

अभिनवगुप्त के मत में ध्वन्यात्मक वैखरी साक्षात् अर्थबोधिका नहीं है, अपितु मध्यमा स्थित शब्द, जो शब्दार्थ स्वरूप है, पही वाचक है। वैखरी में क्रम एवं अभ्यास का अभाव होने के कारण शब्द न रूप एवं क्रमिक रूप मध्यमास्थ शब्द ही वाचक है।[4]

आचार्य पद्मपाद ने मध्यमा को बिन्दुमयी माना है (प्रपंच सार में "स बिन्दु नादबीजत्व पादेन निगद्यते") तथा राघव भट्ट ने "सैव हुत्पंकजं प्राप्य मध्यमा नाद रूपिणी" कहकर मध्यमा को नाद रूप माना है। इसका विशद विवेचन करते हुये डॉ० अवस्थी ने बिन्दु पश्यन्ती का और नाद मध्यमा का बोधक माना है।[5]

स्वच्छन्द तन्त्र में अव्यक्त ध्वनिरूप नाद आठ व्यक्त रूपों में व्यक्त होता है—कोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वङ्कृति, ये आठ व्यक्त नाद

---

१. सौ० भा०, पृ० ९९।
२. मं० और मा० रहस्य, पृ० २८ (मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य)।
३. सौ० भा०, पृ० १००।
४. ई० प्र० वि० वि०, पृ० १९२।
५. म० म० र०, पृ० ३० (मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य)।

हैं। आदि के चार आकाश में भ्रमरी रव के समान सम्पूर्ण शब्दों की जन्मभूमि रूप नारद को शब्द की संज्ञा दी गयी है तथा वाक्य को स्फुट रूप से अवगत कराने वाला वर्णभेद का अवभासक नाद ही स्फोट है। विपंची के पंचमतार के आघात् से उत्पन्न ध्वनि की तरह, श्रोत्र सुखद अतितान धर्मी नाद को ध्वनि कहते हैं।[1] अन्तः सन्निवेश से युक्त, क्रम न होने पर भी क्रम को ग्रहण किये हुये के सदृश बुद्धि मात्र उपादान वाली, सूक्ष्म प्राणवृत्ति के पीछे रहने वाली वाणी ही मध्यमा वाक् है। प्राणशक्ति की आधारभूत सुषुम्ना नाड़ी में विश्रान्त मन, बुद्धि अहंकारात्मक अन्तःकरण, को जो विमर्श-शक्ति, प्रेरित करती है, वही मध्यमा वाणी है। उससे प्रेरित होकर अन्तःकरण, संकल्पन निश्चय और अभिमनन तथा विकल्पन रूप कार्यों में प्रवृत्त होता है। उस समय वह विमर्शमय वाणी संकल्पात्मक ग्राह्य, संकल्पयितृ रूप ग्रहण और "मैं चैत्र घट की कल्पना करता हूँ" इत्यादि वाचक शब्द के साथ भेद युक्त स्फुट क्रम से उपरत होती है। तब चिन्तन शब्द वाच्य वह ज्ञान शक्ति मध्यमा वाक् से अभिहित होती है।

वैखरी—वैखरी वाक् क्रिया शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। वैखरी वाणी कारणबिन्दु से कार्यबिन्दु तथा नादात्मक मूल अंकुर और प्रसर रूपों को पार करके बिन्दु रूप में पुनः परावर्तनात्मक संहार दशा का बोध कराने वाली है। अतः इसे रौद्री शक्ति भी कहा गया है। प्रकाशांश रूप रौद्री और विमर्शांश रूप क्रिया का मेल ही वैखरी वाणी है। अभिनवगुप्त ने क्रिया विमर्शात्मिका स्वीकार किया है।[2] यह रौद्री शक्ति ही क्रिया शक्ति है जो विश्वविग्रह रूप है—"क्रिया शक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी यं विश्वविग्रहा।[3]"

बीज, नाद और बिन्दु इस त्रयी में वैखरी को बीज कहा जाता है। परावाक् रूप शब्दब्रह्म ही हृदय से मुखपर्यन्त वायु के द्वारा कण्ठादि स्थलों में अभिव्यक्त होकर अकारादि वर्ण रूप ग्रहण करके श्रोत्र ग्राह्य स्पष्टतर प्रकाश रूप स्थूल भाव धारण करता है, वह वैखरी वाक् है। विराट पुरुष और इस स्थूल वैखरी वाणी की एकता है।[4]

प्रपञ्च सार तंत्र में भी वैखरी का यही स्वरूप बताया गया है—

"अथ विराड्रूपिणी बीजात्मिकां हृदयादास्यान्तं अविभज्यमानां शब्द सामान्यात्मिकां वैखरीमाह वक्त्र इति विशेषेण रव रत्वात् वैखरी।"[5]

जो सूक्ष्म, हृदय स्थानी वाक् मुख को प्राप्त होकर विराट् रूप में अभिव्यक्त होती है, वह वैखरी वाक् है तथा विशेष रवर (अपेक्षाकृत रुरवर) होने के कारण वैखरी वाक् कहा गया है। अभिनवगुप्त ने वैखरी शब्द का अर्थ किया

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र, उद्योत पटल ११, पृ० ६।

२. मं० म० रहस्य पृ० १८८ (मंत्र और मातृकाओं का रहस्य)।

३. योगिनी हृदय २०/४०।

४. सौ० भा०, पृ० ६२-६६।

५. प्रपञ्च सा० तं० टि० वि०, पृ० ३३।

है। शरीर मात्र (अर्थात् मुख पर्यन्त) में होने वाली चेष्टा की संपादिका वैखरी वाणी है—"विखरः शरीरं तत्र भवा तत्-पर्यन्त चेष्टा संपादिकेत्यर्थः।"[1]

अन्तस् में जो शब्द उच्चारण सूक्ष्म रूप से होता है, वह मध्यमावाक् है। उसका उच्चारण अन्तरिन्द्रियों के द्वारा होता है और वही उच्चारण जब बाह्य इन्द्रियों द्वारा होता है तो वही वैखरी वाक् है। वैखरी वाणी को मध्यमा का ही बाह्य प्रसार कहा जा सकता है। प्रमाता का स्थानकरण अभिहनन रूप जो व्यापार है, वैखरी पहले उसका रूप धारण करती है, पुनः उन व्यापारों से संपादित शब्द रूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छूती हुई ही परिस्पष्ट होती है। वैखरी व्यापार और कार्यरूप दोनों है।[2]

वैखरी वाक् अभिजल्प रूप है। वह सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक वाङ्मय की शब्दनात्मिका शक्ति है—"वैखरी नाम अभिजल्प रूपिणी पंचदशाक्षरराशि मयी सर्व वैदिकलौकिकशब्दनात्मिकाशक्तिरित्युच्यते।"[3]

अभिनवगुप्त ने सामान्य और विशेष वैखरी के आधार पर सात प्रकार के भेद किये हैं—

"वचनं सप्तधा। तद्यथा मध्यमा रूपं तत्-प्ररोहात्मकं सामान्य वैखर्यात्मकं तत्प्ररोहात्मकं विशेष शब्दात्मकं वैखरी स्वभाव आवेशोचितविशेष वैखरीरूपं तत् प्रबन्धं विच्छेदं च।"[4]

वैखरी को तन्त्र में जागर भी कहा जाता है। तन्त्रालोक में वैखरी के स्थूल सूक्ष्म और पर-इन भेदों का उल्लेख है। स्फुट वर्णों की उत्पत्ति में कारणभूत वाणी वैखरी है।

"या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत्। सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादि भूयसा।"[5] अनुपाधिमान् चिदात्मक स्वरूप ही वैखरी का पररूप है। विवक्षात्मक अनुसन्धान करने वाली वाक् वैखरी वाणी है।[6]

समीक्षा—समन्वयात्मक विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाणी की चार अवस्थाओं का अधिकांश विद्वान् समर्थन करते हैं। कुछ आचार्यों ने वैखरी वाणी के व्यक्तात्मक एवं अव्यक्तात्मक दो स्वरूप माने हैं। विचारणीय है, जब हम परा या पश्यन्ती को चित् रूप मानते हैं, मध्यमा को शब्दार्थानुविद्ध मानते हैं और उसी का प्रसार, स्फुट रूप, इन्द्रियों द्वारा उच्चार्यमाण,

---

१. ई० प्र० वि० वि०, भाग २, पृ० १८७।
२. सं० व्या० द०, पृ० ४५।
३. कामकला विलास टीका, पृ० २४।
४. अभिनव भारती, भाग ३, पृ० ३०७।
५. तंत्रालोक, अ० ३, श्लोक १४४।
६. वही, ३/२४६-४७।

मध्यमामूला स्फोट की अभिव्यंजिका तथा व्याकरणानुशासनीय वैखरी वाणी मानते हैं।" "तुरीयां वाचो मनुष्याः वदन्ति" भाष्यकार ने भी कहा है। इन स्थितियों में ध्वनिमात्र (अवर्णात्मक) को भी वैखरी वाणी कैसे माना जा सकता है ? न तो यह अनुभवसिद्ध है और न ही तर्कसिद्ध। अतः यह विचार अवश्य ही चिन्त्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि अव्यक्त ध्वनि को भी वैखरी वाक् मानना शब्द और ध्वनि में अभेदान्विति या औपचारिक है, क्योंकि ध्वनि रूप दोनों है। पर श्रोत्र ग्राह्य ध्वनि की दोनों में एकरूपता है। अन्तर केवल इतना है कि एक वर्णात्मक ध्वनि होती है और दूसरी अवर्णात्मक ध्वनि होती है। कभी-कभी अवर्णात्मक ध्वनि से भी यत्-किंचित् अर्थ की प्राप्ति होती है। अतएव भर्तृहरि ने अवर्णात्मक ध्वनि को भी वैखरी वाक् रूप में स्वीकार किया है।

भाषात्मक दृष्टि से वैखरी वाक् ही महत्वपूर्ण हैं। भाषाविज्ञान इसी का विवेचन करता है। मध्यमा, पश्यन्ती और परा — ये दर्शन के विषय हैं। इनका महत्व एवं विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से ही किया जाता है वाक् की दो अवस्थायें (परा-पश्यन्ती) प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, अपितु अनुमेय हैं। अतः इनके विषय में दर्शन भेद का होना स्वाभाविक है। अर्थमात्र का स्थूल रूप व्यवहार का विषय होता है और उसका सूक्ष्म रूप दर्शन का विषय हो जाता है। वैदिक साहित्य से लेकर अद्यावधि परा और पश्यन्ती का विवेचन दार्शनिक दृष्टि से ही किया गया है। इसीलिये जो परा वाक् को स्वीकार नहीं करते उनके अनुसार पश्यन्ती ही 'परा' 'वाक्' है। वही अनादि निधन शब्दब्रह्म है। उसी का विकास सम्पूर्ण जगत् है और परा को स्वीकार करने वाले आचार्यों के अनुसार पश्यन्ती वाक् परा और मध्यमा की मध्यावस्था है। मूल रूप में जो शान्त निस्पन्द रहित है, वही स्पन्दित, अशान्त होकर मध्यमा आदि के रूप में परिस्फुटित होती है। जैसे सांख्य की प्रकृति गुणों की साम्यावस्था में शान्त अपरिणमित रहती है। तब संसार का मूल कारण नहीं बनती। वही जब विषम अवस्था को प्राप्त होती है, तब परिणमित होकर संसार का मूल कारण बनती है, किन्तु मूल प्रकृति के ये दोनों ही रूप अनुमेय या ध्यानानुगम्य है, सर्व प्रत्यक्ष नहीं। उसी प्रकार 'परा' वाग् रूप ब्रह्म निःस्पन्द, ईक्षण रहित होता है। एकोऽहं-बहुस्याम' की भाँति ईक्षण के आधान का केन्द्र वही परा वाग् पश्यन्ती रूप होती है। उसका सूक्ष्म विकास मध्यमा और स्थूल विकास वैखरी वाक् है। एतावता परा और पश्यन्ती में अति सूक्ष्म अन्तर होने के कारण मतभेद का विषय है। मूलतः उसमें ईक्षण का अभाव और तद्भाव ही अवस्थान्तर का कारण है। अतएव व्याकरण एवं शैवागम में वाक् के और भी अवान्तर भेद किये गये हैं। अतः परा की स्वीकृति अतिवैचारिक नहीं प्रतीत होती।

स्फोट-विमर्श

स्फोट-प्रयोजन—संस्कृत भाषाशास्त्रियों की विचार-सरणि कभी एक पक्षीय

नहीं रही है। वह सदा से ही सत्य और शिव पर आधारित रही है। उसकी दृष्टि में एकता और अनेकता, अन्तर एवं बाह्य, सद् एवं असद् प्रतीति एवं आभास तथा ब्रह्म एवं जगत् दोनों का एक ही स्वरूप है। एक का विस्तार अनेक है, अनेक का संकोच एक है, सत्य शिव रूप है और शिव का आधार सत्य है, जो कुछ बाहर है, वही अन्तर में भी है और जो अन्तर में है उसी का आभास बाहर हो रहा है। बाहर आभास है अन्तर में प्रतीति है। यही कारण है कि अन्तः एवं बाह्य जगत् की एकात्मकता का स्वरूप संस्कृत के भाषाशास्त्रियों के विचारों में भी प्रतिलक्षित होता है, जिसे विशेष प्रौढ़ता एवं स्थिरता पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों, भाषाविदों तथा शंकर आदि वेदान्त मनीषियों ने प्रदान किया। अतएव शब्दानुशासन के ग्रन्थ महाभाष्य में भाष्यकार के समक्ष अर्थ 'गौरित्यत्र कः शब्दः' प्रश्न की अवतारणा हुई। यहाँ पर प्रश्न का आशय यह नहीं है कि शब्द क्या है क्योंकि प्रसिद्ध्युपरोध से सामान्य शब्द का तो ज्ञान हो ही जाता है किन्तु प्रश्न है कि शब्द अर्थ का वाचक है या प्रत्यायक ? यदि शब्द को प्रत्यायक माना जाय तो वह सीधे अर्थ-बोध में समर्थ है, क्योंकि प्रत्यायक का सीधे सम्बन्ध प्रत्यय (ज्ञान) से है। अतः ज्ञाता को ज्ञेय (अर्थ) का ज्ञान (ज्ञापक के द्वारा) हो जाता है। ज्ञान के लिये ज्ञाता और ज्ञेय (अर्थ) के बीच में किसी स्वतंत्रभाषिक अमूर्तकरण की आवश्यकता नहीं। यदि शब्द को वाचक माना जाय तो मानना पड़ेगा कि शब्द पहले वाच्य अर्थ को उद्भासित करता है और तब उसके अन्तःस्थ अर्थ (जो शब्दानुविद्ध हैं) से अप्रत्यक्ष बाह्य अर्थ को।

ये दोनों ही प्रकार की विचारधारायें भाष्यकार को ज्ञात थीं। इस क्रम को न मानने से यह बाधा उपस्थित होती है कि कही वाच्य अर्थ का कोई संवादी बाह्य अर्थ होता ही नहीं है और जहाँ होता भी है वहाँ उसके ग्रहण में अनित्य दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः बीच में एक अमूर्त स्फोट स्वीकार करने से बाधा की निवृत्ति हो जाती है।

पतञ्जलि ने उक्त उभयविध प्रक्रिया का निर्देश करते हुये "येनोच्चरित······संप्रत्ययोभवति" तथा "अथवा प्रतीतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः" के द्वारा शब्द की परिभाषा की। या यह भी कह सकते हैं कि इस द्विविध शब्द लक्षण के द्वारा प्रथम से अमूर्तीकृत शब्द (स्फोट) और द्वितीय से तद्वाचक (ध्वनि समूह रूप) शब्द को ही अपना अभिमत प्रदान किया और आगे चलकर स्फोट और ध्वनि दोनों का प्रतिपादन किया। यही कारण है कि पतञ्जलि, शब्द का तादात्म्य जाति, गुण, क्रिया आदि से नहीं जोड़ सके। केवल इतना ही स्वीकार किया कि इनसे विभिन्न प्रकारों की प्रवृत्ति ही परिणामस्वरूप जन्म लेती है। जैसा कि ऊपर कह आये हैं कि पाणिनि का उद्देश्य व्याकरण के माध्यम से द्वैताद्वैत सृष्टि का उपपादन भी है। बाह्य अर्थ आन्तरिक अर्थ से उन्मीलित होता है और आन्तरिक अर्थ ही शब्द से अभिव्यंजित होता है। बाह्य अर्थ सविकल्प हो सकता है किन्तु आन्तरिक अर्थ में कोई विकल्प नहीं है। यदि उसमें भी विकल्प हो जाय तो वक्ता और श्रोता में संवाद ही सम्भव नहीं

हो सकेगा तथा भाषा का सम्प्रेषण रूप प्रयोजन ही ध्वस्त हो जायगा। बाह्य अर्थ के आकलन के लिए वक्ता के मन में तथा श्रोता के मन में विकल्प उठता है और इन विकल्पों के बावजूद अविकल्प रूप में भाषा का ग्रहण सम्भव होता है, जैसा कि भाषा के व्यवहार के द्वारा जगत् के व्यवहार के संचालन होते रहने से स्वतः प्रमाणित है। अतः यह मानना पड़ेगा कि कोई इन विभिन्न विकल्पों का संवादी एक अद्वितीय अर्थ ही है—वह भाषा के भीतर ही विद्यमान है। इसी सिद्धान्त को और अधिक व्यवस्थित और तत्वमीमांसापरक रूप देने के लिये भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म और उसके विवर्त रूप ऐन्द्रिय (ध्वन्यात्मक) तथा आभ्यन्तर मानस जगत् (स्फोट रूप) द्वैताद्वैत का उपपत्ति-पूर्वक प्रतिपादन किया।

दूसरी बात यह है कि शब्द को भौतिक घटनाओं का संयोगमात्र नहीं माना जा सकता है। अर्थात् केवल उच्चारित ध्वनि समूह योग ही शब्द को मानें तो सर्वप्रथम यह आपत्ति होती है कि ध्वनियों का उच्चारण क्रमिक होता है, एक साथ नहीं और ध्वनियाँ उच्चारित प्रध्वंसी हैं। अतः वर्ण समष्टियोग कदापि-कदापि सम्भव नहीं होगा। उसके अभाव में पद-वाक्य की चर्चा भी व्यर्थ होगी। तब अर्थ निरूपिता शक्ति कहाँ अधिष्ठित होगी ? यदि सैद्धान्तिक रूप से क्रमिक उच्चारण होते हुये भी युगपद् सभी ध्वनियों (शब्दगत) का उच्चारण मान लें तो उनका ग्रहण ही असम्भव हो जायगा और यदि यह माना जाय कि अन्तिम ध्वनि को छोड़कर समस्त पूर्व ध्वनि के साथ अन्त्य ध्वनि का भौतिक ऐन्द्रिय ग्रहण ही शब्द के रूप में होता है तो यह आधा तीतर आधा बटेर वाली स्थिति होगी क्योंकि स्मृति और प्रत्यक्ष को एक साथ एक ही ज्ञान के रूप में नहीं लाया जा सकता है। अतः विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि शब्द भौतिक घटनाओं का एक ऐसा अमूर्तीकरण है जो उसके वाच्य अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाली भाषा प्रतिपत्ति के अभ्यास से लगभग एक पूरे समुदाय के द्वारा सर्वग्राह्य है और इस दशा में उसे समुदाय की एक ऐसी शुद्ध प्रज्ञा का ही विषय मानना समीचीन होगा जो व्यक्ति की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर दूसरे संसर्गों से भी युक्त हो। उसे शाब्दिकों ने बौद्ध शब्द अथवा स्फोट की संज्ञा दी है।

वैयाकरण पद को ही वाचक मानते हैं, वर्ण को नहीं। वर्ण को वाचक मान लेने पर शब्दान्तर्गत एक ही वर्ण से अर्थ की प्रतीति सम्भव होने पर तत्पदनिष्ठ वर्णान्तर के उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। तब वर्णान्तर की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति दोनों ही व्यर्थ होगी। अतः किसी भी दृष्टि से वर्णों को वाचक मानना युक्तिसंगत नहीं। हाँ, एक वर्णिक पदान्तर्गत वर्ण अवश्य वाचक होगा, क्योंकि वहाँ वर्णान्तर की अनर्थकता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक वर्णों के उच्चरित प्रध्वंशी होने के कारण वर्णों के समस्त रूप (पद या वाक्य) की स्थिति कैसे सम्भव होगी ? इसलिये स्फोट तत्व को मानना आवश्यक हो जाता है। यदि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव-जनित संस्कार से एक स्मृति में वर्ण समूह की स्थिति मानकर समूहालम्बनात्मक पद

से अर्थबोध को माना जाय तो भी रस सर, नव, वन आदि शब्दों में अर्थ विशेष की प्रतीति सम्भव नहीं होगी। अर्थ सांकर्य दोष आ जाता है क्योंकि अनुभव स्मृति के क्रम में कभी-कभी व्यतिक्रम भी देखा जाता है और अनुभव क्रम के स्मरण में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

तब स्फोट तत्व को मानना आवश्यक हो जाता है जिससे उसी क्रम से अर्थ की प्रतीति हो सके। अतः 'येनोच्चरितेन' ··· भाष्य की व्याख्या करते हुये कैयट ने लिखा—

"वैयाकरण वर्ण व्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकम् वाचकत्वे द्वितीयादि वर्णोच्चारणानर्थक्य प्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्ति पक्षे यौगपद्येनोत्पत्यभवात्। अभिव्यक्ति पक्षे तु क्रमेणैवाभिक्त्या समुदाया भावादेक स्मृत्युपारूढानां च वाचकत्वे सरो सरसः इत्यादावर्थप्रतीत्य विशेष प्रसङ्गात् तद् व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यः वाचकः।"[1]

स्फोट तत्व को मान लेने पर बुद्धिस्थ अक्रम अखण्ड स्फोट में उच्चरित ध्वनियाँ उसी क्रम से उसी रूप में प्रतिबिम्बित होने लगती है, जिस क्रम से जितनी ध्वनियों का (वर्णों का) उच्चारण किया जाता है उतने ही शब्द उसी क्रम में अभि-व्यक्त (प्रकाशित) होकर तद्रूप शब्दार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं।

भाषा केवल बाह्य जगत् की वस्तु नहीं है। उसका अन्तर्जगत् से भी सम्बन्ध है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय संवेद्य तत्वों का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से होता है। स्फोट तत्व ही भाषा की आत्मा है। ध्वनियाँ तो भाषा की शरीरमात्र हैं। अतः भाषा के शरीर और आत्मा दोनों का ज्ञान आवश्यक है। कोई भाषाविद् बिना स्फोट के ज्ञान के पूर्ण भाषाशास्त्री नहीं हो सकता है। भाषा का प्रयोग तो बिना स्फोट ज्ञान के सम्भव है, जैसा कि लोक में शिक्षित-अशिक्षित सभी भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु भाषा का तात्विक विश्लेषण करने वाले भाषाशास्त्री के लिये स्फोट दार्शनिक तत्व है किन्तु वह पाश्चात्य दर्शन के समान मात्र कल्पना नहीं है, अपितु वह वैज्ञानिक विचार सरणि पर आधृत सूक्ष्मतम विचारों का प्रतिफल है। भारतीय दर्शन ज्ञान और विज्ञान का मधुर सम्मिश्रण है। गीता में कृष्ण ने कहा है—"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्षा-म्यशेषतः।"[2]

१. भरद्वाजीय विमानशास्त्र में स्फोटायन के मत के उल्लेख से यह सन्दिग्ध है कि स्फोट के प्रवर्तक होने से उनका स्फोटायन नाम पड़ा।

२. मीमांसक के मत में स्फोट से उत्पन्न अयन = गति का उपज्ञाता होने के कारण उक्त नाम पड़ा। विमानीय गति में किसी विशिष्ट स्फोट द्रव्य का प्रयोग (प्रक्षातः) किया होगा। (व्या० शा० इति० १७३)।

---

१. प्रदीप महाभाष्य पृ० १२ मो० ला० प्रकाशन।
२. गीता।

पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक के द्वारा भी स्फोट की सत्ता किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। पाश्चात्य विद्वान् हेरेस ने स्फोट तत्व से मिलते-जुलते 'उक्ति' तत्व को स्वीकार किया है। हेरेस ने उक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—

"किसी एक व्यक्ति द्वारा किये गये वार्तालाप का वह आयाम जिसके आदि या अन्त में वह चुप हो जाता है।"[1]

हेरेस की इस 'उक्ति' का सामान्यतः वाक्य से एकाकार नहीं किया जा सकता किन्तु इसका आशय वाक्य के स्फोट के अधिक निकट है, क्योंकि अंग्रेजी की अनेक उक्तियाँ केवल एक शब्द, पदबन्ध या अपूर्व वाक्य से भी नियमित होती हैं। हेरेस का यह 'उक्ति' तत्व स्फोट की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता है, क्योंकि कभी-कभी कई अपूर्ण वाक्यों से एक 'उक्ति' बनती है।

ध्वनि चित्र के रूप में स्फोट को प्रतिपादित करते हुये वान्द्रियैज लिखता है कि "श्रोत्रग्राह्य ध्वनियाँ हमारी बुद्धि में सुसम्बद्ध चित्र जागृत करती हैं। इनमें से प्रत्येक व्याकरण की भाषा में वाक्य कहलाता है।"[2]

स्फोट ही ध्वन्यात्मक शब्द के रूप में अभिव्यक्त हो उठता है। विचारमग्नता के प्रत्येक वाक्य में वाणी के उच्चारण सम्बन्धी सब व्यापार सम्पूर्ण बलपूर्वक होते हैं। ध्वनि उच्चरित न होने पर भी उसका आश्रय लेकर ही विचार की प्रगति होती है। कभी-कभी विचारमग्नता में वस्तुतः हम अपने विचारों को अकस्मात् शब्दों के उच्चारण द्वारा अभिव्यक्त कर देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो विचार का वाणी के अवयवों पर इतना बोझ पड़ता है कि ध्वनि यन्त्र स्वतः चालित हो जाता है। उसी अकुशल व अविवेकी मनुष्य के समान जो कि यन्त्र के टुकड़े की परीक्षा करते-करते, काल्पनिक प्रयोग तक सीमित न रहकर उसे छेड़कर उसे गत्यात्मक कर देता है।[3]

मध्यमावाक्, जिसे स्फोट रूप माना गया है, के सम्बन्ध में पीइर्गर का कथन है कि—"बुद्धिस्थ समस्त चित्रों को हम ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त नहीं करते। उदाहरणतः समाधि में ध्वनि के उत्पादक अवयवों का व्यापार नहीं होता, परन्तु विचारमग्नता एक आन्तरिक वाणी है जिसमें वाक्यों का उसी प्रकार पौर्वापर्य होता है जैसे ध्वन्यात्मक वाणी में।"[4]

डाग्नैन बावर्ट (Dagnen Bouveret) का उल्लेख करते हुये वान्द्रियैज का कथन है कि वाणी के पूर्व रहने वाली मनोवैज्ञानिक इकाई को शब्दचित्र का नाम दिया जा सकता है। यह एक साथ भाषा में अभिव्यक्त करने के लिये विचार द्वारा परिबद्ध चित्र भी है और अभिव्यक्ति के लिये तत्पर भावी ध्वनियों का समूह भी।

---

१. सैं० भाषा वि० में उद्धृत, पृ० १७८ (द्वारा सर वि० जोन्स)

२. भाषा, पृ० ७९।

३. भाषा, पृ० ७९। ४. भाषा, पृ० ७९ में उद्धृत।

इस शब्दचित्र के दो पक्ष हैं—एक पक्ष तो विचार गाम्भीर्य की और दूसरा ध्वन्युत्पादक के यन्त्र की ओर परिलक्षित होता है। यदि इसके स्थूलाकार का विचार किया जाय तो यह ध्वनियों द्वारा अनूदित होता है, पर मनोवैज्ञानिक स्रोत के कारण यह एक मानसिक व्यापार का फल है। इस प्रकार यह द्वैताद्वैत के उपर्युक्त दो पक्षों का समन्वय करता है और भाषावैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक के अनुसन्धान क्षेत्र का एक आश्रय है।[1]

डेविड हार्टले ने "आब्जर्वेसन आन मैन" में शब्दचित्र के चार भेद किये हैं—(१) श्रव्य, (२) दृश्य, (३) वाचिक और (४) हस्तसिद्ध। किन्तु भाषा में उच्चरित शब्द का सम्बन्ध केवल दो से होता है—श्रव्य एवं वाच्य से अन्य दो से नहीं।[2]

अस्तु, स्फोट रूप आन्तर शब्द एवं ध्वनि रूप बाह्य शब्द उभय की सत्ता, तात्विक दृष्टि से शब्द का विवेचन करने वाले भाषा वैज्ञानिक को अवश्य माननी पड़ती है। स्फोट के अभाव में ध्वन्यात्मक शब्द अर्थबोधक नहीं हो सकता।

स्फोट तत्वज्ञान एवं विज्ञान दोनों से परीक्षित एवं समीक्षित है। अद्यतनीन वैज्ञानिक उपकरणों से मानसिक (हृदयस्थ) विचारों का भी छायाचित्र (फोटो) लिया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जबकि अनादि, अखण्ड, अक्रम स्फोट में सूक्ष्मोच्चरित ध्वनियों से स्फोट अभिव्यंजित (अन्तःस्थ शब्द) हुआ रहता है। स्फोट तत्व कोरी कल्पना नहीं, अपितु विनिश्चित सत्य स्वरूप है। स्फोट का विवेचन भाषाशास्त्र का मुख्य विषय है।

स्फोट का स्वरूप

भाषातात्विक दृष्टि से शब्द से स्वरूप होते हैं स्फोट और नाद। स्फोट अर्थ का प्रत्यापक है और नाद स्फोट का अभिव्यंजक—

'द्वावुपादान शब्देषु शब्दौ शब्द विदोविदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥"[3]

अर्थात् वैयाकरण श्रोत्र ग्राह्य वैखरी रूप शब्द और स्फोट रूप शब्द मानते हैं। वैखरी रूप शब्द का निमित्त है, उसको प्रकाशित करता है। दूसरा स्फोट रूप शब्द अर्थ में प्रयुक्त होता है। वैखरी (ध्वन्यात्मक) शब्द साक्षात् अर्थ का वाचक नहीं होता, अपितु मध्यमा वाक् रूप सूक्ष्म शब्द को प्रकाशित करता है और वही मध्यमा वाक् अर्थ का साक्षात् वाचक होता है। नागेश ने लिखा है—"तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्य वाचकत्वेनाक्षतिः।"[4]

---

१. डाग्नैन बावर्ट, १० भाग १६, पृ० ४६६—भाषा के पृ० ८० में उद्धृत।
२. भाषा, पृ० ८० में उद्धृत। ३. वा० प० १/४४।
४. वै० भा० सि० मा०, शक्त्याश्रय नि०।

भट्टोजिदीक्षित ने स्फोट का अर्थ किया है—"स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः ।"[1] जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है।

कौण्डभट्ट ने 'इद' के स्थान पर केवल 'यत्' शब्द का प्रयोग किया है—"स्फुटित अर्थों अस्मात इति स्फोटः।" इस व्युत्पत्तिलभ्य स्फोट के अर्थ से अर्थ प्रत्यायक चेष्टायें भी स्फोट हो सकती हैं। 'स्फुट विकसने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर स्फोट शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः श्रीकृष्ण मिश्र ने उक्त व्युत्पत्ति को पंकज समान योगरूढ़ मानकर केवल शब्द व्यापार से अर्थबोधिका शक्ति को ही स्फोट पदवाच्य है।[2] स्फोट नाद से व्यंग्य होता है अतः "स्फुटचते वर्णादिभिरभिव्यज्यते इति स्फोटः" जो वर्णादि से अभिव्यंजित होता है, वह स्फोट है।[3]

भर्तृहरि ने शब्द में रहने वाले दो तत्वों को (नाद और स्फोट) स्वीकार किया है। इन दोनों तत्वों के विवेचन से स्फोट का स्वरूप कुछ स्पष्ट हो सकता है। ये दोनों तत्व वक्ता और श्रोता द्विष्ठ होने के कारण पृथग्विवेच्य हैं।

नाद और स्फोट में कार्य कारण या व्यंग्य व्यंजक भाव है। जब वक्ता विबक्षावान् होता है; स्फोट रूप शब्द, जो अन्तर में अक्रम भाव में स्थित है, उसमें वक्ता विवक्षा से अभिव्यंजक शब्दार्थ को बुद्धि में पहले सम्बन्धित करता है। तब प्रयत्नों से अन्तःस्थ स्फोट ही ध्वनि रूप में अभिव्यक्त होता है। शब्दाणु ही शब्दध्वनि के रूप में उच्चरित होता है, यह विवेचन शब्दस्वरूप प्रकरण में किया जा चुका है। वक्तृगत स्फोट ही ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव ध्वनिस्फोट को अभिव्यक्त करने का साधन है।

इसी प्रकार श्रोता को पहले ध्वनि सुनाई पड़ती है, तब श्रुत ध्वनि से अन्तःस्थ स्फोट अभिव्यक्त होकर अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार श्रोता की दृष्टि से भी ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति का निमित्त है। अतः वक्ता और श्रोता दोनों की दृष्टि से ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त करने का निमित्त (कारण) है।

महाभाष्यकार ने 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः शब्दः' कहा है। अर्थात् ध्वनि रूप शब्द पहले श्रोत्रोपलब्ध होता है तब वही शब्द (स्फोट रूप में) बुद्धि निर्ग्राह्य होता है, क्योंकि श्रोत्रोपलभ्य ध्वनि है और बुद्धि निर्ग्राह्य स्फोट।

भर्तृहरि ने उदाहरण देकर समझाया है कि जिस प्रकार जंगल की लकड़ियों के मध्य में स्थित अग्नि (ज्योति) अन्यत्र प्रकाश का (जंगल को जलाने का) कारण बनती है, उसी प्रकार बुद्धिस्थ शब्द भी जो स्फोट रूप है वह संस्कृत होकर वैख्यादि वाणी का पृथक्-पृथक् कारण होता है। अर्थात् श्रोत्र गाह्य ध्वनि का कारण स्फोट ही हुआ। जिस प्रकार अन्धकार में रखी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार अनभिव्यक्त स्फोट नित्य होते हुये भी अर्थबोधक नहीं होता। यद्यपि स्फोट में कोई क्रम

---

१. शब्द कौस्तुभ, पृ० १२ २. स्फोट चन्द्रिका, पृ० १–२।
३. वै० ल० म० टी० सभापति, पृ० १५२।

नहीं, किन्तु जब ध्वनियों का उच्चारण होता है तो उसी वर्ण क्रम में स्फोट अभिव्यक्त होता जाता है। एक ही ध्वनि से सम्पूर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु ध्वनि से क्रमशः अस्फुटतर—अस्फुट—स्फुट—स्फुटतर—स्फुटतम स्फोट की अभिव्यक्ति होती जाती है। अन्त्यवर्ण के साथ स्फोट पूर्णरूपेण अभिव्यक्त होकर अर्थबोधक होता है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

"नादी राहित वीजायामन्त्येन ध्वनि सह।
आवृत्ति परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥"[1]

अर्थात् नाद के द्वारा क्रमशः बुद्धि में बीज का आधान होता है। अन्त्य ध्वनि के साथ बुद्धि में शब्द स्फोट अवधारणा होती है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये जैसे किसी कक्ष में बिजली के हजारों बल्ब अक्रम लगे हों। उन बल्बों की स्विच को जिस क्रम से दबाते जायेंगे उसी क्रम से बल्ब प्रकाशित होते जायेंगे। अन्तिम बल्ब के जलने पर उनका एक क्रम स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि वह क्रम बल्बों का वास्तविक नहीं है, किन्तु उस क्रम में प्रकाशित बल्बों के कारण उनका वही स्वरूप आभासित होगा। इसी प्रकार मौन आकाश में ध्वनियों के द्वारा जिस रूप में स्फोट अभिव्यक्त होता है, उसी रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। यदि हृदयाकाश में अन्धकार नहीं है अर्थात् वह मौन नहीं है तो स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होगी। अतः जब कोई व्यक्ति कुछ सोचता रहता है तब दूसरे के द्वारा उच्चरित ध्वनियों से स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती। वक्ता के कथन को वह समझ नहीं पाता। जिस प्रकार सूर्य से प्रकाशित आकाश में तारों का दर्शन नहीं होता। उसी प्रकार मौन रूपी नीले आकाश में चमकने वाली निरवयव शब्द स्फुरत्त ही स्फोट कहलाती है। हरिशंकर जोशी ने स्फोटाभिव्यक्ति के लिये मौनाकाश का होना आवश्यक माना है।[2] जोशी जी ने स्फोट का अर्थ ध्वनिचित्र माना है। बुद्धि में मौन रूप, जो नीलाकाश है, में उच्चरित ध्वनियों का चित्र बनता जाता है, वह चित्र प्रकाश रूप है। वही प्रकाश रूप स्फोट है। अतएव उन्होंने 'फोटो' से स्फोट के अर्थ का साम्य बताते हुये ग्रिम्स ला के अनुसार 'भाः' शब्द से साम्य स्थापित किया है। कुछ अंग्रेजी विद्वानों की धारणाओं के पोषक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का 'विस्फोट' से स्फोट का सम्बन्ध स्थापित करना संगत या उचित नहीं प्रतीत होता। एतावता क्रमशः उच्चरित प्रध्वंसी ध्वनियाँ जो ध्वनिचित्र बनाती जाती हैं, उनका समूहालम्बनात्मक स्वरूप ही स्फोट है। यह अभिव्यक्त स्फोट निरवयरूप में ही अर्थ प्रत्यायक होता है, न कि वर्ण व्यतिरिक्त रूप में। अक्रम अनवयव स्फोट में वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं होता। भट्टाचार्य ने लिखा है—

"यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः। सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते।"[3]

---

१. वा० प० १/८५ २. प्रतिभा दर्शन, पृ० ३२३।
३. मी० श्लो० वार्तिक।

स्फोट में जो अनेक वर्णों की प्रतीति होती है वह अवास्तविक है। जैसे जल की चंचलता से उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्र-छाया भी चंचल प्रतीत होती है पर वह चंचलता प्रतिबिम्ब चन्द्र की नहीं, अपितु जल की ही है, जो उसके संसर्ग से आभासित होती है।

स्फोट एक अनवय, अक्रम और अखण्ड है—"स च यद्यपि एकोऽखण्ड एकैक वर्णेनाप्यभिव्यज्यते तथापि अन्त्यवर्णाभिव्यक्तो बोधहेतुः। अतोऽनेकवर्णजाभिव्यक्त-युत्तरम् अर्थप्रत्ययः। तत्र व्यंजकरूपप्रतिबिम्बमानात् तद्रूपरुषितैव तदभिव्यक्तिरित्येकोऽपि नानात्वमिवापन्नः। यथा जलचांचल्येनेन्दुप्रतिबिम्बस्य च लेखनग्रहणम्, यथा च स्फटिकादेर्जयाकुसुमाद्युपाधिवशात तद्रूपरुषितस्य मानम्, यथा च मुखे मणिकृपाण-दर्पणाधभिव्यंजकवशाद्दैर्ध्यवर्तुलत्वादिभानम् तद्वतप्रतिबिम्बसम्पर्काश्च संस्कारास्ते स्थिरा एव।"[1]

स्फुटित वर्णों का ग्रहण क्रम से और समूह रूप में होता है, जैसे कि तौतातित जी ने लिखा है—

"यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादेन।
वर्णाः प्रज्ञातसामार्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥"

स्फोट को उच्चरित ध्वनि से अभिव्यंग्य प्रायः सभी स्फोट के प्रतिपादक आचार्यों ने माना है। निश्चित ध्वनि से निश्चित स्फोट की अभिव्यक्ति नियमित रूप से होती है। ध्वनि की यह योग्यता अप्रतिबंधित होती है। अतएव स्फोट और नाद में अभिव्यंग्य और अभिव्यंजक सम्बन्ध है—

"ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धायोग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोट नादयोः॥"[2]

ध्वनि के बिना स्फोट का प्रतिपादन सम्भव नहीं होता। अतः ध्वनितत्व से भी परिचित होना परमावश्यक है। ध्वनि का विवेचन आगे किया जायेगा।

ध्वनि एवं स्फोट

स्फोट व्यक्त (वर्णात्मक) एवं अव्यक्त सभी ध्वनियों से अभिव्यंग्य है। ध्वनि से संस्कृत बुद्धि में यत्‌किंचित् रूप शब्दचित्र की उपस्थिति होती है। वही स्फोट है। वह केवल व्यक्त या सार्थक ध्वनियों से ही अभिव्यंग्य नहीं है। अतएव भाष्यकार लिखते हैं--"स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? स्फोटश्च तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।

"ध्वनिः स्फोटाश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महौश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः॥"[3]

कैयट ने केवल व्यक्त ध्वनियों से स्फोट को व्यंग्य माना है—व्यक्तानां ध्वनि-

---

१. वै० ल० म०, पृ० १५१। २. वा० प० १/९८।
३. म० भाष्य, १/१/७०।

स्फोटश्चेत्युभयं गृह्यते । अव्यक्तानां तु केवलम् ध्वनिरेव गृह्यते ।"[1] किन्तु कैयट की यह युक्ति समीचीन नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यह सिद्धान्त उक्त भाष्य के विरुद्ध है । अन्यत्र भी स्फोट से व्यक्त, अव्यक्त दोनों का ग्रहण किया जाता है । भेरी नाद आदि अव्यक्त ध्वनि से भी स्फोट की अभिव्यक्ति होती है ।[2] अतः व्यक्ताव्यक्त सभी ध्वनियों से स्फोट को अभिव्यंग्य मानना युक्ति संगत है । जोन्स ने लिखा है—

अभिव्यक्त स्फोट भेद रहित एवं क्रम रहित होता है । स्फोट ध्वनि से व्यंग्य है । अतः ध्वनि का अभिव्यक्त क्रम ही स्फोट का क्रम व्यवहार में माना जाता है । जिस क्रम से ध्वनि का उच्चारण होता है, उसी क्रम में स्फोट के अभिव्यंजित होने के कारण उसका वही क्रम मान लिया जाता है या उसी रूप में वह अर्थ उपस्थित करता है । जैसे 'गौ' शब्द के उच्चारण से जिस क्रम से ध्वनि उच्चरित हुई, उसी से स्फोट की अभिव्यक्ति भी होती है । स्फोट और ध्वनि के तादात्म्य के कारण ध्वनिगत क्रम का आरोप स्फोट में कर लिया जाता है ।[3]

कुछ लोग प्राकृत ध्वनि को ही स्फोट मानते हैं, क्योंकि इन दोनों में बहुत सूक्ष्म अन्तर है । ह्रस्व-दीर्घादि रूपता (या वृत्तियाँ) भी स्फोट में नहीं होती, किन्तु साक्षात् स्फोटाभिव्यंजिका प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व दीर्घादि वृत्तियाँ होती हैं और उसी रूप में स्फोट व्यंजित होता है । अतः इनका आरोप स्फोट में हो जाता है ।[4]

भर्तृहरि ने एक उदाहरण दिया है जैसे एक चित्रकार का ज्ञान निरवयव और अक्रम होता है । जब वह किसी पुरुष को अवयवों से युक्त क्रम में देखता है तो उसी क्रम से उसका ज्ञान भी होता है । जब वह ज्ञान बुद्धि का विषय बन जाता है तो पुनः निरवयव और अक्रम रूप में हो जाता है । वस्त्रादि पर उस चित्र को बनाने के बाद पुनः वह सक्रम सावयव दीखता है । इसी प्रकार शब्द भी, सुनते समय वह सावयव और सक्रम सुनाई पड़ता है, बुद्धि में अक्रम एवं निरवयव हो जाता है और पुनः बोलते समय वह सक्रम और सावयव हो जाता है । एतावता स्फोट उच्चारण काल में ध्वनि रूपता को प्राप्त होकर सक्रम और सावयव दीखता है ।[5] अतएव भाषात्मक दृष्टि से वाक्य सार्थक माना जाता है, किन्तु वाक्य ज्ञान के पूर्व वर्ण, पद आदि की प्रतीति होती है, तब वाक्य की । यह ज्ञान एक निश्चित क्रम से ही होता है । असत्य से सत्य, अनित्य से नित्य का ज्ञान होना ही स्वाभाविक है । अतः अक्रम स्फोट का ज्ञान ध्वनिगत सक्रम रूप से होता है और वही स्वाभाविक है ।[6]

इसी प्रकार स्फोट के अखण्ड (भेदरहित) होने पर भी सभेद स्फोट की प्रतीति होती है । ध्वनियों का उच्चारण निमित्त भेद के कारण विविध रूपों में होता है । तीव्र, मन्द आदि वृत्तियों से युक्त स्फोट तो होता नहीं है, क्योंकि प्राकृत ध्वनि के

---

१. वही, प्रदीप टीका ।
२. व्याकरण दर्शन पीठिका, पृ० ६ ।
३. वा० प० १/८६ ।
४. द्रष्टव्य ध्वनि विवेचन ।
५. वा० प० १/५२ ।
६. वही, १/९२ ।

बाद स्फोट अभिव्यक्त हो उठता है, उसके बाद प्राकृत ध्वनि से जो वैकृत ध्वनि उत्पन्न होती है, मन्दादि या द्रुतमध्यमादि वृत्तियाँ स्फोट की नहीं, अपितु उसी वैकृत ध्वनि की हैं। शब्दोच्चारण कितना ही मन्द या तीव्र क्यों न हो, किन्तु स्फोट का ग्रहण तो सीमित ही होता है। जैसे 'गो' शब्द का उच्चारण चाहे जितना तीव्र या मन्द होता हो, किन्तु दोनों से उतने ही ('गो' रूप) स्फोट की प्रतीत होती है, क्योंकि वृत्ति भेद वैकृत ध्वनि का है। अतः वह स्फोट को प्रभावित नहीं करती। उसका चित्र भी बुद्धि में नहीं आता। अतएव भाष्यकार ने लिखा—"स्फोटश्चतावानेध्वनिकृता बुद्धिः।"[1]

क्रम एवं भेदादि वृत्तियाँ प्राकृत और वैकृत ध्वनियों की हैं। स्फोट इनसे भिन्न, अक्रम और अभेद है। किन्तु स्फोट और ध्वनि में कार्यकारण या तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण ही स्फोट इन सब वृत्तियों वाला प्रतीत होता है।

भर्तृहरि ने स्फोट की अक्रमता को एक सुन्दर उदाहरण से समझाया है जैसे अण्डे में कोई क्रम या अवयव नहीं रहता, वह निर्विभागशः तरल रूप में रहता है। धीरे-धीरे सक्रम, सावयव हो जाता है। इसी प्रकार शब्द स्फोट बुद्धि में निर्विभाग, अक्रम रूप में रहता है और विवक्षात्मक पदवाक्य आदि के रूप में वृत्तिमान होकर सभाग एवं सक्रम हो उठता है—

अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्द संज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रिया रूपा भागशोभजते क्रमम्॥[2]

जिस प्रकार एक ही रूप मणि, कृपाण आदि निमित्त भेद से अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक स्फोट विविध ध्वनियों में अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है—"यथा मणि कृपाणादौ रूपमेकमनेकधा। तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभिद्यते।"[3]

वक्ता की दृष्टि से स्फोट ही प्राकृत ध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है और श्रोता की दृष्टि से वही स्फोट उच्चरित ध्वनि से व्यंजित होता है। ध्वनि स्फोट से व्यतिरिक्त कोई तत्व नहीं है। जब स्फोट में विस्फोट हो जाता है तब वह ध्वनि रूप में परश्रोत्रग्राह्य हो जाता है और तदनन्तर श्रोत्र के माध्यम से बुद्धिगत होकर स्वरूप (स्फोट रूप को प्राप्त हो जाता है। अतः आन्तर शब्द स्फोट या बाह्य शब्द ध्वनि में एक ही शब्दतत्व की पृथक्-पृथक् अवस्थायें हैं। जैसे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि में होता है, वैसे ही ध्वनि और स्फोट का भी सम्बन्ध होता है। मौलिक दृष्टि से स्फोट और ध्वनि में कोई भेद नहीं है, इसीलिये उसका तादात्म्य सम्बन्ध भी भर्तृहरि ने माना है।[4]

स्फोट और ध्वनि को इसीलिये कारण और कार्यरूप में भी माना जाता है। स्फोट रूप कारण से ध्वनि रूप कार्य पैदा होता है। अतः स्फोट नित्य और ध्वनि

---

१. म० भाष्य १/१/६७। २. वा० प० १/५१।
३. स्फोटवाद में स्फोटतत्व निर्णय से उद्धृत। ४. वा० प० १/४७।

अनित्य मानी जाती है। इन दोनों के स्वभाव में भेद होने के कारण मिट्टी और घड़े की तरह एक वर्ग स्फोट और ध्वनि को एक नहीं मानता। दूसरा वर्ग इनके कारण अभेद होने से मौलिक दृष्टि से दोनों को एक ही मानता है। भेद तो केवल बाह्य उपाधि की दृष्टि से है। जैसे जीव और ब्रह्म में अभेद है वैसे ही पदार्थ की दृष्टि से स्फोट और ध्वनि में अभेद है। कार्य और कारण में (या स्फोट और ध्वनि में) अभेद मानना दार्शनिक दृष्टिकोण है और कार्य-कारण (स्फोट-ध्वनि) में भेद मानना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। अतः नैयायिक स्थूल दृष्टि से दोनों में भेद मानते हैं और वैयाकरण सूक्ष्म दृष्टि से दोनों में अभेद मानते हैं।

"आत्म भेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धि भेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रक्षते॥"[1]

कार्य और कारण दोनों के अस्तित्व पर विचार न करना या दोनों को स्वीकार न करना विचार की अप्रौढ़ता है, क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से भी कार्य मात्र लोक व्यवहार सम्पादित नहीं हो सकता। कोई सिर पर चिल्लाता रहे किन्तु जब तक उस ध्वनि का बुद्धिस्थ स्फोट के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं होगा, अर्थबोध नहीं हो सकता। मिट्टी के अभाव में घड़े की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? यदि आकृति भेद से घट और मिट्टी में भेद मान लिया जाये तो प्रत्येक घट में भी भेद बुद्धि माननी पड़ेगी।

आकृति भेद द्रव्य में भेद का जनक नहीं हो सकता। कुण्डलगत सुवर्ण भी सुवर्ण ही होता है। आकृति विशेष को कुण्डलादि कह देते हैं किन्तु वे सभी हैं तो सुवर्ण ही। स्फोट और ध्वनि में देशभेद (बुद्धिस्थ स्फोट और आकाशस्थ ध्वनि) होने पर भी स्फोट और ध्वनि में भेद नहीं। देशभेद में केवल मूर्त कायिक द्रव्यों में भेद होता है। आकाश एक और व्यापक है, अतः स्फोट और ध्वनि में अभेद है।[2]

कारण और कार्य में ऐक्य भावना ही भारतीय अद्वैतवाद का पोषक है। जिस प्रकार जगत् की व्यावहारिक सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है, उसी प्रकार ध्वनि की भी व्यावहारिक सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या या अध्यास है। दोनों का भेद भी व्यावहारिक है, वास्तविक अभिन्नता ही है।[3] नागेश ने भी अभिन्न मानते हुये लिखा है—इदमेकं पदं एकं वाक्यमिति प्रत्यय, स्फोट सत्वे तदैव ये च प्रमाणम्।[4]

स्फोट नित्य है। वह विनाशशील नहीं है। यद्यपि ध्वनियाँ अनित्य हैं किन्तु उससे अभिव्यंग्य शब्द तत्व (स्फोट) नित्य है। स्फोट जाति रूप है और ध्वनि व्यक्ति रूप। जिस प्रकार घट चाहे उत्पन्न हो, चाहे अभिव्यक्त हो (प्रकाशित हो) किन्तु वह व्यक्ति रूप अनित्य होता है और घटत्व जाति के रूप में नित्य होता है, उसी प्रकार

---

१. वा० प० १/४५। २. वा० प० १/९७।
३. वा० प० २/२३४-२३५ तथा १/६६-६७।
४. म० भाष्य पश्य०, १/१/७० उद्योत।

ध्वनि व्यक्ति रूप में अनित्य और स्फोट जाति रूप में नित्य होता है। अतः अभिव्यक्ति या उत्पत्ति दोनों पक्षों में शब्द तत्व नित्य है। "अनेक व्यक्त्याभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।"[1]

कैयट ने स्फोट की धारावाहिकता या व्यवहार नित्यता को स्वीकार किया है। सखण्ड और अखण्ड सभी स्फोट व्यवहारिक दृष्टि से नित्य हैं—

"तच्च ब्रह्मतत्वं परमार्थतोनित्यम्। व्यवहारनित्यता वर्ण-पद-वाक्य स्फोटानाम् नित्यत्वम्, जाति स्फोटस्य वा।"[2] शेष कृष्ण ने भी शब्द (स्फोट) को नित्य और विभु स्वीकार किया है—

"नित्यानां विभूनां च क्रमो नास्त्येव वास्तव्यः।
उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुतः क्रमः॥"[3]

"अदर्शनं लोपः" सूत्र के द्वारा पाणिनि ने भी स्फोट (शब्द) की नित्यता में ही रुचि दिखायी है। समस्त वैयाकरण स्फोट को नित्य ही मानते हैं। महाभाष्य टीका में भर्तृहरि ने आकृति रूप में स्फोट को नित्य माना है। अन्य वस्तुओं की भाँति शब्द भी द्रव्य और आकृतिपरक दो रूपों वाला है। क्रम जन्मा अयुगपत् कालिक 'वृक्ष' शब्द अक्रम वृक्षत्व रूप आकृति की अभिव्यक्ति का हेतु होता है। अभ्यास के कारण वह आकृति पुरुष के द्वारा कुछ वर्ण व्यक्तियों से ही गृहीत होती है। रेखाचित्र के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है—पुरुष ही है, हस्ती नहीं। इस दर्शन में भी शब्द नित्य है, क्योंकि मानसिक शब्दाभिव्यक्ति के द्वारा ही ऐसा ज्ञान होता है।[4] अतएव भाष्यकार ने कहा है—"उभयतः स्फोटमात्रं प्रतिनिर्दिश्यतेरश्रुतेर्लघुतिः।"[5]

शब्द की विविध रूपता नाद भेद से प्रतीत होती है जैसे जल तरंग में एक चन्द्र अनेक दिखाई देता है। प्रदीप भेद से छाया भेद आ जाता है और आदर्श भेद से प्रतिबिम्ब में भेद आ जाता है, उसी प्रकार शब्द नित्य होते हुये भी नाद भेद से ह्रास और वृद्धि आदि को प्राप्त होता है। अतः शब्द की नित्यता में कोई व्यवधान नहीं आता। भर्तृहरि नित्यता दो प्रकार की मानते हैं[6]—(१) व्यवहाराश्रय और (२) परमार्थाश्रय।

भर्तृहरि ने शब्द के दो पक्षों का उल्लेख किया है—नित्य पक्ष और कार्यपक्ष। शब्द को नित्य मानने वाले नित्य भूत का विवर्त ही ध्वनि को मानते हैं। वह उससे उत्पन्न नहीं होता, अपितु स्फोट से ध्वनि विवर्तित और ध्वनि से स्फोट अभिव्यञ्जित होता है। अतः शब्द प्रत्येक दशा में नित्य होता है—

---

१. वा० प० १/९६। २. म० भा० प्रदीप 'झभञ्' सूत्र।
३. स्फोट तत्वनिरूपण, ७। ४. म० भा० टीका, पृ० ५।
५. म० भाष्य, एओङ् सूत्र। ६. म० भा० टीका, पृ० २५।

"अनित्यपक्षे स्थानकरणप्रतिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृ तः यः शब्दः सस्फोट इत्युच्यते । नित्यपक्षे तु संयोगज विभागज ध्वनि व्यंग्यस्फोटः[१] ।"

कार्यपक्ष है उत्पत्तिपक्ष । नैयायिक आदि जो शब्द को अनित्य मानते हैं, उनके अनुसार वाय्वभिघात से उत्पन्न शब्द अनित्य होता है अर्थात् विनाशशील होता है। उक्त नित्य और कार्यपक्ष को हरि ने जाति, व्यक्ति और स्फोट तथा ध्वनि रूप में भी माना है—"द्वौ शब्दात्मानो नित्यः कार्यश्चेति ।" भाष्य की टीका करते हुए हरि ने लिखा है—

"कैश्चित् नित्योऽयमिति दृष्टः कैश्चिदनित्य इति । अथवा जातिर्व्यक्तिश्चेति । अथवा स्फोटोध्वनिश्च ।"[२]

महाभाष्य टीका में भर्तृहरि ने स्फोट को ध्वनिरहित और अन्तस्थ स्वीकार किया है। श्रोतव्य और बोधव्य दोनों प्रकार के शब्दों को द्रव्य रूप मानते हुये श्रुत द्रव्य शब्द को ही साक्षात् कार्ययोगित्व बताया है।[३]

डा० त्रिपाठी ने लिखा है कि भर्तृहरि ने कहीं भी स्फोट को बुद्धिस्थ नहीं माना है किन्तु उसका आशय यह नहीं कि उन्होंने स्फोट को बुद्धिस्थ नहीं माना जबकि अनेकत्र स्फोट को अभिव्यंग्य माना है। ध्वनि श्रोत्र ग्राह्य है तदनन्तर श्रुत ध्वनि स्फोट ही को अभिव्यञ्जित करती है तो निश्चित रूप से ये सम्पूर्ण अभिव्यञ्जन की क्रिया बुद्धि में ही होती है। सांख्य सम्मत स्फोट सिद्धान्त का मुख्य आधार तो बुद्धि ही है। बाह्येन्द्रिय से समालोचित विषय मन के द्वारा बुद्धि में ही समर्पित होता है और सर्वविधभोग का निश्चय बुद्धि ही करती है। अतः शब्दाभिव्यक्ति बुद्धि में ही होती है—

"यथार्थालोचनाभिमान संकल्पाः तत्तद्रूप परिणामेन बुद्धावुपसंक्रान्ताः, तथेन्द्रिय व्यापारा अपि बुद्धेरध्यवसायात्मकव्यापारेण सहैकव्यापारी भवन्ति ।"[४]

हेलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट-स्फुटतर रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्व की झलक मानी है।[५]

स्फोट की परम्परा का आविर्भाव
तथा
विकास

स्फोटवाद भाषातत्वशास्त्र का एक अमर स्मारक है। यह भारतीय भाषाशास्त्रियों के वैचारिक पराकाष्ठा का द्योतक है। इसको मुख्य रूप से वैयाकरणों ने

१. वा० प० १/१०२ हरिवृत्ति
२. म० भा० टीका, पृ० ५, पृ० ८९।
३. वही, पृ० ८९।
४. सं० त० कौ० का० ३६-३७।
५. वा० प० ३ जाति समुद्देश ।

मान्यता प्रदान किया। भाषा के आन्तरिक और बाह्य तत्वों का संयोजक यह स्फोट भाषा के बाह्य रूप से सम्बद्ध होकर भाषा का उपकारी बनता है और आन्तरिक भाग से सम्बद्ध होकर भाषा दर्शन या व्याकरण दर्शन को उपकृत करता है। स्फोट का स्वरूप सदा से ही विवाद का विषय रहा है। उसका निर्धारण सभी आचार्य अपने-अपने ढंग से करते आये हैं और आज के अनुसन्धित्सु उसी को समझने और समझाने का प्रयास करते हुये प्रतीत होते हैं।

स्फोट सिद्धान्त की उद्‌भावना कब और किस रूप में हुयी, सम्भवतः 'इद-मित्थम्' रूप में यह कहना कठिन होगा। स्फोट शब्द से स्फोट सिद्धान्त के परिकल्पक नागेश ने पाणिनि के 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र के आधार पर आचार्य स्फोटायन को स्फोट सिद्धान्त का प्रवर्तक मानते हुए लिखा है—

"वैयाकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेनप्रीयतां जगदीश्वरः॥"[१]

उक्त पाणिनिसूत्र की व्याख्या करते हुये हरदत्त ने लिखा है कि स्फोटायन नामक महान वैयाकरण थे। उन्होंने स्फोट सिद्धान्त का पारायण किया। इसी से उनका नाम स्फोटायन पड़ा—

"स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोट प्रतिपादन परो वैयाकरणाचार्यः"[२] किन्तु उक्त मत में कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। 'केवल 'स्फोटायन' नाम से ही उनको स्फोट सिद्धान्त का प्रवर्तक मान लेना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। सामान्य रूप से नामकरण गुरुजनों के द्वारा होता है। अतः शैशवावस्था में ही उन्हें स्फोट सिद्धान्त का प्रतिपादक कैसे माना जा सकता है?

दूसरी बात स्फोटायन के अन्तर्गत स्फोट शब्द का अर्थ क्या 'स्फुटति अर्थः अस्मात्' यही था? जब 'स्फोट' सिद्धान्त के लिये 'स्फोट' शब्द का प्रयोग स्फोटायन ने कर दिया था तो कौन-सा कारण था कि स्फोटायन और पतञ्जलि के अवान्तर काल में किसी अन्य आचार्य ने स्फोट शब्द का उल्लेख नहीं किया?

स्फोट शब्द का स्पष्ट उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में ही प्राप्त होता है। अतः 'स्फोटवाद' का प्रतिष्ठापक उनको ही माना जा सकता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या पतञ्जलि स्फोट सिद्धान्त के प्रवर्तयिता के या पूर्वस्वीकृत सिद्धान्त के समर्थक थे। यह भी निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्फोट सिद्धान्त का आविर्भाव तो बहुत पहले हो चुका था किन्तु उसके लिये किसी शब्द विशेष का प्रयोग नहीं किया जाता था। उस सिद्धान्त के लिये कोई एक निश्चित शब्द रूढ़ नहीं था। आचार्य अपनी इच्छानुसार शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। स्फोट सिद्धान्त वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में बहुधा चर्चित है। डा० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार शब्द, वाक् और गो आदि शब्द इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के

१. स्फोटवाद, पृ० १०२, आड्यार ला० सिरीज नं० ५५।
२. पदमञ्जरी, काशिका ६/१/१२३।

लिये प्राप्त होते हैं।[1] "चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो" मन्त्र में 'द्वे शीर्षे' का द्विविध कार्य और नित्य (कारण) रूप शब्द से तात्पर्य है— प्रयोक्तव्य शब्द ध्वनि कार्य रूप है और स्फोट रूप शब्द नित्य कारण रूप है।

पदवाद और वाक्यवाद से सम्बन्धित विषय का विवेचन (यास्क और औदुम्बरायण का) भी स्फोट की ओर संकेत करता है—

"गौरश्वः पुरुषोहस्तीति भवतीति भावस्यास्तेशेते ब्रजति तिष्ठतीतीन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगदुत्पन्नानां शब्दानां वाइतरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च (नोपपद्यते)। व्याप्तिमत्वातु शब्दस्याणीस्त्वाश्च शब्दस्य संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके तेषां मनुष्यद्देवताभिधानम्।"[2]

'इन्द्रियं नित्यं वचनम्' से औदुम्बरायण ने वाक्य स्फोट को स्वीकार किया, ऐसा प्रतीत होता है। यास्क ने लोक व्यवहारार्थ पदवाद की कल्पना करके नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात पद चतुष्ट्व सिद्धान्त की स्थापना की और पद स्फोट को ही भाषा का मूल आधार माना।

यास्क के पदवाद का विवेचन हरिशंकर जोशी ने प्रतिभा-दर्शन में विशेष रूप से किया है किन्तु प्रकृत में हमारा आशय केवल उनके स्फोट की विचारधारा से है, अतः उसका विवेचन आवश्यक नहीं। श्री जोशी जी के अनुसार स्फोटवाद की कल्पना सांख्य और योग दर्शन के आधार पर है। सांख्य के अनुसार इन्द्रिय शब्द बुद्धि का भी वाचक है—"द्रष्टयति प्रकाशयति इति इन्द्रियम्।" प्रकाश बुद्धि का धर्म है और बुद्धि पुरुष की ज्योति है। अतः वह इन्द्रिय है। इस प्रकार 'इन्द्रियम् नित्यम् वचनम्' का अर्थ बुद्धिस्थ स्फोटरूप शब्द (वाक्य) ही नित्य है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—"वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वात्"। इससे स्पष्ट है कि औदुम्बरायण और यास्क भी स्फोट को जानते और मानते थे।[3]

कात्यायन प्रातिशाख्य और अथर्ववेद प्रातिशाख्यों में भी स्फुट् धातु के 'स्फोटण' शब्द का प्रयोग मिलता है[4]—'वर्णविपर्यये स्फोटणः' तदैव स्फोटणः।" किन्तु स्फोट वाद के सिद्धान्त से इनका सम्बन्ध नहीं है। पाणिनि ने स्फोट के स्थान पर 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि के 'शब्देनार्थगतेरर्थस्या सम्भवात् तदवाचिनः सम्प्रतिषेधार्थं स्वरूपग्रहणम्" "नवाशब्दपूर्वकोह्यर्थे सम्प्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः।" यहाँ पर कात्यायन ने 'शब्द' का प्रयोग 'स्फोट' के अर्थ में किया है। इसका समर्थन करते हुये पतञ्जलि ने लिखा है—"शब्देनोच्चरितेनार्थोगम्यते।"[6]

---

१. व्या० द० और अर्थविज्ञान, ६५०। २. निरुक्त १/४।
३. प्रतिभा दर्शन, पृ० ३१२
४. अथर्व० प्राति० २/३८ तथा १/१०३, का० प्राति० ४/१६५।
५. म० भा० १/१/६८।
६. महाभाष्य ४/२/३३।

अर्थात् शब्द से प्रकाशित अर्थ की प्रतीति होती है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—'येनोच्चरितेनेत्यादि'। इसी प्रकरण को बाद में भर्तृहरि ने लिखा—'वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः। आदैच् प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः" आदि।[1]

यद्यपि व्याडि का संग्रह उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके सिद्धान्तों का अन्य ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। पतञ्जलि ने 'किं पुनर्नित्यः शब्दः आहोस्वित् कार्यः'[2] इस नित्य और कार्य पक्ष का प्रश्न उद्भावित करके स्फोट दृष्टि से नित्य और ध्वनि (प्रायोगिक) दृष्टि से अनित्य स्वीकार किया। यह मत वस्तुतः पतञ्जलि का नहीं, अपितु व्याडि का ही था। भर्तृहरि की वा० प० टीका में व्याडि के दो श्लोकों का उल्लेख किया गया है—

"शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्वमेकं तत् समवस्थितम्॥"
+ +
अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सभेदमुपगच्छति॥"[3]

अर्थात् शब्द और अर्थ में भेद नहीं है। भेद केवल व्यवहारिक है। शब्द और अर्थ में एक ही मूल तत्त्व है, वह एक और नित्य है। शब्द (स्फोट) में भी कोई विभाग नहीं, अपितु वह विभाग और क्रमयुक्त होकर वैखरी रूप में अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्त वर्णरूप शब्द अर्थ का वाचक होता है। शब्द उच्चारित होने पर बुद्धिस्थ शब्द के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है। तब वह बुद्धिस्थ स्फोट रूप शब्द ही अर्थ का बोध कराता है।

इस सुदीर्घकालीन स्फोट परम्परा में, जो अन्यान्य रूपों में प्रचलित थी, पतञ्जलि ने स्फोट विचार को प्रौढ़ता ही नहीं प्रदान की, अपितु स्फोट शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करके स्फोटवाद का सूत्रपात भी किया।

पतञ्जलि ने शब्द की परिभाषा करते हुये 'येनोच्चरितेन.........'। इत्यादि से स्फोट रूप शब्द का ही लक्षण किया है। आगे चल कर इस विचार को स्पष्ट कर दिया—"स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्द गुणः।" स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द गुण है, किन्तु पतञ्जलि ने स्फोट को इतना तूल नहीं दिया जितना कि उत्तरोत्तर विद्वानों ने देना प्रारम्भ कर दिया। पतञ्जलि के अनुसार जिसके प्रकाशित (अभिव्यक्त) होने पर सास्ना लांगूल ककुद खुर विषाणि युक्त अर्थ का बोध हो, वह शब्द है अर्थात् स्फोट है।[4] यह स्फोट अन्तर में रहता है, क्योंकि बाह्य शब्द (ध्वनिरूप) का लक्षण

---

१. वा० प० १/५९-६१।
२. म० भाष्य, पश्य० पृ० ५७, बम्बई प्रकाशन, १९५१।
३. वा० प० १/२६, ४५।
४. म० भाष पश्य० पृ० १७ बम्बई प्रकाशन १९५१।

'अथवा' करके बाद में बताया—"अथवा प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनिः शब्दः ।"[1]

स्फोट सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन भाषाविद् भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया। विशेष रूप से स्फोट का प्रतिपादन वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में किया गया है। वैसे यत्र-तत्र उल्लेख पद या वाक्यकाण्ड में भी किया गया है। बाद में भट्टोजिदीक्षित नागेश, कौण्डभट्ट, मण्डन मिश्र, श्रीकृष्ण और शंकराचार्य आदि ने स्फोट का विशेष तर्क-वितर्क के साथ अन्य दर्शन शास्त्रों के द्वारा लगाये गये आरोपों का खण्डन करके स्फोट विचार को सुस्थिर सुदृढ़ एवं सुस्पष्ट बनाया। इन सब के आधार भर्तृहरि ही थे। (यह विषय अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखता है, अतः प्रत्यक्षाभाव के कारण और कुछ विशेष रहस्यमय होने से स्फोट सिद्धान्त दुरूह सा लगता है। यही कारण है कि सभी आचार्यों ने इसे अपने-अपने ढंग से देखने और व्यक्त करने का प्रयास किया है। हरिशंकर जोशी ने तो यहाँ तक कह डाला है कि स्फोट सिद्धान्त को किसी ने ठीक से समझा ही नहीं) कुमारिल भट्ट ने भर्तृहरि के ही स्फोट का खण्डन किया है और बाद के आचार्यों ने उसका उत्तर देकर समर्थन किया है।

इस प्रकार बहुधा विविक्त स्फोट अब कोई ऐसा रहस्य नहीं रह गया है जो दुरूह हो। स्फोट सिद्धान्त में जो कुछ न्यूनाधिक मतभेद है, वह अवान्तर विचारों में है।

स्फोट शब्द का प्रयोग

जिस स्फोट की चर्चा पीछे की जा चुकी है, उस स्फोट शब्द का विकास किस अर्थ में हुआ और कब हुआ यह भी विचार का विषय है। महाभाष्यकार के पूर्व 'स्फोटण' शब्द का प्रयोग प्रातिशाख्य में हुआ है।[2] इसमें 'स्फुट्' धातु से निष्पन्न स्फोटण का प्रयोग ध्वनियों की स्फुट उक्ति के लिये हुआ है।[3] यही स्फोटण सब सन्निपातीय प्रथम व्यञ्जन की जगह पूर्ण-पद या शब्द या वाक्य की स्फुटता के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा तो उसमे कुछ अर्थान्तर को आवश्यकता भी हुई। (इस प्रकार) पद या वाक्य की समूहात्मक ध्वनियों को स्फुटता को स्फोटण न कह कर उसके लिये स्फोट शब्द का प्रयोग किया गया। दोनों में अन्तर यह हुआ कि स्फोटण का क्षेत्र केवल व्यञ्जन समूह तक ही सीमित रहा और स्फोट का क्षेत्र प्रथम वर्ण ध्वनि से अन्तिम ध्वनिपर्यन्त माना जाने लगा।

यास्क, पाणिनि, कात्यायन आदि ने स्फोट शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उनके शब्द की व्याख्वा स्फोट रूप में की जा सकती है। इसी आशय को व्यक्त करते हुये पतञ्जलि ने स्फोट शब्द का प्रयोग महाभाष्य में किया है—"स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द गुणः।"[4]

---

१. म० भा० पश्य, पृ० १९ बम्बई प्रकाशन १९५१।

२. का० पा० ४–१६५, अ० प्राति० २–३८ तथा १–१०३।

३. प्रतिभा दर्शन, पृ० ३१४।

४, म० भाष्य पश्य, १/१/७०।

स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण है। जिसे पाणिनि ने 'स्वं रूपं शब्दस्या शब्द संज्ञा', औदुम्बरायण और वार्ष्यायणि ने वचन तथा यास्क ने 'स्वरूपं व्याप्तिमान् अतीयान्' कहा है उसी को पतञ्जलि ने स्फोट की संज्ञा दी है। आगे चल कर पतञ्जलि ने स्फोट को और अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा है—"अथोभयतः स्फोट मात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतेर्ल श्रुतिर्भवति।" अर्थात् र् और ल् दोनों श्रुतियाँ स्फोट का निर्देश करती है 'र्' श्रुति का 'ल्' श्रुति में परिवर्तन हो जाता है।

इससे प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने स्फोट का प्रयोग जिस तत्व के लिये किया है, उसमें कोई नई उद्भावना नहीं है। सम्भवतः प्रातिशाख्यों के स्फोटण को परिष्कृत किया है। बाद में स्फोट के इसी स्वरूप की व्याख्या महावैयाकरण भर्तृहरि ने विस्तृत रूप से किया। आगे चलकर यह स्फोटतत्व एक दार्शनिक रूप धारण कर गया जो विद्वानों के मनन और चिन्तन का विषय बना हुआ है।[1]

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने स्फोट शब्द का आशय प्रकृति में होने वाले अहर्निश क्षण-प्रतिक्षण के स्फोट से लिया है। उसी स्फोट को आधुनिक वैज्ञानिक विस्फोट के द्वारा जानते हैं। अतएव भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म रूप माना है।[2]

डा० रामसुरेश त्रिपाठी के अनुसार स्फोट विमर्शक विद्वानों ने स्फोट शब्द का छः रूपों में प्रयोग किया है[3], जिनका विवेचन इस प्रकार है—

(१) स्फोट ध्वनि के रूप में—पतञ्जलि के अनुसार स्फोट ध्वनि के सदृश ही शब्द का गुण है। भर्तृहरि ने नित्य और अनित्य दो पक्ष माना है। नित्य पक्ष में संयोगज-विभागज ध्वनि से व्यंग्य स्फोट और अनित्य पक्ष में प्रथम या आदि में निर्वृत शब्द का नाम स्फोट है। संग्रहकार व्याडि ने प्राकृत ध्वनि को स्फोट माना है जिसे हरि ने स्फोट का परिच्छेदक या व्यंजक माना है।

डा० त्रिपाठी के अनुसार हरि की दृष्टि में स्फोट, शब्द और ध्वनि ये समानार्थक नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने शब्द तत्व के स्थान पर स्फोट तत्व का प्रयोग कहीं नहीं किया है। भोज ने भी वाचक ध्वनि समूह को स्फोट नाम दिया है और प्रकृति; प्रत्यय, पद, वाक्य स्फोट आदि में भेद किया है।

(२) स्फोट शब्द रूप में—श्लोक वार्तिककार, महाभाष्य में उद्धृत भर्तृहरि; भाष्य के टीकाकार कैयट, अभिनवगुप्त, हेलाराज (वाक्यपदीय के टीकाकार) आदि ने स्फोट को शब्द का रूप स्वीकार किया है।

(३) स्फोट शब्द नित्यत्व रूप में—भर्तृहरि ने शब्द का निर्विभाग रूप माना है और स्फोट से पृथक् माना है। तथापि पुण्यराज ने वाक्यपदीय की टीका में शब्द और स्फोट को एक माना है और स्फोट के दो भेद करके एक आभ्यन्तर स्फोट और एक बाह्य स्फोट माना है।

---

१. प्रतिभा दर्शन, पृ० २१९ (२) सं० व्या० दर्शन, पृ० ४६१–४७६।

२. व्या० द० और अर्थविज्ञान, भूमिका, पृ० ४।

३. सं० व्या० दर्शन, पृ० ४६१–४७६।

(४) स्फोट जाति के रूप में—सायण ने परमार्थ संवित् लक्षण सत्ता जाति के रूप में स्वीकार किया है। बाद में वैयाकरणों ने उस जाति स्फोट को ब्रह्म तक पहुँचाने का प्रयास किया। कैयट तथा शेष नारायण मिश्र आदि ने भी स्फोट को जाति के रूप में माना है।

(५) वाक् के रूप में स्फोट—सायण ने स्फोट का सम्बन्ध परावाक् से जोड़ा है। नागेश ने मध्यमा वाक् को स्फोट माना है। शारदातिलक के लेखक लक्ष्मण देशिकेन्द्र ने शक्तिमय परमेश्वर के तीन रूप माने हैं। यथा—

(क) बिन्दु (शिवरूप),
(ख) बीज (शक्ति रूप),
(ग) शिव और शक्ति का मिश्रित रूप।

और उस बिन्दु की विकृति स्फोट है। उस स्फोट से रव उत्पन्न होता है। आगमों में उस रव को शब्दब्रह्म कहा गया है। आगमों में स्फोट और पश्यन्ती की एक रूप में चर्चा की गई है।

सोमानन्द में भर्तृहरि की व्याख्या में स्फोट और पश्यन्ती वाक् को एक माना है। तन्त्रालोककार ने भी पश्यन्ती और स्फोट को लगभग एक-सा माना है, किन्तु भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने स्फोट और पश्यन्ती को कहीं एक नहीं माना है। अतएव डॉ० त्रिपाठी ने भी अपनी असहमति प्रकट की है।

(६) स्फोट शब्द ब्रह्म के रूप में—कुछ विद्वानों ने हरि के शब्दतत्व को स्फोट रूप मानकर उसे ही शब्दब्रह्म माना है। हरि के शब्दब्रह्म को कुछ विद्वान आगमानुप्राणित तथा कुछ विद्वान प्रणव रूप मानते हैं।

भर्तृहरि ने द्रव्यनित्यत्व के विवेचन में प्रणव को ब्रह्म कहा है और अर्थ जगत् को शब्द का विवर्त माना है। अतः शब्दब्रह्म और स्फोट एक हो सकते हैं। भोज ने आगमों के अनुसार शब्द के अभ्यास विवर्त और विपरिणाम इन तीनों पक्षों में अर्थ की उत्पत्ति की है। शब्द विवर्त की आलोचना करते हुये शान्तरक्षित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत् का परिणाम अपेक्षित है या उत्पत्ति।" परन्तु भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म की विवेचना इन सब से भिन्न रूप में की है।[१]

स्फोट सिद्धि—

प्रत्येक वर्ण अर्थबोधक नहीं हो सकता है और क्रमिक उच्चारण तथा उच्चरित प्रध्वंशी होने के कारण वर्णों की युगपद उपस्थिति असम्भव है। अतः पद भी वाचक नहीं हो सकता। यदि उच्चरित वर्णों की आनुपूर्वी को स्मृतिजन्य मानकर उनको वाचक माना जाय, तो यह भी संभव नहीं, क्योंकि जिस आनुपूर्वी से अनुभव या श्रवण होता है ऐसी आनुपूर्वी से स्मृति भी मानी जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। विपरीत आनुपूर्वी अनुभवसिद्ध है। एतावता नदी-दीन, सरः-रसः में अर्थशांकर्य होने की

१. सं० व्या० द०, पृ० ४६१ से ४७६ द्रष्टव्य।

सम्भावना रहती है। इसलिये तत्तद् वर्णों, पदों या वाक्यों से अभिव्यक्त होने वाला तत्तत् स्फोट ही अर्थ का वाचक होता है।

कुछ लोग (मीमांसक) नित्य वर्ण को अर्थ का वाचक मानते हैं, किन्तु नित्य वर्ण होने पर भी अभिव्यंजक वस्तुओं अथवा ध्वनियों के तिरोधान होने के कारण वर्णसमुदायात्मिका बुद्धि नहीं हो सकती। अतः वर्णों को अर्थबोधक नहीं माना जा सकता। वर्णों की वाचकता सिद्ध न होने पर वर्णादि से अभिव्यंज्यमान स्फोट नाम का शब्दतत्व सिद्ध होता है।

"नित्यानामपि वर्णानाम् तत्तद्व्यंजक वायुभिः।
ध्वनिभिर्वा तिरोधाने न वर्ण समुदाय धीः॥"[1]

मीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं कि—

"यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञा न सामार्थ्यास्ते तथैवावभासकाः॥"

अर्थात् जितने और जिस प्रकार से वर्ण अर्थ के प्रतिपादन में ज्ञात सामर्थ्य हैं, वे उसी प्रकार अर्थ के बोधक होते हैं। एतावता एक स्मृति के विषय होकर वर्ण ही अर्थ के बोधक होते हैं। अर्थ की अनुपपत्ति न होने से स्फोट की कल्पना व्यर्थ है?

वैयाकरणों के अनुसार अनित्यपक्ष में उच्चरित प्रध्वंसी वर्णों का एकत्र सम्मेलन असम्भव है। अतः वे अर्थबोधक नहीं हो सकते। नित्य पक्ष में भी वर्णों के नित्य और व्यापक होने से उनमें देश, काल और क्रम का नियम नहीं हो सकता। इसलिए भी क्रम को उपाध्युपलब्ध मानना पड़ेगा। अर्थात् एक स्मृति में उपारूढ़ वर्ण चाहे क्रम से अभिव्यक्त हो चाहे अक्रम से अथवा विपरीत क्रम से, उनमें कोई विशेषता नहीं है। तब नदी, दीन आदि में पर्यायतापत्ति रूप दोष मीमांसकों के गलेपतित है, जिसके लिये स्फोट की कल्पना आवश्यक हो जाती है।[2]

स्फोट के खण्डन में मीमांसकों की पुनः शंका है कि नित्य व्यापक वर्णों का क्रम नहीं है तथापि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव में क्रम रहता है और उसी क्रम से एक स्मृति के समारोही वर्णों में भी औपाधिक क्रम स्वीकार किया जा सकता है, जैसा कि आचार्यों ने माना है—

"पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्तिसूरथः।
क्रम न्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्य श्रुति स्मृतः॥"[3]

अर्थात् एकार्थ प्रतीति ही व्यवहार का निमित्त नहीं होती, अपितु क्रम आदि भी व्यवहार के निमित्त होते हैं। न्यायभाष्यकार ने कहा है—"अर्थप्रत्यय कारणत्वंच न वर्ण मात्राणामपि चक्रमन्यूनारिक्ताद्युपहितानामपि।" अर्थात् वर्ण मात्र ही अर्थ का कारण नहीं, अपितु क्रम—न्यूनातिरिक्तत्व आदि भी कारण होते हैं। इस प्रकार वर्णों

---

१. स्फोट दर्शन, पृ० ८३–८४।
२. स्फोट दर्शन, पृ० ८७। ३. वही।

के औपाधिक क्रम को स्वीकार करने पर वर्णों से ही अर्थ प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं, स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

वैयाकरणों (स्फोटवादी) का उत्तर है कि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से जनित जो तद्-विषयक स्मृति है वह संस्कार रूपी कार्य को उत्पन्न करके तिरोहित वर्णों के अनुभवों को भी यदि विषय नहीं कर सकती तो उस क्रम को कैसे विषय कर सकती है ? अतः अर्थ की उपर्युक्त पद्धति युक्तिसंगत नहीं है। स्फोट की कल्पना अपरिहार्य है।

कुछ आचार्यों का आक्षेप है कि अर्थ सम्बन्ध के बाद ही पद की प्रतीति होती है, पहले नहीं, जिससे स्फोट की कल्पना की जा सके ? स्फोटवादियों के अनुसार उक्त शंका निर्मूल है, क्योंकि अर्थ को न जानने वाले को भी पद की प्रतीति होती है, सर्वानुभवसिद्ध है। इसी आशय से शेषकृष्ण ने कहा है—

"प्रमानजायते तावद् यावन्न ज्ञायते पदम्।
पदं हि ज्ञातं कारणं सर्वे स्वीकुर्वते बुधाः ।।"[१]

अर्थात् जब तक कोई विद्वान् पद स्वरूप को नहीं जानता तब तक पदार्थ को नहीं जान सकता। विश्वनाथ ने भी कारिकावली में लिखा है—

"पद ज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थ धीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्ति धीः सहकारिणी ।।"[२]

तथा वर्णों से नित्य और निरवयव स्फोट के प्रतीत या अभिव्यक्त होने पर तत्तद् विलक्षण अर्थ की प्रतीत होती है। जैसे एक ही मुख, मणि, कृपाण और दर्पण आदि में पृथक्-पृथक् रूप से दिखाई देता है उसी प्रकार एक ही स्फोट पृथक्-पृथक् ध्वनियों से भिन्न-भिन्न भासित होता है[३]—परन्तु स्फोट के वर्णादि से व्यतिरिक्त होने पर भी जिन वर्णों से स्फोट अभिव्यक्त होता है, उन्हीं का अध्यास उस स्फोट में होता है, दूसरे वर्ण का नहीं—

"स्फोटो वर्णातिरिक्तोऽपि तत्तादात्म्यमुपेयिवान्।
प्रत्ययो जायते तस्मादसौ तद्वर्ण रूषितः ।।"[४]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वर्ण अर्थ के बोधक नहीं हो सकते। न सम्मिलित रूप से और न ही असम्मिलित रूप से, न नित्यपक्ष में और न ही अनित्य पक्ष में। अनेकों में स्मृति भी अनेक होती है। इन्द्रियाँ अतीत वर्णों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती और संस्कार वर्तमान का ग्राहक नहीं होता। इन्द्रियाँ और संस्कार युग्पत ही इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न कराते हैं। अतः वर्णों से संकलनात्मक ज्ञान भी संभव नहीं तथा उपर्युक्त रीति से क्रम को मानने पर भी वर्णवाद संभव नहीं[५]।

१. स्फोट दर्शन में उद्धृत, पृ० ९०।
२. कारिकावली,।
३. वा० प० १/१००।
४. वा० प० १/१२९।
५. अर्थ और व्या० दर्शन, पृ० ३९०–९१।

एतावता वर्ण से अर्थबोध संभव नहीं। स्फोट की मान्यता आवश्यक है[1]—अर्थवर्ता च व्याकरणे सर्वज्ञानुमानिकी। अन्वय व्यतिरेकाभ्याम् धात्वादीनां वर्णानां शक्त्येऽर्थं कल्पायितुं—संघातार्थत्वात्॥

इसी प्रकार वाक्य स्फोटवादी वैयाकरणों ने पदवाद का भी खण्डन किया है। मीमांसकों के सभी आक्षेपों का संकलन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (६२- ६) में किया है। कुमारिल मीमांसक वर्णवादी हैं। वर्ण सार्थक होते हैं, पद सार्थक हैं और वाक्य महावाक्य के अन्दर से वाक्य का ऊहात्मक ज्ञान असम्भव होगा। साथ ही उसी प्रकार वर्ण भी सार्थक होते हैं किन्तु अज्ञानतावश मनुष्य को उसका ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे सूक्ष्म वस्तु बिना किसी सहायक सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र आदि उपकरण के नहीं दिखती उसी प्रकार वर्ण का अर्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु लोक में वर्ण समूह का अर्थ ज्ञान होता है।[2]

इसके अतिरिक्त मीमांसकों के और भी बहुत आक्षेप हैं। डा० द्विवेदी के अनुसार पाँच मुख्य आक्षेप तथा ५४ अन्य आक्षेप हैं। पाँच आक्षेप इस प्रकार है, जो वाक्य में पदार्थ की सत्ता न मानने पर आते हैं—

(१) प्रतिनिधि की कल्पना नहीं हो सकती अर्थात् वैयाकरणों के अनुसार धातुरूपों में 'ल्' के स्थान पर तद् तस् आदि आदेश नहीं होंगे, उनका कुछ अर्थ नहीं होगा। अर्थात् स्थानापन्न अधिकारी की कोई शक्ति नहीं होगी।

(२) एक वाक्य में किसी विशेष पद का अर्थ न ज्ञात होने पर यही प्रश्न नहीं किया जा सकेगा कि अमुक पद का क्या अर्थ है।

(३) मीमांसा के अनुसार श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यान ये यदि एक स्थान पर हों तो इनमें पूर्व-पूर्व बलवान और उत्तरोत्तर दुर्बल होते हैं—मुख्यार्थ से दूर होने के कारण यदि वाक्य को मुख्य माना जायगा तो श्रुति सबसे बलवान है, यह नियम बन सकेगा।

(४) एक वाक्य में अवान्तर वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होगा।

(५) पदार्थ को न मानने पर मीमांसा दर्शन के पदार्थमूलक वाक्यों के नियम नहीं बन सकेंगे और वाक्यार्थ के निर्णय में कठिनाई होगी।[3]

उत्तर—प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुये कौण्डभट्ट ने कहा है कि जिसका जो प्रतिनिधि होता है, उसका अर्थ उसमें रहता है, क्योंकि जैसे व्यवहार स्थानी में होता है वैसे ही प्रतिनिधि में जिसका निमित्त स्थानी होता है, वह प्रतिनिधि भी उसका निमित्त होता है तथा व्यवस्था भी उसमें वैसी ही देखी जाती है।

महाभाष्यकार ने वर्णवाद का खण्डन किया है। 'उसरपरः' सूत्र में वर्ण स्फोट को स्वीकार किया है, किन्तु 'ह य व र ट' और 'अर्थवत्' सूत्र में कुछ वर्णों को सार्थक

१. म० भा० टी०, पृ० ९६।
२. अर्थ और व्या० दर्शन, पृ० ३८३।
३. व्या० द० और अर्थ वि०, ३८४।

माना है और अन्य को निरर्थक। जैसे कुछ अध्येताओं को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है और कुछ को नहीं।[1]

भर्तृहरि ने इन आक्षेपों का सविस्तार तर्कपूर्ण खण्डन वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड में किया है। उनके अनुसार श्रुति वाक्यादि का निर्णय उसी प्रकार है जैसे राहु में शिर, गन्ध में चन्दनादि का भेद किया जाता है या एक आकाश में घटाकाश-पटाकाश आदि का भेद किया जाता है।[2]

भर्तृहरि की दृष्टि में ज्ञात पदात्मक वाक्य अज्ञात पदात्मक वाक्य से सर्वथा भिन्न होता है। अज्ञानी वाक्य में अज्ञात पद की सत्ता मानते हैं, ज्ञानी नहीं, क्योंकि वह अज्ञानता का सूचक है।[3]

और मुख्य बात यह है कि ज्ञान में विभाग नहीं होता, उसमें औपाधिक भेद मान लिया जाता है। इसी प्रकार वाक्य में कोई खण्ड नहीं होता, अपोद्धार प्रक्रिया से भेद मान लिया जाता है। लक्षणों की उपयोगिता भी केवल व्यवहारिक उपयोगिता के लिये है, पारमार्थिक सत्ता के लिये नहीं।[4]

जैसे वाक्य में से पदों को निकाल लिया जाता है वैसे महाकाव्यों से वाक्य को भी निकाल लिया जाता है। वस्तुतः उसमें कोई भेद या खण्ड नही है।[5]

वर्णवाद और पदवाद का खण्डन करते हुये मण्डन मिश्र ने स्फोट सिद्धि में कहा है कि वर्णवादी कुमारिल वस्तुतः मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त को ही अवगत नहीं कर सके, इसलिये स्फोट का खण्डन किया है। मीमांसा दर्शन में जैमिनि ने भाववाचक शब्दों से क्रिया की प्रतीति मानी है। जैसे—यजेत् (यज्ञ करना चाहिये) में यज् धातु का भाव और सत्ता दोनों अर्थ बताया गया है।[6]

मण्डन मिश्र की दृष्टि में वह सत्ता ही स्फोट क्रिया भाव आदि पद से अभिहित होती है। दूसरी बात कुमारिल का शब्द लक्षण, "जो कान से सुना जाय वह शब्द है,' अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है क्योंकि भाषिक दृष्टि से अनर्थक ध्वनि को शब्द नहीं कहा जा सकता।[7] मण्डन मिश्र ने अत्यन्त युक्तिपूर्ण तर्कों से मीमांसकों के आक्षेपों का खण्डन करके स्फोट की स्थापना की है।

नैयायिक स्फोट को स्फोट नाम से नहीं मानते। वे शब्द और शब्दध्वनि को मानते हैं। वैयाकरण ध्वनि और स्फोट दोनों को मानते हैं। नैयायिक ध्वनि को ही स्फोट मानते हैं। अतः ध्वनि की अनित्यता के कारण स्फोट का खण्डन करते हैं। उनके आक्षेप है कि—

१. वर्ण सार्थक हैं, उन्हीं से अर्थ ज्ञान होता है।

२. प्रत्यक्ष अनुमान से स्फोट की सिद्धि नहीं होती।

---

१. म० भा० १/१/५ तथा १/२/४५।

२. वा० प० २/८५-१०६। ३. वा० प०, वही।

४. वा० प० २/९१। ५. वा० प० २/८८।

७. मीमांसा, शबर स्वामी २/१/१। ८. स्फोट सिद्धि—३।

३. वर्ण स्फोट के व्यंजक नहीं है।
४. ध्वनियाँ स्फोट की व्यंजक नहीं है।
५. वाक्य स्फोट नहीं है।
६. वाक्य तथा पद आदि सत्य हैं।
७. स्फोट ब्रह्म नहीं है।[1]

उत्तर—

(१) वर्ण व्यस्त रूप में अर्थबोधक नहीं होते हैं और समस्त रूप अनित्यता (उच्चरित-प्रध्वंसी) के कारण सम्भव नहीं। क्रमिक प्रतीति मानने पर वर्ण सार्थक नहीं देखे जाते। अतः वर्ण अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। अन्य प्रश्नों का भी उत्तर जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में दिया है, जिसका विवेचन इस निबन्ध में पहले किया जा चुका है।[2]

(२) वर्ण सर्वथा अर्थ के वाचक सिद्ध होते हैं, किन्तु वर्णोच्चारण से ही शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है। अतः अवश्य ही कोई अर्थ बोधक कारण है। इससे स्फोट सिद्ध होता है। डा० द्विवेदी के अनुसार कार्यानुमान, परिशेषानुमान या अर्थापत्ति अनुमान से स्फोट सिद्धि होती है। अर्थज्ञान शब्द मात्र (ध्वनि) से नहीं होता। अतः जिससे अर्थ ज्ञान होता है, उसे ही शब्द कहना चाहिये और वह है स्फोट रूप शब्द। किसी लिंग से भी अर्थ ज्ञान होने पर वह शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" के संदर्भ में ही उक्त नियमन है। अपि च वर्णों के उच्चरित होने पर व्याप्ति नियम स्फोट अर्थ का प्रतिपादक होता है, बिना ध्वनि के नहीं। अतः अनुमान के द्वारा स्फोट की सत्ता सिद्ध होती है।[3]

(३) वर्णों से अर्थ ज्ञान न मानकर स्फोट की अभिव्यक्ति मानने पर शबर स्वामी के अनुसार शब्द और संस्कार में दो कल्पनायें करनी पड़ेगी। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भर्तृहरि ने लिखा है कि प्रथम वर्ण के सुनने के समय स्फोट अभिव्यक्त हो उठता है, किन्तु उत्तरोत्तर वर्ण से प्रथम ज्ञान ही संस्कृततर होता है। जैसे रत्न परीक्षक प्रथम रत्न से रत्न की शुद्धता जान लेता है तथापि पुनः पुनः उसके परीक्षण से उसके मन में विशुद्ध रत्न तत्व का ज्ञान अधिष्ठित हो उठता है।[4]

(४) नैयायिक ध्वनियों को भी स्फोट का व्यंजक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'घटमानय' आदि में उच्चार्यमाण ध्वनियाँ ही शब्द हैं। उनके अनुसार

---

१. अर्थ०वि० और व्या० द०, पृ०३८९।
२. इसी प्रबन्ध में, शब्द-स्वरूप-विमर्श।
३. अर्थ वि० और व्या० द०, पृ० ३९२। स्फोट दर्शन (९६)।
४. वा० प० १/३५ (नादैराहित बीजायायन्त्येन ध्वनिनासह।
आवृत्ति परिणामयोबुद्धौशब्दोऽवधार्यते। पूर्व पूर्वानुभजन्यभावना सचिवेऽन्ति मे। चेत सिस्फुरति स्फोटोरत्नतत्वमिवस्फुटम् ॥)

'घटमानय' आदि में उच्चार्यमाण ध्वनियाँ ही शब्द हैं, जो कम्बुग्रीवादिमान घट के आनयन के वाचक होते हैं। अन्य कोई स्फोट या शब्द नहीं परन्तु वैयाकरणों के अनुसार ध्वनियाँ स्फोट की व्यञ्जिका होती हैं, क्योंकि अनित्य ध्वनियाँ यौगपद्य के अभाव में अर्थ बोधन में समर्थ नहीं। ध्वनियों से अभिव्यक्त अखण्ड स्फोट ही तालु आदि से उच्चरित अकारादि ध्वनियों से युक्त प्रतीत होता हुआ सभेद प्रतीत होता है।[१]

(५) स्फोट सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। यह एक पद है, यह एक वाक्य है—इस प्रकार की एकत्वावगाहिनी प्रतीति सर्वजन प्रसिद्ध है और एकत्वावगाहिनी बुद्धि बिना किसी प्रबल बाधक के मिथ्या नहीं कही जा सकती। तब प्रश्न होता है कि उस एकत्व का आश्रय क्या है ? अनेक या नाना वर्ण एकत्व के आश्रय कैसे हो सकते हैं ? अतः इस एकत्व का आश्रय उन वर्णों के अतिरिक्त तथा उन्हीं से अभिव्यंग्य कोई एक पदार्थ है, जो एकत्व का आश्रय है। उसी का नाम है। वही शब्द है।[२] जिस प्रकार व्यक्ति से अतिरिक्त जाति और अवयवी से अतिरिक्त अवयव की सत्ता होती है। उसी प्रकार वर्णों से अतिरिक्त पदों और पदों से वाक्य स्फोट की सत्ता मान्य है।[३] एतावता स्फोट सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

(६) वैयाकरणों की दृष्टि में वाक्य स्फोट ही मुख्य है। अन्य वर्ण पद आदि सभी कल्पित हैं। एक तो वाक्य में पद् पद में वर्ण और वर्ण पुनः में यत्किंचिद्रूप सत्ता की कल्पना करने पर अनवस्था हो जायगी। यदि कहीं रुकना है तो वाक्य पर ही क्यों न रुका जाय ? दूसरी बात यह है कि व्यवहार में पद या वर्ण का कोई प्रयोग नहीं करता है। वाक्य का ही प्रयोग होता है और उसी से शब्दार्थ का ज्ञान होता है। अवयव का आभास भ्रम मात्र है—"पदे न वर्णाः विद्यन्ते, वर्णेष्वयवा च।
वायवात् पदानामत्यन्तं प्रविभागो न कश्चित्॥[४]

(७) उपर्युक्त वर्णवदृशा ही वाक्य के अवयवों की सत्ता काल्पनिक एवं असत्य सिद्ध हो जाती है। जैसे लिपि के अक्षर असत्य होते हुये भी सत्य का ज्ञान कराते हैं उसी प्रकार असत्यभूतवर्ण (प्रकृति प्रत्यय) पद आदि कल्पना से वाक्यार्थ का ज्ञान किया जाता है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—'असत्ये धर्मनिस्थित्वा ततः सत्यं समीहते।'"[५] अतः रेखा गवय न्याय की भाँति वर्णपद आदि असत्य एवं कल्पित हैं। प्रकृति-प्रत्यय विभाग भी संश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में कथमपि नहीं हो पाता। अतः उनकी भी सत्यता नहीं है। प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान एवं वर्णपद का ज्ञान आपोद्धार प्रक्रिया से अनुशासन के लिये ही माने जाते हैं।

---

१. स्फोट द०, पृ० ९५। २. वही, पृ० ९७।

३. व्या० द० और अ० वि, पृ० ३९४।

४. वा० प० १/७३।

५. वा० प० २/२३९।

एतावता पूर्वोक्त नैयायिकों और मीमांसकों के आक्षेपों के निराकरण पूर्वक वैयाकरणों का स्फोटवाद सिद्ध हो जाता है।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्यपादाः ....आविवेश ।" इस श्रुति की व्याख्या में भी भगवान् भाष्यकार ने स्फोट तत्व की सिद्धि की है। एक ही स्फोट तत्व है जिसके चार शृंग चार प्रकार के पद-नाम, आख्यात् उपसर्ग और निपात हैं तथा "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि ...." इस श्रुति से स्फोट तत्व की सिद्धि होती है।[1]

सांख्यसूत्र है—"प्रतीत्य प्रतीतिभ्यांन स्फोटात्मकः शब्दः।" अर्थात् जिन वर्णों को स्फोटवादी अभिव्यञ्जक मानते हैं वे गृहीत संकेत अभिव्यञ्जक हैं अथवा अगृहीत सकेत ? वर्णों के अभिव्यञ्जक मानने की अपेक्षा उन वर्णों को ही वाचक मान लेने में लाघव है, अतः स्फोट की कल्पना व्यर्थ है और अगृहीत संकेत वर्णों के अभिव्यञ्जक मानने पर सब को अर्थबोध होना चाहिये, किन्तु होता नहीं। अतः उभयतः स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

स्फोटवादियों का उत्तर है कि अगृहीत संकेतात्मक वर्णों से भी स्फोट की अभिव्यक्ति होती है पर वहाँ केवल पद का ही प्रत्यक्ष होता है, अर्थ का नहीं और जहाँ गृहीत संकेतात्मक वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है वहाँ पद आदि के प्रत्यक्ष के साथ ही अर्थबोध भी होता है।[2] वाचस्पति मिश्र ने भी तत्व बिन्दु में अनेक शंकाओं का उत्तर देते हुये स्फोट की सत्ता को स्वीकार किया है।

स्फोट विभाग

वाग्व्यापार की प्रकृति स्फोट है। स्फोट ही वास्तविक शब्द है। "स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः।" वैखरी वाणी स्फोट की अभिव्यञ्जिका है।[3] सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार के लिये शब्द भावना नितरां अपेक्षित है। शब्द भावना के बिना वाग्व्यापार ही सम्भव नहीं।[4] श्रोता में यही शब्द भावना श्रोत्रावगत होकर प्रतिभा कहलाती है। वक्ता में यही शब्द भावना स्फोट कहलाती है। कर्ण में स्थित वाग् नाद है। इसी नाद से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। अर्थतत्व का वाचक यही स्फोट होता है। स्फोट और ध्वनि व्यञ्जक रूप हैं।[5]

स्फोट की अभिव्यञ्जक ध्वनियाँ अनेक होती हैं और स्फोट एक ही होता है एक किन्तु अनेक ध्वनियों के द्वारा प्रकाशमान एक ही स्फोट अनेक रूपों में प्रकाशित होता है—"यथा मणि कृपाणादौरूपमेकधा। तथैव ध्वनिषुस्फोट एक एव विभिद्यते।"[6] तथा जिस प्रकार कुक्कुट आदि के अण्ड में अवयव परिलक्षित नहीं होते, अतएव

---

१. स्फोटदर्शन, पृ० १००–१०१।

२. स्फोट दर्शन, पृ० १६२।

३. म० भा० १/१/६७।

४. वा० प० १/१२२।

५. वा० प० १/९७।

६. लघुमं०, स्फोट तत्वनिरूपण।

संस्थान की योग्यता रहती है उसी प्रकार स्फोट रूप आन्तर शब्द में भी अवयव परिलक्षित नहीं होते किन्तु ध्वनि के द्वारा तद्रूप में प्रतिभासित होते हैं। वक्ता के उच्चारण के पूर्व बुद्धि में शब्द अक्रम होता है और उच्चारण काल में सक्रम हो जाता है जिस प्रकार चित्रकार की बुद्धि में स्थित मूर्ति अक्रम होती है और चित्रफलक पर वही मूर्ति सक्रम हो उठती है और मूर्ति नष्ट हो जाने पर वह पुनः बुद्धि में अक्रम हो जाती है उसी प्रकार इस स्फोट की अक्रम और सक्रम की व्यवस्था है।

यद्यपि मुख्य रूप से स्फोट एक, अनवय एवं सक्रम ही है, प्रणव रूप है[1] तथापि वैचारिक सौविध्य एवं शब्दशास्त्र प्रक्रिया के निर्वाहार्थ स्फोट में भेद की कल्पना की जाती है। व्याकरण के शब्दानुशासनात्मक रूप प्रयोजन के लिये ही स्फोट में विभाग स्वीकार किया जाता है।[2]

स्फोट दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर एवं बाह्य। बुद्ध्यवच्छिन्न आकाश-धर्मा आन्तर स्फोट होता है। वह स्फोट आन्तर प्रणव रूप होता है। आन्तर स्फोट ही मुख्य रूप में वाचक होता है तथा बाह्य स्फोट जाति व्यक्तिभेद से दो प्रकार का होता है—"एवं चेति स्फोटो द्विविधः आन्तरो बाह्यश्च, तन्त्रातरस्य मुख्यं वाचकत्व-मित्यर्थः। बाह्यस्तुजातिर्व्यक्ति भेदेन द्विविधः।[3]

प्रणव रूप आन्तर स्फोट ही अर्थ का वाचक होता है—"ओंकार एव सर्वा-वाक्सैषास्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बहवी नाना रूपा भवति।"[4] भागवत् के द्वादश स्कन्ध में प्रणव की स्फोटरूपता स्पष्ट रूप से कही गयी है—

"समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशादभूनादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते॥"[5]

+ +

"श्रृणोतिय इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥"[6]

नागेश भट्ट ने लघु मंजूषा में अखण्ड वाक्य स्फोट की स्थापना की है। उसी को मुख्य वाचक माना है। कौण्डभट्ट, मौनिभट्ट, श्रीकृष्ण आदि आचार्यों ने स्फोट के कुल आठ भेदों की स्थापना की है। पण्डितराज सभापति एवं बालकृष्ण शास्त्री ने आठ स्फोटों की व्याख्या की है। नागेश भट्ट ने आठ भेद कण्ठतः नहीं स्वीकार किया है किन्तु जाति स्फोट, व्यक्ति स्फोट तथा वर्ण पद और वाक्यादि

१. लघु मंजूषा, पृ० ३७६।
२. वै० ल० मंजूषा पृ० ४–५।
३. लघुमं० की कुंजिका, पृ० २३७, चौखम्बा प्रकाशन।
४. ऐत० ३/६/७। ५. भागवत् १२/६/३७ (भागवत)।
६. भाग १२/६/४७ (भागवत)

भेद से उन्होंने भी स्फोट के आठ भेदों की स्वीकृति दी है।[1] गतानुगतिक स्फोट के आठ भेद हैं—

(१) वर्ण स्फोट, (२) पद स्फोट, (३) वाक्य स्फोट, (४) वर्ण जाति स्फोट, (५) पद जाति स्फोट, (६) वाक्य जाति स्फोट, (७) अखण्ड पद स्फोट, (८) अखण्ड वाक्य स्फोट।

("ननु कः स्फोटः । इति चेत् । शृणु । वर्णस्फोटः, वाक्य स्फोटः अखण्ड-पदस्फोटः, अखण्डवाक्यस्फोटः । वर्णपदवाक्यभेदेनत्रयोजातिस्फोटाः इति वैयाकरण-सिद्धान्तः ।"[2])

वस्तुतः अर्थ की जाति या व्यक्ति ? यह भी एक मतभेद का विषय है। इसका वर्णन आगे किया जायगा किन्तु यह अनुभवगम्य है कि शब्द से कभी जाति रूप और कभी व्यक्ति रूप अर्थ की उपस्थिति होती है और यही स्फोट भेद का मूल कारण है। जातिवाचक होने पर जाति स्फोट तथा व्यक्तिवाचक होने पर व्यक्ति स्फोट। यद्यपि पूर्णतः अर्थबोधक वाक्य को ही माना गया है तथापि अनुशासनात्मक दृष्टि से उसे शब्द और वर्ण में विभाजित किया गया है। अतः वर्ण-शब्द और वाक्य के जाति और व्यक्ति दो भेद करने पर स्फोट के ६ भेद हो जाते हैं। पुनश्च व्याकरणशास्त्र सखण्ड और अखण्ड में द्विविध पक्ष मान्य है।

उपर्युक्त ६ विभाग अखण्ड पक्ष में होते हैं। अखण्ड में स्फोट के दो भेद होते हैं—(१) अखण्ड पद स्फोट तथा (२) अखण्डवाक्य स्फोट। वर्ण स्फोट को अखण्ड-सखण्ड भेद नहीं होता है, क्योंकि एक वर्ण मात्र का वर्ण स्फोट से ग्रहण होता है और वर्ण वाक्य की लघिष्ठ इकाई है। वह अविभाज्य है। अतः अखण्ड और सखण्ड भेद वर्ण स्फोट को सम्भव नहीं। एतावता खण्ड और अखण्ड के दो ही भेद होते हैं। अष्टविध स्फोटों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. वर्ण स्फोट—

प्रत्येक वर्ण सार्थक होता है। किसी पद में उच्चरित आदि वर्ण से लेकर अन्त्य वर्ण पर्यन्त वर्णादि ध्वनि से जिस स्फोट रूप अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वह वर्ण स्फोट पद है। महर्षि पतञ्जलि ने वर्ण को सार्थक और निरर्थक दोनों माना है।

"उभयमिदं वर्णेषूक्तम्, अर्थवन्तोऽनर्थका इति । किमत्रन्याय्यम् । उभयमिदं वर्णेषूक्तम्, अर्थवन्तोऽनर्थका इति । किमत्रन्याय्यम् । उभयमित्याह । कुतः स्वभावत ... ... न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थ वद्भिः शक्यम् भवितुं, कश्चिद्वानर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः ।"[3]

पद

---

१. व्या० द० भू०—रामाज्ञा पाण्डेय, पृ० ४५–४६।

२. स्फोटवाद पृ० १, नागेश।

३. म० भा० १/१/५ तथा वही वार्त्तिक ९।

एति में 'इ' धातु वर्ण मात्र सार्थक है। 'औपगवः' में अण् मात्र सार्थक है। एतावता महाभाष्यकार को वर्ण स्फोट इष्ट है। वार्तिककार कात्यायन को भी वर्ण-स्फोट अभीष्ट है अतएव उन्होंने लिखा है —

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात्। वर्ण्यनुपलब्धौ चानर्थ गतेः। संघातार्थत्वाच्च। ये त्रयो हेतवः सन्ति वर्ण स्फोट साधने।[1] कात्यायन ने वर्णस्फोट में तीन हेतु माने हैं—

१. वर्ण व्यत्यय होने पर अर्थान्तर की प्रतीति होती है, जैसे सरः, रसः आदि। विषय में कुछ आज भी ऐसी शब्द प्रधान एकाक्षरी भाषायें हैं, जिनकी वाक्य रचना वर्ण व्यत्यय पर ही आधारित होती है। जैसे चीनी भाषा।

२. दूसरा कारण है कि वर्णमात्र की अनुपलब्धि से सही अर्थ की प्रतीति नहीं होती। 'वृक्ष' शब्द के 'व्' की अनुपलब्धि से पत्र पुष्प फलादि मद्रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। अतोपि वर्ण सार्थक हैं।

३. तीसरी बात है कि अवयव के ही गुण अवयवी में अनुवर्तित होते हैं। अतः जिस संघात के वर्ण सार्थक होंगे वही संघात भी सार्थक होगा। अथवा संघात अर्थवत्ता को देख कर उसके अवयव की भी अर्थवत्ता का अनुमान करते हैं।[2] भगवान् उपवर्ष ने भी वर्णस्फोट को स्वीकार किया है। अतएव ग् औ तथा विसर्ग को 'गौः' रूप माना है।[3]

२. पद स्फोट

प्रत्येक वर्ण नहीं, अपितु प्रत्येक पद सार्थक होता है। सुबन्त, तिङन्त एवं तदादि घटक अन्त्यवर्ण से अभिव्यक्त स्फोट से अर्थ प्रतीति में पद स्फोट होता है। वर्ण सार्थक नहीं होते हैं, इसीलिये वर्णमात्र से सुप् प्रत्यय का आगम नहीं होता। "सरूपाणायेक शेष विभक्तौ" सूत्र में पाणिनि एवं म० भा० में 'समार्थानाम प्रथमाद्व" सूत्र में पतञ्जलि ने पद की सार्थकता को कष्टतः स्वीकार किया है।[4]

अपि च किं पुनः सार्थम्? अर्थाभिधानेयतः सार्थम्। किं पुनस्तत्? कृत वर्णानुपूर्वाकम् पदम्। सौत्थितिः वैक्षमाणिः।[5]

पृथगवस्थित वर्णों का अर्थ केवल शास्त्र-प्रक्रिया निर्वाहार्थ ही होता है।[6] लोक व्यवहार में वर्ण सार्थक नहीं होते हैं।

"संख्या या अतिशदतायाकन्" सूत्र के वार्तिक में भाष्यकार ने लोक में प्रत्ययादि के अर्थों का अभय स्वीकार किया है—"न हि केवलेन प्रत्ययेनार्थोऽवगम्यते।

१. अष्टा० प्रत्या० सू० वा० ५, सू० ५ वा० ११–१२।
२. अष्टा० प्रत्या० सू० वा० ५, सू०—५ वा० ११–१२।
३. द्रष्टव्य—शब्द प्रकरण।
४. पा० सू० १/२/६४ तथा म० भा० आ० २ (समर्थानाम् सूत्र)।
५. महाभाष्य ४/१/८२।
६. वा० प० २/२१०।

केन तर्हि ? सप्रकृति केन ।"[1] भर्तृहरि ने भी केवल प्रकृति-प्रत्यय अथवा वर्णमात्र की अर्थवत्ता का निषेध किया है—

"शास्त्रार्थ एव वर्णानामर्थवत्वे प्रदर्शितः ।
धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते ।।"

+

"कृत्तद्धितानामर्थश्च केवलानामलौकिकः ।
प्राग्विभक्तेस्तदन्तस्य तथैवार्थो न विद्यते ।।"[2]

एतावता पदों में वर्ण व्यत्यय, विकार, अपाय और अपजन के होते हुये भी पद की ही सार्थकता है, वर्ण की नहीं । अतः पद स्फोट की सत्ता मान्य है ।

३. **वाक्य स्फोट**—इसमें प्रत्येक वर्ण या पद की सार्थकता नहीं मानी जाती, अपितु (पद समूह) वाक्य की सार्थकता होती है । सुबन्त तिङन्त पद जन्य बोधपूर्वक अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त स्फोट की बोधकता में वाक्य स्फोट का व्यवहार होता है । वस्तुतः वाक्य ही मुख्य है । अन्वय व्यतिरेक पद्धति से पद और वर्ण की कल्पना केवल शास्त्रीय है । ये भेद केवल व्याकरणिक प्रक्रिया के निर्वाहार्थ माने जाते हैं । जैसे एक ही प्रकाश दृश्य भेद से विविध प्रकार का दिखाई पड़ता है ।[3] भट्टोजिदीक्षित वाक्य से ही अर्थ का प्रकाशन मानते हैं और वाक्य स्फोट को वैयाकरणों के सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं ।[4]

भर्तृहरि लिखते हैं—"पदेन वर्णाः विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवान च । वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।"[5] आगे भी भर्तृहरि ने लिखा है—

"प्रजुसंज्ञवाद्यवयवैर्न चास्त्यथावधारणम् ।
तस्मात् संघात एवैको विशिष्टार्थनिबन्धनम् ।।"[6]

इस प्रकार वैयाकरणों का वाक्य स्फोट ही मुख्य सिद्धान्त है । वर्ण, पद आदि केवल अन्वाख्येयार्थ हैं ।

उपर्युक्त त्रिविध स्फोट की मान्यता व्यक्ति पक्ष की दृष्टि से है तथा जाति पक्ष में इन्हीं तीनों स्फोटों को—

४. वर्ण जाति स्फोट,

५. पद जाति स्फोट,

६. वाक्य जाति स्फोट के रूप में माना गया है ।

जब वर्ण से वर्ण व्यक्ति स्फोट की अभिव्यक्ति न होकर वर्ण जाति स्फोट कत्व, गत्व आदि की अभिव्यक्ति होती है तो उसे वर्ण जाति स्फोट कहा जाता है । जब पद

---

१. म० भाष्य ५/१/२२ ।
२. वा० प० २/२१०–११ ।
३. वा० प० १/७, ८, ९ ।
४. भूषणसार, स्फोट नि० ।
५. वा० प० १/७, ८ ।
६. वही २/२२०, अपि च २१, २२ में भी ।

व्यक्ति - घट-पटादि की अभिव्यक्ति न होकर पद जाति घटत्व, पटत्व आदि की अभिव्यक्ति होती है और पदत्व का अर्थबोध होता है, तब उसे पद जाति स्फोट कहते हैं। इसी प्रकार वाक्य रूप व्यक्ति स्फोट की अभिव्यक्ति न होकर वाक्य रूप जाति की अभिव्यक्ति होती है, तब उसे वाक्य जाति स्फोट कहते हैं—"वर्णपदवाक्यगतजातिव्यंग्य-स्फोटैर्बोधे क्रमशः वर्णजातिस्फोटः, पदजातिस्फोटः, वाक्यजातिस्फोटः इत्युच्यते ॥[1]"

७. अखण्ड पद स्फोट

असत्य या खण्ड पद सार्थक नहीं होते, अपितु सत्य, नित्य तथा अखण्ड पद सार्थक होते हैं। प्रत्येक पद सार्थक नहीं, अपितु एक ही पद नित्य है, वही सार्थक है।[2] प्रकृति-प्रत्ययजन्य विभाग से रहित वर्णशः प्रतीति को भिन्न वर्ण-सघात रूप पद से अर्थ की प्रतीति होने पर जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वह अखण्ड पद स्फोट कहलाता है। जैसे हतः, हन्ति, लवितुम्—लविता आदि।

८. अखण्ड वाक्य स्फोट

पद विभाग रहित वाक्य स्फोट से अभिव्यक्त अर्थावबोध को अखण्ड वाक्य स्फोट कहते हैं। जैसे व्याकरण ज्ञान से शून्य अशिक्षित व्यक्ति को भी वाक्य से अर्थ ज्ञान होता है, किन्तु शब्दशः या वर्णशः वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता।[3]

खण्ड वाक्य सार्थक नहीं होता, अपितु अखण्ड वाक्य ही सार्थक होता है। अनित्य, असत्य या व्यक्तिरूप वाक्य सार्थक नहीं होता, अपितु नित्य, सत्य और जाति रूप वाक्य ही सार्थक होता है।

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने लिखा है कि "प्रत्येक वाक्य सार्थक नहीं, अपितु एक ही वाक्य है। वह नित्य है, सत्य है, अखण्ड है, अनिर्वचनीय है, वही अर्थ है, वही स्फोट है, वही ध्वनि है, वही वाक्य है, वही वाक्यार्थ है, वही पद और पदार्थ है, वही अक्षर और अक्षरार्थ है। वही निर्गुण सगुण है। वही सक्रिय-निष्क्रिय है। वही सकाम, निष्काम है। वही सलेप-निर्लेप है। वही अक्षय निराकार है।[4]"

एतावता इस पक्ष में अखण्ड (एक) अनवयव पद संघात रूप वाक्य ही स्फोट है। वही प्रतिभारूप वाक्यार्थ है। पृथक्-पृथक् अर्थ में विनिवेशित पदों की वाक्यार्थ से अर्थवत्ता मानी जाती है। वाक्य से अभिभक्त पदों की पार्थक्येन अर्थवत्ता नहीं मानी जाती है—

"संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थस्तुषु गृह्यते।
नात्रोपाख्यायते तत्वमपदार्थस्य दर्शनात् ॥[5]"

---

१. व्या० द० भू०, पृ० ४७ तथा भूषण टीका, प्रभा, पृ० ४४८।
२. अ० वि० और व्या० द०, पृ० ३७८।
३. व्या० द० भू० ४७।
४. अ० वि० और व्या० द०, पृ० ३७८।
५. वा० प० २/४२१।

जैसे इन्द्रियाँ शरीर के बिना कार्य करने में असमर्थ होती हैं वैसे वाक्य के बिना पद की सार्थकता का कोई प्रयोजन नहीं होता। जहाँ पर पदमात्र से अर्थ-प्रतीति होती है वहाँ शब्द में ही वाक्यता रहती है। जैसे 'प्रविश्' का अर्थ होता है 'गेहं प्रविश्', 'पिण्डीम्' का अर्थ होता है, 'पिण्डीम् भुंक्ष्व' इत्यादि।

'क्वचित्तु पदैरितरान्वितस्वार्थबोधनमस्त्येव।' यथा 'प्रविश्' पिण्डीम् इत्यादौ।[1] अतः वाक्य से ही अर्थ प्रतीति है, शब्द से नहीं। 'तृन्वत क्रोष्टुः' सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है—

"न लक्षणेन पदकाराः अनुर्वत्या। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यदि पदानां सत्यता सुस्पष्टता च स्यात् तदा तेषां स्वत् एव सिद्धत्वात्।"[2]

लक्षण के अनुसार पद का निर्माण होता है। इससे पद की असत्यता सिद्ध होती है। कात्यायन एवं जैमिनी के द्वारा स्वीकृत वाक्य लक्षण भी वाक्य पक्ष का ही समर्थक है। कौण्डभट्ट का कहना है कि अत्यन्त निष्कर्ष के पश्चात् वाक्य स्फोट ही सिद्ध होता है। वही वैयाकरणों का मत है।

"वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैक निष्ठा।"[3]

"वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीतिमतस्थितिः।"[4]

नागेश ने मञ्जूषा के स्फोटवाद में, श्रीकृष्ण ने स्फोट चन्द्रिका में, मण्डन मिश्र ने स्फोट सिद्धि में तथा भरत मिश्र ने स्फोट सिद्धि में वाक्य स्फोट की सत्ता को निष्कर्ष रूप में स्वीकार किया है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में आटोपस्पर्शन ने 'फिलासाफी ऑफ दि ग्रामर' (पृ० ३०७) में, आग्डेनरिचार्ड्स ने 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' में (पृ० १०, १९३), हार्मन पाउल ने 'प्रिंसपल ऑफ द हिस्ट्री ऑफ लैंग्वेज' (पृ० १११) तथा गार्डिनर ने 'थ्यौरी ऑफ स्पीच एण्ड लैंग्वेज' (अध्याय २–५) में अत्यन्त विस्तारपूर्वक विचार किया है और निर्णय दिया है कि वाक्य ही सार्थक है, एक है, अखण्ड है, अवयवी है। वाक्य की पद से पृथक् सत्ता है। पदों का कोई अर्थ नहीं होता है।[5]

सखण्ड एवं अखण्ड पक्ष

व्याकरणिक परम्परा में शब्द के दो पक्ष माने जाते हैं—(१) सखण्ड पक्ष, (२) अखण्ड पक्ष। अखण्ड पक्ष ही अनवयव, अविभक्त, आन्तरस्फोट है। खण्डपक्ष को ध्वन्यात्मक और व्यवहारिक शब्द स्वरूप स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् खण्ड पक्षाश्रयी हैं और कुछ विद्वान् अखण्डपक्षाश्रयी हैं। अखण्डपक्ष में पद में वर्णों की सत्ता काल्पनिक है, अखण्डपद ही मुख्य है। सखण्ड पक्ष में वाक्य में पद और पद में वर्ण

---

१. लघुमंजूषा, पृ० ४२८। २. महाभाष्य ७/१/९५।
३. श० कौस्तु०, पृ० ८। ४. भूषण सार कारिका–६१।
५. अर्थविज्ञान और व्या द०, पृ० ३८०।

की सत्ता वास्तविक है तथा पद और वाक्य की कल्पना ही अवास्तविक अर्थात् काल्पनिक है ।[1]

ऋक् प्रातिशाख्य 'पद प्रकृतिः संहिता' से उभयपक्ष का पोषण होता है। "पदानां प्रकृति पद प्रकृतिः । पद प्रकृतिः संहिता इति अखण्ड वादिभिः ।" पदानि प्रकृतिः कारणं यस्याः संहिताया इति पदप्रकृतिः संहितेति" खण्ड पक्ष में मान्य है ।[2] भर्तृहरि ने भी "पद प्रकृतिः संहिता" की व्याख्या करते हुये दोनों पक्षों को स्वीकार किया है—

"पद प्रकृति भावाश्च वृत्ति भेदेन वर्ण्यते ।
पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ।।[3]

(वा० प० २/५८)

अखण्ड पक्ष में पद-भेदादि अवास्तविक हैं ।[4] उसमें तीन पक्ष हैं—

१. संघात वर्तिनी जाति रूप वाक्य,
२. एक तथा अनवय शब्द रूप वाक्य और
३. बुद्ध्यनुसंहृति रूप वाक्य ।

अखण्डपक्ष की यह व्याख्या हरि ने वा० प० (२–१–२) में की है । खण्ड पक्ष में हरि ने पाँच प्रकार के वाक्य लक्षण किये हैं—

१. आख्यात शब्द वाक्य,
२. पद संघात,
३. क्रम,
४. आद्यपद तथा,
५. पृथक् सर्व पद साकांक्ष रूप वाक्य ।[5]

खण्ड पक्ष के इन्हीं वाक्य भेदों के समाश्रयण से अभितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रचलित हैं । इन्हीं दो वादों में पंचधाववाक्य की मान्यता स्वीकृत है। इनमें—१. पद संघात और २. क्रम अभिहितान्वयवाद में हैं तथा १. आख्यात शब्द, २. आद्यपद एवं ३. सर्वपद पृथक् साकांक्ष पद रूप वाक्य, ये तीन पक्ष अन्विताभिधानवाद में स्वीकृत हैं ।[6] खण्डपक्ष में ये दो वाद शाब्द बोध की दृष्टि से हैं । संघात और क्रम पक्ष में संसर्ग वाक्यार्थ होता है ।[7] आख्यात शब्द रूप का क्रिया प्रधान वाक्यार्थ होता है । शेष दो पक्षों में शब्दार्थ विशिष्ट में संसृष्ट वाक्यार्थ होता है ।[8]

अखण्ड पक्षस्थ वाक्य त्रय का प्रतिभा वाक्यार्थ होता है । जिनके मत में आकांक्षा से भासित पदार्थ संसर्ग वाक्यार्थ होता है, उनके मत में अभिहितान्वयवाद

---

१. वा० प० २/५७ । २. वा० प० २/१ पुण्य राज० ।
३. वा० प० २/५८ । ४. वही २/१ ।
५. वही २/१, २ । ६. वही, वा० प० २/६ ।
७. वही । ८. वही ।

मान्य है और जिसके मत में संसृष्ट ही पदार्थ वाक्य शक्ति से भासित होता है—उनके मत में अन्विताभिधानवाद स्वीकृत है। इन्हीं दो वादों के आधार पर मीमांसकों में दो दल हो गये हैं।

स्फोट भेद समीक्षा—नागेशभट्ट ने मञ्जूषा में आठ भेदों की गणना की है। उन्होंने आन्तर और बाह्य स्फोट बताकर बाह्य स्फोट के पुनः केवल दो भेद बताये है—जाति स्फोट और व्यक्ति स्फोट।

व्याडि व्यक्ति को ही पदार्थ मानते हुये व्यक्ति स्फोट की ही सत्ता मानते हैं। जाति पदार्थवादी वाजप्यायन के मत में जाति स्फोट मान्य है। इस प्रकार जाति और व्यक्ति स्फोट विद्वानों द्वारा माननीय हैं। अवान्तर भेद की कल्पना करने पर स्फोट के १६ भेद माने जा सकते हैं—१. प्रकृति स्फोट, २. प्रत्यय स्फोट, ३. प्रकृति जाति स्फोट, ४. प्रत्यय जाति स्फोट, ५. पद स्फोट, ६. पद जाति स्फोट, ७. वाक्य स्फोट, ८. वाक्य जाति स्फोट, ९. अखण्ड पद स्फोट, १०. अखण्ड पद जाति स्फोट, ११. अखण्ड वाक्य स्फोट, १२. अखण्ड वाक्य जाति स्फोट।[1] "अथवो भयतः स्फोट-मात्रं निर्दिश्यते" इस भाष्य के अनुसार उक्त १२ स्फोटों के अतिरिक्त, १३. वर्ण स्फोट एवं १४. वर्ण जाति स्फोट मिलाकर १४ हुये। उक्त प्रकृति–प्रत्यय स्फोट को सखण्ड-अखण्ड भेद करने पर कुल १६ स्फोट सिद्ध होते हैं।[2]

स्फोट आकाशवद् नित्य है, अखण्ड है, विभु है। वस्तुतः वक्ता की बुद्धि में अनवय वाक्य रूप स्फोट अवस्थित रहता है। उसको अभिव्यक्त करने वाला वक्ता वचन का प्रयोग करता है। अखण्ड वाक्य में वाक् तत्ववेत्ता तत्तद् वाक्यात्मक नाद में पद की प्रकल्पना करता है और पदों में वर्णों की कल्पना करता है। वक्ता की बुद्धि में अभिधेय अर्थ समुद्र के समान अनवय और अपरिमित रूप में स्थित रहता हैं। वाक् तत्व अनादि निधन होता है। अतः उससे कभी भी कुछ भी बोला जा सकता है।

स्फोट एक प्रकार की अर्थावबोधिका शक्ति है। स्फुटति अर्थः अस्मात् इति स्फोटः के अनुसार स्फोट अर्थ के विकास का कारण है। बुद्धि में स्थित शब्दानुविद्ध ज्ञान ही स्फोट है। अर्थमात्र का वही अवबोधक है। वह शब्द और अर्थ उभय रूप है। तदवस्थित शब्दांश की ध्वन्यात्मक शब्द से अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दोच्चारण प्रक्रिया के द्वारा जो अर्थबोधन में समर्थ अन्तःस्थ हो, वही स्फोट है। वक्तृ विवक्षित यत्-किंचित् स्फोटांश रूप में विवर्तित होता है तथा श्रोतृ-स्थित ध्वन्यात्मक शब्द मात्रांश स्फोट अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है। अतः भाषात्मक दृष्टि से अर्थबोध में पद या वाक्य खण्डरूप में अर्थबोधक नहीं होता। जाति और व्यक्तिनिष्ट कल्पना भी बुद्धि विलास मात्र है अनुगताकार प्रतीति के आधार पर

---

१. व्या० द० भूमिका, पृ० ४८–४९।

२. वही, पृ० ५०।

जाति की कल्पना करने पर स्फोट का एकत्व सिद्ध हो जाता है।[1] प्रकृतिक्षणशः है। प्रत्येक शब्द की भिन्न-भिन्न वाचकता होती है। एतावता लोक-व्यवहार में वर्ण, पद तथा वाक्य ये तीनों ही अवापोद्वाप प्रक्रिया के द्वारा अर्थबोधक पाये जाते हैं। अतः एक अखण्ड, अनवयव, नित्य स्फोट के मुख्य रूप से तीन भेद माने जा सकते हैं—वर्ण, पद और वाक्य स्फोट।

स्फोट के भेदोपभेद का कारण यह है कि वैयाकरणों के अनुसार स्फोट ही प्रत्यायक होता है। अतः लोक-व्यवहार में जो भी शाब्दिक तत्व अर्थ प्रत्यायन में कारण दृष्टिगत होगा तद्रूप स्फोट भी स्वीकार कर लिया जाता रहा है। वर्ण, पद, वाक्य तथा आकृतिपक्ष और व्यक्तिपक्ष आदि समस्त स्फोट विभाग के प्रति यही कारण हैं। पूर्वोक्त अष्टविध स्फोट भी इनका ही प्रतिफल है। स्फोटवादी विद्वानों ने इन सभी स्फोटों की चर्चा येन-केन-प्रकारेण की है, किन्तु इनमें वाक्य स्फोट के अतिरिक्त अन्य सभी सात स्फोट अष्टम स्फोट (वाक्य स्फोट) के ज्ञान में साधनमात्र हैं। वाक्य स्फोट ही साध्य है। पूर्व के सात स्फोट व्याख्या के विषय है, अष्टम उससे परे स्वतः सिद्ध है। तथापि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" के अनुसार पूर्वोक्त सभी विभाजन मान्य हैं।[2] वस्तुतः वाक्य स्फोट ही मुख्य हैं। वाक्य से ही अर्थ की प्रतीति होती है। पद-वर्ण आदि से नहीं।

सूत्रकार के मत में वाक्यस्फोट

यद्यपि "स्वरूपं शब्दस्य" इस सूत्र से पाणिनि को शब्दस्फोट अभिप्रेत है, क्योंकि इस सूत्र में "स्व" शब्द आत्मवाचक है और रूप शब्द स्वरूपवाचक। एतावता अर्थ विशिष्ट रूप पदबोध्य और शब्दबोधक है। अतः पाणिनि को "शब्दस्फोट" अभिप्रेत है, तथापि पाणिनि ने 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्" इस सूत्र से शब्द रूप अर्थ में कुत्व घटित 'वाक्य' शब्द का प्रतिपादन किया है। अतः वाक्य की मुख्यता उनके मत में भी सूचित होती है। वर्ण और पद की सत्ता आरोपित है। "शब्दयते (प्रकाश्यते) अर्थाः येन स शब्दः" इस विग्रह के अनुसार "शब्द" से कर्त्ता में घञ् प्रत्यय करने पर "शब्द" शब्द निष्पन्न होता है। निराकांक्षार्थ प्रतिपत्ति ही लोक-व्यवहार की साधिका है और वह प्रतिपति वाक्य में ही होती है। अतः पाणिनि के मत में भी वाक्य स्फोट की मुख्यता ध्वनित होती है।

वाक्य लक्षण—"आख्यातम् सविशेषणम् वाक्यम्"[3] के अनुसार सविशेषण क्रिया वाक्य है किन्तु "ब्रूहि-ब्रूहि और "पचति" आदि वाक्य नहीं हो सकेंगे। अतः

१- अथवा जाति व्यक्तिश्चेति। "अथवा स्फोटो ध्वनिश्च।" (म० भाष्य टीका, पृ० ५)।

२. अर्थविज्ञान और व्या० दर्शन पृ० ३७९।

३. म० भाष्य (प्रदीपोद्योत) २|१|१।

वार्तिककार ने वाक्य का दूसरा लक्षण किया—"एक-तिङ्वाक्यम्"[१] इससे सर्वत्र निर्वाह हो जाता है। महाभाष्य के अनुसार "सुप्तिङ्चयो वाक्यम्, क्रियावा कारकान्विता।"[२]

भर्तृहरि ने वाक्यार्थ को प्रतिभा मात्र का विषय माना—वाक्यार्थस्य प्रतिभामात्र विषयत्वम्" अपि च "वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादितम्।"[३] इससे गृह, वस्त्र आदि पदों के पृथग् ग्रहण होने से अन्य प्रतिभा उत्पन्न होती है और इन्हीं पदों के वाक्यनिष्ठ होने पर अन्य प्रतिभा का उदय होता है। वही वाक्यार्थ है। अतएव वाक्यार्थ को प्रतिभा भी कहा जाता है।

वाक्यस्फोट की मुख्यता—

उक्त आठ स्फोटों में वैयाकरणों का मन्तव्य वाक्यस्फोट ही है और उसमें भी वाक्य जाति स्फोट है। वाक्य स्फोट की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—

तत्रः यन्मुख्यमेतेषां तत्रैतेषां विपर्ययः। ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले। देवदत्तादयः वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः।[४] इस प्रकार निपात, द्योतक विकरण सभी अनर्थक हैं। यह भी विचार प्रक्रिया निर्वाहार्थ ही है—

"अखण्डादीनां व्यवस्थार्थं पृथकत्वेन प्रकल्पनम्।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः॥"[५]

इसी प्रकार वाक्यार्थ की अभेद सम्बद्धता, प्रत्ययार्थ की प्रधानता आदि भी प्रक्रियाश्रित ही है—"किं गर्भजन्ये किं गर्भः किं दृग्मातीति नो मते। विचारः फलितः सर्वः, प्रकृतिप्रत्ययाश्रितः।" यद्यपि वाक्य स्फोट की सत्ता पारमार्थिक है और अन्य की आरोपित या व्यावहारिक तथापि दोनों में विरोध नहीं है, जिस प्रकार व्याकरण की अनेक शाखाओं की शब्दसिद्धि में प्रक्रिया भेद होते हुये भी कोई विरोध नहीं है। अपि च विभिन्न लिपियों में विविध रूपों से लिखित शब्दोच्चारण में कोई भेद नहीं आता। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविधैवोपवर्ण्यते।
समारम्भात्तु भावानामनादि ब्रह्म शास्वतम्॥"[६]

न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट का समर्थन—जयन्तभट्ट ने पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए कहा है कि यदि निरवयव स्फोटात्मक शब्द है तो वाक्य भी शब्द है। तब उसके पदात्मक अवयव नहीं होने चाहिये। अवयव कल्पना में वाक्य में पद, पद में वर्ण, पुनः वर्णों में वर्णांश आदि की कल्पना में अनवस्था होगी और यदि कल्पना

---

१. म० भाष्य २/१/१।
२. अमर कोश।
३. वा० प० २/१४३।
४. वा० प० २/१४।
५. वही २/१८०।
६. वा० प० ३/१४/७८।

विराम वर्ण में ही करना है तो वाक्य में ही क्यों न किया जाय। "वाक्येपदानाम् असत्वादसत्वम्, तदर्थे पदानाम् निरव्यवौ वाक्यवाक्यार्थौ।"[१]

अपि च, वृद्ध व्यवहार से ही शब्द की अर्थ में व्युत्पत्ति की जाती है। वहाँ भी केवल पद का प्रयोग नहीं होता, अपितु वाक्य का ही व्यवहार होता है। उसी की व्युत्पत्ति तथा उसी से अर्थज्ञान होता है। अवयव का प्रतिभास तो भ्रम है, क्योंकि पदार्थ-संघात् से अन्य ही वाक्यार्थ उपस्थित होता है—"पीनकादिवत्। अतएव—"पदेभ्यो वाक्यम् पादार्थेभ्यो वाक्यार्थोऽतिरिच्यते एव।"[२]

न्यायभाष्यकार गौतम की सम्मति दिखाते हुये नागेश ने लिखा है—वाक्य-स्फोट ही मुख्य है। लोक में वही अर्थबोधक है। गौतम सूत्र "पद-समूहोवाक्यमर्थ समाप्तौ" में पद का अर्थ सुबन्त और तिङ्न्त तथा वाक्य का अर्थ समर्थ किया है। इसी का फलितार्थ कथन है—"सुप्तिङ्चयोवाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता।" एतावता सुबन्त एवं तिङ्न्त समूह रूप वाक्य ही अर्थबोधन में समर्थ है। यह अर्थ प्रतिफलित होता है—"तत्रवाक्य स्फोटो मुख्यो लोके तस्यैवार्थ बोधकत्वात् तेनैवार्थ समाप्तेश्च। तदुक्तं न्यायभाष्यकृता 'पदसमूहो वाक्यमर्थ समाप्तौ' (२/१/५५ इति पद शब्देन सुबन्तं तिङ्न्तञ्च तेन तत्समूह इत्यर्थः। समाप्तावित्यस्य समर्थमिति शेषः।"[३]

अपि च—"शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहको वर्णस्फोटः।"[४] एतावता वाक्य स्फोट की प्रमुखता, सत्यता और नित्यता सिद्ध होती है। अन्य भेद औपाधिक प्रक्रिया निर्वाहार्थ मात्र है।

स्फोट विभु, नित्य और एक है—यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार 'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते स हरिकारिका के अनुसार शब्द अणु परिणाम है। अतः शब्द अनित्य है किन्तु यह अनित्यता ध्वनिरूप शब्द की है। स्फोट की नहीं। स्फोट नित्य तथा विभु है। पतंजलि ने लिखा है—

"एक इन्द्रो नैकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपद सर्वत्र भवति। अन्येन्द्र इति च प्रादुर्भूत इत्यर्थकम्।"[५] यदि शब्द में विभुत्व न हो तो एक ही इन्द्र शब्द की अनेकत्र अभिव्यक्ति कथमपि सम्भव नहीं। अतः शब्द की विभुता स्पष्ट है। नित्यता विभुत्व की अनुयायिनी है। उद्योतकार ने विभुत्व और नित्यत्व को पर्यायवाची माना है। अतः स्फोट नित्य भी है। महाभाष्यकार ने भी लिखा है—अनपायोपजनविकारिभि-र्वर्णैं भवितव्यं कूटस्थैरविचालिभिश्च।"[६]

---

१. न्यायमञ्जरी प्रथम भाग, पृ० ३४१।
२. वही।
३. लघु मञ्जूषा पृ० १। ४. वही, पृ० ७।
५. महाभाष्य, उद्योत १/२/६४।
६. महाभाष्य 'अइउण'।

नागेशमत—ध्वनि से व्यंग्य शब्द प्राणि हृदयदेशावच्छिन्नाकाश देशस्थ होता है और विराट् पुरुष के भी हृदय रूप बाह्याकाश देशस्थ होता है। अतः वह स्फोट रूप शब्द लाघवात् एक और व्यापनात् विभु है। जैसे द्रव्य में रूप व्यापक होता है और वह सर्वावयवनिष्ठ होता है, उसी प्रकार यह आकाश देशस्थ शब्द भी (व्यापक) विभु होता है। इसी प्रकार यह वही 'गकार' है, जो पहले दिन सुना था—इस प्रत्यभिज्ञा से तावत् कालपर्यन्त स्थिरत्व को प्राप्त शब्द नित्य सिद्ध होता है।

इसी प्रकार पद स्फोट और वाक्य स्फोट की भी एकता सिद्ध होती है। यह एकता एकजातीयोपाधिविषयक है। भिन्नोपाधि विषय में तो भिन्नता प्रतीत होती है। जिस प्रकार घट (घ् अ ट् अ) के उच्चारण में ध्वनि चतुष्ट्य की अभिव्यक्ति में सर्वत्र एक ही स्फोट होता है। घट-घट आदि सभी स्फोट की भी एकता होते हुये औपाधिक भिन्नता है। उपाधिरहित मूलावस्था में (परा पश्यन्ती में) जो सभी की एकता सिद्ध की जाती है वह पारमार्थिक है।

स्फोट द्रव्य है या गुण

वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द गुण है। जो द्रव्य होता है वह एक द्रव्य वृत्ति वाला नहीं, अपितु अनेक द्रव्य वृत्ति वाला होता है। जैसे घट कपालादि तथा पटतन्तु आदि में द्रव्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार घटादि के समवायिकारण एक द्रव्य नहीं, अपितु अनेक द्रव्य हैं। शब्द उस प्रकार का नहीं है, क्योंकि शब्द समवायिकारण होने से शब्द द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य के साथ इसका वैधर्म्य है। कणाद ने लिखा है—एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम्।"[1] शंकर मिश्र ने इसकी व्याख्या की है—"एक द्रव्यं समवायिकारणं यस्य तदेकद्रव्यम्। द्रव्यंच किमप्येकद्रव्यंसमवायिकारणं न भवतीति द्रव्यवैधर्म्यान्नायं शब्दोद्रव्यम्।"[2]

कणाद ने शब्द की कर्मता का खण्डन करते हुये लिखा है—"गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्।"[3] शंकर मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुये लिखा है कि यद्यपि उत्पत्ति और विनाशरूप साधर्म्य कर्म और शब्द दोनों में है तथापि गुण में भी उत्पत्ति और विनाश आदि के होने के कारण शब्द गुण ही है, कर्म नहीं।

इस प्रकार शब्द का द्रव्य और कर्म से निरसन हो जाने पर उसका गुणत्व सिद्ध होता है। अतएव शब्द के समवायिकारण आकाश की सिद्धि होती है। शब्द बहिरिन्द्रिय (श्रोत्र) ग्राह्य है और जो बहिरिन्द्रिय ग्राह्य होता है वह विशेष गुण होता है। जैसे, रूप-रस-गन्ध आदि। इसी प्रकार बहिरिन्द्रिय ग्राह्य शब्द भी गुण है।

शाब्दिकों के अनुसार भी शब्द गुण है। "अतत्स्थैश्च गुणैः समासोवाच्यः।"[4] इस वार्तिक में नदी-घोष-पटह आदि शब्दों को उद्धृत करते हुये भाष्यकार ने शब्द का गुणतत्व स्वीकार किया है तथा "आकाश देशस्थः शब्द" इससे भी इसी आशय की

---

१. वैशेषिक सूत्र २/२/२३। २. वही, भाष्य।
३. वैशेषिक सूत्र २/२/२५। ४. महाभाष्य २/२/२८।

पुष्टि की है। नागेश ने तारत्वादि गुणों के आश्रय होने के कारण शब्द का द्रव्यत्व तथा आकाश-रूप द्रव्याश्रित होने के कारण उसका गुणत्व, दोनों को स्वीकार किया है।

तथा च —"सत्वे निविशतेपैति पृथग्जातिषु दृश्यते। आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्वो प्रकृतिगुणः।[1] इससे शब्द का गुणतत्व ही सिद्ध होता है। पुनश्च—'वायोरणूनां शब्दस्य' इसके अनुसार ध्वनिरूप शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। ज्ञानात्मक शब्द होता है'—इस पक्ष में शब्द का गुणत्व माना जा सकता है।

पूर्व मीमांसा के अनुसार ध्वनिरूप शब्द तथा वर्ण स्फोट दोनों का ही द्रव्यत्व सिद्ध होता है।" शब्दोद्रव्यम् सत्वे सत्यानासृतत्वात्, कालवत् इत्यनुमानेन शब्दे द्रव्यं साध्यते।"[2] इस प्रकार अनेक तर्कयुक्त प्रमाणों से शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध किया गया है। उत्तर मीमांसा के मत में भी कुमारिलभट्ट के अनुसार शब्द द्रव्य ही है।

समीक्षा—वस्तुतः शब्द न तो द्रव्य है और न ही गुण। यह सम्पूर्ण विचार कार्यभूत ध्वनि रूप अथवा सोपाधिक वर्ण तथा पद स्फोट आदि की दृष्टि से ही है। सभी कारणों का कारणभूत, अनादि निधन, विभु रूप यह स्फोट पदाभिधेय पदार्थ न द्रव्य रूप है और न ही गुण रूप, अपितु उसे केवल भावात्मक रूप ही कहा जा सकता है। शब्दकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित ने इसका सम्यक् विवेचन किया है।[3]

ध्वनि-विमर्श

ध्वनि स्वरूप—ध्वनि की परिभाषा करते हुये वान्द्रिज ने लिखा है—"वायु की विशिष्ट गति द्वारा उपलभ्य, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अनुभूयमान को ध्वनि कहते हैं।[4] इसे ध्वनि सामान्य का लक्षण कह सकते हैं। इसके विपरीत आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने ध्वनि का लक्षण लिखा है—जो सुनाई पड़े उसे ध्वनि कहते हैं।[5] भाषावैज्ञानिकों के अनुसार ध्वनि-लक्षण के दो तथ्य सामने आते हैं—(१) जो सुनाई पड़े वह ध्वनि है, (२) कम्पन से उत्पन्न होने वाली श्रवण-श्रव्य को ध्वनि कहते हैं। 'न्यायदर्शन' में कहा गया है कि संयोग-विभाग-प्रक्रिया से अर्थात् कम्पन से ध्वनि उत्पन्न होती है।[6]

ध्यातव्य है कि चतुर्वेदी जी ने भाषावैज्ञानिकों के इस लक्षण का खण्डन किया है कि "जो स्थानकरण अभिघात के कारण मुख से ध्वनि निकले और दो वस्तुओं के पारस्परिक अभिघात से रव हो उसे ध्वनि कहते हैं।" उनका कहना है कि वायु से रिक्त स्थान में होने वाली ध्वनि बाहर सुनाई नहीं पड़ती। अतः उक्त लक्षण

---

१. महाभाष्य ४/१/४४

२. मानमेयोदय प्रमेय परिच्छेद, द्रव्य निरूपण।

३. शब्दकौस्तुभ तथा महाभाष्य पश्य, पृ० १४।

४. भाषा, पृ० २३।

५. वाग्विज्ञान; पृ० ९१।

६. न्यायदर्शन भाष्य, पृ० ३७९।

व्यभिचरित कहा जा सकता है। परन्तु जो रव कान से सुनाई पड़े वही शब्द है—यह लक्षण भी ध्वनि की व्यापकता और सक्रियता को देखते हुये भारतीय विचारों एवं आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने से दैवी वाक् (पराःवाणी) का निषेध सिद्ध हो जाता है। किसी शाश्वत नियम का यदि हम अनेक कारणों से इन्द्रिय प्रत्यक्ष न कर सकें तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि वह नियम-प्रतिबन्धित हो गया। दो वस्तुओं के पारस्परिक अभिघात या संघष से कम्पन पैदा होती है। इस वैज्ञानिक (प्राकृतिक) नियम का अपवाद नहीं होता है। अपितु वायु, आकाश व्यापक तत्व हैं और साथ ही ध्वनि के संचार का माध्यम भी हैं। अतएव सर्वत्र आकाश देशस्थ ध्वनि वायु के द्वारा संचारित होकर कर्णगोचर होता है। वायु और शब्द के इस मिथःसाहचर्य के कारण ही बाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'वाय्वात्मक शब्द' कहा गया है। अन्य दार्शनिक भी शब्द को वाय्वात्मक ही मानते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर औपलक्षणिक ही कहा जा सकता है। आगे और स्पष्ट किया जायेगा।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों एवं भारतीय मनीषियों की विचारसरणि के अनुसार दो पारस्परिक वस्तुओं या मुख्यावयवों के अभिघात से उत्पन्न रव को ध्वनि कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में वाय्वात्मक अभिघात से कम्पन होता है और कम्पन से ध्वनि होती है। यह ध्वनि मूर्त न होकर अमूर्त होती है। ध्वनि का अर्थ है–एक प्रकार से तरंगें उत्पन्न हो जाना। न्याय-वैशेषिक के अनुसार 'वीचितरङ्गन्यायेन' अथवा 'कदम्बगोलकन्यायेन' वे तरंगें संचरित होती हुई कर्णगोचर होती हैं। ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ध्वनि उत्पत्ति, (२) ध्वनि प्रसार, (३) ध्वनिग्रहण। इसका कारण है कि भाषा की सार्थकता के लिए वक्ता और बोद्धा दोनों की समन्वयात्मक शृंखला होना आवश्यक है।[1]

इन्हीं तत्वों को भारतीय भाषावैज्ञानिकों एवं दार्शनिक चिन्तकों ने प्राकृत एवं वैकृत ध्वनि तथा श्रोत्र-ग्रहण की संज्ञा देते हुये विशद विचार किया है। वान्द्रियैज ने लिखा है कि—"ध्वनि की उत्पत्ति और उसका ग्रहण एक व्यापार के दो पक्ष हैं, दोनों की सीमायें एक सी हैं।"[2]

अतएव भारतीय वैयाकरण ध्वनि को स्फोट की अभिव्यंजिका मानते हैं। वक्तृगत स्फोट ध्वनि रूप में विवर्तित होता है और वह श्रोतृगत स्फोट को अभिव्यंजित करती हैं। अतः दोनों में केवल पूर्वापर क्रम का ही अन्तर है। भारतीय चिन्तकों वाक्य-स्फोट को ही मुख्य माना है। इसी सन्दर्भ में वान्द्रियैज ने लिखा है—"यद्यपि भाषा की सार्थकता वाक्य (ध्वनि समूह) में होती है तथापि किसी भी वाक्य में प्राकृतिक ध्वन्यात्मक विभाग होते हैं और उसका ज्ञान भी वक्ता को रहता है।"[3] अतः भाषा के ध्वन्यात्मक परिवेश का निषेध नहीं किया जा सकता।

---

१. भाषा-वान्द्रियैज, पृ० २३। २. वही, पृ० २४।
३. भाषा-वान्द्रियैज, पृ० ६५।

वैदिक व्याकरण प्रातिशाख्य एवं निरुक्त आदि इसके साक्ष्यभूत ग्रन्थ हैं। निरुक्त में 'इन्द्रिय नित्यम् पदम् का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। प्रातिशाख्यों में वर्णों (ध्वनि रूपों) की मात्राओं, उनका काल तथा उनकी अनुरूपता आदि का विवेचन किया गया है। एक अक्षर के तत्वों के भेद करने के लिये चिरकाल तक सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता रही। प्रारम्भिक वर्ण-मात्रायें इस विश्लेषण के पूर्व की हैं, क्योंकि अक्षरात्मक हैं।[1]

ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से विविक्त ध्वनि की किसी भी इकाई को वाक् ध्वनि कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में वाक् अवयवों द्वारा उद्‌भूत ध्वनि की ऐसी कोई भी इकाई जिससे कि वाक् अवयवों से उद्‌भूत अन्य ध्वनि इकाइयों से पृथक् विविक्त रूप में पहचान सकते हैं, वाक् ध्वनि कही जा सकती है, क्योंकि व्यवहारतः उन भिन्न-भिन्न वाग्-ध्वनियों की संख्या की कोई सीमा नहीं है जिन्हें मानवीव ध्वनियों से उत्पन्न किया जा सकता है और जिनमें ध्वनिविद् विभेद कर सकता है। परिणाम-स्वरूप कहा जा सकता है कि वाक् ध्वनि प्रकृतितः अनिर्धारित होती है।[2]

जोन्स लियोन्स वाक् ध्वनि व वर्णध्वनि में अन्तर मानते हैं। वे लिखते हैं—"अन्तर का कारण कोई दो ध्वनियाँ समरूप हैं या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। मानवी वाक् में प्रयुक्त ध्वनियों की प्रकृति में अनन्त आयाम होने के कारण यह सम्भव होता है कि वे कुछ बातों में समान होती हैं, जबकि अन्यों में असमान होती हैं।[3]

जोन्स लियोन्स के इस उपर्युक्त समूचे प्रश्न का भारतीय भाषाविद् जातिपक्ष और व्यक्तिपक्ष के द्वारा उत्तर देते हैं। उक्त ध्वनि-विभेद भूल ध्वनियों के अभेद होने पर भी व्यक्तिगत विभेद के कारण हो जाता है।

दूसरी ओर कोई भी मूल ध्वनि संयुक्त वाक् ध्वनियों से सम्बन्धित होने पर तद्-रूपवत् हो उठती है। यही शब्दगत या वाक् गत व्यक्तिगत ध्वनिभेद हो सकता है। जातिरूप से एक होते हुये भी व्यक्ति रूप वाक्-ध्वनि अन्य वाक्-ध्वनि से पृथक् होती है। इसमें उच्चारण की अनिश्चयात्मकता भी कारण होती है। अतएत्र यह विभेद अंग्रजी आदि भाषाओं में विशेष पाया जाता है, जबकि उच्चारण की सूक्ष्मता के कारण संस्कृत भाषा में यह विभेद कम पाया जाता है। जोन्स महोदय ने वस्तुनिष्ठ दृष्टि से वाक्-ध्वनि को तीन रूपों में विभक्त किया है—(१) उच्चारणात्मक, (२) भौतिक एवं (३) श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान।[4]

उच्चारणात्मक—ओष्ठ जिह्वा, दन्त, स्वरतन्त्री और फुप्फुस आदि एकमात्र

---

१. भाषा-वान्द्रियैज, पृ० ६६।

२. सं० भा० वि० सर विलियम जोन्स, पृ० १०५।

३. वही, पृ० ११६

४. वही, पृ० १०७।

कार्य वागुत्पत्ति न होकर अन्य भी कई हैं। फिर भी ध्वनिवैज्ञानिकों द्वारा वाक् यन्त्रों को अन्तःसमृद्ध-प्रणाली के रूप में एक इकाई की तरह स्वीकार किया जाता है। ....कुछ जातियों के वाक् अवयव कुछ विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण के अत्यधिक अनुकूल होते हैं, जबकि अन्यों के नहीं।[1] वस्तुतः वाक्यरचना विविध दीर्घता की ध्वनियों के सतत् उद्गिरण से होती है। जिनके बीच भौतिक सीमा नहीं बनती है। जहाँ वक्ताओं को सांस लेने के लिए रुकना पड़ता है, जिन्हें ध्वनि शास्त्री वाक्ध्वनि कहता है उन्हें वह ध्वनि की उस सन्तत धारा में से किन्हीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विभेदक लक्षणों के आधार पर अपोद्धार द्वारा निश्चित करता है।[2]

मनुष्य और जगत् के सभी प्राणी अपने मुख से ध्वनि निकालते हैं। पशु-पक्षियों की भाषा भी इसी प्रकार के ध्वनि-यन्त्र द्वारा निकलती है। प्राणियों के ध्वनियन्त्रों में कोई भेद नहीं है। भेद केवल ध्वनि यन्त्र के प्रयोग और उसके विकास में है।[3] आज मनुष्य के उच्चारण में जो शुद्धता पाई जाती है, वह आदिकाल में ही नही लायी जा सकी थी, अपितु सदियों के विकास और सुधार का परिणाम है। भाषा-विज्ञान ने शब्दोच्चारण और उसकी स्पष्टता में अत्यधिक प्रगति कर ली है। इसी-लिये प्राचीन भारतीय भाषाविदो ने उच्चारण-स्थान नियत कर दिये थे।

भौतिक ध्वनि विज्ञान—भौतिक ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में द्वितीय महायुद्ध के बाद सर्वाधिक उन्नति हुई। श्रावणिक विश्लेषण ने यह बात सिद्ध कर दी है कि वाक् किन्हीं ध्वनियों की शृंखला मात्र से बनती है। हमारे बोलते समय उत्पन्न ध्वनितरंगों के निर्धार्थ घटक विविध दैर्घ्यों वाले होते हैं और कालक्रम में एक-दूसरे को अतिव्याप्त करते हैं। विविध वैद्युतिक उपकरणों म व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाला उपकरण है—"ध्वनि चित्ररेखी" (साउण्ड स्पैक्टो ग्राम)। वाक् में उत्पन्न जटिल ध्वनि-तरंगों, उनकी घटक आवृत्तियों एवं सापेक्ष आयामों के रूप में काल-क्रम से उनमें होने वाले अन्तर के साथ विश्लेषण करना सम्भव हो गया है। इससे बढ़कर वाक्-संयोजन के विषय में पर्याप्त प्रगति हुई है। इसका अर्थ है—विशिष्ट भाषाओं की प्रत्यययोग्य उक्तियों की मानवी वाक् में पाई जाने वाली विशिष्ट महत्व की आवृत्ति पट्टियों पर ध्वनितरंगों को उत्पन्न करके तथा उचित रूप में उनका संघात बनाकर पुनः संरचना।[4]

श्रावणिक ध्वनि-विज्ञान—वाक् (ध्वनि) के सम्प्रेषण के विषय में विचार करते हुये हम ऐसी प्रणाली के विषय में बात नहीं करते हैं जिसमे कि सम्प्रेषण (वक्ता) और गृहीता (श्रोता) दोनों सर्वथा स्वान्त यान्त्रिक होते हैं। भाषा का प्रत्येक

---

१. सै० भा० वि० सर विलियम जोन्स, पृ० १०७।

२. वही, पृ० ११०।

३. भाषाविज्ञान पर भाषण—मैक्समूलर, पृ० ७८।

४. भाषाविज्ञान पर भाषण —मैक्समूलर, पृ० ११५।

सामान्य प्रयोक्ता स्वयं ही उत्पादक और स्वयं ही वैकल्पिक गृहीता भी होता है। जब वक्ता के रूप में बोलता रहता है तब वह केवल ध्वनि को उत्पन्न ही नहीं करता होता, अपितु वह उसको ग्रहण भी कर रहा होता है, साथ ही वह उसको नियमित भी करता जाता है। वह अव्यक्त रूप में ही उच्चारणात्मक विविध गतिविधियों को, जो कुछ वह सुनता है उससे सतत् समायोजनों के द्वारा सह सम्बद्ध करता जाता है। (तापस्थक रूप, जैसे वह तापकों से पृष्ठपोषण के परिणामस्वरूप ताप को नियन्त्रित करता है।) और जब श्रोता बनकर वही दूसरे द्वारा उत्पन्न ध्वनि को सुन रहा होता है तब वह केवल निष्क्रिय श्रवण ही नहीं करता, अपितु वह वक्ता या प्रयोक्ता के रूप में अपने अनुभव के आधार पर श्रावणिक संकेतों की व्याख्या भी करता जाता है, व्याख्या के साथ उन्हें क्रमबद्ध भी करता जाता है। इसमें उसे सहायता मिलती है—अपने ही अन्दर 'निर्मित' सन्दर्भात्मक समाधानों और आशाओं से।[1]

इसी प्रकार का विवेचन करते हुये भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने स्पष्ट किया है कि ध्वनियाँ उच्चरित प्रध्वंशी होती हैं। प्रथम क्षण में उनकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में विनष्ट हो जाती है।[2] अतः वक्ता पहले बुद्धिस्थ भावों के अनुसार ध्वनियों का बौद्धिक संयोजन करता है, ततः उनका क्रमिक उच्चारण करता है और श्रोता उन ध्वनियों का क्रमिक श्रवण के साथ ही बुद्धिगत करता जाता है अर्थात् श्रोता के चित्त में उसी क्रम में ध्वनियों का संस्कार बनता जाता है तभी श्रोता अर्थ-ज्ञान करने में समर्थ होता है—'पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार सहकृतेत्यादि।"[3] इसी कारण बुद्धिगत शब्द की स्थिति तथा स्फोटवाद आदि अनेक सिद्धान्तों का संस्थापन हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के प्राथमिक माध्यमों पर कदाचित सम्पूर्णतः भौतिक दृष्टि से विचार करके उचित नहीं किया गया। ध्वनिक सामग्री भौतिकशास्त्रियों द्वारा समझी जाने वाली ध्वनि मात्र ही नहीं है; अपितु यह वह ध्वनि है जो मानव-प्राणियों द्वारा अपने भाषाप्रयोग में परिपूत और वर्गीकृत की जाती है। दूसरे शब्दों में भाषा का ध्वनिक माध्यम एक मनोवैज्ञानिक और विशुद्ध भौतिक पक्ष भी रखता है।[4]

जोन लियोन्स ने ध्वनि प्रक्रिया को उन्मुक्त विचरण और निर्विषमीकरण (न्यूट्रलाइजेशन) माना है। (पृ० १२०–२१) किन्तु यह संस्कृत भाषा पर लागू नहीं होता, क्योंकि वहाँ ध्वनियों (स्वरों और व्यंजनों) के उच्चारण के प्रति विशेष सतर्कता रखी जाती हैं। व्याकरण की संरचना जितनी ही निर्विषमीकृत होगी उतना ही उन्मुक्त या निर्विषमीकरण का अवसर होगा।

---

१. सैं० भा० वि०, पृ० ११६। २. तर्कभाषा पृ०, १५०–५२।
३. तर्कभाषा पृ०, १५३। ४. सैं० भा० वि०, पृ० ११६।

भाष्यकार ने स्फोट को शब्द माना है और ध्वनि को शब्द का गुण माना है। 'स्फोट: शब्द: ध्वनि शब्दगुण:" ।[1] इसका आशय यह है कि ध्वनि को शब्द का व्यंजक या उपकारी माना है। आगे चलकह अन्य भाषाविदों ने ऐसा ही अर्थ स्वीकार किया है—

"स्फोट: शब्दो ध्वनि: तस्य व्यायाम उपजायते ।"[2] स्फोट को द्योतित करने वाले शब्द-व्यक्ति का नाम ध्वनि है।[3] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुये लिखा हैं—

"अनेकव्यक्तयेमिव्यंग्या जाति: स्फोट इति स्मृता।
कैश्चित् व्यक्तय एवास्था ध्वनित्वेन प्रकल्पिता: ।।"[4]

(अर्थात् जाति—स्फोट की व्यंजिका अनेक शब्द व्यक्ति ही ध्वनि है।) वाक्यपदीयकार ने आगे चलकर अनित्यवादियों के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है—

य: संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स: स्फोट: शब्दजा: शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृता: ।।"[5]

(अर्थात् जो संयोग-विभाग-प्रक्रिया से करण (इन्द्रियों) के द्वारा निर्वृत (उत्पन्न) होता है उसे ही अर्थात् उस प्रथमत: उच्चरित या अभिव्यक्ति को स्फोट (शब्द) कहते हैं और उस शब्द से पुन: पुन: जन्यजनित प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न शब्द को ध्वनि कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रथमत: आन्तरिक उच्चारण तो स्फोट रूप शब्द है और उसके बाद जो उस शब्द से द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ आदि ध्वनि तरंगे उत्पन्न होती जाती हैं, उनकी ध्वनि रूप शब्द कहा जाता है और ये ध्वनि-तरंगे क्रमश: दीपक के प्रकाश के समान क्षीण होनी जाती हैं।

अनित्यवादी नैयायिकों के अनुसार आकाशवृत्ति वाला ("नभोवृत्ति: आकाश समवेत: शब्द:"[6]) शब्द 'वीचितरंग न्यायेन' अथवा 'कदम्बगोलकन्यायेन' श्रोत्राकाश तक पहुँच जाता है। यथा—

१. वीचितरंग न्याय—जैसे जलाशय में वीचि एक साथ ही सभी दिशाओं में (परित:) तरंगों को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार कण्ठताल्वाद्यमिघात से उच्चरित शब्द की तरंग से एक साथ ही परित: प्रसार्यमाण दूसरी तरंगें उत्पन्न होती हैं और इस क्रम से तरंग सन्तति का क्रम दूर तक चला जाताहै। इसकी विशेषता यह है कि इसमें चारों ओर पुन: उत्पन्न होने वाली शब्द-तरंगें सह-सम्बद्ध होती हैं। क्रम से वे ध्वनि तरंगें क्षीण होतो जाती हैं।

---

१. महाभाष्य १/१७०।
२. वा० प० १/६७ के हरिवृत्ति में उद्धृत श्लोकवार्तिककार का मत।
३. संस्कृत व्याकरण—डा० रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० ६६।
४. वा० प० १/६४।
५. वही, १/१०३।
६. मुक्तावली भाष्य, पृ० २४८।

२. **कदम्बगोलक न्याय**--उच्चरित शब्द तरंग से दसों दिशाओं में दस-दस शब्द उत्पन्न होते हैं। ततस्ततः सभी उत्पन्न ध्वनि तरंगों में दस-दस ध्वनि-तरंगे उत्पन्न हो जाती हैं। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते ध्वनियाँ क्षेत्र देश तक पहुँच जाती हैं। इसमें प्रत्येक ध्वनि-तरंग दूसरे से असम्बद्ध होती हैं। जैसे कदम्ब के कोरक चारों ओर प्रस्फुटित होते हैं, किन्तु एक-दूसरे से असम्बद्ध होते हैं। इस न्याय के अनुसार असंख्य शब्दों की कल्पना करनी पड़ती हैं—

"तमाद्यः शब्दः संयोग विभागहेतुकः। तस्माच्छब्दान्तराणि। कदम्ब-गोलक न्यायेन सर्वादिक्कानि तेभ्यः प्रत्येकमेकैकः शब्दो मन्दतमादि न्यायेनाश्रया प्रतिबन्धमनुविधीयमानः प्राहरस्तीति"[1]

न्याय-शास्त्र के अनुसार कण्ठताल्वादि के संयोग से उत्पन्न ध्वनि (शब्द) को वर्ण कहा जाता है। वर्णात्मक शब्द भी दो प्रकार का होता है—(१) संयोगज और (२) वर्णज। अर्थात् कण्ठताल्वाद्य संयोग से उत्पन्न प्रथम वर्ण ध्वनि संयोगज हुई और द्वितीय वर्ण (शब्द) तरंगादि से क्रमशः उत्तरोत्तर उत्पद्यमान शब्द (वर्ण ध्वनि) वर्णज होती है। एतावता प्रथम वर्ण-ध्वनि द्वितीय वर्ण-ध्वनि उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाती है और अन्त्य वर्ण-ध्वनि तब तक स्थिर रहती है जब तक द्वितीय वर्ण-ध्वनि अन्य वर्ण ध्वनि को उत्पन्न नहीं कर देती—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादि भवो ध्वनिः ॥१६४॥
+
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयोमताः ॥
+
सर्वशब्दो नमोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥१६५॥
+
वीचितरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तुकीर्तिता।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिस्तु कस्यचिन्मते ॥१६६॥[2]

उपर्युक्त सन्दर्भ में 'वीचितरंगन्यायवत्' वैशेषिक दर्शन का मत है तथा 'कदम्बगोलकवत्' न्यायशास्त्रियों का मत है। उपर्युक्त कारिका से यह बात स्पष्ट है। वैशेषिक दर्शन में उपर्युक्त विचार 'शब्दाच्च' सूत्र में किया गया है—"शब्दाच्च संयोग विभाग निष्पन्नात् वीचिसन्तानवच्छब्द इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रदेश मार्गातस्य शब्दस्य ग्रहणम्।"[3]

शब्द को नित्य मानने वाले वैयाकरणों के मत में संयोग-विभाग प्रक्रिया से उत्पन्न ध्वनि से स्फोट (शब्द) व्यंग्य होता है। शब्द-व्यक्ति को ही स्फोट मानने वाले

---

१. न्याय सि० मु० टीका, १६५-६६।

२. न्याय सि० मुक्ता० १६४ कारिका से ६६ तथा इन्हीं श्लोकों की व्याख्या से।

३. वै० द० सू० की व्याख्या।

संयोग-विभागज ध्वनि समूह से उद्बुद्ध नाद से व्यंग्य स्फोट को मानते हैं। इसमें प्रथम प्राकृत ध्वनि ह्रस्व-दीर्घादि का हेतु होती है और द्वितीयादि वैकृत ध्वनि या नाद द्रुत-मध्यमादि वृत्तियों का। ये ध्वनियाँ यथोत्तर अपचय को प्राप्त होती जाती हैं—[1]

"नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यंग्यः स्फोटः। एकेषां संयोगविभागज-ध्वनि संभूत नादाभिव्यंग्यः। स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमप्रचीयमानाभिव्यक्ति-सामर्थ्याद्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवो पचयात्मकाः ध्वनयः।"[2]

समीक्षा—उपर्युक्त पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की विचार-सरिणि के विवेचन से ध्वनि का जो स्वरूप स्पष्ट होता है, वह प्रायः सभी के मत में एक ही प्रकार का है। व्यावहारिक, अनुभवों तथा विद्वानों के शास्त्रानुचिन्तनों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि—वक्ता के मत में चिन्तित अर्थ संश्लिष्टबौद्धिक स्फोट रूप शब्द स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए वर्णात्मक ध्वनियों का, जो तद्रूप स्फोट अभिव्यजना होती है, आश्रय लेता है। नाभिप्रदेश से उर्ध्व निःसृत वायु के कण्ठता-ल्वाद्यभिघात से ध्वनि उत्पन्न होती है। ध्वनि की तरंगे होती हैं और उच्चारण-प्रक्रिया से जिस ध्वनि की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है, आन्तरिक होने के कारण तथा स्फोट से पूर्णतः सम्बद्ध होने के कारण उसे जो स्फोट रूप या स्फोट की अभिव्यञ्जिका आदि माना जाता है। प्रथम ध्वनि से उत्पन्न क्रमशः द्वितीय-तृतीयादि ध्वनियाँ वैकृत ध्वनि कही जाती हैं और जो ध्वनि आदि में तथा उससे उद्भूत (द्वितीय ध्वनि) है, जिसका कारण कोई अन्य ध्वनि नहीं होती, अपितु वह स्वयं अन्य ध्वनि की प्रकृति होती है, उसे प्राकृत ध्वनि कहा जाता है। भारतीय भाषाशास्त्रियों ने प्राकृत और वैकृत ध्वनियों का बहुशः विवेचन किया है—

"यः कारणसन्निगतादुत्पद्यते यश्च यस्मात् तौ प्राकृतौ। ताभ्यां विशेषोपलब्धिः। यस्तु ध्वनेर्ध्वनिरुत्पद्यते सः वैकृतः।"[3]

यद्यपि प्रथम ध्वनि को प्राकृत तथा द्वितीयादि को वैकृत मानना चाहिये तथापि साहचर्यात् अभेदोपचार से प्रथम द्वितीय को प्राकृत तथा तृतीयादि से अन्तिम ध्वनि को वैकृत ध्वनि माना जाता है।

प्राकृत ध्वनि—प्राकृत और वैकृत नाम की सार्थकता केवल दो प्रकार से है। एक तो "प्रकृतेः भवः" प्राकृतः, 'विकृतेर्भवः वैकृतः' जो ध्वनितरंग स्फोट से उद्भूत मूलरूप है, अन्य ध्वनि की प्रकृति है वह प्राकृत है। द्वितीय तरंग को भी अभेदोपचार या उपलक्षण के द्वारा प्राकृत माना जाता है। जो ध्वनि आदि नहीं है, ध्वनि से ही उत्पन्न है, विकृति से उत्पन्न है, वह वैकृत है। अथवा "प्रकृतेः भावः प्राकृतः" जो आदि है, मूल है, वह प्राकृत ध्वनि है, जो प्राकृत ध्वनि की विकृति है-(विकृतेर्भावः)। ध्वनि से उत्पन्न ही ध्वनि है, विकारों (द्रवमध्यमादि) से युक्त है वह वैकृत-ध्वनि है।

---

१. वा० प० १/१०३।

२. वा० प० १/१०३ पर हरिवृत्ति टीका।

३. मह भाष्य टीका पश्य०, पृ० सं० ५८।

हरिवृषभ की टीका में इनका विवेचन इस प्रकार है—

"ध्वनिः स्फोटयोः प्रथक्त्वेनानुपलम्भात् त स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यते। तत्र भवः प्राकृतः। तदुत्तरकालभावी तस्माद् विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते।"[1]

प्राकृत और वैकृत ध्वनियाँ संग्रहकार व्याडि के द्वारा भी स्वीकृत थीं जिसका उल्लेख भर्तृहरि ने किया है—

"शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥[2]

प्राकृत की ध्वनि शब्द (स्फोट) ग्रहण में हेतु है और वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद (के ज्ञान) में। प्राकृत ध्वनि मौलिक या स्वाभाविक ध्वनि है। वह नित्य है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि सम्बन्धी, कालभेद से युक्त है। स्फोट कालभेद रहित है, प्राकृत ध्वनि कालभेद सहित है—

"स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्य इत्युपचर्यते॥[3]

स्फोट में कालकृत भेद न होने पर इसी प्राकृत ध्वनि के काल को स्फोट काल मान लिया जाता है—"स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनि कृतावृद्धिः।"[4]

शब्द के दो भेद हैं—ध्वनि और स्फोट। शब्दगत अल्पता या महत्ता स्फोटगत नहीं, अपितु ध्वनिगत होती है—

"ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु तु खलु लक्ष्यते।
अल्पोमहांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः॥"[5]

शब्दाधिगम प्राकृत ध्वनि से ही होता है। बुद्धिस्थ स्फोट को ध्अभिव्यक्त या प्रकाशित करने वाली प्राकृत ध्वनि है[6] प्राकृत ध्वनि और स्फोट का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव सम्बन्ध है। सम्पूर्ण सूर्यचन्द्रादि बाह्य अर्थ रूप जगत् स्फोट रूप जल में प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार जल की चञ्चलता से प्रतिबिम्बी की चञ्चलता का आभास होता है उसी प्रकार प्राकृत ध्वनिकृत काल भेद या वैकृत ध्वनिकृत वृत्ति भेद का आरोप स्फोट में कर लिया जाता है—

प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोट नादयोः॥[7]

देवसूरि के अनुसार प्राकृत ध्वनि से ही स्फोट का विशेष रूप से या सामान्य रूप से प्रतीति होती है। स्फोट ज्ञान के बाद वैकृत ध्वनि से "यह वही है"

---

१. वा० प० वृषभ टीका, १/७७।
२. वा० प० १/७७।
३. वही, १/७६।
४. म० भा० १/१/६७।
५. म० भाष्य १/१/६७।
६. वा० प० १/७५–७७
७. वा० प० १/४६।

(स एवायम्) इस रूप में देर तक प्रतीति होती रहती है।[1] भर्तृहरि ने स्फोट और प्राकृत ध्वनि में भेद नहीं माना है—

"देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह ।
देशभेदे विकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः ॥[2]

वैकृत ध्वनि—स्थान करणाभिघात से अथवा संयोग.वियोग से जो प्रथमतः ध्वनि उत्पन्न होती है, वह प्राकृतध्वनि होती है। तदनन्तर ध्वनि से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वही वैकृत ध्वनि है। यह ध्वनि द्रुतमध्यम-विलम्बितादि वृत्तियों से युक्त होती है। द्रुतात्मक ध्वनि निकटस्थ व्यक्ति ही सुन सकता है, विलम्बनात्मक ध्वनि दूरस्थ व्यक्ति भी सुन सकता है—

"शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते ॥"[3]

अर्थात् शब्द की उर्ध्व अभिव्यक्ति (तीव्रनाद) का कारण वैकृतध्वनि ही है जो वृत्तिभेद से युक्त होती है। इस वृत्तिभेद से स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं आता। वैकृतध्वनि अनुरणन प्रक्रिया वाली होती है जिसे नैयायिकों ने 'वीचितरंगन्याय' कहा है। डा० त्रिपाठी के अनुसार प्राकृत और वैकृत ध्वनि में अन्तर यह है कि प्राकृत ध्वनि का स्फोट में आरोप होता है और वैकृत ध्वनि का स्फोट में आरोप नहीं होता।[4]

ध्वनि और नाद—वैकृत ध्वनि का एक दूसरा नाम भी है 'नाद'। भर्तृहरि ने वैकृत ध्वनि और नाद का समान अर्थ किया है। "नादैराहित बीजायामन्त्येन ध्वनि सह।[5] नाद और ध्वनि दोनों से ही शब्दभावना का अवधारण होता है। यहाँ पर नाद और ध्वनि दो तत्व हैं। नाद का प्रयोग वैकृत और ध्वनि के रूप में किया गया है। जिस प्रकार स्फोट का विवर्त प्राकृत ध्वनि है उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि का विवर्त नाद (वैकृत ध्वनि) है—

"तच्च सूक्ष्मे वाग्विनि ध्वनौ करणव्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्र संघातवदूपलभ्येन नादात्मना प्राप्यविवर्तेन.........।"[6]

प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनि को भर्तृहरि ने प्राकृत नाद और वैकृत नाद भी कहा है—

"नादो हि प्राकृतः शब्दात्मनि पल्यस्यमानस्थितिरूपो भेदस्याग्रहणार्थं ह्रस्वदीर्घप्लुतकालभेदव्यवहारव्यवस्था हेतुः। वैकृतस्तु नादो बाह्यद्रुतादिवृत्तिकालव्यवस्थां प्रकल्पयति।"[7]

---

१. स्याद्वाद रत्नाकर ४/१०, पृ० ६५४। २. वा० प० १/९७।
३. वा० प० १/७८। ४. सां० व्या० द० पृ० ६८।
५. वा० प० १/८५। ६. वा० प० हरिवृत्ति १/४८।
७. वही, १/१०२।

हरिवृषभ ने नाद को सूक्ष्म परमाणु कल्प माना है। स्थान करण के अभिघात से पहले कम्पन पैदा होता है। उस कम्पन के बाद नाद उत्पन्न होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार जैसे ज्वाला से ज्वाला उत्पन्न होती है वैसे स्फोट से ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। ततस्ततः उत्पन्न ध्वनियों को नाद कहते हैं।[1]

शब्द अनित्यवादी प्रथम अभिघातज ध्वनि को शब्द या स्फोट कहते हैं। उससे उत्तरोतर क्रमजन्मा ध्वनियों को नाद कहते हैं—

"प्रथमोभिघात जस्तारतरः शब्दः, तदन्यो नाद इति स्पष्टएव भेदः।"[2]

अनित्यवादियों के मत का उल्लेख करते हुये पुण्यराज ने लिखा है कि दीपक और प्रभा के समान ध्वनि और स्फोट साथ ही रहते हैं। प्रभा दूर से ही दृष्टिगोचर होती है, दीपक निकट से। इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि सर्वत्र व्याप्त रहती है। घंटारव आदि में प्राकृत और वैकृत ध्वनियाँ स्पष्टतया प्रतिलक्षित होती है। इसी प्रकार नाद और ध्वनि दोनों ही सहावस्थित रहते हैं।[3]

संयोग-विभाग से ध्वनि उत्पन्न होती है और ध्वनि से नाद उत्पन्न होता है। वही स्फोट का अभिव्यञ्जक है। यतोहि कुछ लोग प्राकृत ध्वनि को भी स्फोट मानते हैं। वैकृत ध्वनि का कारण प्राकृत ध्वनि है और कारण रूप प्राकृत ध्वनि के निमित्त भेद हो जाने से उसके सामर्थ्य में भेद आ जाता है, जिसका प्रभाव कार्यरूप वैकृत ध्वनि पर पड़ता है। जैसे—घंटारव और भेरी नाद में वृत्तिभेद स्पष्ट प्रतिलक्षित होता है।

इस प्रकार विवेचित प्राकृत और वैकृत ध्वनियों का स्वरूप और कार्य प्रथक्-पृथक् है।

ध्वनि की ह्रस्वदीर्घादि एवं द्रुतमध्यमादि-वृत्तियाँ—स्वर-ध्वनियों की द्विधा वृत्ति का प्रयोग होता है—एक तो ह्रस्वदीर्घ और प्लुत स्वरों के भेद या संज्ञायें हैं। दूसरे द्रुत-मध्यम और विलम्बित आदि वृत्तियाँ, जो वर त होती हैं। पाणिनि ने 'ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः'[4] इस सूत्र में दीर्घ-दीर्घतम उच्चारणकाल के आधार पर ह्रस्व-दीर्घ प्लुत स्वर भेदों का निर्देश किया है।

भर्तृहरि ने अपचित ध्वनि का ह्रस्व अपचिततर ध्वनि को दीर्घ और अपचिततम ध्वनि को प्लुत माना है। उक्त भेद ध्वनिगत होते हुये भी स्फोटगत प्रतीत होता है।

महाभाष्यकार ने लिखा है—"अल्पोमहाँश्च केषां चिदुभयं तत्स्वभावतः।"[5] ध्वनि अल्प और महान् भी होती है। इस प्रसंग में कैयट ने लिखा है कि ह्रस्व,

---

१. वा० प० हरिवृत्ति, १/१०६–७।

२. वाक्यपदीय, १/१०५, वृषभ टीका।

३. अर्थ वि० और व्या० द०, द्विवेदी, पृ० ३७७।

४. वा०सू० १/२/२७।   ५. म०भाष्य १/१/७०।

दीर्घ और प्लुत ये भिन्न-भिन्न है। अतएव भिन्न-भिन्न ध्वनियों से अभिव्यंजित होते हैं।[1]

देवसूरि ने स्याद्वाद रत्नाकर में लिखा है—"एकमात्रो भवेद् ह्रस्वः, द्विमात्रो दीर्घ उच्यते, त्रिमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयः।"[2] जो ध्वनि सर्वप्रथम उत्पन्न होती है वह एक मात्रिक होती है और एकमात्रिक स्फोट को अभिव्यक्त करती है. उपचारात् वह स्फोट भी एकमात्रिक अर्थात् ह्रस्व कहा जाता है। प्रथम एवं द्वितीय ध्वनि तरंगें द्विमात्रिक (दीर्घ) होती हैं। उनसे अभिव्यक्त स्फोट भी दीर्घ माना जाता है। इसी प्रकार प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ध्वनियाँ त्रिमात्रिक (प्लुत) होती हैं। अतः उनसे अभिव्यक्त स्फोट भी प्लुत माना जाता है। अतएव देवसूरि के अनुसार तृतीय ध्वनि पर्यन्त प्राकृत ध्वनि तदनन्तर वैकृत ध्वनि होती है। प्राकृत ध्वनि के ह्रस्वादि भेद ही स्फोट में आरोपित होते हैं। तदनन्तर वैकृत ध्वनिगत द्रूतादि वृत्तियों का आरोप स्फोट में नहीं होता है। ह्रस्वादि उच्चारण काल शब्द (स्फोट) काल होता है और वैकृत-ध्वनि-काल ध्वनि काल होता है, शब्द-काल नहीं।[3]

वस्तुतः शब्द (स्फोट) नित्य होने के कारण व्यवहार का विषय नहीं है। जब प्राकृत ध्वनि से सम्बन्धित होता है तब प्राकृत ध्वनियों के गुण का आरोप कर लिये जाने के कारण शब्द (स्फोट) में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। वाक्यपदीयकार ने लिखा है—

"स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचयते॥"[4]

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व-दीर्घादि रहते हैं तथा वैकृत ध्वनि में द्रुतमध्यम, विलम्बित वृत्तियाँ होती हैं। उसका प्रभाव स्फोट पर नहीं पड़ता है। यह वृत्तिभेद अनुरणनात्मक होता है। द्रुत या विलम्बित आदि किसी भी वृत्ति से उच्चरित वर्ण, पद आदि में यह वही वर्ण है, यह वही पद है आदि ऐसा कहा जाता है, उनमें भेद नहीं माना जाता है। अतः इनसे स्फोट प्रभावित नहीं होता है—

"शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मातैर्नभिद्यते॥"[5]

महाभाष्यकार के 'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र के भाष्य पर लिखा है—वर्ण अवस्थित होते हैं, चिर अथवा अचिर काल के उच्चारण से उनकी वृत्तियों में भेद होता है, वर्णों (ध्वनियों) में नहीं। द्रुत वक्ता जिस वर्ण का उच्चारण द्रुत वृत्ति से करता है, कोई उसी वर्ण को उससे चिरकाल में और कोई उससे अधिक चिरकाल में उच्चारण

---

१. वही कैयट।
२. स्या० रत्ना० ४/१०, पृ० ६५४-५५।
३. स्याद्वाद रत्नाकर ४/१० पृ० ६५४-५५ तथा म० भा० १/१/६७।
४. वा०प० १/७६। ५. वा०प०, १/७८।

करता है, परन्तु उससे वर्ण में अधिक भेद नहीं आता है । जैसे—कोई द्रुतगामी जो मार्ग शीघ्र पार कर लेता है, वही मार्ग मन्दगामी देर में, किन्तु इससे मार्ग-भेद नहीं होता । अथवा उसी मार्ग को रथिक अति शीघ्र चला जाता है, आश्विक शीघ्र चला जाता है और पदाति विलम्ब से जाता है किन्तु इससे मार्ग-भेद नहीं होता है—

"सिद्धत्वस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।"[१]

इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुये भाष्यकार ने लिखा है कि—"अल्पो महाश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ।"[२] अर्थात् ध्वनि अल्प और महान् होती है । कैयट ने 'केषांचिद्' का अर्थ किया है—"व्यक्तानामुभयं गृह्यते, अव्यक्तानां तु ध्वनिरेव ।"[३] और "अल्पो महांश्च" की व्याख्या नहीं की है, किन्तु वहीं पर लिखा है कि "शब्दानां व्यंग्यानां व्यञ्जकत्वेन यो ध्वनिः स एव महान् अल्पश्च लक्ष्यते व्यंग्यस्तु अभिन्न काल एव ।"[४] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि द्रुतादि वृत्तियाँ तथा अल्प और महत् आदि धर्म ध्वनि के ही होते हैं, स्फोट के नहीं । उन वृत्तियों से स्फोट प्रभावित नहीं होता है । इसी आशय को डा० त्रिपाठी ने भी स्वीकार किया है ।[५]

कैयट की 'केषांचिद्' की व्याख्या युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती । एक तो भाष्य वैषम्य है और दूसरे स्फोट से व्यक्त-अव्यक्त दोनों ध्वनियों का ग्रहण किया गया है । यथा—भेर्यापघात स्थलेऽपि स्फोट एव भेरीताडनाभिव्यक्तः श्रोत्रग्राह्यः ।"[६]

मैक्समूलर ने अपने भाषा विज्ञान के भाषण में जर्मन विद्वान् हेल्म होलत्स के ध्वनि परीक्षण की संगीतात्मक प्रणाली की चर्चा करते हुये कहा है कि जब हम किसी प्रकार का स्वर-संगीत सुन रहे होते हैं तो स्वर-ध्वनियाँ कम्पन से उत्पन्न हुई होती हैं । तब गणितीय पद्धति से जान सकते हैं कि एक सेकेण्ड के अन्दर कितने कम्पन हो रहे हैं (स्वर की तीव्रता-मन्दता से) । इसी अनुभव के आधार पर यह जान सकते हैं कि हवा में कितना कम्पन पैदा करके कौन सा स्वर निकाल सकते हैं । हेमहोलत्स ने वायु के कम्पन से पैदा होने वाली ध्वनि-लहरों को गिना है और साथ ही वायु के कम्पन को देखने के यन्त्र का भी आविष्कार किया । यह संगीत के स्वरों का सिद्धान्त भाषा की ध्वनियों पर भी लागू होता है । ध्वनि की लहरों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

उच्चारण प्रक्रिया में भी वाक् यन्त्र वायु में कम्पन पैदा करता है और गले की नली के भीतर से ध्वनि पैदा करता है । हमारे गले की यह नली फेफड़ों के सिकुड़ने और फैलने से धोकनी का काम करती है तथा इस कण्ठनली द्वारा वायु में

१. म० भा०, १/१/७० ।
२. वही ।
३. म० भा० प्रदीप, १/१/७० ।
४. वही ।
५. सा० व्या० दर्शन, पृ० ६९ ।
६. म० भाष्य, १/१/७० ।

कम्पन पैदा होने से मुँह से ध्वनि निकलती है । ········जो हम कोरस गीत सुनते हैं वह और कुछ नहीं है केवल लचीली वायु की समन्वय युक्त गति है । हेल्म होल्स ने परीक्षण किया है कि वायु जब एक सेकेण्ड में तीस बार गति करती है, तो धीमी-धीमी ध्वनि पैदा होती है, जो हमारे सुनने लायक होती है और जब सबसे तेज ध्वनि होती है तो एक सेकेण्ड में वायु चार हजार बार गति करती है ।[१]

वस्तुत: जो ध्वनि हम बोलते हैं, उसका कोई आकार नहीं होता, अपितु ध्वनियों की गति होती है, जो उसी रूप में वह ध्वनि लहर जाकर कान छिद्रालिका और जलाशय में तथावत् ध्वनि उत्पन्न कर देती है । उस आन्तरिक जलाशय नलिका का सम्बन्ध बुद्धि कक्ष से होता है । अतः वह ध्वनिलहर बुद्धि कक्ष में पहुँच कर बुद्धिस्थ अर्थ को अभिव्यक्त कर देती है ।[२]

समीक्षा—उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों के समीक्षण एवं व्यावहारिक अनुभवजनित परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि ह्रस्वदीर्घादि ध्वनिगत गुण उच्चारण की अल्पकालिकता एवं दीर्घकालिकता के कारण होता है । अतएव यह विभेदात्मक गुण ध्वनियों की पृथक्ता से स्फोट की पृक्थता को आभासित करता है । ध्वनियों के ह्रस्वदीर्घादि का विभेद दो प्रकार से सिद्ध किया गया है—

१—उच्चारण-काल पर आधारित,

२—अणु (भार) पर आधारित ।

व्यञ्जन अर्धमात्रिक होता है । ह्रस्वस्वर एकमात्रिक, दीर्घ-द्विमात्रिक और प्लुत त्रिमात्रिक होता है—"मात्रा ह्रस्वः, द्वे दीर्घे, तिस्रः प्लुत उच्यते स्वर ।[३] "तै० प्रा० के अनुसार—" ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ अकारस्य द्विस्तावन्दीर्घः, त्रिः प्लुतः, ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्" ।[४]

कात्यायन प्रातिशाख्य के अनुसार—"व्यंजन अर्धमात्रिक होता है और उसके आधे को अणु कहते हैं । एक अर्द्धाणु को परमाणु कहते हैं—

"व्यञ्जनमर्द्धमात्रा तदर्द्धमणुः, परमाणुरर्द्धाणु मात्रा ।"[५]

इसी का विवेचन करते हुये हरिशंकर जोशी ने लिखा है कि—"भारतीय ध्वनि-शास्त्रा शब्द या ध्वनि को सूक्ष्म अणु मानते हैं । जब व्यञ्जन की मात्रा आधी है तो इसकी आधी मात्रा का नाम अणु है । अणु की आधी मात्रा परमाणु है । अतः शब्द या ध्वनि का परमाणु एक मात्रा का आठवाँ भाग हुआ । व्यञ्जन मात्रा है १/२ १/२ (अणु) १/२ = १/८ मात्रा परमाणु, या शब्द-ध्वनि के आठ परमाणु की एक

१. भाषाविज्ञान पर भाषण, मैक्समूलर, पृ० ७४-७५ में उद्धृत ।

२. ···वही··· पृ० ७७ ।

३. ऋ० प्रातिशाख्य १, २७, २९, ३० ।

४. तै० प्र०, वर्ण सम्बन्ध १-३१-३६ ।

५. कात्यायन प्राति० १/७/५९ से ६१ ।

मात्रा हुई, डेढ़ मात्रा १२ परमाणु की, २ मात्रा १६ परमाणु की, २,१/२ मात्रा २० परमाणु की तथा ३ मात्रा २४ परमाणु की होती है।"[1]

अतः कोई शब्द परध्वनि कितने भार का है और कितने काल में उसका उच्चारण क्रिया जा रहा है। यह विभेद ध्वनिगत होने के कारण प्राकृत-ध्वनि से सम्बन्धित है और स्फोट को प्रभावित करता है। अतः स्फोट में ध्वनिभेद के समान ह्रस्वदीर्घादि भेद की प्रतीति है।

द्रुतादि वृत्तियाँ ध्वनियों की वाहिका हैं। वृत्ति का अर्थ होता है गति या चाल। ध्वनि की गति अर्द्धेन्दु के कम्पनों की संख्या पर निर्भर रहती है। हरिशंकर जोशी ने भी हेल्म होलन्स की भाँति ध्वनि की गतियों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि—

एक क्षण में २० से २५० कम्पन श्रव्य हो सकते हैं। कम्पनों की संख्या के अनुसार ध्वनि में प्रमाणता, उच्चावचता, गुरुतालाघवता आदि के भेदों के होते हुये, गत्यात्मक भेद भी साथ-साथ हो जाते हैं।[2] स्थूलतः तीन वृत्तियों से काम चलाया जाता है—द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता—"तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो विलम्बिता मध्यमा च द्रुता च।"[3]

एतावता भारतीय एवं पाश्चात्य सभी चिन्तकों के अनुसार ये वृत्तियाँ ध्वनियों के विभेदक तत्व नहीं, अपितु ध्वनि-तत्व को द्रुतगति वाली या विलम्बित गति वाली बनाती है। अतः इनका आरोप भी स्फोट में नहीं होता। द्रुतादि वृत्तियाँ ध्वनि कें गति की सूचक मात्र होती हैं। इनके प्रयोग के सम्वन्ध में लिखा है—

"अभ्यासार्थे द्रुतांवृत्ति प्रयोगार्थे च मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं, कुर्याद् वृत्तिम् विलम्बिताम्॥"[4]

हरिशकर जोशी ने इन वृत्तियों के प्रयोग को भाव के अनुसार पृथक्-पृथक् बताया है—क्रोधादि में द्रुतावृत्ति, करुणा-दैन्यादि में विलम्बिता वृत्ति और धैर्य तितीक्षा आदि में मध्यमा वृत्ति का प्रयोग स्वभावतः होता है। ये वृत्तियाँ (ध्वनि विकासशास्त्र रूप) भव सागर में उमड़ती हुई लहरों के समान स्पष्ट प्रतीत होती हैं। ध्वनिशास्त्र पर इन वृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यन्त्रात्मक ध्वनि-तत्व-विशारदों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वृत्ति-भेद से ध्वनियों के स्थान, करण तथा प्रयत्न आदि में महान् अन्तर आ जाता है।[5]

ध्वनि, नाद एवं अक्षर–भारतीय भाषाशास्त्र के अनुसार स्वर को अक्षर कहा जाता है—'स्वरोऽक्षरम्'[6] और व्यंजन को स्वर का अंग

१. प्रतिभा दर्शन, पृ० २०५।
२. प्र० दर्शन, पृ० २१७।
३. ऋ० प्राति० १३, ४६-४९।
४. वही।
५. प्रतिभा दर्शन, पृ० २१८।
६. अथर्व० प्राति० १०-९३।

कहा जाता है —'व्यंजनम् स्वराङ्गम्' ।[1] अक्षर एक नाम है, जो समस्त मौलिक ध्वनियों के कुलों का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि है, जिसे पाश्चात्य विद्वान् 'फोनीम' कहते हैं।

किसी भी स्फुट ध्वनि के तीन रूप होते हैं—(१) ध्वनि, (२) ध्वनि रूप और (३) उसका सांकेतिक पदार्थ। इसको लैटिन में (क) नाम, (ख) रूप और (घ) मूल्य कहते हैं।[2] इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए महर्षि पाणिनि ने 'स्वरूप शब्दस्याशब्द संज्ञा' सूत्र की रचना की है। किसी शब्द में कई ध्वनियाँ होतीं हैं, वे ही शब्द हैं, इनका एक समूह जो पृथक् रूप धारण करता है, वह 'स्वैरूपम्' है तथा इसका किसी से संकेत होता है वही संज्ञा है। व्याकरणशास्त्र में अन्तिम रूप को छोड़कर 'अशब्द' संज्ञा या रूप संज्ञा का ग्रहण होता है। उसी में प्रत्यय लगते हैं और आदेश—आगम विकार आदि होते हैं।

आजकल पाश्चात्य देशों में भाषा-तत्व शास्त्र के पाँच मुख्य आश्रम हैं। फोनीम शब्द के जन्मदाता प्रागविश्वविद्यालय के प्राचार्य क्रुशेफस्की का आश्रम इस क्षेत्र में अपनी पृथक् विशिष्टता रखता है। दो आश्रम लन्दन में है। इनमें एक डैनियल जोन्स का संस्थान कहलाता है और दूसरा प्राचार्य ज० र० फर्थ (भारतीय और अफ्रीकन विद्या केन्द्र) का तत्वशास्त्र विभाग। अमेरिका के सर्वप्रथम फोनीम के विचारक ब्लूम फील्ड हैं। साथ ही अमेरिका में एक वर्ग और है जो फोनीम के विषय में अपना अलग मत रखता हैं।[3]

क्रुशेफस्की ने ध्वनि विपर्ययों को दो प्रकार से माना है—

१. भौतिक कारणों से उत्पन्न ध्वनियाँ। ये सन्दर्भीय ध्वनियाँ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होती हैं।

२. वह ध्वनि, जब वह रूप घटन में या सामूहिक श्रूति रूप में उपस्थित होती हैं, तब वह एक नवीन रूप लेती हैं। ये ध्वनियाँ न तो सन्दर्भ से घनिष्टता रखती हैं और न रूपान्तर का सा रूप ही लेती हैं। न इनकी तात्कालिक व्याख्या की जा सकती है और न ऐतिहासिक। ये नित्य नयी ध्वनियाँ होती हैं। इन्हीं को फोनीम कहा जाता है।

"फोनीम वह ध्वनि विकारणात्मक ऐक्य का अवधारणीय तत्व है, जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से अखण्डनीय है और जो ध्वनि के विपरीत ध्वन्यात्मक ऐक्य है।"[4] क्रुशेफस्की का यही विचार है।

कुर्तवे ने अक्षर या फोनीम को मानसिक समाहार माना है। इसका समर्थन ट्बैट्सकोय ने यह कह कर किया है कि "ध्वनि मानस में स्थित अक्षर (फोनीम) का

१. तै० प्राति० २१-१। २. प्रतिभा दर्शन, पृ० २७४।

३. प्रतिभा दर्शन, पृ० २७४ तथा २७५।

४. उद्धृत, प्रतिभा दर्शन में पृ० सं० २७५-७६।

प्रत्यक्षीकरण है।"[1] कुछ दिन बाद ट्वेट्सकोय ने अपनी परिभाषा में सुधार करते हुये लिखा है कि—"फोनीम एक ऐसा लघुतम ध्वनि विकासात्मक ऐक्य है जिसके फिर कोई टुकड़े नहीं किये जा सकते।"[2]

जाकोबसन ने लिखा है कि अक्षर (फोनीम) युगपद् भेदक लक्षणों के गुच्छे हैं जिनकी भेदक लक्षणता के निर्णायक दो विरोधी तत्व अघोष-घोष, अल्पप्राण-महाप्राण, उदात्त और अनुदात्त हैं। प्रत्येक भाषा में भेदक तत्व ५ से ६ तक हैं और वर्ण कुल (फोनेमिक्स) में एक अक्षर के २५ से ३० तक भेद हो सकते हैं। यह भौतिकता पर आधारित प्राग आश्रम का विचार कहलाता है।[3]

विज्ञानवादी ब्लूमफील्ड के अनुसार अक्षर (फोनीम) भेदक ध्वनि लक्षण की अल्पिष्ठ इकाई है। उक्त सभी मतों का स्पष्ट रूप ब्लूमफील्ड के लक्षण में प्रतिबिम्बित होता है।

ब्रौण्डल ने ध्वनि और फोनीम में अन्तर करते हुये लिखा है कि—

१. **ध्वनि**—तात्कालिक है, वैयक्तिक है, वैयक्तिक अन्वेषण का विषय है, यथार्थ है, भौतिक और अनियमित है तथा कभी भी ज्यों की त्यों दुहराई नहीं जा सकती। नित्य परिवर्तनशील और असीम है। इसका अध्ययन ध्वनि-शिक्षा है।

२. **फोनीम**—कल्पनात्मक है, अपरिवर्तनशील है, अवैयक्तिक है, एक मान्य प्रत्याहार है, वैज्ञानिक खोज के लिये आवश्यक एवं उपयोगी है। यह नियमित, व्यवस्थात्मक, प्रत्याहारीय तत्व है। प्रत्येक भाषा में इसकी संख्या निश्चित है। यह प्रयोगशाला आदि के परीक्षण एवं निरीक्षण का विषय नहीं है। इसका अध्ययन ध्वनि विकास है।[4]

इंगलैण्ड के विद्वानों ने प्राग वालों के फोनीम को लिपि का नाम दे रखा था। लोग ध्वनि को लिपि का रूप देने में जिन संकेतों का प्रयोग करते रहें, वे ध्वनि के फोनीम या अक्षर हैं।

इन सबके तात्विक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अक्षर का साक्षात् सम्बन्ध ध्वनि तत्व से है, लिपि से नहीं।[5]

पाश्चात्य विद्वान् ध्वनि को अक्षर के रूप में स्वीकार करते हैं।[6] यह भी निश्चित किया जा चुका है कि ध्वनि कम्पन की तरंगों से उत्पन्न होती है। इन तरंगों को साउण्ड वेव्ज कहते हैं। भाषा की दृष्टि के ध्वनि में कोई विभेद नहीं

१. उद्धृत – प्रतिभा दर्शन में पृ० २७६।
२. ... वही ...। ३. ... वही ...।
४. उद्धृत प्रतिभा दर्शन में पृ० २७७।
५. वही, पृ० २७९।
६. इसी प्रबन्ध में ध्वनि-स्वरूप-विवेचन।

किया जा सकता किन्तु ध्वनि ऐसा तत्व अवश्य है जिसके अवयव होते हैं। उन अवयवों को ही भारतीय भाषाशास्त्र में नाद कहा गया है।[1] नाद को मूल ध्वनि कहा जा सकता है और नाद क्रम जन्मा तथा ध्वनिमूलक होता है। क्, ख् आदि ध्वनियाँ भी निरवय नहीं होती, अपितु अणुओं से सावयव होती हैं। वृशभ के अनुसार नाद सूक्ष्म है, क्योंकि नाद के भाग परमाणुकल्प हैं—"परमाणुकल्पत्वान्नाद भागानाम्।"[2]

नाद के परमाणु आकाशव्यापी हैं। स्थानकरण के अभिघात से सक्रम नाद का जन्म होता है। नादत अपसंहृत क्रम के रूप में प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञावृत्तियों के द्वारा स्फोट को द्योतित करता है।[3] इस नाद को ही भाषाविज्ञान के शब्दों में सूल-ध्वनि, ध्वनिमात्र या ध्वनि श्रेणी आदि कहा जा सकता हैं।

सामान्य रूप से ध्वनि और नाद में कोई भेद नहीं है। 'नादेराहित बीजायाम् ··· ···' (वा० प० १–८५) की व्याख्या करते हुये डा० कपिलदेव द्विवेदी ने भी नाद अर्थात् ध्वनियों से बीज का आधान माना है।[4] भर्तृहरि ने भी इनमें केवल इतना ही भेद किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

"तच्च सूक्ष्मे व्यापिनिध्वनौ करणव्यापारेणप्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसंवात-वदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्त विवर्तन ··· ·· ।" हरि ने अन्यत्र प्राकृत ध्वनि को प्राकृत नाद और वैकृत ध्वनि को वैकृत नाद माना है।[5]

अस्तु, भारतीय भाषाशास्त्र के अनुसार क्रमजन्मा नाद ही ध्वनि रूप होता है। नाद निरवयव और ध्वनि सावयव होती है। ध्वनि और नाद में अलिपष्ठविभेद किया जा सकता है, किन्तु वह रूप भेद नहीं, अपितु अवस्था भेद ही हो सकता है। नाद ही मूल ध्वनि है।

अक्षर, ध्वनि और नाद से पृथक् तथा उनका पूरक है। अक्षर नादों की एक सरगम रूपी शृंखला है जिसकी सहायता से ध्वनियों की अभिव्यक्ति होती है।

ध्वनि कार्य—ध्वनियाँ वक्ता और श्रोता उभय दृष्टि से स्फोट शब्द की अभिव्यजिका होती हैं—'शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतोध्वनिरिष्यते।'[7] स्फोट और ध्वनियों में व्यंग्य व्यंजक भाव है—

---

१. सां० व्या० दर्शन, ७३।
२. वृषभ, वाग्पदीय टीका १/४८ (सं० व्या० द० में उद्धृत, पृ० ७४।
३. सा० व्या० द०, पृ० ७४।
४. अर्थ० वि० और व्या० द०, पृ० ३७०।
५. हरिवृत्ति, वा० प० १–४८।
६. सं० व्या० द०, पृ० ७३ में उद्धृत।
७. वा० प० १/७८।

"ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नित्यता यथा।
व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोट नादयोः ॥"[१]

शैव दर्शन के अनुसार नाद-बिन्दु प्रक्रिया द्वारा सृष्टि की रचना स्वीकार की गई है।[२] आधुनिक विज्ञान के अनुसार ध्वनि द्वारा पदार्थ का निर्माण हो सकता है। पुष्कल रूप से प्रक्रियात्मक व्याख्यान अणुशः दिखाई देता है। पराश्राव्य ध्वनि का रासायनिक उपयोग में विशेष महत्व है। पराश्राव्य ध्वनि की क्षमता अन्य ध्वनि की अपेक्षा बहुत अधिक होती है, जिससे अनेक प्रकार की रासायनिक, दैविक, यान्त्रिक आदि क्रियायें सम्पन्न होती हैं।[३]

पृथ्वी में बीज का भेद होने से शब्द होता है, तब अंकुर निकलता है। पराभाव्य ध्वनि द्वारा वृहद् अणु का परमाणु रूप में विपरिणमन रासायनिक प्रक्रिया द्वारा वैज्ञानिक करते हैं। परावाणी का रूप 'भाषाविज्ञान' का विषय नहीं है।

"लिङ्गविस्टिक् कैन सिम्पली डिफाइन लिङ्गविस्टिक फौर्म्स ऐण्ड दियर ऐप्रोक्सिमेट मीनिंग। बट ही कैन नाट डू द वर्क आफ द् कैमिस्ट, द फीजिस्ट द ऐन्थ्रोलोजिस्ट।"[४]

भर्तृहरि ने लिखा है—"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदोविदुः।"[५] एतावता ध्वनितत्व भाषात्मक इकाई होकर लोक-व्यवहार की संचालिका है और परावाणी (ध्वनि रूप) होकर सम्पूर्ण जगत् सर्जनात्मिका शक्ति (कारण) है। इसी को भर्तृहरि ने शब्द (अक्षर) ब्रह्म माना है।[६]

ध्वनि-विज्ञान से चिकित्सा भी सम्भव है। शंख की ध्वनि से लकवे का रोग दूर हो जाता है। अमरनाथ की पहाड़ी पर शंख ध्वनि का निषेध हैं, क्योंकि वहाँ शंख-ध्वनि से बादल एकत्र हो जाते हैं और जलवृष्टि होने लगती है। शंख की ध्वनि में विषैले कीटाणुओं को मारने की भी शक्ति होती है।[७]

भारतीय संस्कृति और विचाररसणि सदा से ही तत्व-मूलिका रही है। यही कारण है कि ध्वनितत्व का भी सर्जनात्मक एवं भाषात्मक उभय दृष्टि से विचार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने ध्वनि का कार्य भाषात्मक ही माना है।

जोन लियोन्स ने लिखा है—"ध्वनियों के गुणात्मक, संघातात्मक या संयोगात्मक—ऐसे संसर्गों या समूहों में संहत या संयुक्त होना है जिससे कि वाक्यों या शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप में जाना और पहचाना जा सके। ध्वनि का दूसरा कार्य

१. सं० व्या० द०, १/६२। २. लघु मञ्जूषा पृ० १४५।
३. ध्वनि वि० ललित किशोर सिंह, २३१।
४. "रैबर—ए हेल लिंग्विस्टिक ऐण्ड योर लैंग्वेजै, पेज १३३।
५. वा० प० १/१२०। ६. वा० प० १/१।
७. मं० महाविज्ञान—डॉ० चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान—ख्वाजा कुतुब, देवनगर, बरेली।

विषमतामूलक कार्य है अर्थात् एक-दूसरे से भिन्नता। इसी आशय से सौस्यूर ने कहा था कि अभिव्यक्ति अवयव (और अधिक सामान्य रूप में सभी भाषात्मक इकाइयाँ) प्रकृति से ही अनिवार्यतः निषेधात्मक होती है। यह वैषम्य या विरोध का सिद्धान्त आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए आधारभूत सिद्धान्त है।[1]

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर ध्वनि के कार्य दो रूपों में पाये जाते हैं—

१. व्यावहारिक (भाषात्मक) और

२. दार्शनिक (तात्विक)।

ध्वनि भाषात्मक दृष्टि से भाषागत शब्दों और वाक्यों का पृथक्-पृथक् बोध कराती है तथा स्फोट की अभिव्यंजिका होकर वक्ता के अर्थ संश्लिष्ट शब्द को व्यक्तता प्रदान करती है और श्रोता की दृष्टि से वही ध्वनि अन्तःस्फोट (अर्थ-संश्लिष्ट शब्द) को अभिव्यक्त करके मस्तिष्क में शब्द-चित्र उपस्थित कराती हुई अर्थावबोध के प्रति कारण होती है।

ध्वनि का दूसरा रूप दार्शनिक विवेचन के अनुसार —ध्वनि आकाशव्यापी है। ध्वनि एकरूप परावाणी है जो सम्पूर्ण स्पन्दनात्मक जगत् के निर्माण के प्रति कारण है। परावाणी कम्पन नाद है और वह व्यापक है। जहाँ नाद है वहीं स्पन्द है, जहाँ स्पन्द है वहाँ नाद है। ब्रह्मनिष्ठ परिस्पन्द से स्फुटित जो नाद है, वही निखिल ब्रह्माण्ड का जनयिता है। एतावता ध्वनि सम्पूर्ण जगत् निर्माण के प्रति कारण है।

मानसिक चिन्तन (पश्यन्ती) का रूप भी ध्वनि (शब्द) की तरह तरंगायित होकर परितः व्याप्त हो जाता है। स्पन्द क्रिया अहर्निशिकी है। इसीलिये यन्त्रों के माध्यम से आन्तरिक चिन्तन की फोटो ली जा सकती है। स्पन्द क्रिया चराचर मात्र में व्याप्त है, किन्तु वह सापेक्षिक है। ध्वनि और स्पन्दन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी स्पन्दनात्मिका क्रिया के आधार पर ही तो भर्तृहरि ने लिखा है—

"शब्दानुविद्धभिदंज्ञानं सर्वशब्देन भासते।"[2]

क्योंकि वस्तुज्ञान में भी सूक्ष्मतम स्पन्दन होता है और वह ध्वनिपरक है।

शब्द एवं पद-विमर्श

भाषा की लघुतम इकाई वाक्य है, शब्द नहीं। कुछ पदवादी आचार्यों के अनुसार शब्द ही लघुतम इकाई है। इसकी परीक्षा हम आगे करेंगे। प्रकृत में विचारणीय है कि भाषा की इकाई चाहे शब्द हो या वाक्य, किन्तु शब्द का महत्व तथा उसकी सार्थकता सभी आचार्यों की दृष्टि में पायी जाती है। अतः तात्विक या वैज्ञानिक दृष्टि से भले ही वाक्य को भाषा की इकाई माना जाये किन्तु व्यवहारिक या भाषावैज्ञानिक दृष्टि से शब्द की सार्थकता मान्य है। अवधेय है कि वैयाकरण या भाषावैज्ञानिक के द्वारा शब्द की सार्थकता एक आरोपित सत्य है, एक गन्तव्य मार्ग है, गन्तव्य स्थान नहीं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है—

---

१. सैं० भा० विज्ञान, पृ० ७२।

२. वा० प० १/१२३।

"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।"[१]

शब्द की उपलब्धि दो रूपों में होती है। एक तो स्वतन्त्र शब्द जो भाषा में प्रयुक्त नहीं है और दूसरा वाक्यनिष्ठ या भाषा प्रयुक्त शब्द। यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से स्वतन्त्र या अप्रयुक्त शब्द भी अर्थवान् है, पदार्थ संकेतक है किन्तु उसकी साधुता नहीं है, वह संस्कृत नहीं है। वह शब्द खनिज सुवर्ण के समान है। सुवर्ण होते हुये भी उसको सुवर्ण के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सुवर्ण की प्रकृति है, प्रयोगार्ह सुवर्ण नहीं। उसी प्रकार स्वतन्त्र शब्द में पदसाधुत्व रूप संस्कार नहीं रहता। उस संस्कार के अभाव में वह भाषा का अंग नहीं हो सकता है। शब्द प्रकृति मात्र होता है। उस (शब्द) प्रकृति से प्रत्यय-संश्लेष होने पर ही वह साधु होता हैं। तब वह शब्द न होकर पद हो जाता है। इसके लिये पाणिनि ने लिखा है—

"सुप्तिङ्न्तम् पदम् ।"[२]

सुबन्त और तिङ्न्त पद कहलाते हैं अर्थात् शब्द मात्र (प्रकृति मात्र) से सुप् या तिङ् प्रत्यय का विधान होता है, तब वह पद होकर साधु हो जाता है। अपद का प्रयोग पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है। "अपद न प्रयुञ्जीत्।" विवेच्यमान चतुर्विध पद या तो सुबन्त होते हैं या तिङ्न्त। उनको पदता अवश्य प्राप्त रहती है। प्रत्येक वाक्य सार्थक होता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द (पद) की सार्थकता तन्निष्ठता की स्थिति में रहती है। वाक्य व्यतिरिक्त शब्द अपनी मूल स्थिति में होता है। पदता हेतु विहित प्रत्यय आदि उसमें नहीं रहते अर्थात् मौलिक स्थिति में शब्द प्रत्ययादि रहित या सस्कार विरहित होता है। वही शब्द विकरण विशिष्ट होकर अर्थात् प्रत्यय-संश्लिष्ट होकर पद कहलाने लगता है, क्योंकि वह वाक्य-प्रयुक्त होता है।

शब्द और पद दोनों के तात्विक अर्थ में कोई भेद नहीं, कोई पार्थक्य नहीं, अपितु मौलिक एकता है, तथापि एक ही शब्द के विविध पद रूपों में यत्किंचित् अर्थ-विभेद आ जाता है। वह विभेदता वाक्य या भाषा की दृष्टि से अर्थवती है किन्तु स्वतन्त्र शब्द की दृष्टि से उस विभेदता का विशेष प्रयोजन नहीं है और न ही उसमें अधिक विभेद दृष्टिगत ही होता है, जो अर्थ स्वातन्त्र्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो। जैसे—एक ही व्यक्ति विविध वस्त्र-परिधान से विविध रूपों में दृष्टिगत होता है किन्तु वास्तविक रूप में व्यक्ति वही रहता है, उसके बाह्याकार में कुछ विरूपता आ जाती है। उसी प्रकार शब्द और पद का मौलिक अर्थ एक ही होता है किन्तु शब्द में शब्द से अतिरिक्त जब कुछ अंश (प्रत्यक्षादि के रूप में) जुड़ जाता है तब वही पद हो जाता है। यह प्रत्यय वाक्य की आन्तरिक स्थितियों पर निर्भर करता है कि शब्द से अतिरिक्त उसमें कौन सा प्रत्यय संश्लेष्य है।

वस्तुतः शब्द और पद की यह स्थिति ही वाक्य की सार्थकता और पद या

---

१. वा० प० २/२६३।

२. पा० सू० १/४/१४।

शब्द की अनर्थकता को सिद्ध करती है, क्योंकि विविध वाक्यों में एक ही शब्द विविध रूपों में प्रयुक्त होता है, किन्तु उस शब्द का बाहरी रूप यत्किंचित् भिन्न होता है, परन्तु हम अवापोद्वापप्रक्रिया से विविध वाक्यों में जिस वाक्यांश को विविध परिस्थितियों में एकरूप देखते हैं, अनुमान द्वारा हम उसी को शब्द मान लेते हैं और उस मूल शब्द की विविध पद-स्थितियाँ मानकर उसे वाक्य की स्थिति में पद तथा स्वतन्त्र रूप में उसके विकरण को हटा कर शब्द कहते हैं। इसीलिये मूलरूप में शब्द या पद की सार्थकता मानना युक्तिसंगत नहीं, अपितु वाक्य की सार्थकता होती है, तदन्तर्गत पदों की सार्थकता व्याकरणात्मक दृष्टि से ही है। अतः शब्द स्वतन्त्र रूप में निराकांक्ष भी हो सकता है, किन्तु परतन्त्र रूप में साकांक्ष ही होता है। आकांक्षा और योग्यता पद में ही होती है, शब्द में नहीं। कोश में लिखित शब्द और पद में अन्तर है। कोश का शब्द व्यावहारिक नहीं। असंस्कृत धातु के समान है। वह असंस्कृत वस्तु-रूप (Rwa Material) होता है। उसे संस्कृत या साधु करके ही प्रयोग में लाया जा सकता है। शब्द का वह परिवर्तित या परिष्कृत रूप ही पद कहलाता है। पद वाक्यनिष्ठ होता है। अतः वाक्यान्तर्गत प्रत्येक पद मिथः सम्बद्ध या संश्लिष्ट होता है। जिस शब्द-समूह को वाक्य कहा गया है उसका तात्पर्य यह नहीं कि शब्दों को जोड़ने या एकत्र कर लेने से वाक्य बन जाता है, अपितु शब्दों को संस्कृत करके पद बनाकर वाक्य संयोजन या वाक्य-रचना की जाती है। वाक्य में प्रत्येक पद दूसरे से सम्बन्धित होता है। जैसे—पट में तन्तु। सभी वाक्यांश (या पद) स्व-अर्थ की अपेक्षा कुछ अधिक अर्थ कहने के लिए व्यग्र होने लगते हैं। पदों की यही अर्थाभिधान की व्यग्रता ही आकांक्षा कहलाती है। शब्द को पद बनाने के लिये जो कुछ अधिक जुड़ता है, वही प्रत्यय या विकरण या परसर्ग आदि अन्यान्य भाषाओं में अन्यान्य नामों में अभिहित किया जाता है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द विशिष्ट अर्थभावना या अतिरिक्त सम्बन्ध भावना से पूर्ण हो उठता है। 'स्पीच एण्ड लेंग्वेज'[1] में शब्द को अर्थपूर्ण इकाई माना गया है। भाषा में पद को अर्थपूर्ण इकाई तो माना जा सकता है किन्तु पद को प्रायोगिक इकाई नहीं माना जा सकता। कुछ पद प्रायोगिक इकाई भी हो सकते हैं। परन्तु वे भी वाक्य स्थानी होने पर ही स्वतन्त्र इकाई के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे—प्रविश, गच्छ, अथवा गेहम्, पिण्डीम् आदि।

पद-भेद पर विचार कहते हुये महाभाष्यकार ने कहा है—"नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्चे"। अथवा "चत्वारि वाक् परिमितापदानि"[2]। अर्थात् पद चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। भर्तृहरि ने विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि कुछ विद्वान पद के दो भेद मानते हैं, कुछ चार और कुछ पाँच भेद भी मानते हैं—"द्विधाकश्चित्पद भिन्न चतुर्धा पंचधापिवा······आदि।[3]

---

१. पृष्ठ ८ Speech and Language p. 8।

२. म० भाष्य १/१/१। ३. भर्तृहरि २/१।

यह पद-भेद का विचार शब्द की प्रायोगिक स्थिति (पद) के आधार पर किया गया है। अतः पद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—"प्रयोगयोग्यसार्थक लघुतम भाषिक इकाई पद है।

भर्तृहरि लिखते है—"पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया।"[1] अर्थात् पदों की संहिता ही वाक्य है या संहिता (वाक्य) पदों के आश्रित होती है। एक ही शब्द से विभिन्न पदों की संरचना होती है। शब्द से अन्यान्य संप्रत्ययों के योग से विभिन्न पदों की सत्ता होती है—

"समानेऽपितुशब्दत्वे दृष्टः संप्रत्ययः पदात्"[2]

भाषाविज्ञान के शब्दों में हम कह सकते हैं कि शब्द से सम्बन्ध-तत्व के संयोग होने पर वह पद हो जाता है। वह स्वतन्त्र सत्ता से हीन होकर अर्थात्मकता से पराश्रित और साकांक्ष हो उठता है। इस सम्बन्धतत्व को संस्कृत में कारकादि प्रत्ययों के रूप में हिन्दी में परसर्गों के रूप में तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी रूपांश (मार्फीम) कहा जाता है। जैसे—रामेण, राम का, of Ram अथवा goes आदि।

संस्कृत में किसी शब्द से सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय जुड़ जाने पर वह पद हो जाता है। पदरूपता प्रदान करने के लिये ही पाणिनि अव्ययादि से भी प्रत्यय का विधान करके उसका लोप (अदर्शन) कर देते हैं।[3] तभी स्वतन्त्र रूप से वाक्य में निपातादिकों का प्रयोग किया जा सकता है। उपसर्ग आदि का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता। एक अव्यय पद के व्यवहारिक दृष्टि से तीन रूप कहे जा सकते हैं—निपात, उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय।

हिन्दी में भी शब्द के बाद परसर्ग जोड़कर पद बनाये जाते हैं। संसार की जितनी भी विभक्तिप्रधान भाषायें हैं, उन सभी भाषाओं में पदत्व प्राप्ति के लिये प्रत्यय या विवरण का संश्लेषण होता है। पदरूपता को प्राप्त शब्द का वाक्य में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त जो शब्दप्रधान भाषायें हैं, उनमें 'पदरूपता' का यह नियम नहीं लागू होता।

शब्द की स्थिति में शब्द या प्रकृति से अतिरिक्त तत्व (प्रत्यय तत्व) नहीं रहता है, उसमें केवल सामान्य अर्थ की संप्रत्ययता रहती है। पद स्थिति में अतिरिक्त पदार्थ संसर्गता आ जाती है जिसे व्युत्पत्तिवाद में कहा गया है—"एकपदार्थेऽपर-दार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।"[4]

डॉ० सत्यकाम वर्मा ने प्रथमा विभक्ति में यत् किंचित् शब्द-स्थिति को मानते हुये भी यही सिद्ध किया है कि उसमें भी शब्दातिरिक्त कुछ अंश में सम्बन्ध तत्व रहता

१. वा० प० २/५६। २. वही २/५४।

३. अव्ययादापसुपः, पा० सू० २/४/२३।

४. व्युत्पत्तिवाद, प्रथमा कारक, पृ० १।

है क्योंकि वहाँ पर भी लिंग-संख्यादि अतिरिक्त तत्व का बोध होता है।[1] यद्यपि विभक्ति में अन्य कारकों की अपेक्षा सम्बन्धतत्व कम होता है, क्योंकि प्रथमा विभक्ति का विधान प्रतिपदिकार्थ मात्र में पाणिनि ने स्वीकार किया है।[2] पद क्रिया के अनुषड्ग्ग से ही अर्थवान् होता है। उसकी सार्थकता क्रिया के प्रति सर्मपित होती है। प्रत्येक पद या पदार्थ का संकेत गौण हो जाता है, प्रधानता वाक्यार्थ (पद समुदायार्थ) में रहती है। पद व्यक्ति का संकेत विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि उसकी सार्थकता तो वाक्यार्थ के प्रति सर्मपित हो जाती है और वाक्यार्थ ही लोक-व्यवहार में व्यवहृत होता है, शब्दार्थ या पदार्थ नहीं।[3] कभी-कभी तो पदार्थ अपनी सत्ता का पूरा-पूरा परित्याग कर देता है। जैसे—"गंगायां घोष:" तथा "उपकृतं बहु तत्र किं उच्यते" आदि में लक्षणा याव्यञ्जना शक्ति से 'गङ्गा' तथा 'उपकृत' पद का अर्थ 'गङ्गा तट' (रूप अर्थ) तथा 'अपकृत' (रूप अर्थ) हो जाता है। यह वाक्यनिष्ठ पद स्थिति का वैचित्र्य है। शब्द चूँकि स्वतन्त्र सत्तावान् होता है, वह स्तर से अपना सम्बन्ध नहीं रखता है। अतः वह अपने अर्थ का परित्याग या दूसरे के प्रति समर्पण नहीं करता है। शब्दकोश में शब्द का निश्चित अर्थ होता है। वह निराकांक्षु तथा स्वाश्रित होता है। इसी वाक्य से भर्तृहरि ने लिखा है—

"क्रियाऽनुषङ्गेन बिना न पदार्थः प्रतीयते।
सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारो न सोऽस्त्यतः॥"[4]

यद्यपि पद समुदाय ही वाक्य है और पदार्थ समुदाय ही वाक्यार्थ है तथापि पद की सत्ता के कारण उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह वाक्य के प्रति अपनी शक्ति या सम्प्रत्ययता को सर्मपित कर चुका होता है। जैसे—लोक में प्रत्येक व्यक्ति सत्तावान् होता है, किन्तु जब वह किसी एक संघ का सदस्य हो जाता है तब वहाँ पर वह आंशिक रूप में ही अपनी शक्ति रखता है। वह संघ-निष्ठ सम्पूर्ण सदस्यों का एक विभाजित समभाग अंग हो जाता है और उसे बहुभाग के प्रति अपनी सत्ता को सर्मपित कर देना पड़ता है। वैसे ही पद भी वाक्यरूप समष्टि के प्रति स्वयं सर्मपित हो जाता है, वह वाक्यनिष्ठ इकाई के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।[5] शब्द-संघ व्यतिरिक्त स्वसत्ताक होता है। अतएव वर्ण-पद विभाग को भर्तृहरि ने केवल कल्पित माना है।

"पदेन वर्णा दिद्यन्ते वर्णेष्वयवान च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविभागो न कश्चन।"[6]

अतः हम यह कह सकते हैं कि जब तक शब्द स्वतन्त्र रहता है, निराकांक्ष

---

१. भाषातत्व और वाक्यपदीय पृ० १३०।
२. पा० सू०—"प्रातिपदिकार्थ०"।
३. वा० प० २/३३८/३४४। ४. वही, २/४३२।
५. वही, २/१०। ६. वा० प० १-७३।

रहता है, तब तक उसे शब्द कहा जा सकता है और जब वह सुप् या तिङ् प्रत्यय से संश्लिष्ट होकर वाक्यनिष्ठ हो जाता तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता अपहृत हो जाती है, वह वाक्य के प्रति समर्पित हो जाता है, वही पद हो जाता है। पद को भाषा की इकाई नहीं माना जा सकता है। वह भाषा या वाक्य का एक अङ्ग हो सकता है। शब्द को स्वतन्त्र इकाई यत् किंचित रूप में माना जा सकता है, क्योंकि स्वतन्त्र रूप में स्वार्थ बोधक होता है, किन्तु वह भाषात्मक दृष्टि से सीधा सम्बन्ध नहीं रखता, सीधा सम्बन्ध तो पद का ही होता है। वाक्य-विज्ञान या भाषा संरचना के प्रति शब्द और पद दोनों का महत्व अक्षुण्ण है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बिना प्रकृति-प्रत्यय के विश्लिष्ट एवं संश्लिष्ट उभयात्मक ज्ञान के भाषा-ज्ञान असम्भव हो जाता है। यह व्याकरणात्मक पद्धति का ज्ञान ही प्रकृति-प्रत्यय या शब्द और पद का ज्ञान है। इन दोनों क सम्बन्ध को भाषा-वैज्ञानिक के शब्दों में कहा जा सकता है कि पद रूप है और शब्द रूपांश (मार्फीम) है। अतः रूप और रूपांश विभेद ही शब्द और पद-विभेद है। तात्विक दृष्टि से कल्पित और व्यवहारिक दृष्टि से सत्य है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने शब्द और पद को ही रूप और रूपांश के रूप में स्वीकार किया है।

पद-भेद विमर्श

शब्द और पद के स्वरूप का वर्णन करने के बाद पद-भेद पर विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है। कहा जा चुका है कि शब्द एक जाति है, उसमें किसी प्रकार का पार्थक्य या विभाजन नहीं किया जा सकता। पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार 'राम, भू, च, ईषत्'—इन सभी को शब्द कहा जाता है, किन्तु "रामस्य, भवति, (ईषत् च सुबन्त)" आदि को शब्द न कहा जाकर पद कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि मूल शब्द से कुछ जुड़ जाने पर यह शब्द से पद हो जाता है। शब्द से पद बनाने की प्रक्रिया या सम्बन्ध तत्व का संश्लेष विविध रूपात्मक होने के कारण ही पद में भेद की कल्पना कर ली जाती है। अखण्ड पक्ष में तो कोई भेद नहीं, खण्ड पक्ष में पद-भेद और पद की स्थिति सम्भव है। अस्तु, पद-भेद के कारण या आधार दो हैं—

१. पदों की अर्थात्मक प्रवृत्ति तथा,

२. पद की रचना पद्धति।

पद-भेद की संख्या प्रत्येक भाषा में एक-जैसी नहीं है।

यही कारण है कि आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुधित्सुओं द्वारा भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके निकाले गये पद-भेद के निष्कर्षों में भी समानता नहीं हो पायी। प्राचीन भारतीय भाषा-वैज्ञानिक भर्तृहरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतभेद सम्बन्धी धारणाओं को संकेतित करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार पदों में प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान अपोद्धार प्रक्रिया द्वारा होता है और उस पद को पूर्वाचार्यों ने दो से लेकर पाँच प्रकार तक का माना है—

"द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धापिञ्चधाऽपि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येयः प्रकृति प्रत्ययादिवत् ॥"[1]

प्रसिद्ध वैय्याकरण इन्द्र का मत है कि पद एक ही प्रकार का होता है—जिसका कोई अर्थ हो, वह शब्द या पद है—"अर्थः पदम्" । इस मत को ब्लूम फील्ड के इस आशय से बल मिलता है कि प्रत्येक पद-विभाग दूसरे के क्षेत्र को घेरता हुआ दिखायी देता है । वे अर्थात्मक दृष्टि से उन्हें अपूर्ण इकाइयाँ मानते हैं । प्रो० ह्वाट माऊ ने भी पद-विभाग को अस्वाभाविक माना है ।[2]

पाणिनि ने सुबन्त और तिङ्न्त दो प्रकार का ही पद माना है—"सुप्तिङ्न्तम् पदम्"[3] अर्थात् नाम और आख्यात कुल दो ही पद-विभाग हैं । यद्यपि पाणिनि ने पद-भेद के नाम से तो कहीं निर्देश नहीं किया है किन्तु उपर्युक्त सूत्र के आधार पर ही यह कल्पना की जाती हैं । सुबन्त और तिङ्न्त के अतिरिक्त भी उन्होंने उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय और अव्यय का निर्देश किया है । इनमें पूर्व के तीनों का समावेश अव्यय के अन्तर्गत हो जाता है और अव्यय शब्द से भी 'सुप्' प्रत्यय का विधान करके उनके लोप का निर्देश किया है । अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि को दो ही प्रकार का पद-विभाग अभीष्ट था । लोक-व्यवहार में स्थिरता को प्राप्त हो जाने वाले अव्ययों से केवल पदता हेतु ही उनसे सुप् का विधान किया गया है, क्योंकि उनके आगे किसी सम्बन्ध तत्व के जुड़ने से (सुप् प्रत्यय के विधान से) प्रत्यय का अदर्शन हो जाने पर रूप में कोई अन्तर या विकार नहीं आता है, इसीलिये तो उनको अव्यय कहा गया है । यद्यपि अर्थात्मक दृष्टि से अव्यय पद नाम और आख्यात से भिन्न हैं तथापि व्याकरणात्मक या रचनात्मक दृष्टि से पाणिनि ने उन्हें नाम के अन्तर्गत सिद्ध किया है । डा० कपिलदेव द्विवेदी ने[4] पाणिनि का मन्तव्य द्विविध पद-भेद में तथा डा० सत्यकाम वर्मा ने[5] त्रिविध पद-भेद माना है ।

भर्तृहरि के अनुसार वार्ताक्ष और औदुम्बरायण चार प्रकार के पद-विभाग का खण्डन करके दो ही प्रकार का विभाजन मानते हैं । उनके अनुसार अखण्ड वाक्य बुद्धिस्थ रहता है और उसी का प्रतिभा रूप अर्थ से संयोग होता है । अतः अखण्ड वाक्य (नाम) तथा प्रतिभा रूपी अर्थ (आख्यात) ये दो विभाग सम्भव हैं—

"वाक्यस्य बुद्धौनित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम् ।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥"[6]

---

१. वा० प० पदकाण्ड/१ ।
२. भाषातत्व और वा० प०, पृ० १३४ में उद्धृत ।
३. पा० सू० १/४/१४ ।
४. अ० वि० और व्या० द०, पृ० २६२ ।
५. भाषातत्व और वा० प०, पृ० १२७–२८ ।
६. वा० प० २/३४२ ।

जैमिनी ने भी दो ही प्रकार का पद विभाग माना है।[1] हेलाराज ने भी दो ही प्रकार के पदों को मानते हुये लिखा है—"पदापोद्धारो द्विविधः नामाख्यातरूपः प्रथमकल्पिकः शक्तिशक्तिमतोरभेदात् कारकात्मा सिद्धरूपोंऽशः।"[2] वान्द्रियैज का मत है कि पदों को छाँटते चलने का यह क्रम यदि आगे बढ़ाया जाये तो अन्त में केवल दो शब्द-भेद अक्षुण्ण रहते हैं—संज्ञा तथा क्रिया। अन्य सब शब्द-भेद इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं।[3]

अभिनवभरत ने पदों की तीन प्रकार की सत्ता मानी है—नाम, अव्यय तथा स्वयं स्फुट। उनके अनुसार नाम के ही अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति, स्थान, क्रिया भाव तथा गुण आदि सभी आ जाते हैं, केवल आश्चर्य, भय, क्रोध आदि से स्वयं प्रस्फुटित होने वाले शब्द ही उनसे पृथक् हैं।[4] कुछ आचार्यों के मत में सुबन्त, तिङन्त, तथा निपात—ये तीन प्रकार के पद माने जाते हैं। अरस्तू तथा उनके अनुयायी दार्शनिक भी तीन प्रकार के पद मानते थे—नाम, आख्यात और संयोजक।

चार प्रकार के पदों की मान्यता अधिक प्रचलित है। इस मान्यता का उदय ऋग्वेद से हो चुका था और बाद में अनेक अचार्यों ने उसी का समर्थन किया है। ऋग्वेद के मन्त्र—"चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि············०"[5] तथा "चत्वारि श्रृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः······ ··········· ।"[6] की व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने महाभाष्य के पश्पशाह्निक में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात चार प्रकार के पदों की गणना की है—"चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्चेति।"[7] इन्हीं चार प्रकार के पदों की गणना यास्क ने निरुक्त में भी की है—

"एतानि चत्वारि पद जातानि नामाख्याताश्चोपसर्गनिपाताश्चेति।"[8]

किन्तु यास्क ने इस परिगणन के आगे लिखा है—

"नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैय्याकरणः"[9]

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नाम और आख्यात को एक वर्ग में तथा उपसर्ग और निपात को दूसरे वर्ग में रखा है। सम्भवतः उनके इस प्रकार के निर्देश का आशय उन पदों के प्रक्रियागत एवं अर्थभेद विभेद को प्रदर्शित करना था। यास्क यौगिक शब्दवादी थे। अतः नाम और आख्यात ये दोनों मौलिक दृष्टि से एक हैं तथा निपात और उपसर्ग यौगिक न होने के कारण उनसे व्यतिरिक्त हैं। पाणिनि द्वारा उणादि सूत्रों की कल्पना भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है।

---

१. मी० द० २/१/१-३।
२. वा० प० हेलाराज, ३/१/१। ३. भाषा, पृ० १४२।
४. द्रष्टव्य वाग्विज्ञान, पृ० १६७।
५. म० भाष्य पश्प० में उद्धृत। ६. वही।
७. म० भाष्य, पश्प०, प्रदीप।
८. निरुक्त, १/१/१। ९. वही, १/१/८।

बृहद्देवता में भी चार प्रकार के पदों को माना गया है—"उपसर्गों निपाताश्च नाम चाख्यातमित्यपि ।"[1] नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चत्वार्याहः पदजातानि शब्दाः ।"[2] सर्वदर्शनसंग्रह में भी माधवाचार्य ने चार प्रकार के पद का समर्थन किया है—

"पदचातुर्विध्यम्, भाष्यकारोक्तम् युक्तमिति विवेक्तव्यम् ।"[3]

भर्तृहरि ने उपर्युक्त सभी पदों को दृष्टिगत करते हुये नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय इन पाँच प्रकार के पदों का निर्देश किया है । कहा जा चुका है कि पदों का विभाजन काल्पनिक एवं व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं । जब व्यावहारिक सौविध्य की दृष्टि से पदों का विभाजन किया जा रहा है तो उसमें तात्विक दृष्टिकोण अपनाना उचित नहीं है । अतएव भर्तृहरि ने शुद्ध रूप से स्थूल विभाजन को ही भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से उचित समझा और पाँच प्रकार के पदों की सत्ता को स्वीकार किया ।

पाश्चात्य वैयाकरणों ने आठ प्रकार के पदों (Parts of speech) को माना है—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण, परसर्ग (प्रोपोजीशन), विस्मयादि बोधक (इन्टरजेक्शन) और सम्बन्ध बोधक (कंजेक्शन) । इन्हीं से प्रभावित हिन्दी के वैयाकरण भी संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण और अव्यय—ये छः प्रकार के पद मानते हैं । कामता प्रसाद गुरु ने अंग्रेजी के अनुसार आठ भेद माने हैं ।

अरस्तू और उनके अनुयायी दार्शनिकों ने तीन प्रकार पद, नाम, आख्यात तथा संयोजक—माने थे । बाद में कुछ दार्शनिकों ने विशेषतः स्टोइक स्कूल के नेताओं ने संयोजक के दो भाग करके नाम, आख्यात, संयोजक तथा आर्टिकिल चार प्रकार के पदों को स्वीकार किया है ।

"·········a certain arrangement of the parts of speech these were reckoned as three only by Thodducts and Aristotle ane philosophers of those times, who regarded nouns, verba, connectives as the primary parts of speech. Their successors particularly by the leaders of the stoic school raised the number of four separating the article from connectives".

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार नाम और आख्यात प्रायः सभी विद्वानों द्वारा मान्य हैं । विशेष मतभेद उपसर्ग, निपात, अव्यय और कर्मप्रवचनीय के सम्बन्ध में ही है । यद्यपि पाणिनि के अनुसार रचना की दृष्टि से सभी को अव्यय माना जा सकता है और अव्यय को भी नाम तथा अख्यात के समान ही पद रूप माना जाये तो कोई विपत्तिपत्ति नहीं होगी किन्तु ऐसा करना अर्थातमकता और प्रायोगिकता को

---

१. बृहद्देवता, १/६६ ।

२. ऋक् प्राति० १२/१७ । ३. सर्व० द० संग्रह, भा० द० ।

पूर्णतः दृष्टि से ओझल करना होगा, क्योंकि भाषा में इनका प्रयोग नाम या आख्यात के समान नहीं होता है। अस्तु, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय के गतिहीन अर्थात् स्थिर होने के कारण उन्हें अव्यय कहा गया है—

"यन्न व्ययेति तदव्ययम्।"

संस्कृत भाषा की दृष्टि से विभाजन पर विचार किया जाये तो कुल नाम, आख्यात उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय इन पाँच प्रकार के पदों की सत्ता दृष्टिगत होती है। इन्हीं पाँचों को पद के रूप में भर्तृहरि ने स्वीकार किया है।

विभाजन की उपयुक्तता पर विचार करने के पूर्व उनके स्वरूप पर विचार करना अधिक संगत होगा।

नाम और आख्यात—नाम और आख्यात ये दोनों ही आरम्भ से निर्विवाद सत्तात्मक रहे हैं। इनके लक्षणों में अवश्य कुछ अन्तर रहा है, किन्तु मूलतः नहीं। ऋक् प्रातिशाख्य में इनका लक्षण किया गया है जिससे किसी सत्व की प्रतीति हो वह नाम है, और जिससे भाव की प्रतीति हो वह आख्यात है—"तदाख्यातम् येन भावं स धातु तन्नाम येनाभिदधाति सत्वम्।"[1]

एतन्मूलक लक्षण यास्क ने भी किया है—

"भावप्रधानमाख्यातम् सत्वप्रधानानि नामानि।"[2]

भाष्यकार पतञ्जलि ने क्रियाप्रधान को आख्यात तथा द्रव्यप्रधान को नाम कहा है—क्रियाप्रधानमाख्यातम्·········द्रव्यप्रधानम् नाम।"[3]

बृहद्देवता में नाम का लक्षण किया गया है—जिसके उच्चारण से द्रव्य की प्रतीति होती है, विभिन्नार्थों में आठ विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा लिंग और वचन का भेद होता है, वह नाम है—

"शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तम्, नामेत्याहुर्मनीषिणः॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिंगयोः॥"[4]

बृहद्देवता में आख्यात का लक्षण करते हुये लिखा गया है—"भावप्रधानमाख्यातम्।" भावप्रधान आख्यात होता है। निरुक्त में यास्क के द्वारा बताये गए ६ भाव विकारों का वर्णन भी किया गया है—

"भावप्रधानमाख्यातम् षड्विकारा भवन्ति ते।
जन्मास्तित्वं परिणामो वृद्धिर्हानम् विनाशनम्।"[5]

---

१. ऋक् पातिशा० १२/१८, १९।
२. निरुक्त १/१/१। ३. म० भाष्य ५/३/६६।
४. बृहद्देवता अ० १, श्लोक ४२, ४३।
५. वही, (अ० १ श्लोक १२१) १/१२१।

\+ +

"एतेषामेव षण्णां तु येऽन्ये भावविकारजा:"[1]

भर्तृहरि ने भी व्यापारप्रधान धातु की आख्यात पद से और प्रातिपदिक शब्द की नाम पद से व्याख्या की है।[2] जैमिनी के मीमांसादर्शन के अनुसार जिसकी उत्पत्ति होने पर उसके प्रयोग में स्वरूप की उपलब्धि होती है, वह नाम है और जिसकी उत्पत्ति होने पर अर्थ-रूप में प्रयोग या उपलब्धि न हो, वह आख्यात है—

"येषामुत्पत्तौ स्वेप्रयोगे स्वरूपोपलब्धिस्तानि नामानि........येषां तूत्पत्तावर्थेस्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि।"[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में भी सत्वाभिधायी को नाम तथा क्रियावाची को आख्यात कहा गया है।[4]

उपर्युक्त विद्वानों के नामाख्यात के लक्षणों में सत्वप्रधान को नाम और भावप्रधान को आख्यात माना गया है, किन्तु आगे चल कर यास्क ने नाम और आख्यात को भाव और शत्व उभयप्रधान लिखा है—

"तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवत:।"[5]

अर्थात् नाम भाव या सत्व प्रधान हो सकता है तथा आख्यात भी भाव या सत्वप्रधान हो सकता है। यद्यपि सूक्ष्म दृष्ट्या विवेचन करने पर यह बात सत्य प्रतीत होती है तथापि जब यह सम्पूर्ण विभाजन ही स्थूल दृष्ट्या है तो सूक्ष्म दृष्ट्या विचार करने पर तो विभाजन रूपी महल ही धराशायी हो जायेगा। इसका विरोध करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—

"सर्वं सत्वपदं शुद्धं यदि भावनिबन्धनम्।
संसर्गे विभक्तोऽस्य तस्यार्थो न पृथग्यदि ॥"[6]

\+ +

"क्रियप्रधानमाख्यातम् नाम्नां सत्वप्रधानता।
चत्वारि पद जातानि सर्वमेतद् विरुद्ध्यते ॥"[7]

समीक्षा—अस्तु, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नाम सिद्ध वस्तु की संज्ञा है। वह साध्यावस्था को पार कर चुका होता है। उसमें सत्व या द्रव्य की प्रधानता होती है, भावना की नहीं। जब तक तण्डुल पक रहा है तब तक वह साध्यावस्था में है उसमें क्रिया (भाव) की प्रधानता है। अत: उसे आख्यात कहा जाता है और तण्डुल के पक जाने पर क्रिया के समाप्ति होते ही वह पाक (सिद्ध) हो जाता है, उसे (पाक को) नाम कहा जाता है। भाव क्रिया और भावना आदि पर्याय-

---

१. बृहद्देवता २/१२२ (पूर्वार्द्ध)। २. वा०प० ३/१/३५
३. मी० द० २/१/३, ४। ४. कौ० अर्थशास्त्र, २/१०/२८।
५. निरुक्त १/१/१०।
६. वा० प० २/३४५। ७. वही, २/३४६।

वाची हैं। भावना या क्रिया की स्थिति में मूर्तता नहीं होती, इसीलिये जैमिनि ने रूपानुपलब्धि को आख्यात कहा है। दूसरी बात उसमें सत्वांश अवश्य रहता है, क्योंकि सत्वांश के अभाव में क्रिया ही सम्भव नहीं होगी किन्तु प्रधानता क्रिया की रहती है। अतः किसी सत्वगत प्रक्रिया या विकार की अवस्था को भाव कहा जा सकता है और भाव-प्रधान के वाचक को आख्यात कहते हैं। भाव या प्रक्रिया की समाप्ति होते ही सत्व में यद्यपि ३ विकारों की सत्ता अप्रधानतया रहती है, किन्तु प्रधानता सत्व या द्रव्य की हो जाती है, अतः उस द्रव्य प्रधान वाचक पद को नाम (पद) कहते हैं। इस प्रकार नाम किसी सिद्धि वस्तु (मूर्तरूप), जिसमें क्रिया के समान रूप में घटित होने वाली भावना नहीं रहती, की संज्ञा है। अंग्रेजी में इसी को नाउन (संज्ञा) तथा हिन्दी व्याकरण में संज्ञा के नाम से अभिहित किया जाता है। सम्पूर्ण नाम किसी न किसी रूप में द्रव्यगत प्रधानता को लिये हुए ही अपनी सत्ता के अभिधायी होते हैं। अतः सत्व प्रधान नाम का लक्षण समीचीन है। अनन्तर काल में संज्ञा या नाउन के विद्वानों ने अनेकों भेदोपभेद किये हैं, किन्तु वे उनके अवान्तर भेद हैं। किसी-न-किसी रूप में द्रव्य या सत्व के संकेतक होते हैं।

जहाँ पर उक्त सत्व की स्थिति प्राधान्येन नहीं रहती है, वह साध्यावस्था में रहता है और उसमें आश्रित क्रमरूप भावना रहती है, उस स्थिति को क्रिया कहा जाता है। क्रिया की प्रधानता बोधक पदों को ही आख्यात कहा जा सकता है।[1]

उपसर्ग ·····'प्राक् उपसृज्यन्ते इति उपसर्गाः'। पाणिनीय तन्त्र में २२ उपसर्ग व्यवहृत हैं। निरुक्त और ऋक् प्रातिशाख्य में इनकी संख्या २० ही है। 'निस्' एवं दुस्' नहीं हैं।[2] उपसर्ग क्रिया के विशेषक होते हैं।[3]

शाकटायन के अनुसार उपसर्ग पृथक् रह कर अर्थबोध नहीं कराते, वे नाम और आख्यात के साथ ही अर्थबोधक होते हैं। गार्ग्य के अनुसार उपसर्गों के विभिन्न अर्थ होते हैं और नाम तथा आख्यात के साथ प्रयुक्त होकर अर्थ-वैशिष्ट्य उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसका उल्लेख बृहद्देवता एवं निरुक्त में किया गया है—

"उपसर्गास्ते विज्ञेया क्रियायोगेन विंशतिः।
विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यात विभक्तिषु।।
अदश्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः।
उपसर्गान् क्रियायोगान् मेनेति तु त्रयोधिकाः।।"[4]

१. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य—'क्रिया विचार'।
२. निरुक्त, १/१/१५, ऋक् प्राति० १२।२०।
३. म० भाष्य १/३/१।
४. बृहद्देवता, २/९४, ९५।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उपसर्गों की संख्या केवल दस ही बतायी गयी है, टीकाकार ने 'इति' शब्द को प्रकारवाची मानते हुये अधिक संख्या स्वीकार की है—"आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः।"[1]

लौकिक संस्कृत में उपसर्ग का धातु संश्लिष्ट प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृत में असंश्लिष्ट प्रयोग भी होता है। यथा—

"तद् परि ये चरन्त्यखिल सत्यनिकेतयाः।" में 'परि' का प्रयोग धातु से संश्लिष्ट नहीं, अपितु पृथक् प्रयोग हुआ है, तथापि संस्कृत भाषा की दृष्टि से उपसर्ग धातु से अतिरिक्त अर्थबोधक नहीं होता। किन्तु ग्रीक, जर्मन तथा अन्य भारतीय आर्य-परिवार की प्राचीन भाषाओं में धातु से पृथक् भी उपसर्ग की स्थिति का प्रमाण मिलता है। अतः उपसर्ग धातु का अविभाज्य अंग नहीं स्वीकार किया जा सकता है।[2]

पाणिनि के अनुसार प्र, परा आदि अव्यय पद जब क्रिया के पूर्व प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें उपसर्ग कहा जाता है—"उपसर्गाः क्रियायोगे।"[3] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उपसर्ग से धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। कभी-कभी उपसर्ग निरर्थक भी होते हैं—"अधिवरी अनर्थकौ।"

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥"

उपसर्ग की तीन गतियाँ होती हैं। वह कभी धात्वर्थ को बाधित करता है, कभी उसका अनुवर्तन करता है और कभी धातु के अर्थ को पूर्णतः नष्ट कर देता है।

"धात्वर्थं बाधते कश्चित् तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्टयन्यः उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥"

इसी आशयमूलक भाव को भर्तृहरि ने भी व्यक्त किया है।[4]

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत-भाषा में उपसर्ग का धातु से व्यतिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता और न ही उसका स्वतन्त्र रूप में प्रयोग ही होता है। उपसर्ग भी मूलतः निपात पद है, जिनमें से कुछ का प्रयोग उपसर्ग के रूप में होता है अर्थात् अव्यय पदों की प्रायोगिक अवस्था-विशेष का नाम ही उपसर्ग है। इसका कारण है कि उपसर्गों की गणना आदि (निपातों) के अन्तर्गत की गयी है।[5]

निपात—जिनका अर्थ निश्चित न होकर प्रायोगिक स्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, उन्हें निपात कहा जाता है। यथा—"अथ निपाताः उच्चावचेष्वर्थेषु

---

१. तै० प्राति०, १/१५।
२. भा० त० और वा० प० १३७।
३. पा० सू० १/४/५६। ४. वा० प० २/१९०।
५. द्रष्टव्य, गणपाठ पाणिनि। १/४/५७।

निपतन्ति इति ।"[१] बृहद्देवता में भी इसी प्रकार से निपात का लक्षण किया गया है और कर्म, उपसंग्रह तथा उपमा के अर्थ में उनका प्रयोग बताया गया है—

"उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः ।
कर्मोपसंग्राहर्थे च क्वचिच्चौपम्य कारणात् ।।"[२]

निपातों की संख्या के सम्बन्ध में उनको असंख्येय बताते हुये सामान्य रूप से परिगणना भी की गयी है ।[३]

"इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते ।
वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे ।।"[४]

उव्वट और अन्नम्भट्ट ने चारों पदों का लक्षण करते हुये निपात को पाद पूरक माना है—

"क्रियावाचकमाख्यातनुपसर्गो विशेषकृत ।
सत्वाभिधायकं नाम निपाता पादपूरणाः ।।"[५]

पाणिनि ने निपात के सम्बन्ध में कहा है—"चादयोऽसत्वे"[६] अर्थात् असत्व-वाची चादि की निपात संज्ञा होती है । 'असत्वे' में 'नञ्' समास पर्युदास के अर्थ में है । सत्वभिन्न सत्व सदृश की निपात संज्ञा होती है । सत्व से भिन्न आख्यात आदि निपात नहीं हैं । आशय यह हुआ कि भाव से भिन्न, सत्व सदृश किन्तु असत्व को निपात कहा जाता है । निपात शब्द जब सत्व के सूचक होंगे तब उनकी निपात संज्ञा नहीं होगी । सत्व (द्रव्य) में लिंग, संख्या आदि का अन्वय होता है, निपात में उनका अन्वय नहीं होता है—

"लिङ्ग संख्यान्वितम् द्रव्यम् ।"[७]

'पशु' शब्द जब 'चतुष्पद' का बोधक होगा तब निपात नहीं होगा और जब 'पशु' शब्द सम्यक् अर्थ का बोधक होगा तब निपात होगा । दूसरा सूत्र है—"प्रादयः"[८] अद्रव्यवाची प्रादि शब्दों की भी निपात संज्ञा होती है । इस प्रकार चादि और प्रादि-गण पठित शब्द निपात कहलाते हैं ।[९] चादि के अन्तर्गत उपसर्ग, विभक्ति, स्वर और प्रातिपदिक भी गृहीत हैं, आकृति गण होने से । उपसर्ग के समान ही निपातों का भी स्वतन्त्र प्रयोग नही होता है और इनका कोई निश्चित अर्थ भी नहीं होता । कभी-कभी तो इनका प्रयोग अर्थरहित मात्र पादपूर्त्यर्थ ही होता है । आर्थिक दृष्टि से

---

१. निरुक्त, १/४/१–२ । २. बृहद्देवता, २/८६ ।
३. बृहद्देवता । २/८०–६२ । ४. वही । २/६३ ।
५. वाज० प्रातिशा० ८/४६, उव्वट एवं अनन्त भाष्य ।
६. पा० सू० १/४/५७ ।
७. पा० सू० १/४/५७, तत्वबोधिनी टीका ।
८. वही, १/४/५८ । ९. द्रष्टव्य–गणपाठ १/४/५७ ।

प्रत्यय तुल्य होते हैं, किन्तु प्रायोगिक दृष्टि से प्रत्यय के असमान होते हैं।[1] यास्क की दृष्टि में इनका प्रयोग औपमिक, संयोजक एवं पादपूरक के रूप में होता है।[2]

इन उपयुक्त अर्थों को परिगणित नहीं समझना चाहिये, अपितु औपलक्षणिक जानना चाहिये, क्योंकि इनका प्रयोग उक्त अर्थों के अतिरिक्त प्रतिषेधार्थक, निश्चयार्थक, संशयार्थक, आश्चर्यार्थक आदि अन्य रूपों में भी देखा जाता है। निपात के लक्षण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि नाम, आख्यात और उपसर्ग से भिन्न निपात हैं। क्रिया के योग में प्रादि उपसर्ग हो जाते हैं, अन्यत्र निपात ही रहते हैं। कहा जा चुका है कि उपसर्ग वाचक नहीं, अपितु द्योतक होते हैं। निपात के सम्बन्ध में इनका असंश्लिष्ट प्रयोग होने में शंका होती है कि ये वाचक हैं या द्योतक ? भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में विकल्पात्मक स्वरूप का उल्लेख करते हुये लिखा है— कहीं पर कुछ निपात अर्थ के वाचक होते हैं, कुछ द्योतक और कुछ आगमों के समान संगठित रूप में अर्थ के वाचक होते हैं—

"निपाताः द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः।
आगमा इव के पिऽस्युः संभूयार्थस्य वाचकाः॥"[3]

अर्थात् निपात दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और निरर्थक। कुछ सार्थक निपात अर्थ के वाचक और कुछ द्योतक होते हैं। निरर्थक निपात अधि, खलु आदि आगमों के समान पद के साथ सायुज्य प्राप्त करके अर्थ के वाचक होते हैं।[4] संभूय पद की व्याख्या करते हुये डॉ० सत्यकाम वर्मा ने लिखा है कि अनेक निपात एक साथ अर्थ के वाचक होते हैं।[5]

हिन्दी में निपात शब्दों को अव्यय रूप ही माना गया है। अंग्रेजी के पार्ट्स ऑफ स्पीच के प्रीपोजीशन, कंजंक्शन और इन्टरजंक्शन को भी निपात रूप ही समझना चाहिये।

कर्म-प्रवचनीय—कर्म-प्रवचनीय अन्वर्थक संज्ञा है। 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः कर्म-प्रवचनीयाः'[6] बाहुलकाद् भूतकर्त्ता में अनीयर् प्रत्यय करने पर कर्म-प्रवचनीय रूप बनता है। पुण्यराज ने कर्म-प्रवचनीय को सम्बन्ध के अवच्छेद का हेतु माना है— "सम्बन्धावच्छेद हेतवः कर्मप्रवचनीयाः।"[7]

पाणिनि ने उप, अप, परि, आङ, प्रति, अनु, अभि, अधि, सु, अति, अपि इन

---

१. वा० प० २/१९२। २. निरुक्त, १/४ से ६।
३. वा० प०, २/१९२।
४. भा० प०, २/१९२, पुण्यराज टीक तथा अम्बाकर्ती टीका।
५. भा० त० और वा० प०, पृ० १३६।
६. वा० प० २/१९७ अम्बाकत्री टीका।
७. वा० ० पुण्यराज टीका, २/१९७।

ग्यारह शब्दों की कर्म-प्रवचनीय के रूप में गणना की है–'कर्म-प्रवचनीयाः ।'[1] पतञ्जलि ने भी कर्म के कहने वाले को कर्म-प्रवचनीय माना है—"कर्म प्रोक्तवन्तः कर्म-प्रवचनीयाः ।"[2]

कर्म-प्रवचनीय को सम्बन्ध का भेदक माना गया है। सम्बन्ध क्रिया, कारक पूर्वक होता है—"सम्बन्धश्च सर्वः क्रियाकारकपूर्वको भवति ।"[3] कहीं पर क्रिया सम्बन्ध को बताकर विनिर्वतित (अलग) हो जाती है और कहीं पर श्रूयमाण होती है। जैसे–"राजपुरुषः" तथा 'मातुः स्मरति' में। इस प्रकार श्रूयमाण अथवा अश्रूयमाण क्रिया से सम्बन्ध व्यवस्थित होता है। तब सम्बन्ध को बताकर क्रिया के विनिर्वतित हो जाने पर वह उपजात सम्बन्ध क्रियाकृत हैं, नियमतः इस आशय के सूचक पद को कर्म-प्रवचनीय कहते हैं। कर्म-प्रवचनीय से ही उस सम्बन्ध विशेष का प्रत्यायन होता है। इसीलिए क्रियाकृत विशेष सम्बन्ध का द्योतन कराने वाले को कर्म-प्रवचनीय कहते हैं—

"जनयित्वा क्रिया काचित् सम्बन्धं विनिवर्तते ।
श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सम्बन्धो जायते क्वचित् ॥"[4]

+

"सचोपजातः सम्बन्धो विनिवृते क्रियापदे ।
कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ॥"[5]

'वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्' में 'प्रति' कर्म-प्रवचनीय विद्योतन क्रिया से उप-जनित स्वयं का वृक्ष के साथ लक्ष्य-लक्षण भाव रूप सम्बन्ध को द्योतित करता है। इसके पूर्व 'देवाः असुरान् प्रत्यजयन्' इत्यादि में प्रतिष्ठा रूप क्रिया पद का कथन कर चुका है, किन्तु सम्प्रति वह क्रियाभिधायि नहीं है। अतः 'प्रति' कर्म-प्रवचनीय पद है

आगे भर्तृहरि ने कहा है कि कर्म-प्रवचनीय पद क्रिया का द्योतक नहीं होता, न सम्बन्ध का वाचक होता है और न ही क्रिया पद का आक्षेप करने वाला होता है, अपितु सम्बन्ध का भेदक होता है। यथा—उपर्युक्त वाक्य में विद्योतन क्रिया की विद्यमानता से क्रिया का द्योतक नहीं हो सकता, वृक्ष की द्वितीया विभक्ति से अभिहित सम्बन्ध का वाचक भी नहीं हो सकता और एक क्रिया की विद्यमानता में अन्य क्रिया का आक्षेपक भी नहीं हो सकता है। वह केवल स्वयं के साथ विद्योतन क्रिया जनित लक्ष्य-लक्षण भाव रूप सम्बन्ध का अवस्थापक अर्थात् तदतिरिक्त अन्य सम्बन्धों का व्यच्छेदक या भेदक होता है—

---

१. पा० सू० १/४/८३। २. महाभाष्य १/४/८।
३. वा० प०, २/१६७। ४. वा० प०, २/१९७।
५. वा० प०, २/१९९।

"क्रियायाः द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ।।"[1]

सभी कर्म-प्रवचनीय शब्द उपसर्गान्तर्गत ही हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में भेद है । उपसर्ग किसी क्रिया से संश्लिष्ट होकर अर्थ में संशोधन, परिवर्द्धन करता है, किन्तु कर्म-प्रवचनीय ऐसा नहीं करता, वह क्रिया और कारक के मध्य एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध की सूचना देता है । उस विशेष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों का अवच्छेद कर देता है । डॉ० सत्यकाम वर्मा ने लिखा है कि उपसर्ग जब किसी क्रिया से जुड़कर भी, उस क्रिया के अर्थ में किसी प्रकार का सशोधन–परिवर्द्धन न करके, एक नये अर्थ का आधान करता है और वह क्रिया किसी अन्य अर्थ की संकेतिका होती है तब उसे कर्म प्रवचनीय कहते हैं, अर्थात् वह सम्बद्ध क्रिया से व्यतिरिक्त किसी अन्य क्रिया की भावना (कर्म) का वाहक होता है ।[2]

वस्तुतः कर्म-प्रवचनीय का प्रयोग किसी लुप्त क्रिया के सम्बन्ध-बोधन के लिए होता है । वह क्रिया के अर्थ का बोधक या आक्षेपक नहीं होता, किन्तु स्वयं किसी क्रिया स्थानिक सम्बन्ध विशेष का परामर्शक अवश्य होता है ।

ग्रीक कर्म प्रवचनीयों का अध्ययन भी प्रायः इन्हीं उपसर्गों पर आधारित है । ग्रीक एवं संस्कृत में इनका प्रयोग क्रिया के बिना और क्रिया के साथ दोनों रूपों में ही होता है किन्तु इनका अर्थात्मक सम्बन्ध अवश्य ही क्रिया से ही स्वीकार किया जाता है । जर्मन और इंगलिश आदि भाषाओं में कुछ मात्रा में यही प्रवृत्ति देखी जाती है ।[3]

अव्यय––पाणिनि के अनुसार अव्ययीभाव समास स्वरादि, निपात, असर्व-विभक्तिकतद्धित, मेजन्त (म् अथवा एच् जिनके अन्त में हो), कृदन्त तथा क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यान्त शब्द अव्यय संज्ञक होते हैं ।[4] अव्यय शब्दों की पदरूपता के लिए उनसे सुप् प्रत्यय का विधान किया गया है किन्तु स्थिरगतिक शब्द होने के कारण वहाँ विहार अपेक्षित न होने से 'अव्ययादाप सुपः'[4] से सुप् का लोप विहित है ।

अतएव पाणिनि के अनुसार इन अव्यय शब्दों को भी सुबन्त होने के कारण पद माना जाता है । वृत्तिकार ने अव्यय का लक्षण करते हुये लिखा है कि तीनों लिंगों, सभी विभक्तियों एवं सभी वचनों में जिसका एक ही स्वरूप रहे, किसी प्रकार की विकृति न हो, वह अव्यय है––

---

१. वा० प० २/२०४ ।
२. भा० त० और वा० प०, पृ० १३६ ।
३. भा० त० और वा० प०, पृ० १३७ ।
४. पा० सू० १/१/३७ से ४० तथा २/४/८२ ।

"सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥"[1]

भागुरि आचार्य के मत में 'अव' तथा 'अपि' के 'अ' का लोप होता है तथा हलन्त स्त्रीलिङ्ग बोधक शब्दों से 'आप्' प्रत्यय का विधान होता है, किन्तु उक्त कार्य पाणिनि को अभिमत न होने से वैकल्पिक हो जाता है। यथा—अवगाहः, वगाहः अपिधानम्, पिधानम्, निश्, निशा, दिक्, दिशा आदि।

अस्तु, अधिकांश अव्ययों को उपसर्ग, निपात एवं कर्म-प्रवचनीय के रूप में स्वीकार करने के बाद अवशिष्ट अव्ययों को नाम-आख्यात के अन्तर्गत मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सभी अव्यय पद एक रूप में प्रयुक्त होते हैं। नाम-आख्यात के समान उनके रूप विपरिणमित नहीं होते हैं और न ही उनका अतिरिक्त अर्थ ही होता है। डा० सत्यकाम वर्मा ने भी उनको नाम के अन्तर्गत नहीं माना है।[2]

स्वयं स्फुट शब्द—स्वयं स्फुट शब्द वे हैं जो मुख से आश्चर्य क्रोध, प्रशंसा, भय आदि के कारण अपने आप निकल पड़ते हैं। विषय की सभी भाषाओं में इस प्रकार के शब्द मिलते हैं। अरे, ओह, वाह, आह आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। हिन्दी में इन्हें विस्मयादि बोधक तथा अंग्रेजी में इण्टरजेक्शन कहा जाता है। पाणिनि के अनुसार इनकी गणना अव्यय में की जा सकती है। परन्तु ये निपात, उपसर्ग एवं कर्मप्रवचनीय आदि से रचनात्मक एवं अर्थात्मक दोनों दृष्टियों से भिन्न होते हैं। स्वयं स्फुट शब्दों का अन्तर्भाव किसी पद में नहीं किया जा सकता। अतः इनकी अव्यय पदों से पृथक् सत्ता स्वीकार की जा सकती है। स्वयं स्फुट पदों की सत्ता अभिनव भरत के द्वारा प्रतिपादित है।[3]

समीक्षा—पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार यह देखा जा चुका है कि पदों का विभाजन अर्थात्मक एवं रचनात्मक दो दृष्टियों से है। जितना ही इनका तात्विक विवेचन करते जाइये, पदों की संख्या उतनी ही कम होती जाती है। यही वैमत्य का कारण है। भर्तृहरि के अनुसार पद-वर्ण आदि का विवेचन ही असत्य सिद्ध होता है। यह सम्पूर्ण व्याकरण प्रक्रिया केवल व्यावहारिक है। इसी प्रकार पदों का विभाजन भी केवल व्यावहारिक या व्याकरणिक है। अतः जब व्यावहारिक दृष्टि से विचार कर रहे हों, तो उस समय तात्विकदृष्ट्या विचार करना असंगत एवं अवैज्ञानिक है। रचनात्मक दृष्टि से केवल तीन प्रकार के पदों को मानना चाहिये नाम, आख्यात और अव्यय। अर्थात्मक दृष्टि से नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय तथा स्वयं स्फुट पदों की समीचीनता उचित प्रतीत होती है।

---

१. उद्धृत–सि० कौ० अव्यय प्रकरण।

२. भाषा-तत्व और वा० प० अर्थ-भेद विमर्श।

३. वाग्विज्ञान, पृ० १९६ में उद्धृत।

शब्दनित्यत्व विमर्श

भारतीय दार्शनिकों एवं वैयाकरणों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद रहा है कि शब्द नित्य है या अनित्य? आचार्यों ने अपने-अपने मत के प्रतिष्ठापन में जिन तर्कों और तथ्यों को प्रस्तुत किया है उनके समवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः इनमें मतभेद का कारण दृष्टिकोण-भेद था। नित्यवादियों ने शब्द को तात्विक दृष्टि से परखा है तो अनित्यवादियों ने व्यावहारिक दृष्टि से। प्रकृत में इसी विषय का विवेचन किया जा रहा है।

मीमांसक मत—मीमांसा दर्शन में दो प्रकार के शब्द स्वीकृत हैं—(१) ध्वन्यात्मक और (२) वर्णात्मक। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के अनुसार वर्णात्मक शब्द नित्य और अवर्णात्मक शब्द अनित्य है। किन्तु शब्द द्रव्य है या गुण—इस सम्बन्ध में तथा शब्द की जातिमत्ता के सम्बन्ध में मतभेद है। कुमारिल भट्ट के अनुसार शब्द द्रव्य है। अतः विभु और जातिमान है—

"श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्व जातिमान्।
द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिल मते मतः।"[1]

प्रभाकर के मत में शब्द बाह्य इन्द्रिय ग्राह्य होने से गुण है, द्रव्य नहीं। अतः उसकी जातिमत्ता भी स्वीकृत नहीं—

"योऽपि चायं शब्द शब्दः श्रोत्रग्रहणोपलब्ध प्रवृत्तिरिति न जातु जाति कल्पनायै विभवति।"[2]

नैयायिकों की भांति प्रभाकर भी शब्द को आकाश गुण वाला मानते हैं—"शब्दगुणवत्राकाशं श्रोत्रेन्द्रियं शब्दग्रहणे हेतुः।"[3]

अनित्यवादी मीमांसकों के अनुसार शब्द का उच्चारण प्रयत्नजन्य होने से उच्चारणानन्तर अनुपलब्ध होने से तथा 'घटं करोति इति शब्दं करोतीतिवत्' शब्द कृतक होने से शब्द अनित्य है। 'नाना देश और प्राणियों में शब्द की युगपद् उपलब्धि होती है'—इससे भी शब्द का एकत्व और व्यापकत्व सिद्ध नहीं होता तथा प्रकृति—विकृतोपलब्धि से भी शब्द (दधि + अत्र = दध्यत्र) अनित्य है।

नित्यवादियों के अनुसार प्रत्यय सामर्थ्य से शब्द उत्पन्न नहीं होता, अपितु अभिव्यक्त होता है। उच्चारणानन्तर भी शब्द रहता है, परन्तु अनभिव्यक्त होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः शब्द नित्य है—"अभिव्यक्तः सन् दृश्यते इति नित्यः शब्दः।"[4]

जैनमत—जैन-दर्शन के अनुसार रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवान् पुद्गल ही संसृष्ट होकर शब्द रूप में परिणत होकर श्रोत्रग्राह्य होते हैं। वे आकाश के गुण नहीं,

---

१. मानमेयोदय (अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९३३)
२. प्रकरण पञ्चिका, पृ० १००, प्रकाशक—हि० वि० वि० बनारस, १९६१।
३. प्रकरण पञ्जिका पृ० १५३ (पूर्वोक्त)।
४. मी० द० सूत्र १. १. ६ से १. १. २३ तक।

अपितु स्पर्शादि अवयवों वाले अवयवी स्कन्ध हैं। शब्द मृदु-स्वर आदि भी होते हैं। वीणादि शब्द मृदु तथा घण्टादि शब्द स्वर होते हैं। ये शब्द चैतन्य विशेष कार्य है। कुछ शब्द अर्थ-संसर्ग (समर्थ) योग्यता को प्राप्त करके वर्ण-पद-वाक्यादि रूप पदवी को प्राप्त होते हैं—

"शब्द पुद्गल पर्यायः स्कन्धः छायातपादिवत्।
बुद्धिकार्यौ विशेषात्माभिलापः स्वार्थगोचरे ॥"[1]

"स्कन्धः अवयविद्रव्यम्। स्कन्धः शब्दः मूर्तत्वे अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति सावयवत्वात् पदादिवत्। सः मूर्तः स्पर्शत्वात् तद्वत्। स्पर्शवत्वन्चास्य मृदुस्वरादि प्रत्यय ग्राह्यत्वात् तद्वदेव। न चैतत् सिद्धम्, सर्वलोकप्रसिद्धेः तथाहि वीणादि शब्दात् जयघण्टादि शब्दं स्वरं निगदन्ति जनाः।"[2] तथा "वायोरणूनाम् ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।" इस प्रकार जैन दर्शन के मत में शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

बौद्धमत—संसर्ग-विरहित होते हुये भी परस्पर अत्यन्त समीपता को प्राप्त होकर एकत्र हुये परमाणु शब्द रूप के द्वारा श्रोत्र विज्ञान को संस्कारित करते हैं। जिस प्रकार विरलदेशस्थ केश—मशकमक्षिकादि एक घनाकार प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार घनीभूत शब्द परमाणुओं से शब्द की उत्पत्ति होती है। बौद्ध-दर्शन का सर्वमान्य सिद्धान्त क्षणवाद का है। अतः शब्द की नित्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी शब्द को अनित्य ही माना जाता है।

सांख्य मत—सांख्य-मतानुयायी ध्वनि से अतिरिक्त स्फोट की सत्ता नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ध्वनि ही शब्द है। उनका तर्क है, कि यदि 'सोऽयंगकारः' इस प्रत्यभिज्ञा से शब्द को नित्य माना जाय तो 'सोऽयंघटः' इस प्रत्यभिज्ञा से घट की नित्यता माननी पड़गी और यदि अभिव्यक्ति मानकर नित्य माना जाय तो अनागतावस्था का त्याग, वर्तमान अवस्था का लाभ और सत्कार्य के सिद्धान्त से घटादि की नित्यतापत्ति होगी।[3] इस प्रकार सांख्य-दर्शन के अनुसार भी शब्द की अनित्यता का ही प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैत वेदान्त मत—अद्वैत वेदान्त के अनुसार वर्ण-पद-वाक्य आदि समुदायभूत वेद का सृष्टिकाल में आविर्भाव तथा प्रलय-काल में ध्वंस होता है। इसके पूर्व और पश्चात् नहीं। वर्ण सिद्ध होते हैं, किन्तु अनभिव्यक्त वर्ण की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे अन्धकार स्थल में स्थित घट की उपलब्धि नहीं होती है। वर्णाभिव्यक्ति जनक ध्वनिगत उत्पत्ति परम्परा से उसकी (शब्द की) उत्पत्ति मानी जाती है।[4]

निरुक्त-मत—औदुम्बरायण ने 'इन्द्रिय नित्यं वचनम्'[5] कह कर शब्द को

१. सिद्धि विनिश्चय ६/२ तथा सि० वि० टीका, वही।
२. वही—६/१-२।
३. सांख्य-दर्शन ५/५७-६० तथा सांख्य प्रवचन।
४. वेदान्तपरिभाषा, ज्ञानसमप्रकाशन मन्दिर नर्मदापुरम् १९६७।
५. निरुक्त १/१।

अनित्य माना है, किन्तु इस स्थिति में शब्द के नाम-आख्यात आदि चार विभाग नहीं हो सकते। अतः यास्क (के निरुक्त) की टीका में दुर्गाचार्य ने लिखा है–'अविचालिनः एवैते कूटस्थाः अविनाशिन. शब्दास्ते तु कल्पान्ते तस्माद् व्याप्तिरूपात् विशीर्णेष्व-भिधेयेष्वभिधातृषु अविमापद्यमानेष्वाश्रया भावादेवावस्थातुमशक्नुवन्तः अभिधेयाभिधा-त्रिसहिता एव कारणात्मभावमधिकमनुभूयाभिसंस्तव काले अल्पादा वन्यकल्प विशिष्ट-कर्म निर्जितकार्यकारण सर्वभूत साधारणात्मभूते हिरण्यगर्भे विवर्तमाने तद्बुद्धिमाश्रयं प्राप्ते तेनैव सह युगपदेवाभिः व्यज्यन्ते विशेषात्मलाभ न शब्दा इति।[1]

इससे दुर्गाचार्य के मत में शब्द की नित्यता स्पष्ट है। यास्काचार्य ने स्वयं लिखा है कि शब्द को अनित्य मानने पर उसका विभाजन सम्भव नहीं हो सकेगा। इसके समाधान में उन्होंने लिखा है—"व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञा करणं व्यवहारार्थम्।"[2] अर्थात् शब्द अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक है। नाम, आख्यात आदि संज्ञाकरण व्यवहार के लिए लोक में प्रवृत्त हुआ है। अतः यास्क के अनुसार भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।

न्याय मत—नैयायिक शब्द को उत्पत्ति धर्मी और विनाशधर्मी मानते हैं। अतः शब्द अनित्य है। शब्द की अनित्यता के प्रति अनेक कारण प्रस्तुत करते हुये न्यायभाष्यकार कहते हैं[3]—

(१) शब्द अनित्य है, क्योंकि वह तन्मात्रा होने के कारण स्वोत्पन्न तथा विकृति के प्रति प्रकृति है। अर्थात् अन्य द्रवों की उत्पति का कारण है।

(२) उत्पत्तिधर्मी होने से शब्द अनित्य है, क्योंकि उत्पन्न का विनाश अवश्यम्भावी है। संयोग-विभागादि कारणों से उसकी उत्पत्ति होती है।

(३) शब्द इन्द्रिय से उच्चरित और गृहीत होता है। अतः अनित्य है।

(४) शब्द कृतक होने से अनित्य हैं। यदि शब्द उत्पन्न या कृतक न हो तो उसमें तीव्र-मन्दादि का व्यवहार सम्भव नहीं होता।

न्याय-दर्शन के सूत्रकार के विचार हैं कि—"आदिमत्वादैन्द्रिय कृतकवदुप-चाराच्च।" "न घटाभाव सामान्य नित्यत्वाग्निन त्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च।"[3]

आकाशवत् अस्पृश्यता को नित्यता का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक अस्पृश्य-पदार्थ नित्य नहीं होते तथा 'अस्पर्शवान् कर्म'[4] विनाशशीलता के कारण के अभाव में भी शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता। नित्य मानने पर अश्रवण के कारणभूत (अभाव) में भी निरन्तर श्रवण की आपत्ति होगी।[5]

---

१. नि० दुर्ग टीका, भाग २, पृ० २०–२१।

२. निरुक्त १/१२।

३. वात्स्यायन भाष्य न्यायसूत्र, १३-१४।

४. न्यायसूत्र, १३-१४।

५. न्यायसूत्र २२-२४।

६. न्यायसूत्र २२-२४।

विश्वनाथ 'न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली' में शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हुये लिखते हैं—ककार उत्पन्न हो गया, नष्ट हो गया आदि व्यवहार भी उसकी अनित्यता के प्रतिपादक है तथा 'सोऽयं ककारः' इस प्रत्यभिज्ञा से भी शब्द की नित्यता नहीं, अपितु उसकी सजातीयता सिद्ध होती है, क्योंकि अन्य पदार्थों में भी इस प्रकार का व्यवहार होता है। जैसे—'कल का भोजन बना है।' 'यह वही वस्त्र है', 'यह मेरी ही पुस्तक है'।

"सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते।
उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता।
तदेवौषधिमित्यादौ सजातीयेऽपिदर्शनात्।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः।"[1]

इस प्रकार नैयायिकों ने अत्यन्त तार्किक ढंग से शब्द की अनित्यता सिद्ध की है।

वैशेषिक मत—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार भी शब्द को अनित्य माना गया है। 'तर्कसंग्रह' में शब्द को एक गुण माना गया है।[2] गुण-गुणी के अधीन होता है और गुण का आधार गुणी की स्थिति के बाद उसमें होता है। अतः सभी गुण अनित्य है।[3] तद्वत् शब्द भी अनित्य है। तर्कभाषाकार ने शब्द को अनित्य मानते हुये लिखा है—"वर्णानाम् क्रमवतामाशुतर विनाशित्वेन एकदानेक वर्णानुभवा संभवात् पूर्वपूर्ववर्णानुनुभूय अन्त्यवर्ण श्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार सहकृतेन अन्त्य-वर्ण सम्बन्धेन पदव्युत्पादन समय ग्रहागृहीतेन श्रोत्रेण एकदैव सदसदनेक वर्णाविगहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारि दार्ढ्यात् प्रत्यभिज्ञावत्।"[4] इस प्रकार वैशेषिकों के अनुसार भी शब्द अनित्य हैं।

वैयाकरण—

मत—व्याकरण के अनुसार शब्द सिद्ध हैं। प्रकृति-प्रत्ययादि का आगम लोपादि तो शब्दानुशासन के लिए है। सूत्रकार पाणिनि को लोकवत् प्रवाह-नित्यता अभीष्ट है।[5] भर्तृहरि के अनुसार पाणिनि को शब्द की नित्यतानित्यता दोनों अभीष्ट थी। यथा—"पाणिनेरभिरुचितानित्यानित्यता वा"।[6] शब्द की नित्यतानित्यता के संबन्ध में वैयाकरणों में भी वैमत्य है। कुछ आचार्य ध्वनि से व्यंग्य वर्णात्मक शब्द को नित्य मानते हैं। कुछ विद्वान् वर्णात्मक शब्द से अतिरिक्त पद स्फोट को और कुछ वाक्य-स्फोट को नित्य मानते हैं। आचार्य व्याडि मध्यम मतावलम्बी है।[7] वर्णों के विकारी होने पर अवयवी शब्द नित्य मान कर ही व्यास ने कहा था—

१. न्या० सि० मु० १६७-१६८।
२. तर्कसंग्रह, प्र० खण्ड गुणनिरूपण।
३. तर्कभाषा टीका बदरीनाथ शुक्ल, पृ० १६६।
४. तर्कभाषा, पृ० १५३।
५. पा० सू० १/२/५१-५३।
६. म० भाष्य टीका, पृ० २५।
७. म० भाष्य पश्य०।

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वम्भुवा ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निमिमीले स ईश्वरः ।।[1]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्द को नित्य मानते हुये लिखा है—'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।'[2] इस वार्तिक में सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है। हरि ने उक्त वार्तिक की टीका करते हुये लिखा है—"नित्यार्थस्यपर्यायिण वाचकः। कदाचित् हि नित्य शब्दस्तमर्थमाह कदाचित् सिद्ध शब्दः। अतएव महाभाष्यकारेण उदाहृदतम् सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति।[3]" आगे चलकर भाष्यकार ने वर्णों को कूटस्थ और अविचाली कहा है। इससे भी शब्द की नित्यता द्योतित होती है—"कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णे भवितव्यम्।"[4] अविचाली कूटस्थ (ढेर) में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। व्यक्तिवादी भाष्य के अनुसार भी शब्द की नित्यता स्वीकृत है—"यस्यापि शब्द व्यक्तिः तस्यापि-नित्यः शब्दः।"[5]

महावैयाकरण भर्तृहरि ने शब्दों की द्विविध नित्यता मानी है—पारमार्थिकी और व्यावहारिकी—"नित्यता च द्विविधा व्यवहाराश्रया परमार्थश्रियाच।"[6] पारमार्थिक नित्यता-परमाणु और आकाशादि में वैशेषिक आदि प्रतिपादित करते हैं तथा व्यवहाराश्रया नित्यता वस्तु तत्व के कथन में होती है। न्यूटन द्वारा प्रतिपादित पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त व्यवहाराश्रया नित्यता का उदाहरण है। शब्द में भी उसी प्रकार की व्यवहाराश्रया नित्यता है।[7] हरि ने गोत्व, वृक्षत्व आदि के समान जातित्वात् शब्द को नित्य माना है—"आकृतित्वान्नित्यः शब्दः[8]।"

हरि ने ध्वन्यात्मक शब्द को नित्य नहीं माना है। वह तो क्षीयमाण ध्वनि है। नित्य शब्द वह है जो इन ध्वनियों से व्यंग्य होता है, उन्होंने लिखा है—

"अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद्वायुरिव स स्व निमित्तात् प्रतीयते।।"[9]

उन्होने आगे लिखा है—

"सत्याकृती संहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते।
तन्नित्यं शब्द वाच्यं तच्छब्दत्वं न तु भिद्यते।।"[10]

---

१. म० भारत शान्ति पृ० ३३/२४।
२. म० भाष्य, पश्य० पृ० ४७ मो० ला० प्रकाशन वाराणसी १९६७।
३. म० भाष्य टीका पश्य०, पृ० २६।
४. म० भाष्य पश्य०, पृ० ६६, मो० ला० प्रकाशन वाराणसी १९६७।
५. म० भाष्य टीका पश्य० पृ० २५।
६. म० भाष्य टीका पश्य० पृ० २५।
७. म० भाष्य टीका पश्य० पृ० २५।
८. वा० प० स्वो० टीका १/२३ तथा वा० प० १/२८।
९. वा० प० १-११७।
१०. वा० प० ३-२-१।

अपि च व्यवहार नित्यता मानते हुये भर्तृहरि लिखते हैं—

'नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते ।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्था नित्यतोच्यते ।।"[1]

अर्थात् मानव प्राणि के आविर्भाव के समान ही शब्द अनादि और नित्य है, चाहे वह कृतक हो अथवा नित्य ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि शब्द की व्यावहारिक नित्यता को स्वीकार करते हैं । उनकी व्यवहाराश्रया नित्यता भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से है । इसमें सन्देह नहीं कि वे शब्दतत्व के दूसरे पारमार्थिक पक्ष को भी स्वीकार करते हैं, जिसमें शब्द तत्व परब्रह्म रूप माना है, किन्तु वह व्यवहार से परे है । इसलिए उसका भाषावैज्ञानिक उपयोग नहीं, अपितु पारमार्थिक या दार्शनिक है । वाक्यपदीय के प्रारम्भ में ही इन्होंने इसकी प्रतिज्ञा की है—

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।"[2]

शब्द की ब्रह्मरूपता का विचार आगे किया जायगा ।

पण्डित नागेश भट्ट ने बड़े तार्किक और सबल विचारों से शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है । उन्होंने शब्द की नित्यता की स्थापना करते हुये लिखा है— "अवर्णादीनाम् एकत्वं विभुत्वं नित्यत्वं च । तदवयवकपदादेरपि तत्वम् ।"[3] साथ ही इसकी स्थापना में नैयायिकों के प्रत्येक अनित्यता प्रतिपादक तर्कों का युक्तयुक्ति रीति से खण्डन भी किया है ।[4]

समीक्षा—शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में अनेक विचार पुरतः स्थापित होते हैं । वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में कुछ विद्वानों का मत निहित है जिसके अनुसार सूर्य के विभिन्न रूपों के कूप में (संपातो) प्रतिबिम्ब के समान शब्दों की युगपद प्रवृत्ति सम्भव है । क्रमशः उत्पन्न एक-एक ध्वनि अवयवों के द्वारा प्रत्यवभासित एक ही नित्य शब्दात्मा प्रतिवर्ण, प्रतिपद, प्रतिवाक्य प्रकाशित होती है ।[5] अन्य भाषाशास्त्री व्यवहार्यमाण शब्द के उत्पत्तिधर्मी एवं विनाशी होते हुये भी शब्द प्रयोग को नित्य-वृत्ति परम्परा के अविच्छेद से व्यवहार नित्यता के कारण शब्द को नित्य मानते हैं— "पारम्पर्याविच्छेदान्नित्यप्रवृत्तेः प्रयोक्तृभिः उत्पन्नो लब्धप्रागभ्यो व्यवहारनित्यतया नित्याः शब्दाः ।"[6] महाभाष्यकार ने जो वर्णों को कूटस्थ और अविचाली कहा है,

---

१. वा० प० १-२८ ।
२. वा० प० १/१ ।
३. वै० ल० म०, शक्त्याश्रय, प्र० पृ १८० ।
४. वै० ल० म०, शक्त्याश्रय, प्र० पृ० १८० ।
५. वा० प० स्वो० टीका १/२३ ।
६. वा० प० स्वो० टीका १/२३ ।

उससे शब्द-प्रयोग में न तो न्यूनता आती है और न ही क्षीणता, क्योंकि वह सूर्य के प्रकाश के समान है। उसका चाहे कितना भी उपयोग किया जाय किन्तु वह क्षीण नहीं होता और न ही सूर्य के प्रकाश के अभाव हो जाने पर उसका नाश होता है। अभी फ्रांस में हुई वैज्ञानिकों की एक विचारगोष्ठी में यह सिद्ध किया गया है कि सूर्य से कितनी भी ऊर्जा ली जाय किन्तु वह क्षीण नहीं होगी। ग्रहों में कभी भी ऊर्जा की कमी नहीं होती। इससे सूर्य की ऊर्जा विद्युततरंग में परिवर्तित करके उपयोग किया जा सकता है।[1] अतः शब्द के लिये भी कहा जा सकता है कि—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।" अर्थात् शब्द भी कभी विकार, क्षीणता या परिणाम को नहीं प्राप्त होता। उसका ह्रास-विकास नहीं होता। वह छोटा-बड़ा नहीं होता। उसकी उन्नत-अवनत दशायें नहीं होती। इसी आशय से महावैयाकरण भर्तृहरि ने लिखा है—

"तद्यथा कूटस्थ राशि कुरु नास्मात् व्ययः कर्त्तव्यः इति। अविचालिष्विति देशान्तरं प्राप्तिं अवि परिणामंचाह यस्य हि मात्रा अपनीयन्ते विपरिणम्यन्ते वा तन्नित्यं न भवतीति।"[2]

कार्य में प्रवृत्त होने से व्याकरणात्मक अन्वाख्यान से भी शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। 'रामसु', 'वसुदेव', अण् आदि जो कार्य-प्रवृत्त शब्द हैं वे केवल औपाधिक या अनुकरणमात्र हैं। जैसे एक ही महाकाश के होने पर भी व्यवहार में घटाकाश, मठाकाश आदि व्यवहार होता है।[3]

डा० सत्यकाम वर्मा ने शब्द नित्यता के प्रतिपादन के प्रसंग में वैशेषिकों के अनुसार शब्द को नित्य बताया है।[4] यह विचार चिन्त्य है। हरिशंकर जोशी ने शब्द-तत्व के सूक्ष्मतम अणुओं की सतत् क्रियाशीलता का ही नाम 'स्पन्दत कहा है और यही स्पन्द शक्ति ही शब्द की संचरणशीलता और ग्रहणशीलता का कारण है। रेडियो, बेतार के तार आदि के द्वारा इन्हीं शब्दाणुओं की स्पन्दशक्ति से शब्द तत्काल श्रव्य होते हैं। जितना ही इसमें वायवीय और तैजस अश मिलता है उतना ही इनका रूप स्थूल और गतिशील हो उठता है और अन्त में अपने प्राकृत रूप में आ जाते हैं अर्थात् अनभिव्यक्त अश्रव्य हो उठते हैं।[5] शब्द की नित्यता से ही तो शब्दाङ्कन यन्त्र (फोनोग्राम) द्वारा शब्दों (गीतों) का अंकन (रिकार्ड) किया जाना संभव हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक शब्द-तत्व को एक शक्ति मानने लगे हैं, किन्तु अभी वे शब्द तत्व को तत्व इसलिये नहीं मान सकते क्योंकि उसमें भार नहीं होता और भार के अभाव

---

१. आज समाचार पत्र, ३ जुलाई, १९७३।
२. म० भाष्य, त्रि० टीका पश्य०, पृ० २६।
३. म० भाष्य, त्रि० टीका पश्य०, पृ० २५।
४. भा० त० और वा० प०, पृ० १०५।
५. प्रतिभा दर्शन, पृ० ५५।

में तत्व नहीं हो सकता ।[1] आधुनिक वैज्ञानिक विचार और आविष्कार भारतीय सिद्धान्तों के निकट पहुँच रहे हैं । शब्द के आविर्भाव, संचार और श्रवण से भर्तृहरि प्रतिपादित सिद्धान्तों की समानता स्पष्ट है—

"स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ।
वायुमाविशति प्राणम्यासौ समुदीर्यते ।।"[2]

+ +

"अभ्राणीवप्रयीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ।"[3]

"अन्तःकरण तत्वस्य वायुराश्रयतां गतः ।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसा विवर्तते ।।"[4]

इस प्रकार शब्द की पारमार्थिक सत्ता भले ही अभी तक सिद्ध न हो सकी हो, जगत् की सृष्टि शब्द से हुई या नहीं ? किन्तु शब्द की व्यावहारिक नित्यता अवश्य सिद्ध होती है । शब्दाणु सतत् विद्यमान है । सम्पूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार उस दिशा में तीव्रता से अग्रसर हो रहे हैं और सभी प्रयोग भी उसकी विद्यमानता या अवस्थिति से ही सम्भव है । अतः भारतीय मान्यता के अनुसार शब्द नित्य, विभु तथा एक है ।

शब्द-ब्रह्म विमर्श

ब्रह्म तत्व का विचार दर्शनशास्त्र का विषय है, भाषाविज्ञान और व्याकरण का नहीं, तथापि अध्यात्मप्रधान भारतीय विचार-सरणि में शब्दतत्व का आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक महत्व भी प्रतिपादित किया जाता रहा है । भारतीय-विचार-परम्परा के प्रमाणभूत वेद में ब्रह्म की भूयसी चर्चा की गयी है । तदनन्तर पुराणों, आगमों विशेषतः शैवागमों में शब्दतत्व को ब्रह्म रूप माना गया है । यद्यपि व्याकरणशास्त्र शब्दों का अन्वाख्यान करता है, भाषा की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है, लक्ष्य लक्षणं व्याकरणम् के अनुसार प्रयुक्त या अप्रयुज्यमान शब्दों की प्रयोगार्हता का प्रतिपादन करता है, आध्यात्मिक विचार उसका विषय नहीं है, तथापि पूर्वोक्त-दृष्ट्या शब्द की पूर्ण मीमांसा करने वाले वैयाकरण शब्द की पारमार्थिक सत्ता के सम्बन्ध में विचार किये बिना कैसे रह सकते थे ? पाणिनि तक के वैयाकरणों के विचार शब्द-ब्रह्म के विषय में स्फुट नहीं हो पाये थे ।

भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि ने ही शब्द ब्रह्म के आदिम विचारक थे ।[5] इनके बाद महावैयाकरण भर्तृहरि ने शैवागम और पुराणों के आधार पर अद्वैत वेदान्त का सहारा लेते हुये अपने व्याकरण-दर्शन के महान् ग्रन्थ वाक्यपदीय में शब्द-ब्रह्म पूर्ण प्रतिष्ठापना की । शब्द-ब्रह्म के प्रतिपादन में इनका विचार स्वतन्त्र और मौलिक है । प्रभाव भले ही किसी का रहा हो किन्तु शैली और दृष्टिकोण अपना है ।

---

१. प्रतिभादर्शन पृ० ५७ । २. वा० प० १/११४ ।
३. वा० प० १/११२ । ४. वाक्यपदीय, १/११५ ।
५. अ० वि० और व्या० द०, पृ० ६१ ।

डा० त्रिपाठी ने भर्तृहरि पर आगमों का प्रभाव बताया है और हरिवृत्ति में उद्धृत प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं ।[1] यह निश्चित है कि उन्होंने आगमों की अपेक्षा श्रुति का विशेष आधार लिया है, अन्यथा विचारों में इतनी मौलिकता नहीं आ सकती थी ।[2] पण्डित नागेश ने वै० ल० मंजूषा में शब्द ब्रह्मता की पूर्ण स्थापना की है; किन्तु उनका विचार पूर्णतः शैवागम पर आधारित है, क्योंकि जिस नाद बिन्दु की सत्ता को माना है और जिस विधा से विश्लेषण किया है वह पूर्णतः शैवागम विचारधारा के अनुरूप है ।

इसके बाद शब्द-ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा वैयाकरणों में दृढ़ हो गई थी । प्रत्येक वैयाकरण अपनी विचारशक्ति और आध्यात्मिक प्रौढ़ता के अनुसार शब्द-ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा को दृढ़तर बनाने में योगदान करते रहे हैं कुछ आधुनिक चिन्तक मीमांसा और वेदान्त से भी इस विचारधारा का समन्वय स्थापित करने में तत्पर हैं ।

मैत्रेयुपनिषद् में ब्रह्म के द्विविध रूप की चर्चा की गई है—शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म शब्द-ब्रह्म में निष्णान्त हुआ व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त होता है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।"[3]

शब्द-ब्रह्म की निष्पादनता अन्यत्र भी प्रतिपादित है—

"सूक्ष्मार्थेन प्रविभक्ततत्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम् ।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नाना रूपामात्मनिसन्निविष्टाम् ।।"[4]

इससे भी शब्द-ब्रह्म की सिद्धि होती है—सम्पूर्ण अर्थजगत् के विकास का कारण रूप, वाक् तथा उस वाक् का भी मूल कारण शब्द-तत्व रूप ब्रह्म है । श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण नाना रूपात्मक जगत् वाक् रूप ब्रह्म (शब्द ब्रह्म) में ही निहित है । वही उसके विलय और विकास का कारण है । सूक्ष्मवाक्तत्व ही जगत् रूप में अवस्थित होता हुआ स्वयं स्थूल शब्द के रूप में परिणमित होकर सम्पूर्ण अर्थ रूप को प्रकाशित करता है । वही वाक्तत्व इच्छा-प्रेरित होकर वक्तृरूप में अवस्थित होकर स्वपरिणमन द्वारा बोलता है अर्थात् स्थूल शब्द का उच्चारण करता है । वही शक्ति रूप में अवस्थित होकर प्रबोध वृत्ति से दैनन्दिन सर्गजनित व्यवहार में स्वयं को विकसित करता है । दैनन्दिन प्रलय में नानारूपात्मक जगत् को स्वयं में अवस्थित करता है और एक वाक्य-तत्व स्वादृष्ट द्वारा नानाभोग्यता को प्राप्त होकर स्वयं का उपयोग करता है ।[5]

"यावत् ब्रह्म-वितिष्ठितं तावद्-वाक् ।"[6] "वाग्ब्रह्म",[7] वाग्वैब्रह्म[8] और वाग्वैब्रह्म सुब्रह्म च ।[9]

---

१. सं० व्या० द०, पृष्ठ ४७५ ।
२. सं० व्या० द०, पृ० ४७५ । ३. मैत्रेयुपनिषद् ६/२२ ।
४. उद्धृत चित्र निबन्धावली, पृ० २८ । ५. उद्धृत-चित्रनिबन्धावली, पृ० ३३ ।
६. ऋग्वेद । ७. गो० ब्रा०
८. जै० उप २-९-६ । ९. ऐ० ब्रा० ६३ ।

"वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे वाच इति सर्वमभृतं यच्चमर्त्यम् ।
अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुकत्रा वाचो परं यच्च नाह ॥"[१]

उक्त ऋङ्मंत्र से शब्द का भुवन कर्तृत्व सूचित होता है। 'भुवनानि जज्ञे' से अन्तर्भावित ण्यन्त से यह अर्थ निकलता है कि शब्द विश्व को पैदा करता है और बुभुजे में 'भुज्' पालनाभ्यवहारयोः से संसार का पालन कर्तृत्व एवं संहार कर्तृत्व सिद्ध होता है। अपि च—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।"[२]

इस वैदिक मन्त्र से पूर्वोक्त मन्त्र की एक-वाक्यता होने के कारण वाक्तत्व की ब्रह्म-रूपता सिद्ध होती है। "सच्चिदानन्दं ब्रह्म, नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रुति से ब्रह्म की चिद्रूपता सुतरां सिद्ध होती है। इसका समर्थन स्वामी शंकर चैतन्य भारती ने दर्शन सर्वस्व में किया है।[३]

"अनादि निधनं युजः शब्द-वाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्राः" इस श्रुति से भगवान् शंकराचार्य ने शब्द-ब्रह्म का अनादित्व और चिद्रूपत्व सिद्ध किया है।[४]

"चत्वारि श्रृंङ्गाः त्रयोऽस्य पादाः ......।" इस श्रुति-वचन के व्याख्या पर शंकर ने महान् देव रूप (शब्द) ब्रह्म की सिद्धि की है।[५] वेद में ऋग् यजु और साममय वह वैराज पुरुष है और सम्पूर्ण भुवन ही उस वैराज पुरुष के शरीर हैं—"स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः सोममयो वैराजो पुरुषः। पुरुषो वै लोकः पुरुषो यज्ञः तस्यैतातोलोकम्पृणीस्तिस्र आहुत यस्ता एव त्र्यालिखिता वै त्रयोलोकाः।"[६]

"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति" इत्यादि उपनिषद् मन्त्रों में वाक्तत्व का वृषभ रूप में निरूपण किया गया है। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुति भी उक्त मन्त्र के अनुसार शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। वृहद्देवता में शब्द-ब्रह्म को ज्योति रूप कहा गया है जिससे उस ब्रह्म की प्रकाशरूपता सिद्ध होती है—

"स ब्रह्मामृतमत्यन्तं योनि सदसतोर्ध्रुवम् ।
महच्चाणु च विश्ववेशं विशतिज्योतिरुत्तमम् ।"[७]

इसकी एक-वाक्यता "तमसो मा ज्योतिर्गमय"[८] इस वृहदारण्यक उपनिषद् से होती है।

तन्त्रागम मत—शिव दृष्टि में शब्द को अक्रम शब्द-ब्रह्म कहा गया है।[९] तन्त्र के अनुसार परावाक् ही शब्द-ब्रह्म है—पूर्णत्वात् परा तथा प्रत्येकमर्शन विश्वम्,

१. ऋग्वेद। २. वैव० उप० ३/१।
३. द० सर्वस्व अनि० पृ० १६८-६९। ४. शंकर भाष्य।
५. महाभाष्य पश्य० में उद्धृत ऋङ्मन्त्र ४/५८/३।
६. उद्धृत चित्रनिबन्धावली, पृ० ३५।
७. वृ० दे० ८/१४०। ८. वृ० उ० १/३/२८।
९. शिव दृष्टि ६/२।

इति वाक् अर्थात् पत्यवमर्श द्वारा सम्पूर्ण संसार का जो कथन करती है, वह परा वाक् है। तान्त्रिकों के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—शब्द-ब्रह्म और अर्थ-ब्रह्म। अतएव सृष्टि भी दो प्रकार की मानी गयी है—शब्दमय सृष्टि और अर्थमय सृष्टि।[1] प्रपंचसार तत्व में 'परा' वाक्, जिसे 'रव' कहा गया है को शब्द-ब्रह्म माना गया है—"बिन्दोस्तस्मादभिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत् । स एव (रवः) श्रुतिसम्पन्नैः शब्द-ब्रह्मेतिगीयते।[2]

विष्णु पुराण में ज्ञानरूप ब्रह्म का वर्णन किया गया है—"ज्ञानमेव परमं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते। ज्ञानात्मकमिदं न ज्ञानाद्विद्यते परम्। विद्या विद्येय मैत्रेय। ज्ञानमेवोपधारय।"[3] अपि च "ज्ञानस्वरूपत्यन्तनिर्मलं परमात्मनः। तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्।"[4]

इस प्रकार तन्त्रागमों में शब्दब्रह्म की पूर्णतः स्थापना की गई है, किन्तु तन्त्रादिकों के विवेचन एवं तन्त्र मतानुयायी नागेश के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके अनुसार शब्द-ब्रह्म से परे पृथक् अस्तित्ववान परब्रह्म है। जिसमें शब्द भी लयता को प्राप्त होता है।

वैयाकरण मत—

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अर्थ को शब्द से पृथक् माना है। शब्द में ही अर्थ अन्तर्भूत है। शब्द से शब्द बहिर्भूत है, किन्तु अर्थ अबहिर्भूत है। यथा—

"शब्दश्च शब्दात् बहिर्भूतः।
अर्थोऽबहिर्भूतः।"[5]

अर्थजगत् के विकास का कारण शब्द ही को मानने के कारण शब्दब्रह्म की मान्यता स्पष्ट द्योतित होती है। अन्यत्र भाष्यकार ने कहा है कि—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुपयुक्तः स्वर्गलोके च कामधुग् भवति।"[6]

"चत्वारि शृङ्गाः त्रयोऽस्यपादाः ...." (ऋ० मं० ४/५८/३) की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने महान् देव ब्रह्म को माना है और नाम आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि उसके चार सींग हैं।[7] अपितु भाष्यकार ने शब्द को नित्य, विभु और एक सिद्ध किया है।[8] तथा अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर जैसा वर्णन किया है उसके अनुसार शब्द की ब्रह्मरूपता स्पष्ट प्रतीत होती है।

भर्तृहरि ही ऐसे वैयाकरण हैं जिन्होंने शब्द-ब्रह्म की पूर्ण स्थापना करके व्याकरणशास्त्र को भी दर्शनशास्त्र की श्रेणी में स्थान दिलाया है। उनकी विचार-

---

१. सेतुबन्ध, पृ० २३९। २. प्रपंचसारतन्त्र पटल १ श्लोक २३।
३. विष्णुपुराण २/६/५०-५१। ४. विष्णुपुराण १-२-२६।
५. महाभाष्य १/१/६६। ६. महाभाष्य ६/१/८४।
७. माहभाष्य पश्य०, पृ० ३० मो० ला० प्र० वाराणसी १९६७।
८. महाभाष्य, द्वितीय आह्निक 'अइउण' सूत्र।

शैली मौलिक एवं निजी है। भर्तृहरि ने ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया है किन्तु वह ब्रह्म का स्वरूप शब्दमय है। इसी कारण ब्रह्म को शब्दतत्व कहा जाता है। इसका कारण है कि दार्शनिक विचारदृष्ट्या विकृति अपनी प्रकृति में संसृष्ट होती है और सम्पूर्ण अर्थजगत् का ज्ञान भी शब्दपूर्वक ही होता है—"शब्दानुविद्धमिज्ञानम् सर्वशब्देन भासते।"[1]

सम्पूर्ण रूप आदि विकारों में शब्द-भावना निहित रहती है। अतः "नामैवेदं रूपत्वेन विवृते।" आदि श्रुति समर्थित सिद्धान्त ही उनका मन्तव्य है।

डा० त्रिपाठी के अनुसार हरि ने शब्द-ब्रह्म की सिद्धि में जो तर्क उपस्थित किया है वह है—"शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और ब्रह्म उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्म कहते हैं।"[2]

पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि पूर्वप्रचलित शैवदर्शन के नाद, ब्रह्म एवं वेदान्त के शुद्ध ब्रह्म से परिचित हो चुके थे। अतः उनके ऊपर इन सभी का प्रभाव तो अवश्य पड़ा किन्तु उन्होंने यथावत् किसी मत को स्वीकार नहीं किया। नाद ब्रह्म एवं ब्रह्म के द्वारा शब्द के केवल आध्यात्मिक पक्ष पर विचार किया गया, किन्तु हरि ने शब्द ब्रह्म के द्वारा शब्द-तत्व के उभयपक्षीय भाषावैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचार की स्थापना की है।

भर्तृहरि ने वाक्यपीप के आरम्भ में ही शब्द-ब्रह्म की उपस्थापना करते हुए लिखा है—

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।"

जो अक्षर अविनाशी शब्दतत्व है, वही ब्रह्म है। और वह ब्रह्म अनादि निधान है। जब से सृष्टि है तब से शब्द-तत्व रूप ब्रह्म भी। अतः उसका कोई काल नहीं है। वह अविनाशी है। जब तक सृष्टि रहेगी तब तक उसका नाश नहीं होगा। वह उच्चारित होता है। सत्ता में आता है, पुनः नष्टप्रायः सा प्रतीत होकर अश्रव्य हो जाता है, किन्तु यह नश्वरता का द्योतक नहीं है। वह सूक्ष्म, व्यापक और नित्य है। वह (शब्द) अनेकानेक अर्थों में जो प्रयुक्त और अप्रयुक्त होता है-यह भी उसके वृहणशीलता और प्रसरणशीलता का द्योतक है। इसीलिए हरि ने कहा है—"परस्तु शब्द सन्तानः प्रचयापचयात्मकः।"[3] शब्द आ सकते हैं, रह सकते हैं, अप्रयुक्त होकर अदृश्य हो सकते हैं, किन्तु शब्द-तत्व तो सृष्टि-रचना के प्रथम प्रयास से आज तक चलता ही आया है और चलता रहेगा भी। यह शब्द और शब्दतत्व नित्य वृहणशील (ब्रह्म) भी है।[4]

वह अविनाशी अक्षरतत्व सम्पूर्ण सृष्टि का मूल स्रोत है। शब्द-ब्रह्म से इस

१. वा०, प० १/१२३। २. सं० व्या० द०, पृ० ४७९।
३. वा० प० १/१०३। ४. भा० त० और वा० प०, पृ० १०७।

जगत् का सृजन होता है और अन्ततः उसी में यह संसार लीन हो जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी शब्द-तत्व का विवर्त है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का विवर्त और सांख्य के अनुसार परिणाम है।[1] भर्तृहरि ने अपने दर्शन-ग्रन्थ वाक्यपदीय में विवर्त और परिणाम दोनों का कथन किया है। प्रथम काण्ड की १, १८, ११२, ११७, तथा १२०वीं कारिका में विवर्तवाद माना है तथा—

"शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाय विदो विदुः।
छन्दोम्भ एवादौ प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥'[2]

इस कारिका के अनुसार जगत् सूक्ष्म शब्दतत्व का परिणाम है। ऐसा वैदिक विद्वान् मानते हैं। यह विसम्वाद सामान्य रूप से एक अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है। इस विषय में डा० सत्यकाम वर्मा ने विवर्त शब्द के सभी प्रयोगों की समीक्षा करते हुये यह सिद्ध किया है कि भर्तृहरि का मन्तव्य परिणामवाद से ही है, विवर्तवाद से नहीं। वर्मा जी के अनसार भर्तृहरि १८वीं कारिका में 'तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते' कह कर स्थिति, उद्गम, प्रसार और लीनता की बात एक साथ ही कर रहे हैं। १२२वीं कारिका में परिणमन और उद्गम की भावना है। ११७ में विवर्त मानते हुये शक्ति की चर्चा है। वहाँ इस विवर्त का परिणाम उच्चरित रूपों को माना गया है।

१२६वीं कारिका में भूतकालिक प्रयोग के द्वारा उत्पत्ति की चर्चा है। परिणामतः इस प्रथम श्लोक में भी इन अर्थों से समवेत रूप में ही उनका अभिप्राय है, विवर्तवाद से नहीं।[3]

पण्डित रघुनाथ शर्मा जी ने "शब्दस्य परिणामोऽयम् .... (वा० प० १/१२१)" की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—अयं सर्वोऽपि वाच्य वाचक भेद-भिन्नः संसारः, शब्दस्य सूक्ष्मस्य वाक्तत्वस्य परिणाम इत्याम्नाय विदोवेदविदोविदु-र्विदन्ति न तु वयं कल्पयामः .... तच्च सूक्ष्मं वाक्तत्वं परमाणुरूपम् परिणामि नित्यमनेकश्चेति मत्वा छन्दो इति बहुवचनम्। व्यवर्तत व्याजायत इत्यर्थः। विवर्तस्तु नात्र विवक्षितः अत्रैव परिणामि वचनविरोधात्।"[4] अर्थात् शब्द का परिणाम है, यह वेदविद् मानते हैं न कि भर्तृहरि और इस कारिका में प्रयुक्त परिणाम शब्द का वाक्य विरोध के कारण विवर्त अर्थ नहीं किया जा सकता।

डा० त्रिपाठी के अनुसार भर्तृहरि को विवर्तवाद ही अभीष्ट है। उन्होंने विवर्त के आधार पर ही विश्व के विकास का समर्थन किया है। शब्दस्यपरिणामो-ऽयमित्यादि में परिणाम शब्द का प्रयोग भी हरि ने विवर्तवाद के अर्थ में ही किया है। परिणाम शब्द विवर्त का भी बोधक है। एतद् विश्वम् व्यवर्तत' से स्वयं ही

---

१. वेदान्त और सांख्यकारिका। २. वा० पदीय १/१२१।
३. भा० त० और वा० पृ०, पृ० १०८। ४. चित्र नि०, पृ० ३४।

भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है और कई स्थानों पर हेलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है।[1]

"नेदं सांख्यनयवत् परिणामदर्शनमपि—
तु विवर्तपक्षः।"[2]

श्री हरिशंकर जोशी ने लिखा है कि कई टीकाकारों ने हरि प्रयुक्त विवर्त शब्द को शंकर के विवर्त रूप में व्याख्या करके उनकी मौलिक भावनाओं पर मार्मिक कुठाराघात किया है। उसे देखकर लेखक वेदना का अनुभव करता है और कहता है कि यदि भर्तृहरि होते तो मूर्च्छित ही हो जाते। उनके अनुसार तत्वों का जो विकास प्रकृति से लेकर अहंकार तक होता है उसे विवर्त कहते हैं और अहंकार से स्थूलभूतों और पदार्थों की विलास शैली परिणाम से होती है। अतः अव्यक्त शब्द का विकास विवर्त के रूप में होता है और जब वह व्यक्त या नाद रूप को प्राप्त होता है तब वहाँ से शब्द-तत्व परिणाम रूप में व्यक्त होने लगता है।[3]

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों को स्वीकार करते हुए लिखा है—"यह ज्ञात होता है कि दोनों ही वाद वैयाकरणों के अभिमत हैं। शब्द विवर्तवाद के अनुसार यह अर्थ रूप संसार शब्द का परिणाम या विकार है। प्रथम मतानुसार अर्थ की सत्ता अवास्तविक है और द्वितीय मतानुसार यह वास्तविक है।[4]

इस विवादग्रस्त विचारधारा में यह जानना आवश्यक है कि भर्तृहरि या अन्य आचार्यों का विवर्तवाद से क्या आशय रहा है? भर्तृहरि ने विवर्तवाद की परिभाषा इस प्रकार की है—"एकस्य तत्वादप्रयुतस्य भेदानुकारेण सत्य विभक्तान्य-रूपोपग्रीहिता विवर्तः।"[5] अर्थात् एक ही मूल तत्व कई रूपों में प्रतिभासित होता है किन्तु इस विक्रिया से मूलरूप में कोई भेद नहीं होता, वह यथावत् रहता है। जैसे—जपाकुसुम आदि के संसर्ग से स्वच्छ स्फटिक रक्तादि अन्य रूपों में प्रतिभासित होता है किन्तु उसका वास्तविक रूप स्वच्छ ही रहता है—जलाशय का जल बुद्बुद तरगों आदि अनेक रूपों में दृष्टिगत होते हुये भी वह जलरूप ही रहता है। इसी प्रकार शब्दतत्व एक ही रहते हुये भी अनेक अर्थमय रूपों में प्रतिभासित होता है। वेदान्त-सार के अनुसार विवर्त का यही लक्षण स्वीकृत है—

"अतत्वोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।
सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः॥"[6]

---

१. सं० व्या० द०, पृ० ४८०।
२. वा० प० हेला० ३/८० समुच्छेद १५।
३. प्रतिभादर्शन, पृ० ३३९। ४. अर्थ० वि० और व्या० दर्शन, पृ० ६२।
५. वा० प० हरिवृत्ति १/१। ६. वेदान्तसार, पृ० ६३ में उद्धृत।

अर्थात् अतात्विक ज्ञान (भ्रम या माया) को विवर्त और सतात्विक (परिणमित रूप) विकार को परिणाम कहते हैं। जैसे—शुक्ति में रजत का ज्ञान विवर्त है और दुग्ध का दधिरूप में परिणमित होना परिणाम है। पुण्यराज ने भी भर्तृहरि के विवर्तवाद का उक्त रूप में ही समर्थन किया है।[1] परन्तु संस्कृत साहित्य में विवर्त उक्त अर्थ में ही नियमित न होकर विकार या परिणाम दोनों अर्थों में प्राप्त होता है।[2]

सांख्य-मत में परिणाम और वेदान्त में विवर्त दोनों का प्रयोग एक अर्थ में बहुत हुआ है—"यत्सुखदःखमोहात्मकं सामान्यं तत् त्रिगुणं प्रमाणं मृदवदचेतनं चेतनस्यपुरुषस्वार्थं साधीयतुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तते।"[3] "इयं चोपोदान परिणामादि भाषा न विकाराभिप्रायेणापि तु यथासर्पस्योपादानं रज्जुरेवं ब्रह्मजगदुपादानम्।"[4] परन्तु आजकल इन दोनों शब्दों का प्रयोग पृथक्-पृथक् अर्थों में किया जा रहा है—

"वस्तुतः तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः। तदसमसत्ता को विवर्त इति वा, कारण सलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारणाभिन्न कार्यं परिणाम, तदभेदं बिनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा विवर्त परिणामयोविवेकः।"[5]

विवर्त और परिणाम शब्द से हरि के अनुसार बहुत से लोगों ने विचार किया है। जयन्त भट्ट ने 'न्यायमंजरी' में विवर्तवाद की परीक्षा करते हुये उसे समीचीन नहीं बताया है।[6] हेलाराज ने लिखा है—"एवं भूतास्तस्याः काश्च शक्तयो विद्यन्ते येन एकैव सती तथा विचित्रेण रूपेणप्रतिभासते। न च परिणतिदर्शनाभिप्रायेण अयं विकार शब्दो नित्यत्वप्रसंगात्। अपितु विवर्त पर्यायोऽयम्।"[7] मध्वाचार्य ने भी" "अथ सांख्यैराख्यात्, परिणामवादे परिपन्थिणि जागरूके कथंकारं विवर्तवादः आदरणीयो भवेत्"[8] —कहा है। इस विवर्तवाद की शैवागम के आभासवाद के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है—विरुद्ध परिमाणेषु वज्रादर्श जलादिषु। पर्वतादि सरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः यह स्वरूप शैवागम से प्रतिबिम्बित होता है—

---

१. वा० पदीय १/१ हरिवृत्ति, पुण्यराज।
२. व्या० द० और अर्थ० वि०, पृ० ६२।
३. शा० भा०, ब्र० सू० २/२/१।
४. भा० भ० ब्र० सू० १/४/२७।
५. सिद्धान्तलेश संग्रह पृ० ५८–६०, अच्युत दर्शन ग्रन्थमाला काशी सम्वत २०११।
६. न्या० म० भा० २ पृ० १०२।
७. सर्वदर्शन संग्रहः सांख्य द०, पृ० ६१७ चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी।
८. वा० प० हेलाराज, पृ० ३१।

"विश्वात्मत्वं च चिन्मयस्य प्रतिबिम्बिनाभिवदर्पणपरमार्थत्वेन भावानां स्वच्छ चिन्मात्र सततत्वंतयावस्थानात् ।"[1]

शान्तरक्षित ने तत्व-संग्रह में "अनादि निधनम्" की व्याख्या में विवर्त के स्थान पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है—

"नाशोत्पाद समालीढं ब्रह्म शब्दमयं च यत् ।
यत् तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ।।"[2]

पण्डित रघुनाथ शर्मा ने पुण्यराज के विवर्त का समर्थन करते हुए लिखा है—जैसे स्वप्नावस्था में एक ही विज्ञानात्मा भिन्नजातीय अनेक पदार्थों का अवभाषी होता है। किन्तु इससे विधानात्मा के स्वरूप की हानि नहीं होती है, क्योंकि ऐसा होने पर अनुभव के अभाव में जगने पर स्मरणानुपपति होती है, उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म अपने से अप्रच्युत होता हुआ अपनी अविद्यारूपा शक्ति के द्वारा वर्गाकार (जगत्) रूप में प्रतिभासित होता है।[3]

भर्तृहरि ने दो प्रकार का विवर्त माना है—(१) मूर्ति विवर्त, (२) क्रिया विवर्त। दिक् शक्ति से अविच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त हैं और क्रिया शक्ति से अवि-च्छिन्न विवर्त क्रिया विवर्त हैं। दूसरे शब्दों में सिद्ध पदार्थों के लिये मूर्ति विवर्त और साध्य पदार्थों के लिए क्रिया विवर्त का प्रयोग किया जाता है।[4] इसी साध्य और साधन के रूप में विभक्त होकर शब्द-ब्रह्म का विवर्त होता है —

"प्रविभक्त साध्यसाधन रूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्तः ।"[5]

यह स्वोपज्ञ टीका में किसी का मत उद्धृत है । "मूर्ति क्रिया विवर्ता-वविद्याशक्ति प्रवृत्तिमात्रम् । तौ विद्यात्मनि तत्वान्यत्वाभ्याम नाख्येयौ, एतद्धि अवि-द्याया अविद्यात्वम् ।"[6] अर्थात् मूर्ति विवर्त और क्रियाविवर्त का आधार अविद्या-शक्ति है। उक्त दोनों विवर्तों को अवस्था भेद से पं० रघुनाथ शर्मा ने चार प्रकार माना है। जब मूर्ति और क्रियाविवर्त के विपर्यास रूप का दर्शन नहीं होता है तो अविद्याशक्ति रूप ही विवर्त होता है और जब उन दोनों का दर्शन होता है तो प्रवृत्ति रूप विवर्त होता है। ये—मूर्ति और किया रूप विवर्त—दोनों ही विवर्त विद्यारूप में स्वयं अविद्यमान तथा कारण भेदाभेद से अनिर्वचनीय हैं । इस प्रकार के विवर्त को प्रति-भासित करना ही अविद्या का अविद्यात्व है। इसका वर्णन हरि ने अपनी १२ कारि-काओं में सविस्तार किया है।[7]

भर्तृहरि के मत की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने विवर्त की प्रक्रिया—दर्शाने के लिए सत्ता विवर्त का आश्रय लिया है। उनके अनुसार शब्दतत्व और सत्ता

१. शिव दृष्टि, उत्पल वृ० पृ० १४।
२. अर्थ० वि० और व्या० दर्शन में उद्धृत, पृ० संख्या ६२।
३. चित्रनिबन्धावली शब्दाद्वैत विमर्श।
४. सं व्या० द०, पृ० ४८०। ५. वा० प० हरिवृत्ति १/१२८।
६. चित्रनिबन्धावली में उद्धृत, पृ० २९। ७. चि० नि०, पृ० २९।

ही परब्रह्म रूप महासत्ता है । वह महासत्ता शक्तियों के आश्रय से षड्भाव विकारों में परिणत (विवर्तित) हो जाती है । यही साध्य विवर्त है। जब क्रमरूप का संहार (निष्पन्दावस्था) अभिप्रेत होता है तब वही सत्ता तत्व रूप में प्रकट होती है । यही मूर्ति (सिद्धया साधन) विवर्त है—

"साधनसम्पर्क हेतुक प्रतीयमान रूपा परामर्शे सत्तैव सत्वं द्रव्यमित्युच्यते इति सिद्ध-साध्य रूपो द्विधा विवर्तः सन्मात्ररूपस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि के अनुसार विवर्त अतात्विक ज्ञान को ही कहते हैं और वह अविद्याजन्य होता है तथा "ब्रह्मतत्वं शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते।"[2] के अनुसार यह अर्थजगत् ब्रह्म रूप ही है भिन्न नहीं। केवल अविद्यावशात् विविद्य रूपों में प्रतिभासित हो रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि पर शैव और अद्वैत दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा था, किन्तु उनकी विशेष अभिरुचि अद्वैत की ओर ही रही है। शैव सिद्धान्तों को भी पोषण के रूप में प्रयुक्त किया है। हेलाराज आदि व्याख्याकारों ने तो स्पष्टरूप से उन्हें अद्वैतवादी माना है—"अर्थौ विवर्ताश्रयेणाद्वैतनयं स्वयतेन सिद्धान्तयितुमुपक्रमते।"[3] उनकी अद्वैतनयता का डा० त्रिपाठी ने अनेक उद्धरणों से पुष्ट किया है। अतः यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि को वेदान्त समर्थित विवर्तवाद ही अभीष्ट था और उसी मन्तव्य से विवर्त शब्द का अनेकत्र प्रयोग किया है। परिणाम शब्द का प्रयोग भी या तो विवर्तवाद के अर्थ में प्रयुक्त है या मतान्तर प्रदर्शन के रूप में। परन्तु उन्हें सांख्य-समर्थित परिणामवाद कथमपि अभिप्रेत नहीं है।" शब्दस्य परिणामो यम्" इस कारिका में 'शब्द' का परिणाम है'—यहाँ वेदविदों के मत को दर्शाया है तथा आगे अपनी मान्यता और रुचि को प्रदर्शित करते हुये लिख दिया है—"छन्दोभ्य एव प्रथमेतद्विश्वं व्यवर्तत्।" अतः "परिणाम" शब्द का अर्थ परिणाम ही है विवर्त नहीं। किन्तु उससे अन्य मत का दर्शन कराया गया है और अपने मत को विवर्तवाद से ही उन्होंने अभिहित किया है। सूक्ष्म वाक्तत्व क्रमशः स्थूल शब्द के रूप में विवर्तित होता है। उसी चिद्रूप वाक्-तत्व का विवर्त अर्थजगत् है।[5]

शब्दतत्व ब्रह्म ही अक्षरों या वाक्यों का निमित्त तथा उपादान कारण है। अतएव उसे (अक्षर) कहा गया है—"शब्द-तत्वम् यदक्षरम्।" इस विश्व (अर्थ रूप जगत्) की निबन्धनी शक्ति शब्द के ही आश्रित है। अतः शब्द ही आदि-कारण है—"शब्देष्वाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्यनिबन्धिनी।"[6] पूर्व परामृष्ट परावाक् को हरि ने

---

१. वा० प० ३/ जातिसमुद्देश्य ३६। टीका।

२. वा प० द्र० समु० १/—

३. वा० प० तृतीयकाण्ड सम्बन्ध समुच्छेद ६१ वीं कारिका की भूमिका।

४. सं० व्या० द०, पृ० ४८२। ५. वा० प० क्रमशः १/११८ व १/११६।

६. वा० प० क्रमशः व १/११६।

ज्योतिरूपा माना है—"स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी।"[1] भर्तृहरि ने प्रयोक्ता के अन्तःस्थ शब्द को महान् ऋषभ के रूप में कल्पित करके उसी का परब्रह्म से सायुज्य स्थापित किया है—

"अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दान्तरमवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तं वृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥"[2]

"चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः" से तुलनीय है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—व्याकरण हेतुक शब्द के संस्कृत ज्ञान के द्वारा चित्त शुद्ध होता है, ततः ज्ञानोत्पत्ति होती है और ज्ञानोत्पत्ति से मोक्ष होता है—

"तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
औपनिषदस्तस्यतत्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ॥"[3]

इस प्रकार भर्तृहरि ने वेदान्त प्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद की स्थापना की है। शब्दब्रह्म का ही विवर्त सम्पूर्ण जगत् है और इस विवर्त का कारण अविद्या शक्ति है। उस अविद्या के नाश से ब्रह्म की प्राप्ति होती है और अविद्या का नाश शब्द के तात्विक ज्ञान से होता है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है—"इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।"[4] क्योंकि शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति ही तो मोक्ष है। इनका मत शैवागमों से सम्पुष्ट अवश्य है, किन्तु इनकी प्रतिपादन शैली अपनी है और आधार वेद तथा उपनिषदों का है। शब्द-ब्रह्म के अतिरिक्त उन्होंने अन्य किसी परब्रह्म की सत्ता नहीं मानी है तथा परिणामवाद भी उनका मन्तव्य नहीं है। अतः उन्हें शब्दाद्वयवादी कहा जा सकता है। पं० रघुनाथ शर्मा ने भी उन्हें विशेष तर्कों एवं प्रमाणों के साथ शब्दाद्वयवादी सिद्ध किया है।[5]

वैयाकरण नागेश ने भी शब्दब्रह्म की स्थिति, सत्ता और अस्तित्व का सम्यक् विवेचन किया है, परन्तु उनका दृष्टिकोण तान्त्रिक मत से विशेष प्रभावित होने के कारण भर्तृहरि से भिन्न है।" उन्होंने लघु मंजूषा के शब्द-शक्ति निरूपण में सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन करते हुये लिखा है कि महाप्रलय के समय भुक्त-भोग्य संसार के प्राणियों का माया में प्रलय हो जाता है और माया (ब्रह्म की शक्ति) का लय चेतन ब्रह्म में हो जाता है। लय पुनर्भावात्मक होता है, आत्यन्तिक नहीं, अन्यथा पुनः सर्ग नहीं हो सकता है। ततः प्राणियों के अपरिपक्व कर्म जब कालवशात् परिपक्व हो जाते हैं, तब उनका फल प्रदान करने के लिये चेतनशक्ति रूप माया और तदुपहित पुरुष की उत्पत्ति होती है। तब 'एको हं बहुस्याम्' के अनुसार परमेश्वर की सिसृच्छात्मिका माया-वृत्ति पैदा होती है और उस माया-वृत्ति से बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। इसी को शक्तितत्व कहते हैं। उस बिन्दु का अचिद् अंश बीज है, चिदचिन

---

१. वा० प०, १/११६। २. वही, १/१३०।
३. वही, १/१३३। ४. वा० प० १/१६।
५. चि० नि० शब्दाद्वय विमर्श।

न्मिश्र अंशनाद और चिद् अंश बिन्दु है। अचिद् शब्द से शब्दार्थोमयरूप संस्कार रूप अविद्या का ग्रहण होता है। इसी बिन्दु से शब्द-ब्रह्म नामक, वर्णादि विशेष रहित, ज्ञान प्रधान सृष्ट्युपयोगी तथा अवस्था-विशेष से युक्त चैतन्य मिश्रित नाद की उत्पत्ति होती है। यही जगत् की उत्पत्ति का उपादान है। यही 'रव' परा आदि नामों से अभिहित होता है। यही शब्द-ब्रह्म है—"प्रलये नियतकाल परिपाकानां प्रलयाल्लीन सर्वजगत्का माया चेतने ईश्वरे सीयते.........ततो परिपक्व प्राणिकर्मभिः कालवशात् प्राप्त परिपाकः स्वफलप्रदानाय भगवतो बुद्धिपूर्विका मायापुरुषी प्रादुर्भवतः । ततः परमेश्वरस्य सिसृच्छात्मिका मायावृत्तिर्जायते। ततो बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणं जायते इदमेव शक्तितत्वम् । तस्य विन्दोचिदंशो बीजम्। चिदचिन्मिथोऽंशो नादः । चिदंशो बिन्दुरिति अचिच्छछब्देन शब्दार्थोमयसंस्काररूपा विद्योच्यते। अस्माद बिन्दोः शब्द ब्रह्मापरनामधेयम्, वर्णादिविशेषरहितम्, ज्ञातप्रधानम् सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपम्, चेतन्मिश्रम्, नादमात्रमुत्पद्यते। एतज्जगदुपादानेव 'रव', 'परा' आदि शब्दैर्व्यहियते।"[१]

इसका सविस्तार वर्णन 'प्रपंच सारतन्त्र' तथा 'काशीखण्ड' में किया गया है।[२] भास्कर राय के 'ललित शास्त्र' ज्ञान की व्याख्या 'शाखातिलक' तथा 'सूत संहिता' में भी वर्णन किया गया है।[३]

नागेश और भर्तृहरि में अन्तर

इस प्रकार नागेश के द्वारा प्रतिपादित शब्द-ब्रह्म परब्रह्म व्यतिरिक्त ब्रह्मांश रूपचैतन्य सिद्ध होता है। वह मायावृत्ति (त्रिगुणात्मिका) से उत्पन्न होता है। अतः सृष्टि पर्यन्त ही अनादि निधन होता है। नागेश के अनुसार वह उत्पत्ति और विनाश-धर्मी है। वह परब्रह्म से अतिरिक्त अपर शक्ति है। जगत का कारण है। शब्द-ब्रह्म की सिद्धि परब्रह्म की प्राप्ति में साधन है साध्य नहीं। भर्तृहरि के शब्द-ब्रह्म को भी नागेश ने इसी रूप में खींचा है, परन्तु नागेश का यह मत पूर्वोक्त भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित शब्द-ब्रह्म से भिन्न है। भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म को सर्वथा अनादि, अनन्त, अनुत्पादि, अविनाशी माना है। भर्तृहरि के अनुसार परब्रह्म और शब्दब्रह्म एक ही सत्ता है, दो नहीं। अतः शब्द-ब्रह्म की सिद्धि परब्रह्म की प्राप्ति है। शब्द-तत्व को जानने वाला ही परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। (वा० प० १-१-१३२)

समीक्षा—यद्यपि ब्रह्मतत्व का विचार दर्शनशास्त्र का विषय होने के कारण 'इदमित्थम्' तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रयोगशाला का विषय नही, अपितु अपने-अपने बौद्धिक चिन्तन का ही परिणाम है, तथापि अद्यतनीन वैज्ञानिक कुछ ऐसा प्रयोग और परीक्षित तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं जिसके आधार पर शब्द-ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता को अवश्य बल मिल रहा है। न्याय-वैशेषिक्त के अनुसार पंचभूतों में आकाश को एक नित्य और विभु भूत माना गया है। तथा शब्द को आकाश का गुण—"शब्द गुणो यमाकाशः।"

---

१. वै ल० म० पृ० १४०–४५। २. वही, टीका, रत्नप्रभा।
३. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ६४।

आधुनिक वैज्ञानिक भी आकाश को ईथर तत्व से निर्मित मानते हैं और ईथर शब्द तरंगों के वहन और संचार का माध्यम है। इस प्रकार आकाश और तन्निष्ठ गुण शब्द भी नित्य तथा अविनाशी माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त ईथर में उत्पन्न विभिन्न तरंगों के द्वारा ही शब्द का धारण और प्रसारण होता है। ये तरंगें निरन्तर फैलती एवं धीमी भी होती जाती हैं किन्तु नष्ट नहीं होती। इससे शब्द-तत्व की बृहणशीलता तथा व्यापकता सिद्ध होती है। आजकल ब्रह्माण्ड किरणों को भी ईथर के स्थान पर शब्द की तरंगों का वाहक माना जाने लगा है।[1]

पाश्चात्य विद्वान् एरनेस्ट ने वर्ड मैजिक में लिखा है—

(i) As the word is first in origin, it is also supream in power. (Page 48)

(ii) "The word apears in league with the highest lord of creation." (P. 45) Language and with by Ernest Cassiror translated by S. K. Hanger. Dover Publication Inc. 1646.

शब्दतत्व पवित्र ज्योतिरूप है। उसी को "तद्वैद्युतमूतेज." कहा जाता है। ज्योति रूप शब्द अणु या परमाणुरूप में विद्यमान रहते हैं। जो अणु है, वही ज्योति है और वही शब्द है। ये ज्योतिरूप शब्दाणु वस्तुतः सूक्ष्मभूत ज्ञानाणु हैं। ये अणु नित्य क्रियाशील रहते हैं। ये शब्दाणु निर्मल, स्वच्छ, शुद्ध ज्योतिर्मय, प्रतिबिम्बग्राही, पारदर्शी, निर्विकार, सड़न, गलन से रहित, आनन्दमय, ज्ञानमय, बुद्धिमय, प्रकाशशील चिदाधार नित्यक्रियाशील, ब्रह्माण्ड के समस्त स्वरूपों की शक्ति के स्रोत और शान्त स्वभाव वाले होते हैं।[2] भर्तृहरि शब्दब्रह्म की इसी अवस्था का दूसरा नाम प्रतिभा भी देते है। इसी शब्द के लिये ही कहा गया है—

"वागैवार्थं पश्यति, वाग्ब्रवीति, वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति, वाचैव विश्वम् बहुरूपम् निबद्धम्, तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते ।"………"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वंभभूत यच्चमर्त्यम् ।"………………छन्दोमयीभिर्वाचामिबहुधैव विवेशतम् ।"

शांकरभाष्य में शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुये लिखा गया है—हे सत्यकाम। यह जो ओंकार है वही निश्चय ही पर और अपर ब्रह्म है। यथा—"एतद्वैयसत्यकाम पर-चापर-चब्रह्म यदोंकारस्तस्माद विद्वानेतेनैवायत नेनैकतामन्वेति ।"

इस ओंकार रूप परब्रह्म और अपर ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करते हुये सिद्धान्ती का कथन है—"परमेव ब्रह्मोहाभिध्यातव्यम् उपदिश्यते ।"[3] अर्थात् ओंकार रूप शब्दब्रह्म और परब्रह्म एक ही सत्ता है, भिन्न नहीं। अतः ओंकार एवेदम् सर्वम्"[4] के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ओंकार रूप है और वहीं ओंकार शब्द ब्रह्म है।

———

१. भा० त० और वा० प० पृ० ११२ पाद टिप्पणी भी।

२. प्रतिभादर्शन, पृ० ३३८–३९।

३. ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य, प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद, वाराणसी प्रकाशन।

४. छान्दोग्योपनिषद २/२३/३।

तृतीय कल्प
अर्थ-विमर्श

अर्थलक्षण एवं स्वरूप-विमर्श

पूर्व अध्याय में शब्द के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। लोक में शब्द का प्रयोग अकारण या अनर्थक नहीं होता है। शब्द का प्रयोग सर्वदा वक्ता और श्रोता के बीच एक भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही होता है, जिज्ञासा और विवक्षा दोनों के उपशमन के लिए होता है तथा प्रयोक्ता और ग्रहीता के मध्य एक उद्देश्य के साधक के रूप में प्रयुक्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है—शब्द-रूप साधन का प्रयोग अर्थरूप साध्य के लिए किया जाता है। अतएव वाक्यपदीयकार ने लिखा है—

"शब्दः कारणमर्थस्य........."[१]

शब्द अर्थज्ञान का कारण है। अपि च—"उत त्वः पश्यन्न ददर्श"[२] तथा "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो"।[३] इन मन्त्रों में भी शब्द का वास्तविक दर्शन और श्रवण का अर्थ शब्द की अर्थभावना में निहित है।

अर्थ के महत्व का प्रतिपादन उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही यास्क ने किया है—"अर्थनित्यः परीक्षेत्"।[४] क्योंकि मूल वस्तु तो अर्थ ही है, शब्द तो उसका साधन-मात्र है। अतएव ध्वनिमात्र को शब्द नहीं कहा जा सकता, अपितु अर्थवहन में सक्षम ध्वनि-समूह को शब्द माना जाता है। जैसे प्रयोक्ता की अर्थ-भावनात्मक बुद्धि शब्द में ही प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार ग्रहीता की बुद्धि प्रतिपाद्य के ग्रहण के लिए भी शब्द में ही प्रवृत्त होती है—

"यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धि शब्देष्वेव प्रवर्तते ।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते ॥"[५]

वक्ता यत्किञ्चिद्रूप अर्थ को श्रोता तक पहुँचाने के लिए ही शब्द का प्रयोग करता है। अर्थ सम्प्रेषणीयता ही शब्द का मुख्य उद्देश्य है। यदि शब्द इस अर्थवहन में अक्षम हो तो वह शब्द नहीं, अपितु ध्वनि अथवा आवाज मात्र कहा जा सकता है।

अग्नि में दाहकता शक्ति होती है। यदि अग्नि की यह दाहकता-शक्ति समाप्त हो जाये तो वह अग्नि नहीं, अपितु राख कहलायेगी। इसी प्रकार यदि शब्द अपनी अर्थ-बोधनिका-शक्ति से रहित हो जाता है तो वह 'शोर' अथवा 'चिल्लाना' मात्र कहलायेगा। अतः यास्क ने कहा है कि जिस प्रकार बिना अग्नि के शुष्क ईंधन प्रज्वलित

---

१. वा० प०, ३/३/३२ । २. नि०, २/१/२। ऋग्वेद १०/७१/४ ।
३. ऋग्वेद, १०-७१-७ । ४. नि०, २/१/१ ।
५. वा० प० १/५४ ।

नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना अर्थ समझे जो शब्द दुहराया जाता है वह कभी भी अभीप्सित अर्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता—

"यद् गृहीतमविज्ञातम् निगदनेनैव शब्दयते ।
अनग्नाविव शुष्केन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।[1]

+ + +

अपि च—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति विधूनतापाप्मा ।।"[2]

अर्थात् अर्थज्ञान रहित वेदों का अध्ययन करने वाले भारवाही मात्र होते हैं। अर्थ को जानने वाला वेदाध्येता ही समस्त कल्याण को प्राप्त करता है और वही निष्कलुष होकर ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी होता है ।

अतः अर्थ की महत्ता को दृष्टि में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि शब्द अर्थ की अभिव्यक्ति का साधनमात्र होने से भाषा की आत्मा अर्थ है और शरीर शब्द। अर्थ के इसी महत्व के कारण गोपथ ब्राह्मण में शब्द की अपेक्षा अर्थ को महत्तर बताया गया है[3]—"रूपसामान्यादर्थसामान्यं नेदीयम्" तथा शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी ।"[4] अर्थात् वाग् (वाणी) मन (भाव-अर्थ) से लघु (हेय) है । अतः भाषावैज्ञानिक एवं व्याकरणिक दृष्टि से अर्थ के इस महत्व के कारण ही भारतवर्ष में अर्थविज्ञान प्रारम्भ से ही भाषाविज्ञान एवं व्याकरण दोनों का विचार-क्षेत्र रहा है । अर्थ का स्वरूप क्या है ? अर्थ-ज्ञान के साधन क्या हैं ? बाह्य (दृष्टिगत) अर्थ के अतिरिक्त बौद्ध अर्थ की भी सत्ता है ? देश-काल आदि के प्रभाव से शब्द का अर्थ परिवर्तनशील है, इन भाषावैज्ञानिक प्रश्नों के अतिरिक्त अर्थ का पारमार्थिक दृष्ट्या भी विवेचन किया गया है । अर्थ और शब्द में किस प्रकार का सम्बन्ध है ? दोनों की सत्ता किम्मूलक है ? भारतीय मनीषियों द्वारा अर्थ की नित्यता और शब्दार्थ की एकरूपता पर भी पर्याप्त चिन्तन किया गया है, जिसकी समीक्षा हम आगे करेंगे ।

प्रकृत में सबसे पहले हम अर्थ के स्वरूप और उसके लक्षण के विषय में विचार करना चाहेंगे । अर्थ्यते याच्यते इति अर्थः, 'अर्थ याच्ञायाम्' धातु से कर्म में घञ प्रत्यय करके 'अर्थ' शब्द निष्पन्न होता है । अथवा अर्थते ज्ञायते हेयत्वेनोपादेयत्वेनोपक्षणीयत्वेन वा अर्थः गतौ धातु से औणादिक 'घ्' प्रत्यय करके अर्थ शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् प्रयोक्ता और ग्रहीता 'शब्द' से कुछ याञ्चा की दृष्टि से ही शब्द तक पहुँचते हैं। यह याञ्चा ही प्रयोग भावना है । 'अर्थ' शब्द का मौलिक अर्थ है—मांग या उपस्तुति । यह मांग बक्ता और श्रोता के लिए एक-सा महत्व रखती है ।[5]

---

१. नि० १/१८ । २. नि, १/१८ ।
३. गो० ब्रा० १/१/२६ । ४. शतपथ ब्राह्मण, १/२० ।
५. भा० त० और वा० प०, पृ० १५७ ।

पाणिनि ने 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[1] सूत्र में अर्थवान् शब्द तीन प्रक र के बताये हैं—धातु, प्रत्यय और प्रातिपदिक, किन्तु पाणिनि ने अर्थ का कोई लक्षण नहीं किया है। अनन्तरकालीन आचार्य पतञ्जलि, कात्यायन और भर्तृहरि आदि ने अवश्य ही अर्थ का लक्षण किया है। कात्य यन ने अर्थ की परिभाषा करते हुये लिखा है—

"सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः"[2]

इस लक्षण में 'भाव' शब्द के तीन बार प्रयोग किये जाने के आशय को स्पष्ट करते हुये पतञ्जलि ने लिखा है—"एकेन शब्दः प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामथः यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः।'[3] अर्थात् प्रथम 'भाव' शब्द का अर्थ है—'शब्द' तथा अन्य दो भाव शब्द का अर्थ है—'अर्थ'। अतः उच्चरित शब्द से वस्तु गुण या क्रिया-रूपा प्रवृत्ति ही अभिव्यक्त होती है और श्रोता के द्वारा अवगत वह अर्थ-प्रवृत्ति ही 'अर्थ' है। यथा—कम्बुग्रीवादिमान् के लिए घट शब्द। कहीं-कहीं एक शब्द अनेक अर्थों के लिए और कहीं-कहीं अनेक शब्द एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होते हैं। कैयट और नागेश ने भी उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुये अर्थ का लक्षण किया है कि जिस प्रवृत्ति निमित्त से अर्थात् जिस वाच्यरूप अर्थबोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही, प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ उन शब्दों का अर्थ है।[4]

भर्तृहरि ने अर्थ शब्द का अत्यन्त व्यावहारिक लक्षण करते हुये लिखा है—

"यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थस्तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥"[5]

अर्थात् सामान्य रूप से जिस शब्द के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उस शब्द का अर्थ है। इसके अतिरिक्त 'अर्थ' का कोई दूसरा लक्षण नहीं। प्रायः लोक में अर्थ का यही लक्षण स्वीकृत है।

उपर्यांकित भर्तृहरि, कात्यायन तथा पतञ्जलि के मतों में एक मौलिक भेद है। कात्यायन तथा पतञ्जलि ने प्रयोक्ता के प्रवृति निमित्त को ही शब्दार्थ माना है और भर्तृहरि ने शब्द के श्रवणोत्तर श्रोता की प्रतीति विशेष को शब्द का अर्थ माना है। सामान्य रूप से अभेद होते हुये भी श्रोता की भ्रान्ति पर वह भेद स्पष्ट हो जाता है। हरि के अनुसार 'यथा सास्ना लांगूलमान्' गो के अर्थ में प्रयुक्त गो शब्द तदर्थ का बोधक होने पर ही शब्दार्थ सही होता है और पतञ्जलि के अनुसार भ्रान्त अर्थ (सास्नालांगूलातिरिक्त) की प्रतीति होने पर भी अर्थ का लक्षण घटित हो जाता है। अर्थात् भ्रान्त अर्थ शब्दार्थ हो सकता है।

कुमारिल भट्ट ने अर्थ का लक्षण करते हुये लिखा है—

---

१. पा० सू० १/२/४५।
२. म० भा० ५/१/११९।
३. म० भा० ५/१/११९।
४. म० भाष्य, प्रदीपोद्योत ५/१/११९।
५. वा० प० २/३३०।

"तत्रयोऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेत्ततो।
अन्यथानुपपत्या हि शक्तिस्तथावतिष्ठते॥"[1]

अर्थात् जो अर्थ जिस शब्द के साथ वाच्यरूप अन्वय सामर्थ्य से प्राप्त होता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। अर्थ का लक्षण करते हुये जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में लिखा है—

"अयमस्य पदस्यार्थः इति केचित् स तेन वा।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः।"[2]

अर्थात् जिस शब्द का जिस अर्थ में वृद्ध-व्यवहार से संकेत किया जाता है वही उस शब्द का अर्थ है अथवा जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति हो, वही उसका अर्थ है। यथा—कम्बुग्रीवादिमान् का 'घट' शब्द से संकेत होता है और घट के कहने से उसी (कम्बुग्रीवादिमान्) अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार जयन्त भट्ट का भी लक्षण भर्तृहरि के अनुसार ही है।

महाभाष्यकार ने शब्द की परिभाषा करते हुये लिखा है—

"प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः।"[3]

इस लक्षण का विलोम दिशा में विवेचन करने पर पतञ्जलि का यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि लोक में उच्चरित (ध्वन्यात्मक) शब्द से जो अवबोध्य है, वही अर्थ है। उक्त भाष्योक्ति का ही विपरीत लक्षण भर्तृहरि ने अर्थ के लिए किया है—"यस्मिंस्तूच्चरिते........" इत्यादि।

डा० सत्यकाम ने भी इसका अर्थ करते हुये लिखा है—

वस्तुतः स्फोट एक अवस्था अथवा प्रक्रिया है और अर्थ एक उपलब्धि या प्रतीति। स्फोट प्रतीति को नहीं कहते, वह प्रतीति को देने वाला अवश्य है। अर्थ उस प्रतीति को कहते है जो स्फोटकाल में उपलब्ध होती है।[4] अतः पूर्वोक्त कृत अर्थलक्षण में असंगति नहीं है, अपितु उनका आशय वक्तृ एवं श्रोतृ उभयनिष्ठ है। वक्ता जिस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जिस शब्द का प्रयोग करता है, श्रोता उस शब्द के श्रवणानन्तर उसी अर्थ का ज्ञान करता है, वही अर्थ उस शब्द का अर्थ माना जाता है। यदि इस प्रकार वक्ता और श्रोता में एकरूपता न हो तो लोक-व्यवहार ही सम्भव नहीं होगा तथा भाषा अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगी। जहाँ पर वक्ता और श्रोता में एकरूपात्मक अर्थ का संकेत नहीं रहता वहाँ शब्द का प्रयोग अनर्थकारी हो जाता है।

डा० सत्यकाम ने लिखा है—"शब्द में स्थित प्रयोग भावना ही सामान्यतः

१. श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, १६०।
२. न्यायमञ्जरी, पृ० २६६।
३. म० भाष्य पश्प०, पृ० १२, १४, मोतीलाल प्रकाशन १६६७।
४. भा० त० और वा० प०, पृ० १५।

अर्थ कही जाती है।[1] आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि कुछ कहने पर उससे जो कुछ समझा जाये, उसे अर्थ कहते हैं।[2] सी० के० ओग्डेन० तथा आई० ए० रिचड्र्स ने भी 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुये लिखा है कि जिन बहुत सी परिस्थितियों में किसी उक्ति या क्रिया का प्रयोग करने पर सदा समान लक्ष्य प्रकट हो और जिन परिस्थितियों में उस क्रिया या उस उक्ति का प्रयोग न हो, उसमें वे लक्षण न दिखाई दें, तब उनका योग अर्थ ही कहलाता है।[3]

एतावता उपरिलिखित भारतीय मनीषियों के अर्थ-लक्षण को इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रयोक्ता जिस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है, उभयनिष्ठ (वक्तृ, श्रोतृ) सकेतग्रह के अनुसार, उस अभिप्राय को ग्रहीता द्वारा अवगत कर लिए जाने पर, उभयनिष्ठ प्रयोगभावना को ही अर्थ कहा जा सकता है। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा भी अर्थ का यही लक्षण मान्य है और लोकव्यवहारानुकूल भी है।

अर्थ स्वरूप—ऊपर कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ एक-दूसरे से सम्बन्धित और एक-दूसरे के अधीन हैं। शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है और अर्थ-ज्ञान के लिए शब्द का प्रयोग होता है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि शब्द का जो अर्थ होता है, उस अर्थ का स्वरूप क्या है। शब्द और अर्थ 'वस्तु' में एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जिसे शब्द की समर्थता या उसका अर्थ कहा जा सकता है। अर्थ, शब्द और 'वस्तु' (Object) से भिन्न है, क्योंकि इसका अस्तित्व शब्द और वस्तु के अतिरिक्त होता है। अर्थ शब्द (ध्वन्यात्मक) और वस्तु की भाँति भौतिक नहीं है। 'घट' शब्द के उच्चारण से घट रूप अर्थ की प्रतीति तो होती है, किन्तु घट रूप अर्थ की उपस्थिति नहीं होती। अतः किसी शब्द के उच्चारण से उससे सम्बन्धित अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह मानसिक या बौद्धिक होती है और उस अर्थ ज्ञान के अनन्तर वस्तु में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और वस्तु, ये तीन तत्व हैं जिनका शाब्दिक प्रक्रिया में अस्तित्व सिद्ध होता है। इसका समर्थन "स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा"[4] पाणिनि के सूत्र तथा उसके भाष्य से हो सकता है—

"अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्? अर्थः शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते। गामानय दध्यशानेति, अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते।"

वस्तुतः 'गाय लाओ', 'दही खाओ' ऐसा कहने पर गाय लाई जाती है, दही खाया जाता है किन्तु न तो गो पदार्थ लाया जाता है और न ही दधि पदार्थ खाया

---

१. भा० त० और वा० प०, पृ० १४८।

२. वाग्विज्ञान, पृ० सं० २९०।

३. वही, उद्धृत पृ० २९०।

४. पा० सू० १/१/६८।

जाता है, अपितु—'गामानय, दध्यज्ञान' शब्द के उच्चारण के अनन्तर श्रोता को उन पदार्थों का ज्ञान होता है तब उस ज्ञात अर्थ-सदृश या तत्सम्बन्धित वस्तु का आनयन या भक्षण होता है। अतः स्पष्ट है कि शब्दार्थ बाह्य वस्तु रूप नहीं है, अपितु वह स्वयं मानस है, परन्तु शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के समान ही उस मानस-पदार्थ और बाह्य वस्तु का भी सम्बन्ध है। इसका विशेष स्पष्टीकरण बौद्धार्थ के प्रसंग में किया जायगा।

शब्द के अर्थ को किसी समानार्थक शब्द से भी अभिहित किया जाता है। लोक में 'गो' शब्द का अर्थ 'धेनु' भी बताया जाता है। अतः 'अर्थ' शब्दगत अर्थावभास है, बाह्य अर्थ नहीं है। 'अर्थ' होता है—प्रत्यय की पहिचान जो द्रव्य या भाव के विविध लक्षणों पर आधारित होता है। अर्थरूप में स्मरण किये गये विभिन्न समानार्थक शब्दों में वह पहचान एक सी रहती है। इसीलिए ऐसे शब्दों को एकार्थक या समानार्थक भी कहा जाता है।

अर्थात् प्रयोक्ता अभिधेय की स्पष्टता के लिए शब्द में प्रवृत्त होता है। तदनन्तर ग्रहीता उसी अभिधेय की उपलब्धि के लिए शब्द का आश्रय ग्रहण करता है। शब्दोच्चारण प्रकरण में कहा जा चुका है कि वस्तु-बिम्ब से प्रेरित बुद्धि अभिव्यंग्य की कामना से प्राणादि के साथ प्रवृत्त होती है और उसी का परिणाम शब्द होता है। इसी का विपरीत क्रम अर्थ होता है।

प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि (स्वयं अभिव्यक्त करने की स्थिर भावना) एवं ग्रहीता का व्यवसाय (प्रयोक्ता के मनोभाव को समझने का निश्चय) दोनों शब्द में ही केन्द्रित होते हैं। प्रयोक्ता अपने बुद्धिस्थ अर्थ को तदध्यासित शब्द के द्वारा श्रोता तक पहुँचने का यत्न करता है और ग्रहीता उसकी प्रतिक्रिया में उस शब्द के द्वारा तत्शब्दाध्यासित अर्थ को ग्रहण करने का यत्न करता है। इनमें प्रयोक्ता और ग्रहीता के इन्हीं प्रयासों को प्राग्बुद्धि तथा प्रयोग-बुद्धि कहा जा सकता है। यदि प्रयोक्ता की इसी प्रतिपाद्य (प्राग्-भावना) तथा ग्रहीता की प्रतिपादित भावना (प्रयोग-भावना) को अर्थ का स्वरूप कहा जाये तो असङ्गत नहीं होगा।[1] अतः भर्तृहरि ने कहा है कि अर्थ का कारण शब्द है। शब्द से ही अर्थ प्रकाशित होता है तथा बुद्धिस्थ अर्थ से शब्द की प्रतीति होती है—

"शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते॥"[2]

भाष्यकार ने भी कहा है—शब्दपूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है—"शब्दपूर्वको ह्यर्थं सम्प्रत्ययः."[3] अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थ का सम्प्रत्यय होता है और उस सम्प्रत्यय के अनुसार ही प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। भाष्यकार ने आगे लिखा है कि

१. भा० त० और वा० प०, पृ० १४८।
२. वा० प० ३/३/३२–३३।
३. म० भा० १/१/६७।

उच्चरित शब्द के अर्थ से अवगत होने पर बुद्धिकृत पौर्वापर्य के आधार पर व्यवहार सम्पादित होता है।[1]

भर्तृहरि शब्द और अर्थ को एक ही वस्तु के दो धर्म मानते हैं। बुद्धि द्वारा ग्रहण होते ही वे दोनों एक हो जाते हैं। शब्द उस धर्म को कह सकते हैं जिसका उच्चारण से सम्बन्ध है और अर्थ वह धर्म है जिसका सम्बन्ध ग्रहण से है —

"एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।[2]

इस प्रकार हम व्यवहार में शब्द का उच्चारण करते हैं और उसका अर्थ समझते हैं वस्तु (विषय) और शब्द के बीच के सम्बन्ध को समझना ही अर्थ है, क्योंकि वक्ता की यही समझ उसको शब्दोच्चारण में प्रवृत्त करती है और श्रोता को उच्चरित शब्द से प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में। अतः उस समझने को ही अर्थ कहा जा सकता है। गाय शब्द का अर्थ एक वस्तु विशेष (सास्नालांगूलक कुदखुरविषाणवती) हुआ। जब कोई व्यक्ति गाय शब्द और गाय रूप वस्तु के बीच के सम्बन्ध को समझ लेता है, तब कहा जाता है कि वह गाय शब्द का अर्थ समझता है। अर्थात् 'गो' रूप वस्तु के आकार-प्रकार का एक ढाँचा 'गो' शब्द के श्रवण के बाद जो बन जाता है यही उसकी समझ हुई और वही समझना उसका अर्थ होता है। अतः कहा जा सकता है कि उच्चरित शब्द के ग्रहण से जिस आकार-प्रकार रूप (A Form) या भाव के स्वरूप का पूर्वाभ्यास के कारण बुद्धि में चित्र बन जाता है वही 'अर्थ' है। बुद्धिगत अर्थ ही शब्द का अर्थ है, बाह्य नहीं। बुद्धिगत शब्द, बुद्धिगत अर्थ का ही बोध कराता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बौद्ध है। बाह्य वस्तुएँ भ्रमोत्पादन द्वारा बौद्ध अर्थ से सम्बद्ध हैं। विकल्पात्मक अर्थ भ्रम के कारण दृश्य-वस्तु के एकाकार होकर यद्यपि बौद्ध हैं तथापि वह बाह्य वस्तु में अध्यास को प्राप्त होकर बाह्य अर्थ का बोध कराता है—

"यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तु निबन्धनः।
स बाह्यवस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ॥"[3]

\+ +

"बुद्ध्युपारूढ़ एव शब्दस्यार्थो न बाह्यः।"[4]

उक्त भारतीय मतों को आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। जोनलियोन्स अर्थ के सम्बन्ध में लिखता है कि यदि हम मेज, गो आदि का अर्थ परिभाषित भी कर दें, उनके धैर्य गुण के आधार पर, तब भी सत्य, सौन्दर्य और साधुतु आदि का भौतिक प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका अनर्थक अभिलक्षण नहीं किया जा सकता। अतः उन शब्दों के अर्थज्ञान के लिए उनसे सम्बद्ध उस सम्प्रत्यय और विचार को ही ग्रहण करते हैं जो इन शब्दों के सम्बद्ध भाषा के वक्ताओं के मन

---

१. महाभाष्य १/४/१०९।
२. वा० प० २/३१।
३. वा० प० ३/१३४।
४. वही, पुण्यराज टीका।

में इन शब्दों के सहचारी रूप में स्थिर रहते हैं। इस प्रकार सामान्यतः अर्थों को सम्प्रत्यय या विचार ही कहा जा सकता है।[1] वह आगे भी लिखता है कि मध्ययुगीन वैयाकरणों द्वारा सूचित विभेद के अनुसार वाचिक शब्द का आकार किसी भाषा के बोलने वालों के मन में उसके सहचारी सम्प्रत्यय के कारण द्रव्यों को संकेतित करता है और इस दृष्टि से विचार करने पर सम्प्रत्यय ही शब्द का अर्थ ठहरता है।[2]

इस प्रकार बाह्य या आन्तरिक वस्तु (या भाव) रूप अर्थ के बीच सम्प्रत्यय (समझ) को ही शब्दार्थ कहा जा सकता है। वह शब्दार्थ शब्द और अर्थ से सर्वथा भिन्न होते हुये भी दोनों को जोड़ने (या सम्बन्धित करने) की कड़ी है। अतएव उसे सम्प्रत्यय, समझ या पहचान रूप कहा जाता है।

अर्थावगम हेतु विमर्श

शब्द से बोध्य अर्थ बौद्ध एवं बाह्य दो प्रकार का होता है। शब्द का प्रयोग अर्थ के सम्प्रत्यय के लिए होता है। शब्द की इसी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्ययनार्थं प्रयुज्यते।"[3]

शब्द से प्रतीयमान अर्थ की उपस्थिति अथवा शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष के ही ग्रहण का अभ्यास किन साधनों या कारणों से होता है? कहा जा चुका है कि शब्द में संकेतग्रह होता है और वही तन्निष्ठ शक्ति का बोधक होने से अर्थज्ञान के प्रति कारण होता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह संकेतग्रह या 'इस पद से इसी अर्थ का ग्रहण हो' इस प्रकार का निश्चय या अभ्यास किन-किन साधनों से होता है? यही विवेचन का विषय है। भाषावैज्ञानिकों के द्वारा यह स्वीकृत किया जा चुका है कि भाषा एक सामाजिक वस्तु है वह परम्परा से प्राप्त होती है, किन्तु पैतृक सम्पत्ति की भाँति नहीं, अपितु वह समाज से अर्जित होती है।[4] बालक जिस भाषा-भाषी समाज में रहता है, वह भाषा उसे सहज रूप से प्राप्त हो जाती है अर्थात् उस भाषा में किस शब्द से किस अर्थ का बोध होना चाहिये यह उसको व्याकरण-कोश आदि की सहायता के बिना भी ज्ञात हो जाता है। इसी को मातृभाषा कहते हैं।

दूसरी ओर व्यक्ति जब मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा का अध्ययन करता है तो व्याकरण-कोश आदि शास्त्रों की सहायता से उक्त प्रकार का निश्चय कर पाता है। ऐसा लोक में देखा जाता है। इसी आशय की पुष्टि करते हुये महाभाष्यकार

१. सैं० भा० विज्ञान, पृ० सं० ४०३।
२. वही, पृ० सं० ४०६।
३. मी० सूत्र १-३-८ की टीका।
४. भाषाविज्ञान, डॉ० भोलानाथ तिवारी पृ० ४५, ४६।

ने लिखा है कि शब्द का प्रयोग, उसके अर्थ का ज्ञान लोक-व्यवहार से होता है। शास्त्र के द्वारा उसमें धर्म का नियमन होता है—"यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम् । किं शास्त्रेण ? लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते"।[1]

इसका आशय यह है कि यद्यपि शब्द-प्रयोग एवं अर्थ-ज्ञान लोकव्यवहार द्वारा होता है तथापि लोक व्यवहार में प्रयुक्त साधु एवं शिष्ट शब्द ही व्यक्ति धर्म होता है। उन्हीं के प्रयोग में व्यक्ति की शिष्टता और श्रेष्ठता निहित होती है। अर्थात् अपभ्रंश या असाधु शब्द के प्रयोग से व्यक्ति अधर्मभाक् होता है। यद्यपि असाधु या अपभ्रंश शब्द भी अर्थ का बोधक होता है, किन्तु वह अभ्युदयकारि नहीं होता। भाष्य के उक्त कथन में भाषा के विकास की प्रक्रिया अन्तर्निहित है। वे इस विकास-वादी सिद्धान्त, एक आदर्श भाषा के काल में दूसरी लोकभाषा (जनभाषा) विकासोन्मुख रहती है और उस समय लोकभाषा का रूप अपभ्रंश या असाधु रूप होता है, को ध्यान मे रखकर ही उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यदि लोक-व्यवहार से साधु शब्द का ज्ञान होता है तो वह भी अभ्युदयकारि होगा ही।

"प्रधान प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्।"[2] पाणिनि के इस सूत्र की व्याख्या करते हुये काशिकाकार ने लिखा है कि पाणिनि ने 'अन्य' शब्द से शास्त्रा-तिरिक्त लोक-व्यवहार का ग्रहण किया है। अतः पाणिनि की दृष्टि में लोक-व्यवहार अर्थ-ज्ञान का साधन है—

"लोकत एवार्थगतेः। यश्च लोकतोऽर्थः सिद्धः किं तत्रयत्नेन।"

इसी का उत्तर भाष्यकार ने दिया है—"शास्त्रेण धर्म नियमः क्रियते।" बालकों को लोकभाषा का ज्ञान तो लोक द्वारा हो जाता है किन्तु शिष्ट भाषा या आदर्श भाषा का ज्ञान शास्त्र से ही होता है। साथ ही भाषान्तर को सीखने के लिए भी शास्त्र की आवश्यकता होती है। इससे हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि शब्दार्थ ज्ञान और प्रयोग के साधन लोक और प्रयोग के साधन लोक और शास्त्र दोनों हैं। दूसरे शब्दों में इन्हीं को शक्ति का कारण या साधन कहा जा सकता है, क्योंकि शक्ति-गृहीत बालक को ही शाब्द-बोध एवं शब्द-प्रयोग का ज्ञान होता है, अगृहीत शक्तिक को नहीं। नागेश ने लिखा है—"तत्रागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात्।"[3]

विश्वनाथ पंचानन ने भाषा-परिच्छेद में तथा जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्द-शक्ति-प्रकाशिका में शक्ति-ग्रह के निम्नलिखित साधनों को बतलाया है—

---

१. म० भा० पश्प०, पृ० ६५, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
२. पा० सूत्र १/२/२६।
३. लघु मंजूषा, पृ० १०।

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्त-वाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषात् विवृतेर्वदन्ति सेन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।"[१]

अर्थात् शक्तिग्रह के आठ साधन हैं—(१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्त वाक्य, (५) व्यवहार, (६) वाक्यशेष, (७) विवरण, (८) ज्ञात पद की सन्निधि।

(१) **व्याकरण**—नामधातु, प्रकृति और प्रत्यय आदि का शक्तिग्रह व्याकरण के द्वारा होता है। प्रातिपदिक मात्र को नाम कहा जाता है। सुबन्त को नाम और तिङन्त को आख्यात कहा जा सकता है।[२] व्याकरणशास्त्र में सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित् आदि अनेक प्रकार के प्रत्ययों का विधान किया जाता है। इनमें कुछ प्रत्ययों का विधान धातु से और कुछ का प्रातिपदिक अर्थात् नाम से किया जाता है। जिससे किसी प्रत्यय का विधान किया जाता है वह उसकी प्रकृति होती है। इन सभी धातु, प्रातिपदिक, प्रकृति, प्रत्यय आदि का ज्ञान व्याकरण से होता है। अतः व्याकृत वाणी या विश्लिष्ट पद और पदार्थ का ज्ञान तथा उसकी प्रयोग-विधा का ज्ञान व्याकरण के ही द्वारा होता है।

वैयाकरण वाक्य-स्फोट को मुख्य मानते हैं। अतः प्रथम शक्तिग्रह वाक्य में होता है। इस मत के अनुसार बालक को प्रथमतः सम्पूर्ण वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। ततः अपोद्धार प्रक्रिया द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है।[३] पदार्थ-ज्ञान के बाद वाक्य-व्यतिरेक प्रतिक्रिया द्वारा प्रकृति-प्रत्ययादि का ज्ञान होता है—"अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृति प्रत्ययानामिह शास्त्रेऽर्थवत्ता परिकल्पनात्।"[४]

व्याकरण शब्द यौगिक शब्द है—"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते अनेनेति व्याकरणम्।" अर्थात् जिसके द्वारा पद या वाक्य का विश्लेषण या खण्ड किया जा सके, उसे व्याकरण कहते हैं। इसी व्याकरण या व्याक्रिया के यौगिक अर्थ को अपोद्धार शब्द भी प्रकट करता है। अपोद्धार शब्द अन्वर्थ है—'अपोद्ध्रियन्ते कल्पना-बुद्ध्या निष्कृष्यन्ते इति।" अर्थात् कल्पनात्मक बुद्धि के द्वारा पदच्छेद या वाक्यच्छेद को अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार या व्याक्रिया से पहले वाक्य का पदों में विभाजन किया जाता है। पुनः पदों को प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप में विभाजन किया जाता है।

वाक्यस्फोटवादी के अतिरिक्त पद-स्फोटवादी के अनुसार भी व्याकरण की आवश्यकता होती है। पद का विभिन्न अर्थों तथा विभिन्न रूपों में प्रयोग और उसके अर्थ का ज्ञान व्याकरण द्वारा होता है। इसके अनुसार प्रयोक्ता या श्रोता को प्रत्येक पद का ज्ञान होता है। भर्तृहरि ने दो प्रकार के अर्थ की चर्चा की है—अपोद्धार

---

१. शब्द श० प्रकाशिका, पृ० २० ।

२. द्रष्टव्य—पद विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध में।

३. वै० ल० मंजूषा, पृ० १ । ४. म० भाष्य कैयट, ५/३/६८ ।

पदार्थ और स्थित लक्षण पदार्थ—"अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थित लक्षणाः ।"[1] वाक्यवादियों के अनुसार अपोद्धार-पदार्थ और पदवादियों के अनुसार स्थित लक्षण पदार्थ माना जाता है।

व्याकरण पद-पदार्थ के ज्ञान का महत्वपूर्ण साधन है। किसी भाषा का सांगोपांग ज्ञान उसके व्याकरण से ही सम्भव है सम्बन्ध तत्वों द्वारा अभिव्यक्त भावों को "व्याकरणात्मक धाराओं" की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति, प्रश्न-निषेध, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध, तादर्थ्य, करण इत्यादि भाषाओं की व्याकरणात्मक धारायें हैं। चाहे किसी भी भाषा को लीजिये, व्याकरणात्मक धाराओं की परिभाषा उनको अभिव्यक्त करने वाले रूप से ही हो सकती है।[2]

शब्द-ज्ञान और उसके प्रयोग का व्याकरण ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अतएव शब्दानुशासन के प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुये भाष्यकार ने लिखा है—"रक्षोहागमलध्वसन्देहा प्रयोजनम् ।"[3] अर्थात् व्याकरण का प्रयोजन है—

१. रक्षा अर्थात् विकृत या अपभ्रंशों के प्रयोग से भाषा की रक्षा करना।
२. ऊहा अर्थात् वाक्य में व्याकरणिक नियमों के अनुसार किये गये लोप-आगम का ज्ञान।
३. आगम-वेद शास्त्रादि का अध्ययन धर्मकृत्य है और उनमें प्रधान व्याकरण है, क्योंकि इसी के ज्ञान से अन्य शास्त्रों का ज्ञान सम्भव है।
४. लघूपाय—व्याकरण ही वह लघुतम उपाय है जिससे किसी भाषा के समस्त पद-पदार्थों का सम्यक्तया ज्ञान किया जा सकता है।
५. असन्देह—व्याकरण से शब्दार्थ के ज्ञान या प्रयोग में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता है। इस प्रकार भाष्योक्त व्याकरण के प्रयोजन पर यदि विचार किया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण ही एक ऐसा साधन है जिससे भाषा के शब्दों एवं पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान हो सकता है।

(२) **व्यवहार**—पद पदार्थ का ज्ञान लक्ष्य तथा व्याकरण-शास्त्र उसका लक्षण होता है। लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण का निर्धारण होता है—"लक्ष्ये लक्षणं प्रवर्तते" तथा "लक्ष्यलक्षणं व्याकरणम् ।" इससे व्याकरण की गौणता और लोक-व्यवहार की प्रमुखता सिद्ध होती है। किसी वस्तु का नामकरण या पदार्थ का निर्धारण व्याकरण द्वारा नहीं, अपितु लोक-व्यवहार द्वारा होता है। उसी का ज्ञान व्याकरण द्वारा कराया जाता है। साथ ही किस पद से किस अर्थ का बोध होना चाहिये ? इसका भी ज्ञान व्यवहार द्वारा होता है।[4]

---

१. वा० प० १२/४। २. भाषा—पृ० १०९।
३. म० भाष्य पश्य०, पृ० २०, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
४. म० भाष्य, पृ० ७९, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।

वृद्ध व्यवहार से अवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा बालक को शब्दार्थ का ज्ञान होता है।[1] अतएव पाणिनि ने लिखा है कि लोक-व्यवहार शब्दार्थ-ज्ञान का मुख्य साधन है। लोक-प्रसिद्ध अर्थ का ही ग्रहण होता है।[2] कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पद-व्युत्पत्ति अन्य रूप से होती हैं और अर्थज्ञान अन्य रूप में। यथा—'कुशं लातीति कुशलः (का अर्थ चतुर) तथा दुहिता (का अर्थ पुत्री) आदि पद इसके उदाहरण हैं—"अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति निमित्तमन्यच्च प्रवृत्ति निमित्तम्।"[3]

अर्थ-परिवर्तन का मूल कारण ही लोक-व्यवहार है। अशिक्षित व्यक्ति जिसने व्याकरण, कोशादि का अध्ययन नहीं किया है उसे लोक-व्यवहार से ही पद-पदार्थ का ज्ञान होता है। डा० कपिलदेव द्विवेदी ने लोक-व्यवहार को मुख्य तथा अन्य साधनों को गौण माना है।[4] लोकप्रसिद्धि या लोक-व्यवहार शब्दार्थ के निर्धारण में प्रमुख कारण दो हैं तथापि उसके ज्ञान के प्रमुख कारणों में से व्याकरण भी एक है। लोक-व्यवहार से ही किसी भाषा का सर्वाङ्गीण ज्ञान नहीं होता है। भाषा का सृजन समाज द्वारा होता है, तथापि उसकी रक्षा, उसका नियमन, तथा इदमित्थम् रूप में ज्ञान व्याकरण द्वारा होता है।

(३) **कोष**— यद्यपि कोष के सामान्य या प्राथमिक शब्दार्थ ज्ञान नहीं होता तथापि वह अधिक शब्दों का अर्थज्ञान कराने में समर्थ होता है। लोक-व्यवहार में वस्तुओं या भावों के जो नामकरण होते हैं, वे अनेक कारणों से होते हैं अर्थात् एक ही वस्तु में अनेक गुण या आकार होने के कारण उसके अनेक नामकरण कर दिये जाते हैं। यथा—

१. देवता = अमर (न मरने वाले)
२. निर्जर = — (वृद्धावस्था को न प्राप्त होने वाले
३. विबुध = — (विशेष ज्ञानी आदि)

कभी-कभी एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, क्योंकि उस शब्द में निहित गुण या आकार उन सभी ग्रन्थों या वस्तुओं में पाये जाते हैं, जिनका वह वाचक होता है। यथा—गो – गाय, पृथिवी, इन्द्रिय आदि—ये सभी गतिशील हैं। अतः इनको 'गौ' कहा जाता है। इस प्रकार पर्यायवाची तथा अनेकार्थक शब्दों के ज्ञान में कोष सबसे महत्वपूर्ण साधन है। किसी शब्द का अर्थ ज्ञात हो जाने पर उस अर्थ के जितने पर्यायवाची शब्द हैं, उनका ज्ञान कोष द्वारा हो जाता है। साथ ही अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों का ज्ञान भी कोष द्वारा ही होता है। कुछ अंशों में कोष वाक्य में शब्द की स्थिति आदि पर भी विचार ही करता है। वान्द्रियैज के अनुसार अर्थ

---

१. द्रष्टव्य, संकेतग्रह विचार (प्रस्तुत निबन्ध में)।
२. पा० सू०, १/२/५६। ३. सा० द०, २/५।
४. भाषा, पृ० २०९। अर्थ वि० और व्या० द०; पृ० संख्या २१७।

वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किये गये किसी भी भाषा के सम्पूर्ण शब्दों को शब्द-कोष की संज्ञा दी जाती है। किसी भाषा के कोष के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि बहुत से शब्दों की तो युक्तिसंगत व्युत्पत्ति ही नहीं है और शुद्ध शब्दों के अर्थों में आशातीत परिवर्तन हुये हैं।[1] अतः शब्दकोष पर हमारी बुद्धि के प्रभाव के दो प्रकार के परिणाम हैं। एक तो शब्दों के कई प्रकार के सादृश्यमूलक सम्बन्ध और दूसरे ध्वनियों, भावों या वस्तुओं में परस्पर समवाय सम्बन्ध। जब कोई भी शब्द हमारी चेतना में जाग्रत होता है तो वह निरपेक्ष नहीं होता। हमारी बुद्धि में शब्द का एक पक्ष अपावृत होने पर भी उसके अन्य पक्ष निहित रहते हैं और प्रकट होने के लिये सतत् तत्पर रहते हैं। तत्सम्बन्धी भावों या भावनाओं का समूह उसके साथ ही उपस्थित रहता है। हमारी बुद्धि में विद्यमान सम्पूर्ण शब्द हमारे बौद्धिक व भावुक जीवन के भागी होते हैं। भाषा की सजीवता शब्द-कोष में निहित होती है। जो भाषा जितनी पुरानी और समृद्ध होगी, उसका शब्द-कोष भी उतना ही समृद्ध होगा। अतः किसी भी भाषा की समृद्धि या सशक्तता उसके कोष से आँकी जाती है, क्योंकि जिस भाषा का शब्द-कोष जितना ही विशाल होगा, वह भाषा भाव-प्रकाशन में उतनी ही समर्थ और सशक्त होगी। शब्द-कोष के महत्व को प्रतिपादित करते हुये वान्द्रियैज ने लिखा है कि एक शब्द-कोष में प्रत्येक शब्द के जितने विभिन्न प्रयोग हैं, उतने ही शब्द होते हैं। प्रत्येक शब्द के असंख्य प्रयोग होने के कारण यह मानना पड़ेगा कि जब तक भाषा सजीव है तब तक शब्द-कोष अनन्त रूप में बढ़ता जाता है।[2]

(४) **आप्त-वाक्य**—आप्त-वचन से अर्थ-ज्ञान होता है। आप्त का अर्थ होता है—विश्वास योग्य व्यक्ति। जिसके कथन को प्रामाणिक या विश्वस्त माना जाये वह आप्त कहलाता है और उसका उपदेश या कथन ही आप्तोपदेश कहलाता है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक आप्त-वचन से अर्थ-ज्ञान होता है। जैसे—बाल्यकाल में 'यह माता है', 'यह पिता है', 'यह गृह है', 'यह पुस्तक है' आदि का ज्ञान आप्तोपदेश से ही होता है। छात्रावस्था में अध्यापक तथा प्रौढ़ावस्था में अन्य गुरुजनों या समाचार-पत्रादि भी आप्तोपदेश रूप माने जाते हैं।[3] अपूर्व (धर्माधर्म), अमूर्त (आकाशादि), अवर्ण्य (काल, दिक्, मन, आत्मा आदि) आदि का ज्ञान भी आप्तोपदेश से ही होता है।[4] गौतम ने लिखा है कि आप्तोपदेश सामर्थ्य से शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है—"आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः।"[5]

उक्त सूत्र की व्याख्या में वात्स्यायन ने लिखा है कि बहुत-सी वस्तुओं का हम

---

१. भाषा पृ० सं० २०९। २. भाषा, पृ० सं० २२६।
३. म० भाष्य कैयट, २/१/१ (प्रदीप टीका), ४. वा० प० २/११९।
५. न्या० सू०, २/१/५२।

प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर पाते। जैसे—स्वर्ग, देवता, विदेश, ग्रहों की गति आदि। इनका ज्ञान हमें आप्तोपदेश ही से होता है।

नागेश ने लिखा है—"तत्राप्तोपदेशरूपः शब्दः प्रमाणम्।"[१]

अर्थात् आप्तोपदेश रूप शब्द प्रमाण होता है। वहीं पर पतञ्जलि के कथन को उद्धृत करते हुये लिखा है कि समस्त वस्तु तत्व का अनुभव करने वाले, राग-द्वेषादि से अन्यथा। (मिथ्या) प्रवचन न करने वाले को आप्त कहते हैं। अतः नागेश के अनुसार आप्तोपदिष्ट वेदशास्त्रादि को अर्थज्ञान का साधन माना गया है।

(५) **उपमान**—गवय (नीलगाय) का अर्थ न जानने वाले ग्रामीण को आरण्यक बताता है कि गो के समान ही गवय होता है। जब ग्रामीण वन में प्रवेश करता है तो गवय को देखकर गोसादृश्य प्रतीति के आधार पर समझ लेता है कि यह गवय है। अर्थात् गोसादृश्य प्रतीति से गवय का ज्ञान होता है। अतः गवय उपमान हुआ। लोक-व्यवहार में उपमान के द्वारा भी बालकों अथवा अन्धों को ज्ञान कराया जाता है।

(६) **वाक्य-शेष**—किन्हीं स्थलों पर शब्द के नानार्थक होने के कारण निश्चित (असंदिग्ध) अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता, तब वहाँ पर वाक्य-शेष अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। यथा—'यव' शब्द का प्रयोग कहीं पर धान्य विशेष (कंगुनी) के लिये होता है और कहीं पर जौ के लिये। अतः 'यवमयश्चरूर्भवति' इसका अर्थ 'यव का चरू' होना चाहिये। ऐसा अर्थ करने पर सन्देह होता है कि 'धान्य का चरू' या जौ का? तब वहाँ प्रयोग विशेष के आधार पर यह निर्णय होता है कि 'जौ का चरू' होना चाहिये।

(७) **विवरण**—विवरण का अर्थ है व्याख्यान या विस्पष्टीकरण। किसी शब्द का अर्थ न ज्ञात होने पर उसके समानार्थक अन्य शब्द के प्रयोग से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यथा—कलशोऽस्ति कहने पर कलश के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तो उसकी व्याख्या कर दी जाती है—'घटोऽस्ति' तब अवबोद्धा को यह ज्ञात हो जाता है कि कलश का अर्थ वही है जो घट का होता है अर्थात् कम्बुग्रीवादिमान् वस्तु।

(८) **सन्निधि**—कभी-कभी संदिग्ध पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान तत्सन्निध प्रयुक्त शब्द से होता है। जैसे—'रामलक्ष्मणौ वनं जग्मतुः' यहाँ पर लक्ष्मण की सन्निधि से राम का अर्थ दशरथापत्य राम ही होगा, अन्य (परशुराम आदि) नहीं।

समीक्षा—विश्वनाथ पंचानन ने शब्दार्थ ज्ञान के जो आठ साधन बताये हैं उनका विवेचन करने से मुख्य रूप से अर्थज्ञान के साधन के रूप में दो कारण आते हैं। प्रथम लोक-व्यवहार और द्वितीय शास्त्र-ज्ञान। किसी भी बालक को समाज से शब्द के अर्थ का ज्ञान पर्याप्त रूप में होता है, किन्तु वह ज्ञान उसका केवल

---

४. वै० ल० मं०, पृ० ९।

व्यवहारिकमात्र होता है अर्थात् उसमें कुछ अपूर्णता रहती है। संस्कृत की दृष्टि से उसे अपभ्रंशनिष्ठ भाषा कहा जायेगा और भाषाविज्ञान की दृष्टि से उसे बोली का रूप कहा जा सकता है। शिक्षित परिवार में प्रयुक्त साधु या संस्कृत (आदर्श भाषा के शब्द) शब्दों का ज्ञान और प्रयोग होने पर भी उसका पूर्ण अर्थात् किसी शब्द या भाषा का सर्वाङ्गीण ज्ञान नहीं होगा। अतः लोक-व्यवहार से भाषा अर्थात् शब्दार्थ ज्ञान तो होता है, किन्तु उसकी पूर्ण साधुता के लिये शास्त्रीय अर्थात् व्याकरण और कोष की भी आवश्यकता अपरिहार्य होती है। अतः लोक-व्यवहार और शास्त्र (व्याकरण तथा कोष) ये ही शब्दार्थ-ज्ञान के प्रमुख साधन हैं। इन्हीं तीनों की स्वीकृति भाष्यकार ने भी दी है।[1]

एतदतिरिक्त उपमान, अर्थ ज्ञान का कोई पृथक् साधन नहीं, अपितु किसी को कुछ समझाने का एक ढंग है, एक विधा है। इसी को साहित्य में उपमालङ्कार कहते हैं। जहाँ तक आप्त वाक्य का प्रश्न है उसका तात्पर्य या तो शास्त्र से होगा या शिष्ट व्यक्ति से। शास्त्र से सम्बद्ध होने पर उन शब्दार्थों का ज्ञान कोष से हो जायेगा तथा व्यक्ति से सम्बन्धित होने पर उसकी गणना भी लोक-व्यवहार-रूप साधन के अन्तर्गत हो जायेगी। इसके अतिरिक्त वाक्य शेष, विवरण और सन्निधि ये तीनों अर्थज्ञान के सामान्य साधन नहीं, अपितु अनेकार्थक वा समानार्थक शब्दों के प्रयोग के प्रसंग में विशेष अर्थ-निर्णय के हेतु होते हैं। भर्तृहरि ने भी इनको संदिग्ध स्थिति में अर्थ-निर्णय का हेतु माना है। इनका आगे वर्णन किया जायेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अर्थ-निर्णय के मुख्य रूप से दो साधन हैं—लोक-व्यवहार और शास्त्र। शास्त्र में भी विशेष हैं—व्याकरण तथा कोष। इन्हीं कारणों को आधुनिक भाषाविज्ञान भी स्वीकार करता है।

अर्थ-विनिश्चय-हेतु विमर्श

भाषा में बहुत से शब्द अनेकार्थक तथा बहुत-से समानार्थक होते हैं। इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से शब्द का अर्थ पूर्णतः संदिग्ध हो जाता है। इसके सम्बन्ध में भर्तृहरि ने अनेकों ऐसे उपायों का उल्लेख किया है जिनसे अर्थ का सही-सही निर्णय अर्थात् ज्ञान हो सके। उसी को उद्धृत करते हुए 'लघु मंजूषा' में नागेश ने भी इन्हीं कारणों को अर्थ-निर्णायक माना है। उन अर्थ निर्णायक तत्त्वों की समीक्षा यहाँ भी आवश्यक प्रतीत होती है।

भर्तृहरि के अनुसार केवल शब्द-स्वरूप से ही शब्दार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु अन्य उपायों से भी होता है। वे उपाय हैं—वाक्य, प्रकरण, अर्थ औचित्य, देश और काल—

"वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्यात् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥"[2]

---

१. म० भाष्य, पश्प०, पृ० ६५, बम्बई प्रकाशन, १९५१।

२. वा० प० २/३१४।

१. वाक्य से अर्थज्ञान—'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्'। इस वाक्य में 'भीष्म' 'कटं' का विशेषण होने से 'भीष्म' का अर्थ भीष्म पितामह नहीं, अपितु भीषण होगा, क्योंकि 'भीष्म' व्यक्ति का वाक्यस्थ किसी पद के साथ सामानाधिकरण नहीं है और क्रिया के साथ अन्वय योग्यता भी नहीं है। अपि च, व्याकरणशास्त्र में 'कर्माणि द्वितीया' तथा 'अनभिहिते' सूत्रों का पृथक्-पृथक् निर्वचन है तथापि आकांक्षावश भिन्न प्रकरणस्थ उक्त दोनों सूत्रों की एक वाक्यता होकर अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति का विधान होता है। अतः वाक्य से शब्द के अर्थ का निर्णय होता है—

"शास्त्रे वाक्यच्शब्दार्थ निर्णयः।"[1]

२. प्रकरण से अर्थज्ञान—प्रकरण से अर्थ का निर्णय होता है। जैसे—भोजन-काल में सैन्धवम् आनय कहने से लवण का अर्थज्ञान होता है तथा युद्ध या गमनकाल में "सैन्धवम्" कहने से "अश्व" का बोध होता है।

३. अर्थ से अर्थज्ञान—अर्थ शब्द से अभिधेय रूप है, प्रयोजन रूप नहीं। 'अञ्जलिना जुहोति।', 'अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते', 'अञ्जलिना पूर्णपात्र मा हरति, इत्यादि स्थलों पर विभिन्नार्थ वाचक अञ्जलि शब्द का विभिन्न अर्थ होगा।

४. औचित्य से अर्थज्ञान—औचित्य से भी अर्थ-निर्णय होता है। यथा—

"यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेवसः॥"

इस श्लोक में 'छिनत्ति' आदि क्रिया-पद के अभिधान न होने पर भी 'यः निम्बं परशुना छिनत्ति, मधुसर्पिषा सिञ्चति, तथा 'गन्धमालाभ्यामनुलिम्पति' आदि क्रियापदों का अध्याहार हो जाता है और उसमें खलत्व वृत्ति की भावना का प्रतिपादन होता है। यही उसका तात्पर्य होता है।

५. देश से अर्थज्ञान—देश के कारण भी अर्थ का निर्णय होता है। जैसे—किसी के यह कहने पर कि मैं मथुरा के पूर्व और उत्तर के शहर से आ रहा हूँ, यह ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति पटना से आ रहा है।

६. काल से अर्थज्ञान—काल से भी शब्दार्थ का निर्णय होता है। जैसे—शिशिर ऋतु में कपाटम् कहने पर विधेहि अर्थ का ज्ञान होगा और ग्रीष्मऋतु में समुद्घाटय अर्थ की प्रतीति होगी।

इन कारणों के अतिरिक्त भर्तृहरि ने शब्दार्थ निर्णय के कुछ और भी कारण बताते हुए लिखा है कि कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार अर्थ-निर्णय के निम्नलिखित साधन हैं—

"संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्थानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतव॥"[2]

१. वा० प० २/३१४। २. वा० प० २/३१५, १६।

अर्थात् उक्त संसर्गादि शब्दार्थ-विषयक सन्देह निराकरण-पूर्वक नियत अर्थ के निर्णय कराने के हेतु हैं। शब्द के एकत्ववादियों के अनुसार संसर्गादि हेतु से अर्थ का निर्णय होता है तथा अनेकत्ववादियों के अनुसार संसर्गादि भी शब्दसामर्थ्य रूप ही हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—संसर्गः सवत्सा धेनुः। विप्रयोगः-अवत्साधेनुः। साहचर्यम्-रामलक्ष्मणौ, विरोधिता-रामार्जुनगतिस्तयोः। अर्थः-अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यनुपतिष्ठते। प्रकरणम्-सैन्धवमानय (भोजनकाले गमनकाले वा)। लिङ्गम्-अलाः शर्कराः उपदधाति। अन्यस्य शब्दस्य सन्निधिः-रामो जामदग्न्यः (परशुराम)। सामर्थ्यम्-अभिरूपाय कन्या देया (अभिरूपपतराय)। औचित्यम्-यश्चनिम्बं इत्यादि।[1] देशः-भात्यत्र परमेश्वरः (राजधान्यां राजा, अन्यत्र ईश्वरः)। कालः चित्रमानुर्भाति (रात्रौ वह्निः दिवासूर्यः)। व्यक्ति का अर्थ लिङ्ग है। अतः लिङ्गम्-मित्रोभाति सूर्यः), मित्रम् भाति (सुहृद्)। स्वर-स्थूलपृषतीम् अत्र स्वरान्त पुरुष बहुव्रीह्यर्थ-निर्णयः। स्वरादि का अर्थ स्वर, णत्व एवं षत्व-विधान आदि से लिया गया है। यथा—

१. सुसिक्तम्, सुषिक्तम् (पूजार्थ-सु, उपसर्ग-सु)।

२. प्रणायक—(प्रणयकर्ता), प्रणायक (नायकहीन देश।)

इसके अतिरिक्त अन्वयव्यतिरेक भी अर्थ का निर्णायक होता है—"अन्वय-व्यतिरेको तु व्यवहारिकनिबन्धनम्।"[2] पतञ्जलि ने सामान्य-ज्ञान, व व्यावहारिक ज्ञान, शब्दाध्याहार एवं युक्तिसंगतता को भी अर्थनिर्णय का हेतु माना है।[3]

उपर्युक्त अर्थनिर्णायक तत्वों एवं लोकानुभूति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त कारण निर्वचन रूप में नहीं कहे गये हैं, अपितु दिङ्मात्र का निर्देश किया गया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक हर्मन पाउल अर्थ-निर्णायक साधनों के रूप में निम्नलिखित तथ्यों को स्वीकार करते हैं—

१. वक्ता और श्रोता का समान अवधारण।

२. वक्ता के पूर्वोक्त वाक्यादि।

३. विशेष सामर्थ्य—यह सामर्थ्य वक्ता और श्रोता की समान स्थिति, समान आयु, समान श्रेणी, समान व्यवहार तथा अन्य समानताओं से प्राप्त होती है।

४. अन्य शब्दों का सान्निध्य।

५. अनिश्चित अर्थ वाले शब्द के सम्बन्धी शब्द।

उपर्युक्त तत्व सन्दिग्ध अर्थ की स्थिति में अर्थ-निर्णय के हेतु होते हैं। इनसे शब्द का निश्चित अर्थ ग्रहण किया जाता है। वक्ता और श्रोता के बीच और भी

---

१. पूर्व उद्धृत।

२. वा० प० २/१२ ३. म० भाष्य १/१/६४, १/१/४४, १/३/९।

४. प्रिंसिपल्स ऑफ लैंग्वेज, अध्याय चार, उद्धृत-व्या० द० और अ० वि० पृ० १५८।

सी स्थितियाँ-ध्वनि विशेष, आंगिक चेष्टादि, पूर्व प्रसंग तथा समान भावना आदि कारण होते हैं, जो अर्थ-निर्णय में साधन होते हैं।

बौद्धार्थ विमर्श

पूर्व प्रकरण में अर्थ के स्वरूप और लक्षण पर विचार किया जा चुका है। निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार किया गया है कि शब्द और उसका अर्थ बौद्ध होता है, क्योंकि बौद्ध शब्द का बौद्ध अर्थ के साथ ही समानाधिकरण सम्भव है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में उस बौद्ध-अर्थ पर विचार आवश्यक है। यद्यपि बौद्धार्थ-विचार पूर्णतया दार्शनिक है तथापि संस्कृत-व्याकरण भी स्वयं को एक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः बौद्धार्थ-विचार असंगत नहीं होगा। शब्दार्थ ज्ञान की सम्भूति बौद्ध-धर्म स्वीकार करने पर ही सम्भव होती है, इसलिए भी बौद्धार्थ-विचार आवश्यक है। बौद्धार्थ की सत्ता स्वीकार न करने पर व्याकरण-शास्त्र में अनेकों अन्तर्विरोध तथा आपत्तियाँ प्रस्तुत होती हैं जिनके निवारणार्थ वैयाकरण बौद्धार्थ को स्वीकार करते हैं। बौद्धार्थ की स्वीकृति मात्र काल्पनिक नहीं, अपितु साधार एवं तर्क-सम्मत है। व्याकरण-ग्रन्थों के अतिरिक्त उपनिषदों, पुराणों तथा अन्य आगम-ग्रन्थों में भी बौद्धार्थ की सत्ता को स्वीकार किया गया है। बौद्धार्थ ही पर तो वेदान्त-दर्शन का सम्पूर्ण मायावाद, जगन्मिथ्यात्व, स्वप्नवाद तथा अध्यारोपापवाद का सिद्धान्त आधारित है।

बौद्धार्थ प्रयोजन

'स्तनकेशवती नारी स्याल्लोमशः पुरुषस्मृतः।' इस प्रकार के स्त्री-लक्षण के अभाव में 'खट्वा' शब्द से स्त्री प्रत्यय 'टाप्' कैसे सम्भव होगा? प्रश्न का समाधान करते हुए 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि "असन्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा।"[1] अर्थात् जैसे मृगतृष्णाविषयक मरूमरीचिका असत्य होते हुये जलरूप में प्रतीत होती है और गन्धर्व नगर की सत्ता न होने पर भी दूर से प्रतिभासित होता है अर्थात् बौद्धिक-प्रतीति होती है, उसी प्रकार खट्वादि में भी स्त्रीत्वादि बौद्धिक-प्रतीति होती है। अतः स्त्री प्रत्यय (टाप्) का विधान सम्भव होता है।[2] भर्तृहरि ने भी लिखा है—

"यथा सलिल निर्भासो मृगतृष्णासु जायते।
जलोपलब्ध्यनुगुणाद्बीजाद् बुद्धिर्जले-असति॥"

शब्दकोश में निहित 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' इत्यादि स्थलों में कृष्णादि शब्द अर्थपरक हैं। यहाँ विष्णु का पदार्थ-बोधक और फिर उसमें अभिन्न कृष्ण का पदार्थ-बोध भी मानस ही होता है। वाक्यार्थ-बोध के प्रति आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि को कारण माना गया है। इन तीनों तत्वों की उपस्थिति मानस ही है, बाह्य नहीं।

---

१. महाभाष्य ४/१/३।

२. ल० मञ्जूषा, पृ० २२०।

यदि बौद्ध सत्ता न स्वीकार की जाये तो पदार्थ सन्निधि कथमपि सम्भव नहीं होगी और उसके अभाव में शाब्द-बोध नहीं हो सकेगा। बौद्ध-अर्थ मानने पर ही पदार्थों की सन्निधि और शाब्द-बोध सम्भव होता है।

जिस प्रकार वर्ण, पद-वाक्य इनकी सत्ता मानस है, उसी प्रकार विशिष्ट व्याख्यान द्वारा इनसे सम्बन्धित अर्थ को भी मानस ही सिद्ध किया जाता है। अर्थ को प्रतिभा कहा गया है और प्रतिभा बुद्धि विषयिणी होने के कारण तद्रूप अर्थ स्वतः बौद्ध सत्ता समाविष्ट सिद्ध होता है। लोक-व्यवहार में प्रयोग किया जाता है—'यहाँ पुस्तक है' इस वाक्य में पुस्तक रूप 'अर्थ' की सत्ता 'पुस्तक' शब्द से ही ज्ञात हो जाती है। पुनः 'है' सत्तात्मक क्रिया का प्रयोग क्यों किया जाता है? तथा 'यहाँ पुस्तक नहीं है'—इस वाक्य में सत्ता निषेधात्मक 'नहीं' और सत्तात्मक 'अस्ति'—इन दोनों विरोधी पदों का प्रयोग कैसे हो सकता है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हुये बौद्धार्थवादी नागेश कहते हैं कि पुस्तक रूप अर्थ पहले से ही बुद्धि सत्ता समाविष्ट है। अतः 'पुस्तक है'—यहाँ 'है' का प्रयोग बौद्ध-धर्म से बाह्य-अर्थ का बोध कराने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार 'पुस्तक नहीं है' में बौद्ध सत्तात्मक अर्थ का बाह्य-अर्थ के निषेध के लिए 'नहीं' का प्रयोग होता है। अतः अस्तित्व और अनस्तित्व का प्रयोग केवल बाह्य-वस्तु के भाव और अभाव की दृष्टि से होता है। यदि बौद्ध पदार्थ नहीं स्वीकार किया जायगा तो 'अस्ति' और 'नास्ति' का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। उनका प्रयोग अन्धकार और प्रकाश की युगपद् स्थिति के समान होगा। इसी प्रकार 'यहाँ पुस्तक थी' या 'यहाँ पुस्तक रहेगी'—इन वाक्यों में भूत और भविष्य का प्रयोग किया गया है, वर्तमान का नहीं। अतः बाह्य सत्तामात्र मानने पर पुस्तक के अभाव में उक्त वाक्यों का अर्थबोध ही नहीं होगा।[1] बौद्ध सत्ता मानने पर ही अर्थ प्रतीति सम्भव है। अतः बौद्ध-पदार्थ न मानने वालों के मत में सत्ता विशिष्ट पुस्तकादिकों का पदार्थ से विरोध होने के कारण नास्ति (नहीं है) का प्रयोग नहीं हो सकता और पुस्तक शब्द से ही सत्ता प्रतीति हो जाने के कारण 'अस्ति' का भी प्रयोग नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध है कि सभी पदार्थ बुद्धि में विद्यमान हैं। उनके भावाभाव-बोधन के लिए ही 'अस्ति' और 'नास्ति' का प्रयोग होता है। अपि च इच्छादिक धर्मस्वरूप अन्तःकरण निष्ठ होते हैं। विषय के साथ समानाधिकरण के लिए भी बौद्ध सत्ता आवश्यक है, क्योंकि कार्य-कारणभाव के लिए समान देशता अपेक्षित होती है। अतः वेदान्तियों के अनुसार भी बौद्ध-पदार्थ की स्वीकृति माननी ही पड़ती है।[2]

'घट' क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कम्बुग्रीवादिमान् घट का लक्षण तभी सम्भव होगा जब बौद्ध-सत्ता होगी, क्योंकि इस प्रकार का 'घट' है—यह ज्ञान बौद्ध ही होता है और उसी प्रकार के बाह्य अर्थ 'घट' का प्रतिमान बुद्धि में होता है। इस प्रकार ईदृक् तादृक् रूप प्रत्यभिज्ञा भी बौद्ध-सत्ता के कारण ही संगत होती है।[3]

---

१. ल० मञ्जूषा, पृ० २०३। २. वही।

३. महाभाष्य १–३–२।

नैयायिकों को भी बौद्ध सत्ता स्वीकार करनी होगी। सिद्धपाकादि और असिद्ध पाकादि दोनों ही पहले बुद्धिस्थ होते हैं। तब असिद्ध पाकादि की सिद्ध पाकादि के प्रति इच्छा होती है। तभी सिद्धासिद्ध उभयविध पाकादि का समानाधिकरण सम्भव होता है। अन्यथा असिद्ध पाकादि का बाह्य देश में अभाव होने के कारण वह भी शशशृंग के समान ही हो जायेगा।[1]

गौतम के अनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् नहीं था, क्योंकि असत् से उत्पत्ति नहीं होती। यथा—सिकता से तेल। सत् भी नहीं था, क्योंकि सत् से उत्पत्ति सम्भव नहीं और उत्पत्ति मान लेने पर भी उत्पत्ति के अनवस्था की सम्भावना होती है, न सदसत् ही था, क्योंकि सदसत् के वैधर्म्य के कारण सत्व और असत्व का समानाधिकरण सम्भव नहीं, तब उत्पत्ति के पूर्व क्या था, किस से उत्पत्ति हुई ? असत् से, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। अतः पहले असत् ही था तब असत् से उत्पत्ति मानने पर कोई नियम नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की आशंका करके गौतम ने कहा—"बुद्धि सिद्धन्तु तदसत्।"[2] अर्थात् असत् होते हुये भी उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के अनन्तर बौद्ध-सत्ता रहती है। इस प्रकार नैयायिक भी बौद्ध-सत्ता को मानते हैं।

बौद्ध पदार्थ की सिद्धि—नागेश ने बौद्धार्थ के समर्थन में अर्धोकित भाष्यकार का समर्थन किया है कि—"बहुत पहले मारे गये कंस और बाँधे गये बालि के लिए 'कंसं घातयति' तथा 'बलिं बध्नाति' आदि में वर्तमानकालता कैसे सम्भव है ? तद्रूपारोपक अभिनेता में ये क्रियायें सम्भव है। इसी प्रकार चित्रकार भी चित्रस्थ कंसादि के हनन आदि का दर्शन कराते हैं। ग्रन्थकार भी कंसादि की उत्पत्ति से विनाश तक उनकी समृद्धियों का वर्णन करते हुये स्वबुद्धिस्थ विषय का ही वर्णन करते हैं।"[3] अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

'शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतांगतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥"[4]

पंक्ति विंशति सूत्र के भाष्य एवं प्रदीपोद्योत में भी बौद्ध पदार्थ की सत्ता स्वीकार की गयी है।

बाहर जितनी भी वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो रही है—ये सभी द्रव्य-रूपाकार चित्त के परिणाम हैं। अर्थात् जिस प्रकार जलाशय का जल छिद्र से निकलकर नाली द्वारा जिस केदार या आलवालादि (सिंचाई के क्षेत्र) में पहुँचता है, जल उसी आकार का हो जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल

---

१. ल० मञ्जूषा, टीका सभापति, पृ० २०९।

२. न्या० द० ४/१/४८ से ५०।

३. महाभाष्य ३/१/२६। ४. वा० प० २/१५।

कर घटादि देश में जाकर विषय-संयुक्त होकर उसी (घटादि) के आकार में परिणमित हो जाता है। यही चित्त का परिणाम का चित्तवृत्ति है।[1]

सांख्य के अनुसार जैसे दर्पण में मुख का दर्शन होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण स्वच्छ होने के कारण घटादि विषय के उसमें प्रतिबिम्बित होने से वह (चित्त) तद्रूप हो जाता है। अतः घटादि विषय रूप चित्तवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार दर्पण में मुख प्रतिबिम्वित होने से वह वैसा ही दिखाई देता है, उसी प्रकार जड़भूत अन्तःकरण में चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। चैतन्य अन्तःकरण में संक्रान्त होकर तदाकाराकार में प्रतिभासित होता है, किन्तु नागेश के अनुसार विषय प्रतिबिम्बित नहीं होता, अपितु मात्र कल्पित होता है।[2] अन्तःकरण के विषयदेश में जाने पर भी शरीर से सम्बन्ध रहता ही है, क्योंकि बुद्धिस्थ विषय के आकार में ही विपरिणमन हो जाने से चित्त का शरीर से बाहर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। एतन्मूलक स्मृति का भी कथन है—

"विप्र पृथिव्यादि चित्तस्थं न बहिस्थं कदाचन।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते ॥"[3]

अर्थात् पृथिव्यादि विषय चित्त में ही है, बाहर कुछ नहीं है। इस प्रकार की अनुभूति स्वप्न-भ्रमादि स्थलों में सभी को होती है। 'योगवसिष्ठ' में भी बौद्ध-पदार्थ का समर्थन करते हुये कहा गया है—

"बहिः प्रकटतां-याति तथा पृथिव्यादि चेतसः।
सत्यं पृथिव्यादि चित्तस्थं न वहिष्ठं कदाचन ॥
आवालमेतत्पुरुषैः सर्वैरेवानुभूयते ।
स्वप्नभ्रममदावेग रागरोगादिदृष्टिषु ॥"[4]

जगत् की सम्पूर्ण वस्तुएँ या विचार बुद्धि में ही हैं। उसके बाहर कुछ भी नहीं है। वस्तु का बाह्य रूप विचार पर ही आधृत है। चन्द्रमा के जलाशयगत प्रतिबिम्ब (Perception) के समान। स्वप्नावस्था में व्यक्ति जब अश्व पर चढ़ता है उस समय उसकी सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियाँ अपने ज्ञान रूप कर्म से उपरत (शान्त) रहती हैं। अतः अश्वादि की उपलब्धि वास्तविक नहीं, अपितु प्रातिभासिक होती है। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य वस्तु के अभाव में केवल बौद्धिक सत्ता के कारण वस्तुओं की उपलब्धि का भान होता है, उसी प्रकार जागरणावस्था में भी सम्पूर्ण वस्तुएँ चित्तस्थ होती हैं। बाह्येन्द्रियों की सक्रियता के अभाव में मनोमात्र से आत्मा की जो भोक्तृ भावना होती है, वही स्वप्न होता है।

---

१. ल० मञ्जूषा, पृ० २११।

२. ल० मञ्जूषा, टीका रत्नप्रभा, पृ० २१३।

३. ल० मञ्जूषा में उद्धृत, पृ० २११।

४. योग वासिष्ठ ५/४८/५२–५३।

वेदान्तियों के अनुसार शुक्ति में रजतत्व न होने के कारण जिस प्रकार भ्रमादि स्थलों में केवल उसका प्रतिभास होता है, उसी प्रकार विपणि में स्थित वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में उसका अध्यासात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। भ्रमादि स्थलों में अविद्या के कारण चित्त ही तत्तद् विषय रूपों में परिणमित हो जाता है। उसका बाह्य-विषय से वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता।[1] वस्तुतः स्वप्न की अनुभूति तब तक सत्य है जब तक स्वप्नावस्था समाप्त नहीं हो जाती। जिस प्रकार जाग्रतावस्था में स्वप्न की अनुभूतियाँ असत्य हो जाती है, उसी प्रकार इस भौतिक जगत् में बाह्य वस्तुओं की अनुभूति भीं तब तक ही सत्य है, जब तक वह अपने प्रयत्नों से जग नहीं जाता। अर्थात् अध्यारोप से मुक्त नहीं हो जाता। अतः जाग्रतावस्था भी एक दीर्घकालीन स्वप्न है और स्वप्न की प्रतीति की भाँति इस अवस्था की अनुभूतियाँ भी केवल प्रातिभासिक हैं, वास्तविक नहीं। केवल बौद्धिक सत्ता ही है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है कि चेतन आत्मा (कुलाल) पहले कम्बुग्रीवादिमान् घटरूप तथा 'घट' नाम दोनों को बुद्धि में चित्रित कर लेता है, तब उसी रूप में बाह्य घट का निष्पादन करता है। अतः यह सिद्ध है कि वस्तु का नाम रूप पहले बुद्धिसत्ताक होता है, तदनन्तर उसकी बाह्य सत्ता होती है। कोई भी यह कहने में असमर्थ है कि जो बुद्धि में नहीं है, बाहर उसकी सत्ता हो सकती है।

यह जगत्, जिसका हम अनुभव करते हैं, पूर्णतया असत्य एवं भ्रम मात्र है। यह मरुभूमि में सूर्य की किरणो में जल की प्रतीति के समान हैं। बहिर्जगत् का अनुभव-शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प तथा अक्षिगोलक के निपीड़न से तिमिरकृत चन्द्रद्वय के दर्शन के ही समान असत्य, भ्रम या अध्यास है। अतः यह सम्पूर्ण बाह्य जगत् एक भ्रम, आरोप, मिथ्याप्रतीति या असत् है—

मृगतृष्णायामुदकम् शुक्तौ रजतं भुजंगमे ।
तैमिरिकचन्द्रयुगवद्भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम् ॥[3]

एक ही सुवर्ण से कुण्डल, कंकण, हार आदि अनेक आभूषण विभिन्न रूपों के बनाये जाते हैं। उनके पृथक्-पृथक नाम होते हैं, किन्तु वे सभी आभूषण सुवर्ण रूप ही होते हैं। दूसरे शब्दों में, एक ही सुवर्ण में पृथक्-पृथक् नामकरण कर दिये जाते हैं। आभूषण केवल अपने नाम रूप के कारण ही भिन्न होते हैं। वस्तुरूप में वे सभी सुवर्ण ही हैं। वास्तविक रूप में सुवर्ण का परिवर्तन किसी अभूषण रूप में नहीं हुआ है, उसका परिवर्तन केवल नामरूप से ही किया गया है। ठीक इसी प्रकार आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है, जो बाह्य जगत् में स्वयं अनेक रूपों में प्रतिभासित होती है—

---

१. ल० मञ्जूषा रत्नप्रभा टीका, पृ० २१४-१५।
२. भामती वे० सू० १-१-२।
३. प० सा० २२ उद्धृत ल० मञ्जूषा पृ० २२० (परमार्थ सार)

क—"वाचारम्भणम् विकारोनामधेयम्",[1]

ख—एतदात्म्यमिदं सर्वम्,[2]

ग—इदं ब्रह्मेदं क्षमामित्रे लोका में देवा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा ।[3]

आचार्य शंकर कहते हैं कि स्वप्नावस्था में अनुभूत सभी वस्तुएं स्वप्नकाल तक उसी प्रकार सत्य प्रतीत होती हैं जैसे हम जाग्रतावस्था में बाह्य वस्तुओं का अनुभव करते हैं। किन्तु निद्रावस्था के बाद सम्पूर्ण स्वप्नगत अनुभूतियाँ असत्य सिद्ध हो जाती हैं।[4] इसी प्रकार बाह्य वस्तुओं की सत्ता भी असत्य है। स्वप्न में न रथ है, न अश्व हैं और न ही सड़क है, तथापि इनका आभास होता है। कभी-कभी ये स्वप्न इष्टानिष्ट के सूचक भी होते हैं। स्वप्नकाल की अनुभूतियाँ ज्ञानेन्द्रिय के निष्क्रिय रहने पर भी होती हैं। अतः यह सिद्ध हैं कि स्वप्नकाल की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ केवल बौद्धिक होती हैं। यहाँ तक की उनका सुप्त ज्ञानेन्द्रियों से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता है—

"न तत्र रथा, नाश्वयोगाः, न पन्थानो भवन्ति, अथरथान्, रथयोगान् पथः सृजते।"[5] नास्यरथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति रथादि निवर्तने वा कुतो निमेषमात्रेण सामर्थ्यम्? दारुणि च वसन्ति तस्मान् मायामात्रं स्वप्नदर्शनम्...... ताहशमयीष्टानिष्टसूचकम्।"[6] इस प्रकार स्वप्न की अनुभूति केवल मानसिक मिथ्याप्रतीति (Fabrication) है। जगने के पश्चात् उसकी असत्यता सिद्ध हो जाती है। अतः वह (स्वप्न) सत्य नहीं है। ठीक इसी प्रकार शंकराचार्य के अनुसार भौतिक अनुभव केवल बुद्धि का मिथ्या परिणाम ही है अर्थात् भ्रम है। इसकी (बाह्य वस्तु की) कोई सत्यता नहीं है। जैसे—जगने तक स्वप्न की वास्तविकता है वैसे ही बाह्य-जगत् के अनुभव तक इस मिथ्या संसार की भी सत्यता है। स्वप्न का मिथ्यात्व प्रतिदिन बाधित होता है किन्तु इस संसार का मिथ्यात्व दीर्घकाल पर्यन्त अत्यन्त साधना और ज्ञान के बाद ही बाधित होता है।[7]

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् एक दीर्घकालिक स्वप्न के समान है, वह केवल बौद्धिक भ्रममात्र है। यह बुद्धि के बाहर नहीं, अपितु बुद्धि में ही है। अतः सम्पूर्ण भौतिक जगत् (बाह्य वस्तु) बौद्ध के अर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

त्रिगुणात्मिका अविद्या के द्वारा सर्वव्यापक एवं जगत्कारण चैतन्य आत्मा में सृष्टि का भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु उस अविद्या से सर्वात्मा स्पष्ट नहीं किया जाता है। जिस प्रकार सर्प के आरोप (के कारण) से रस्सी में कोई उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है, उसी प्रकार भौतिकजगत् की उत्पत्ति और विनाश से सर्वचैतन्य आत्मा

---

१. छान्दोग्य उपनिषद, ६/१/४, २. वही ६/८/७,
३. बृहदा० उप० २/३/१।
४. शां० भाष्य, २/१/१४। ५. बृहदारण्यक उप० ४/३/१०।
६. वही २—वतृ। ३/२/४।
७. शां० भाष्य ३/२/४।

में किसी प्रकार की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, अपितु वह केवल भ्रम का अधिष्ठान है ।[1]

यथा—प्रज्वलित अग्नि से उद्भूत धूम्र से आकाश में विविध आकृतियाँ दिखायी देती है, तथैव विष्णु में वासनारूप से नामरूपात्मक सृष्टि का भान होता है ।[2]

बाह्य वस्तु को पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कालान्तर में इसका बाध हो जाता है, सत् सदैव सत् ही रहता है, उसका कभी बाध नहीं होता । इसे पूर्णतः असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यवहार दशा में इसका अनुभव करते हैं, उपयोग करते हैं तथा उससे सुख-दुःखी होते हैं । अतः बाह्य-जगत् को न तो सत् कहा जा सकता है और न ही असत् । इसीलिए इस मायिक (अविद्यात्मक) जगत् को सदसत् अनिर्वचनीय) कहा जाता है । यही अनिर्वचनीयता है । यह सत् और असत् से भिन्न नहीं है । इसकी विलक्षणता यही है कि इसे न सत् कहा जा सकता है और न ही असत् । बाह्य वस्तुएं जिनका हम दैनन्दिन अनुभव करते हैं वह केवल एक अध्यास, मिथ्या ज्ञान अथवा भ्रम है और यह भ्रम केवल मानसिक है, शारीरिक नहीं । जिस प्रकार शुक्ति में रजत्व की प्रतीति केवल आरोपित है, भ्रम है वास्तविक नहीं, वह पूर्णतः बौद्धिक विभ्रम है, उसी प्रकार हम जिन वस्तुओं का अनुभव करते हैं, उनकी बाह्य सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, बौद्ध सत्ता समाविष्ट ही हैं ।[3]

ये बाह्य वस्तुएं जिन्हें बौद्धिक परिणाम (क्रियेशन आफ माइंड) कहा गया है, ये बुद्धि के वास्तविक परिणाम नहीं हैं । यह स्मृति या अध्यास रूप अनुभव है । इसीलिए इसे बौद्धिक भ्रम कहा जा सकता है । यथा रज्जु में सर्प का भ्रम । रज्जु सर्प रूप में परिणमित नहीं हो जाती, अपितु रज्जु में केवल सर्पात्मक प्रतीति (भ्रम) होती है । सर्प का भ्रम रस्सी को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करता है । सम्पूर्ण जगत् एक मिथ्या प्रतीति अथवा बुद्धि का विवर्त है । समस्त बाह्य जगत् मिथ्या है । बुद्धि स्वयं को विभिन्न रूपों या आकारों में परिणयित करती है। कोई भी बाह्यवस्तु बुद्धि के बाहर नहीं है ।[4] अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

"यो वाऽर्थो बुद्धि विषयो बाह्यवस्तु निबन्धनः ।
स बाह्य वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ।।"[5]

शब्द का अर्थ बाह्य नहीं, अपितु बुयुपद्धारूढ़ है, क्योंकि बुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिस्थ अर्थ के साथ ही समानाधिकरण संभव है और समानाधिकरण में ही वाच्य-वाचक

---

१. परमार्थ सार ४९, ५०, उद्धृत, ल० मंजूषा, पृ० २३२ टीका ।
२. प० सा० ३३, उद्धृत, ल० मंजूषा, पृ० २३६ में उद्घृत ।
३. भामती शां० भा० १/१/१ ।
४. परमार्थसार ३३, शां० भा० १–१–१ ।
५. वा० प० २/१३४ ।

भाव सम्बन्ध संभव है वैय्याधिकरण में नहीं। अतः सम्पूर्ण अर्थ बौद्ध ही है, तथापि शब्दार्थ के द्वारा जो बाह्य वस्तु में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है वह बुद्धिस्थ वस्तु के समान आकार रूप में तादात्म्य सम्बन्ध से अध्यास के कारण होती है। अर्थात् बाह्य वस्तु अध्यस्त है, बौद्ध वस्तु ही वास्तविक है। कूर्म पुराण में भी कहा गया है कि पृथिव्यादि सम्पूर्ण बाह्य वस्तु चित्त में ही है, बाहर कुछ नहीं है, जैसा कि स्वप्न-भ्रमादि में सभी अनुभव करते ही हैं।[1]

ऐतरयोपनिषद् के अनुसार भी यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् प्रज्ञान के ही विविध नामधेय हैं। इनकी बाह्य सत्ता कुछ भी नहीं है—

"सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च यच्च स्थावरम्।"[2]

यह सम्पूर्ण भौतिक जगत् केवल ब्रह्म और उसकी शक्ति अविद्या (माया) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"[3]

जिस परमेश्वराधीन शक्ति से समस्त जगत् का अभ्युपगम होता है, वही अर्थवती है। उसके बिना परमेश्वर का स्रष्टत्व संभव नहीं और वह शक्ति अविद्या रूप है। वही संसार का बीज है।[4]

जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण तड़ागों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार एक परमात्मा अनेक उपाधियों में प्रतिलक्षित होता है। यथा—

"भिन्न जलेष्वेक आदित्यो भासते पृथक्।
एक आत्मा शरीरेषु भिन्नवद् भासते तथा॥"[5]

ब्रह्माण्ड उपनिषद् में कहा गया है—

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥"[6]

विष्णुपुराण में उल्लिखित है कि ज्ञान ही ब्रह्म है, ज्ञानाज्ञान से ही मोक्ष और बन्ध सम्भव है। सम्पूर्ण जगत् ज्ञानात्मक है। ज्ञान से पृथक् कुछ भी नहीं है। विद्या और अविद्या सब कुछ ज्ञान ही को समझिये।[7]

---

१. कूर्म पु०, ल० मंजूषा में उद्धृत, पृ० २४१।
२. ऐत० उप० ५/१२–३। ३. श्वे० उप० ४/१०।
४. शां० भाष्य १/४/३।
५. प० सार०, उद्धृत ल० मंजूषा।
६. ब्रह्माण्ड उपनिषद् १२।
७. वि० पुराण २/६/५०–५१।

नागेश लिखते हैं कि चित्तवृत्तियाँ इन्द्रियों के साथ ही बाह्य वस्तु के रूप में परिणमित होती है। इसीलिए रसनेन्द्रियगत पित्त के कारण 'गुड़' का स्वाद कटु प्रतीत होता है तथा नेत्रगत पित्त के कारण व्यक्ति को शंख भी पीला दिखाई देता है। यह चित्तवृत्ति भ्रम एवं प्रभा (पीतत्व एवं शंखत्व) उभय रूप पुरुष में ही प्रतिबिम्बित होता है। वह प्रतिबिम्ब केवल बुद्धि का परिणाम विशेष ही है। वह प्रतिबिम्ब दर्पणगत प्रतिबिम्ब के समान नहीं है, अपितु वह प्रतिबिम्ब पुरुषगत होता है। जिसके लिए कहा जा सकता है– "कामी स्वतां पश्यति"। पुरुष भी तद्रूप चित्तवृत्ति के सम्बन्ध से तद्वस्तुरूपता को प्राप्त हो जाता है और वह वृत्ति स्वभाववश विषय के सम्बन्ध से स्वकीय रूप को प्रकाशित करने वाली होती है।[1] अतएव स्ववृत्यवच्छिन्न पुरुष अकर्त्ता होते हुये भी कर्त्ता की तरह होता है। अभोक्ता होते हुये भी भोक्ता की तरह होता है। यह भोग वैसे ही है जैसे कुत्ते के द्वारा शुष्क अस्थि के चर्वण से उसी के रक्त का स्वाद उसको मिलता है किन्तु वह उसको अस्थि से निःसृत रक्त समझता है। इस आशय की पुष्टि योग-दर्शन से भी होती है।[2]

वैयाकरणों के मत में 'अहं घटं जानामि' का अर्थ होता है कि 'घटविषयक ज्ञानवानहमस्मि'[3] अर्थात् 'मन्निष्ठ ज्ञानं घटत्ववृत्तित्वावच्छिन्नं, घटरूपात्मकम् वास्ति'। इससे ज्ञान की विषयकारिता सिद्ध होती है।

"एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कुर्मक्षीर चये स्नातः शशश्रृङ्ग धनुर्धरः॥"

अर्थात् यह वन्ध्यापुत्र जा रहा है, आकाशपुष्प मस्तक पर धारण किये हुये है, कच्छप के दूध में स्नान किये हुये है और शशक के श्रृंग का धनुष लिये हुये है। यहाँ पर शश-श्रृंगादि की बाह्य सत्ता न होने के कारण ये शब्द अर्थवान् कैसे होंगे अर्थात् इसका शाब्दा-बोध कैसे होगा ? पुनः इसकी प्रातिपदिक संज्ञा कैसे होगी ? अपि च— 'वन्ध्यासुत' के साथ 'याति' क्रियापद का अन्वय कैसे होगा तथा 'शशश्रृंग'–नास्ति' में 'नास्ति' की आवश्यकता क्या है ? बौद्ध-पदार्थ की स्वीकृति से ही ये सभी असंगतियाँ दूर हो जाती हैं। इनकी बाह्य सत्ता के अभाव में भी बुद्धि पदार्थ के कारण शाब्दा-बोध हो जाता है। प्रातिपदिक संज्ञा भी हो जाती है तथा बुद्धिस्थ वन्ध्यासुत के साथ 'याति' का अन्वय हो जाता है। शशश्रृंग नास्ति' में नास्ति पद का प्रयोग शशश्रृंग की बाह्य सत्ता के अभाव ज्ञापन के लिए किया जाता है। अतएव 'आकाशं न पश्यति' में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती है।[4] अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

---

१. ल० मंजूषा, पृ० २९८–३०१। २. योग सू० १/३–४।

३. ल० मंजूषा-रत्नप्रभा टीका, पृ० सं० ३१५।

४. ल० मंजूषा तथा रत्नप्रभा टीका—३१६–१७।

"व्यपदेशेपदार्थानामन्यासत्तोपचारिकी ।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य दर्शिका ॥"[1]

बौद्ध पदार्थ को स्वीकृत करते हुये भाष्यकार ने लिखा है—"बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः········बुद्धित्वस्य विपरिणम्यते ।"[2] व्यक्ति की सभी चेष्टायें वस्तु का बुद्धि में आधान करके ही होती हैं । सम्पूर्ण जगत् बुद्धि का ही परिणाम है ।

जब किसी व्यक्ति राम के नाम से सम्बन्धित नगर को 'राकनगरम्' कहा जाता है तो उसका अर्थ होता है 'रामस्य नगरम्' । तब वहाँ राम के न होने के कारण उभयनिष्ठ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? तथा 'राम' की प्रातिपदिक संज्ञा कैसे हो सकती है ? बौद्ध पदार्थ के कारण बुद्धिनिष्ठ 'राम' की प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है ।

नागेश ने मंजूषा में विभिन्न शास्त्रों से समर्थन करते हुये विविध तार्किक युक्तियों के आधार पर बौद्ध अर्थ को सिद्ध किया है । उनके अनुसार बौद्ध अर्थ ही शक्ति-ग्रह का विषय है—"अर्थश्च बौद्ध एवं ज्ञानविषयः शक्तिग्रह विषयश्च ।" बौद्ध अर्थज्ञान वृत्ति रूप है और वह बुद्धि का ही धर्म है । शब्दार्थ और ज्ञान की स्थिति समान देश में होने के कारण उनका परस्पर इतरेतराध्यास है ।[3] अतएव पतञ्जलि ने योग-दर्शन में लिखा है—

"शब्दार्थ प्रत्ययानामितेरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभाग संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ।" बौद्ध पदार्थ को ही शब्द प्रकाशित करता है । शब्द और अर्थ दोनों एक ही आत्मा के दो भेद हैं—

"अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते ।
एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थवापृथक् स्थितौ ॥"[4]

स भूरिति व्यवहारत्, स भूमिमसृजत् । इस श्रुति से सृष्टि के पहले भू-शब्दादि से तदर्थज्ञान पूर्वक सृष्टि का सृजन हुआ । यहाँ पर बाह्य 'भू' के अभाव में बौद्ध 'भू' का ग्रहण होता है ।[5] अतएव मनु ने लिखा है—

"सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद-शब्देभ्ये एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥"

डॉ० आर० सी० पाण्डेय ने लिखा है—

"Thus the whole objective world, like a long dream is said to be the creation of mind. It is not out-side of man. It is in man. The whole objective world is mental."[6]

---

१. वा० प० ३/३/३९ । २. म० भाष्य १/१/५६ ।
३. ल० मंजूषा, पृ० ३६४ ।
४. वा० प० २/३१ । ५. ल० मंजूषा, पृ० ३६५ ।
६. प्रौब्लेम आफ मीनिंग, पेज २३२ ।

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद में बाह्य-विषय का खण्डन करके केवल विज्ञानवाद की स्थापना की है। उनके अनुसार ग्राह्य-ग्राहक के अतिरिक्त संसार में कुछ है ही नहीं और ये सब ग्राह्य-ग्राहक भी एक विज्ञान के दो रूप हैं तथा ये रूप शून्य होते हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र में बौद्ध अर्थ और बाह्य अर्थ दोनों की सत्ता सिद्ध की है। 'यह गाय है' ऐसे स्थलों पर प्रत्यक्ष आख्यान द्वारा ज्ञान कराया जाता है और 'देवदत्त इस प्रकार है'–यहाँ देवदत्त की अविद्यमानता के कारण 'अंगदी, कुण्डली, किरीटी देवदत्त हैं, इत्यादि गुणों के आधार पर बौद्धिक आख्यान द्वारा उसका ज्ञान कराया जाता है—'प्रत्यक्ष तावदाख्यानमुपदेशः। अयं गौरिति। गुणैः प्रापणमुद्देशः ··· ··· ··· ··· ईदृशो देवदत्त इति।"[1] इससे बाह्य और बौद्ध उभयविध अर्थ को स्वीकार किया है। कैयट ने भी ऐसी ही व्याख्या करते हुये लिखा है—"एतैः शब्दैः यादृशो बुद्धावर्थः प्रतिभासते तादृशो वाह्यः।"[2] 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' सूत्र में भाष्यकार ने अर्थ की त्रैकालिक सत्ता को स्वीकार किया है। अतएव 'वह धनवान् था या होगा' आदि भूत-भविष्यत् में भी मतुप् प्रत्यय का विधान सम्भव होता है। कैयट ने इस भाव को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि पदार्थ सत्ता को कभी नहीं छोड़ता है। बुद्धि में पदार्थ की सत्ता के बिना अर्थबोधन के लिए पद का उच्चारण सम्भव है, क्योंकि सम्पूर्ण शब्दों की प्रवृत्ति में सत्ता ही कारण है।[3]

भर्तृहरि ने भी अर्थ की त्रैकालिक सत्ता को आवश्यक बताया है। उसके बिना शब्दों का व्यवहार ही नहीं हो सकता। वस्तु के साथ सत्ता का काल-भेद नहीं होता है।[4] वस्तुतः भर्तृहरि दार्शनिक ही नहीं, अपितु भाषावैज्ञानिक भी थे। अतः उन्होंने भाववादी (बाह्य वस्तुवादी) और अभाववादी (बौद्धवादी) दोनों का समन्वय करते हुये लिखा है—

'तस्मात् सर्वमभावो वा भावो वा सर्वमिष्यते।
न त्ववस्थान्तरं किंचिदेकस्मात् सत्यतः स्थितम्॥
तस्मान्नाभावमिच्छन्ति ये लोके भाववादिनः।
अभाववादिनो वापि न भावं तत्वलक्षणम्॥"[5]

अर्थात् अभाववादियो के अनुसार बुद्धिसत्ता समाविष्ट ही सम्पूर्ण अर्थ है। बाहर कुछ भी नहीं है, जो दृष्टिगोचर है वह काल्पनिक या मिथ्या है। वह सत् ज्ञान

---

१. म० भाष्य १/३/२।
२. म० भाष्य १/३/२ तथा कैयट।
३. म० भाष्य तथा कैयट ५/२/९४।
४. वा० प० ३/३/३९।
५. वा० प० ३/३/४२।

रूप है। भाववादियों के अनुसार बाह्य वस्तु के अतिरिक्त बौद्धपदार्थ कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है, वह केवल दृश्य (बाह्य) ही है, किन्तु भर्तृहरि कहते हैं कि यदि अभाव को ही माना जाये तो उसका भाव (बाह्य-सत्ता) नहीं हो सकेगा और यदि भाव (बाह्य सत्ता) को ही माना जाये तो उसका अभाव नहीं हो सकेगा। किसी भी एक (भाव या अभाव) को मानने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत होती हैं। अतः भाव और अभाव अर्थात् बाह्य अर्थ और बौद्ध अर्थ दोनों को ही मानना पड़ेगा—

"नाभावो जायते भावोऽनेतिभावोऽनुपाख्यानाम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ॥"[1]

जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने भी कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते एतः।"[2]

भर्तृहरि केवल बाह्य अर्थ के मानने का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि जो सत् है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता और जो असत् है, उसका निषेध कैसा? अतः केवल बाह्य अर्थ को ही मानने पर संसार में 'नञर्थ' का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा—

"न च सतां निषेधोऽस्ति सो सत् सु न च विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥"[3]

इसी प्रकार 'अस्ति का भी प्रयोग नहीं हो सकेगा। यास्क के अनुसार 'अस्ति' का अर्थ है—'उत्पन्न हुई वस्तु की सत्ता का निश्चयीकरण' तो जो वस्तु सत् है वह उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः 'घट' कहने से ही घड़ की सत्ता का लाभ हो जायेगा, 'अस्ति' का प्रयोग निरर्थक है। बौद्धपदार्थ मानने पर ही बाह्य सत्ता का विधान या निषेध बताने के लिए 'अस्ति' या 'नास्ति' का प्रयोग होता है।[4]

भर्तृहरि का दृष्टिकोण एकांगी नहीं था। उन्होंने जिस प्रकार केवल बाह्यार्थ मानने का खंडन किया है वैसे ही केवल बौद्धार्थ मानने पर भी उक्त प्रकरण में आपत्ति प्रकट करते हुये लिखा है कि केवल बौद्ध अर्थ मानने पर अस्ति नास्ति आदि पदों की उपयोगिता नहीं है। यदि केवल बौद्ध अर्थ को माना जाये तो 'ओदनं भुक्ते' (भात खाता है) इत्यादि बाह्य व्यवहार कैसे सम्भव होगा? भर्तृहरि ने इसका उत्तर देते हुये लिखा है कि शब्द से बोध्य अर्थ ज्ञान रूप है, अतः बौद्ध है, परन्तु उस ज्ञान से जिस अर्थ का निर्देश किया जाता है, उससे बाह्य अर्थ का भी ग्रहण किया जाता है। बौद्ध अर्थ मानने पर जो असम्भव माना जाता है वह भी सम्भव है—

"भोजनाद्यभिमन्यन्ते बुद्ध्यर्थे यदसंभवि।
बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते॥"[5]

---

१. वा० प० ३/३। २. गीता, २/१६।
३. वा० प० ३/३।
४. निरुक्त, १,२।
५. वा० प० ३/३।

भर्तृहरि ने आगे लिखा है कि जब शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति बुद्धि में होती है तब बाह्य वस्तु में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। अतएव बाह्य वस्तु और बुद्धिगत वस्तु में एकत्व ज्ञान के कारण बाह्य शब्दार्थ मानना ही पड़ेगा। अन्यथा **'अब्राह्मणः'** आदि स्थलों में 'नञ्' समास के द्वारा ब्राह्मण को किस वस्तु से पृथक् किया जायेगा ?

"निवृत्तेऽवयवस्तस्मिन् पदार्थे वर्तते कथम् ।
न निमित्ता हि शब्दस्य प्रवृत्तिरूपपद्यते ।।"[1]

समीक्षा—

उपर्युक्त विवेचन से हमारे सामने तीन मत प्रस्तुत होते हैं—

१. भाववाद (बाह्यवस्तुवाद),
२. अभाववाद (बौद्धवाद) तथा
३. भावाभाववाद। (उभयवाद)।

भाष्यकार पतञ्जलि ने बौद्ध अर्थ को स्वीकार करते हुये अर्थ की बाह्य सत्ता को भी माना है। बाह्य सत्ता का पूर्णतः निषेध नहीं किया है, अपितु बाह्य सत्ता के अभाव में केवल बौद्ध सत्ता ही होती है और बाह्य सत्ता के होने पर पहले शब्द का अर्थ बुद्धि में होता है। तदनन्तर बाह्य वस्तु में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है।[2] महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी इसी विचारधारा को अनेक लौकिक एवं शास्त्रीय तर्कों द्वारा सम्पुष्ट किया है।

किन्तु नागेश ने केवल बुद्धिसत्ता को ही शब्दार्थ माना है और बाह्य सत्ता का सर्वथा खण्डन किया है—

"शक्याकोऽपि बौद्धसत्तासमाविष्ट एव न तु वाह्यसत्ता समाविष्टः।"[3] इतना ही नहीं, उन्होंने बौद्धार्थ को भी सत्य नहीं माना है, अपितु उसे चित्त या बुद्धि का परिणाम माना है, और इसकी सम्पुष्टि विशेषतः अद्वैतवादी दर्शन के आधार पर की है। 'परमार्थसार', 'शंकरभाष्य', वाचस्पति मिश्र के 'भामती भाष्य' तथा अनेकत्र विकीर्ण अन्य सिद्धान्तों के द्वारा स्वमत का पूर्णता के साथ प्रतिपादन किया है। यह प्रतिपादन अत्यन्त तार्किक और विचारपूर्ण है। नागेश के इस बौद्ध अर्थ की आलोचना करते हुये डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने उन पर अनेक आरोप लगाये हैं[4]—

१. यदि अर्थ सर्वथा असत्य (काल्पनिक) है तो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है ?

---

१. वा० प० पृ० सं० ५८३।
२. इसी अध्याय में निर्दिष्ट।
३. ल० मंजूषा, पृ० २०३।
४. अर्थ वि० और व्या० द०, पृ० १८४-८५।

२. उनके शब्द-अर्थ की असत्यता का प्रतिपादन उन्हें शब्दार्थ सम्बन्ध न मानने वाले बौद्धों के पास खड़ा कर देता है, जिससे बचने के लिये उन्होंने यह तर्क दिया है कि बौद्ध (दार्शनिक) आरोपित सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) को भी नहीं मानते हैं और आत्मा को अनित्य मानते हैं। यही उनमें और बौद्धों में अन्तर है।

३. एक विशेष बात यह है कि पतञ्जलि ने 'उपदेशे०··· ··· ··· ··· ···' सूत्र में बौद्ध तथा बाह्य दोनों सत्ताओं को स्वीकार किया है, किन्तु नागेश ने मंजूषा में उनके केवल बौद्ध अर्थ को प्रस्तुत किया है तथा बाह्य अर्थ का अपलाप कर दिया है।

४. इसी प्रकार भर्तृहरि ने शब्द-बोध में तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है—

(१) प्रयोक्ता का अभिप्राय,

(२) बाह्य अर्थ और

(३) अर्थ का स्वरूप।

ज्ञानं प्रययोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।"[1] इस कारिकांश को नागेश ने ज्ञानं प्रयोक्तुरर्थस्य स्वरूपं च प्रतीयते[2]—इस रूप में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त आलोचना करते हुये डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने लिखा है कि नागेश ने केवल बुद्धिवाद का समर्थन करके व्याकरण को एकांगी बनाने की चेष्टा की है। पतञ्जलि ने व्याकरण को वेद तथा अन्य दार्शनिक शाखाओं से सम्बद्ध बताया है, जिसका निर्वाह भर्तृहरि ने भी किया है, किन्तु नागेश ने उस मर्यादा का उल्लंघन किया है जिसका अनुभव उन्होंने स्वयं किया है।[3]

वस्तुतः लोक-व्यवहार में अहर्निश अनुभूयमान् बाह्य वस्तुओं का पूर्णतः अपलाप नहीं किया जा सकता। आचार्य शंकर जिन्होंने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का सफल प्रतिपादन किया, उन्होंने भी व्यावहारिक और पारमार्थिक दो प्रकार की सत्ता को स्वीकार किया है।

व्यवहार में हम बाह्य वस्तु का सतत् उपयोग करते हैं। उससे प्रभावित होते हैं। इस अनुभव को व्यवहार में अपलपित नहीं किया जा सकता है। बाह्य वस्तु का सर्वतोभावेन निषेध करना उतना ही उचित कहा जा सकता है जितना कि हम अपने शरीर तथा स्थूल रूप का निषेध कर सकते हैं। अतः जैसा कि भर्तृहरि, पतञ्जलि, पाणिनि तथा अन्य दार्शनिक आचार्यों ने बाह्य वस्तु को माना है, उसकी व्यावहारिक सत्यता को स्वीकार किया है, उसी के अनुसार नित्यप्रति के अनुभवों के आधार पर बाह्य वस्तु को मानना ही पड़ेगा।

---

१. वा० प०, ३/३/१।

२. वा० प०, ३/३/१।

३. अर्थ वि० और व्या० द०, पृ० १८४–८५।

किन्तु जहाँ तक पद के अर्थ (मीनिंग) का सम्बन्ध है उसे तो बौद्ध ही मानना पड़ेगा। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि किसी शब्द के सुनने पर पहले तद्रूप वस्तु का बौद्धिक ज्ञान होता है तदनन्तर उसी आकार-प्रकार के सदृश बाह्यवस्तु में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, और कभी-कभी जहाँ बाह्यवस्तु का अभाव होता है, वहाँ केवल बौद्धिक ज्ञान ही होता है। उन स्थलों पर बौद्ध अर्थ ही ज्ञानात्मक प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण होता है। यथा—'ईदृशो-देवदत्तः' आदि। सम्पूर्ण बाह्य वस्तु बौद्ध भी है—इसका खण्डन नहीं किया जा सकता है। जब अर्थ बौद्ध नहीं होगा तो शब्दार्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसीलिए कहा जाता है कि आपको अमुक ज्ञान नहीं है 'अर्थात् तद्रूप अर्थ का आकार-प्रकार बुद्धिस्थ नहीं है। जब वाराणसी नगर हमारी बुद्धि में है तो किसी पास बैठे हुये व्यक्ति को हम रेखाचित्र द्वारा बता देते हैं कि 'यह दशाश्वमेघ घाट है। इस मार्ग पर विश्वनाथ का मन्दिर पड़ेगा और पुनः इधर चले जाइये तो चौक पहुँच जाइयेगा। किन्तु यह सच है कि बुद्धि में कोई भी अर्थ मूर्तरूप में नहीं रहता है, अन्यथा अग्नि के उच्चारण से व्यक्ति का मुख जल जायेगा।

बुद्धि ही तद्रूप में विपरिणमित होती है। अतः बौद्ध अर्थ काल्पनिक है, किन्तु बौद्ध-अर्थ मानना अपरिहार्य है, यह सिद्ध किया जा चुका है शब्द से सीधे जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, वह बौद्ध ही है। तदनन्तर बाह्य वस्तु के साथ उस अभिज्ञात बौद्ध अर्थ का सम्बन्ध होता है। इसी कारण भर्तृहरि ने लिखा है—

"ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।"

अतः बौद्ध पदार्थ और बाह्य पदार्थ दोनों की सत्ता मानना आवश्यक है। इनमें से किसी एक के न मानने पर अनेक विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। जहाँ तक नागेश के द्वारा बाह्य वस्तु के निषेध करने की बात है, उसका कारण है—दृष्टिकोण का अन्तर। जब नागेश शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध सब-कुछ असत्य मान लेते हैं तो उनके मञ्जूषा लिखने का उद्देश्य क्या है? तथा उसकी सत्यता कहाँ तक है? आज नागेश नही हैं, फिर भी उसे पढ़ा जा रहा है—इसकी सत्यता कहाँ तक है? इनकी व्यावहारिक सत्ता तो उन्हें स्वीकार थी ही। अर्थ की नित्यता केवल व्यावहारिक नित्यता मानी जा सकती है, पारमार्थिक नहीं। इसी प्रकार उच्चार्यमाण शब्द और शब्दार्थ सम्बन्ध की भी केवल व्यावहारिक नित्यता मानी जा सकती है, आत्यन्तिक नहीं।[1] नागेश ने पदार्थ आदि की अनित्यता को पारमार्थिक दृष्टि से ही कहा है। यह बात स्पष्ट है कि नागेश की मञ्जूषा शुद्ध व्याकरण का ग्रन्थ नहीं, अपितु व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ है। अतः उन्होंने जो बाह्य वस्तु की असत्यता वेदान्ती सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध की, उससे स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ उनका दृष्टिकोण शुद्ध रूप से दार्शनिक है।

अस्तु, व्यावहारिक (भाषावैज्ञानिक) दृष्टि से शब्द से बौद्ध अर्थ की प्रतीति होती है तब बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति होती है। बौद्ध अर्थ और बाह्य अर्थ दोनों की सत्ता

---

१. द्रष्टव्य-शब्दार्थ सम्बन्ध-स्वरूप-विमर्श प्रस्तुत निबन्ध।

सिद्ध है। पारमार्थिक दृष्टि से तो नागेश के अनुसार सम्पूर्ण अर्थ-जगत् बौद्ध (काल्पनिक) है किन्तु इससे व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य अर्थ का निषेध नहीं होता है।

जाति-व्यक्ति-विमर्श

पूर्व प्रकरण में यह विचार किया गया है कि शब्द से बोध्य अर्थ होता है और तादात्म्य सम्बन्ध से बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। इसके साथ ही यह भी विचिकित्सा होती है कि शब्द से प्रतीयमान अर्थ जातिरूप होता है या व्यक्तिरूप ? भारतीय दार्शनिकों एवं भाषावैज्ञानिकों में इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन सिद्धान्त उपस्थित होते हैं—

१. शब्द से जात्यर्थ की उपस्थिति होती है।

२. शब्द से व्यक्त्यर्थ की उपस्थिति होती अथवा

३. शब्द से जाति-विशिष्ट व्यक्त्यर्थ की उपस्थिति होती है ?

इस प्रकरण में इन्हीं सिद्धान्तों की समीक्षा हमारे विचार का विषय है। इस विवेचन के पूर्व जाति या व्यक्ति का शास्त्रीय-लक्षण भी जान लेना आवश्यक होता है। महाभाष्यकार ने जाति को आकृति और व्यक्ति को द्रव्य की संज्ञा से अभिहित किया है—

"किं पुनराकृतिः पदार्थः अहोस्विद् द्रव्यम् ?"[१]

भर्तृहरि के अनुसार द्रव्य का लक्षण है कि जिसको लक्ष्य में रखकर 'यह है'—इस प्रकार वस्तु-संकेतक सर्वनाम का प्रयोग होता है, उस अर्थ को द्रव्य कहते हैं। हेलाराज ने इसको संक्षिप्त रूप में कह दिया है— "इदं तत्" (यह वह है) इस प्रकार सर्वनाम के द्वारा बोधन योग्य को द्रव्य कहते हैं—

"इदं तदिति सर्वनाम प्रत्यवमर्श योग्यं द्रव्यम्।"[२]

व्याडि के अनुसार यह द्रव्य का व्यावहारिक पक्ष है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का पारमार्थिक पक्ष भी होता है जिसका लक्षण हरि ने किया है—आत्मा, वस्तु, स्वभाव और तत्व—ये सब द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं। यह द्रव्य नित्य होता—

"आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥"[३]

भाष्यकार ने सास्नालांगूलककुदखुर विषाण्यर्थरूप गो को द्रव्य माना है और द्रव्य या गुणादि के छिन्न हो जाने पर भी जो छिन्न न हो तथा भिन्न द्रव्यस्थ सामान्यभूत तत्व को जाति माना है कि यत्तच्छिन्नेष्व छिन्नं भिन्नेष्वभिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह आकृतिर्नामसा।

---

१. म० भाष्य १/२/६४।

२. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २८९ में उद्धृत, हेलाराज टीका।

३. हेलाराज टीका, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २८९ में उद्धृत।

गौतम ने जाति का लक्षण लिखा है—"समानप्रसवात्मिका जातिः।" अर्थात् जिसके द्वारा विभिन्न अधिकरणों में समानाधिकारात्मिका बुद्धि का जनन होता है, वह जाति है।

अस्तु, उक्त लक्षणों के विवेचन से स्पष्ट है कि वह अधिकरण जिससे एक ही वस्तु का ज्ञान हो, व्यक्ति है, और वह तत्व जो अनेक वस्तुओं में समान रूप से प्राप्त होता है, जाति है। इसीलिए इन्हें तत् (व्यक्ति) और तत्ता (जाति) के रूप में भी जाना जाता है।

जातिवाद— इस सम्बन्ध में पहले हम मीमांसकों का मत प्रस्तुत करना चाहेंगे। मीमांसा दर्शन के आचार्य जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में जातिवाद का पूर्णतः समर्थन किया है। उनके अनुसार किसी भी शब्द का प्रयोग व्यक्ति के अर्थ में नहीं होता है, अपितु जाति के अर्थ में होता है। एक ही 'गो' शब्द अनेक 'गो' व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्तिरूप अपने जातिरूप से पृथक् या विच्छिन्न नहीं रह सकता। दूसरा कारण यह है कि किसी भी शब्द के उच्चारण से चाहे वह जातिपरक हो या व्यक्तिपरक, सर्वप्रथम जाति का ही ज्ञान होता है, तदनन्तर व्यक्ति का। 'गो', 'घट', आदि शब्दोच्चारण से पूर्व बुद्धि में गो सामान्य या घट सामान्य की उपस्थिति होती है, तदनन्तर गो विशेष या घट विशेष रूप अतः क्रिया का प्रयोजन जाति से ही समाप्त होता है अर्थात् सभी क्रियायें जाति को मानकर ही होती हैं।

सभी जातिवादियों के समक्ष एक असमाधित प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वह प्रश्न यह है कि लोक-व्यवहार में समस्त क्रियायें या प्रवृत्ति-निवृत्ति जाति में नहीं, अपितु व्यक्ति में होती हैं। 'गामानय' 'पुस्तकं पठ' में आनयन और पठन क्रियायें व्यक्ति में ही सम्भव हैं न कि जाति में। इस प्रश्न के समाधान के लिए सभी जातिवादियों को किसी न किसी प्रकार से व्यक्ति की उपस्थिति माननी पड़ती है। अतः व्यक्ति और जाति में या तो एक प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं या जाति से व्यक्ति की उपस्थिति। ये मान्यतायें इस प्रकार हैं—

जैमिनि के अनुसार व्यक्ति अपनी जाति से पृथक् नहीं है। जाति और व्यक्ति अविभक्त रूप में नहीं रहते हैं। जाति में व्यक्ति रहता है और व्यक्ति में जाति। जाति या व्यक्ति की पृथक् सत्ता अनुपलब्ध है। अतः जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। व्यक्तिबोधक शब्द भी केवल व्यक्ति का बोध नहीं कराता, अपितु उस द्रव्य (व्यक्ति) में रहने वाली जाति का भी बोध कराता है और वही उसका प्रमुख अर्थ होता है। अतः कहा जा सकता है कि जैमिनि के अनुसार समवाय सम्बन्ध से या आधाराधेय सम्बन्ध से जाति और व्यक्ति दोनों की उपस्थिति होती है।

इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट ने लिखा है कि शब्द से जातिरूप अर्थ की

---

१. म० भा० पस्प०, पृ० १६, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।

उपस्थिति होती है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से होता है। यह आक्षेप अनुमान या अर्थापत्ति के द्वारा होता है।[1] जब किसी वाक्य में अन्तर्विरोध हो रहा हो तो औचित्य के आधार पर उसका संगत अर्थ करना अर्थापत्ति है। जैसे—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।' (मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता।) में कहा गया है कि देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में भोजन नहीं करता तो मोटा कैसे है? यह असंगति है। अत:, 'वह रात्रि में अवश्य ही पर्याप्त भोजन करता है'—यह अर्थापत्ति से ज्ञात होता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्विरोधी वाक्य का 'अर्थात्' के द्वारा जो अर्थ निकलता है, वही अर्थापत्ति है। कुमारिल भट्ट के अनुसार अर्थापत्ति से व्यक्ति का बोध होता है। 'गामानय' कहने पर 'गो' जाति का आनयन सम्भव नहीं है। अत: अर्थापत्ति द्वारा तन्निरूपित गो व्यक्ति का आनयन होता है।

भर्तृहरि ने कुमारिल भट्ट के अर्थापत्ति का खण्डन करते हुए लिखा है कि क्या शब्द से शब्द का, शब्द से अर्थ का अथवा अर्थ से अर्थ का आक्षेप होता है? यदि अपने अर्थ के प्रतिपादन के लिए शब्द का आक्षेप होता है, तो अन्यार्थ प्रतिपादन के लिए शब्द से शब्द का आक्षेप नहीं हो सकता। अर्थ से शब्द का आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यार्थ की अन्य शब्द से वाचकता सिद्ध नहीं होती और यही दोष शब्द से अर्थ के आक्षेप में आता है, क्योंकि शब्द से शब्दान्तर के वाच्य अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध नहीं होता। अर्थ से अर्थ का भी आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि वह साक्षात् अनुमान है। वह शब्द के अर्थ का अर्थ नहीं हो सकता—

'पारार्थ्यस्यविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसन्निधिः।
नार्थाच्छब्दस्य सान्निध्य न शब्दादर्थसन्निधिः॥'[2]

इसके अतिरिक्त वैयाकरणों के यहाँ अर्थ बोध के लिए अपेक्षादि तत्व स्वीकृत नहीं हैं अपितु एक पद के ही प्रकरणादि के अनुसार शब्दार्थ से अतिरिक्त अर्थ का ज्ञान हो जाता है—

"एकपदमेव शब्दान्तरैः सम्बन्धमन्तरेण प्रकरणादि वशात् तत्तदर्थ प्रत्यायन निपुणमित्येव मन्तव्यम्।"[3]

कुमारिल भट्ट जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध स्वाभाविक मानते हैं, कृत्रिम नहीं। बिना जाति के व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता और उसी प्रकार बिना किसी आधारभूत व्यक्ति के जाति का ज्ञान नहीं हो सकता। व्यक्ति के बिना उसका कोई महत्व नहीं। अत: जाति सदैव व्यक्ति में ही उपलब्ध है। व्यक्ति के बिना जाति की प्रतीति वैसे ही नहीं हो सकती जैसे आकाश की 'पिण्डेष्वेव सा सामान्यम् नान्तरा-गृह्यते न ह्याकाशवद् इच्छन्ति सामान्यम् नाम किंचन्।"[4]

१. शक्तिवाद, पृ० सं० १८३।
२. वा० प० २/३३६।
३. वही, टीका पुण्यराज।
४. शक्तिवाद, १६/२५।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में दो तत्व रहते हैं—अनुवृत्ति और व्यावृत्ति। द्वयात्मक ज्ञान के अभाव में जाति और व्यक्ति दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती—

"वस्तु बुद्धिर्हि सर्वत्र व्यावृत्यानुगात्मिका।
जायते ह्यात्मकत्वेन बिना स च न सिद्धयति।।'[1]

अर्थात् प्रत्येक ज्ञान में एक अंश अनुवृत्ति का रहता है और अनुवृत्ति से ही गाय जाति का बोध होता है। एक अंश व्यावृत्ति का रहता है जिसके कारण पदार्थ से अन्य की व्यावृत्ति हो जाती है। यथा—

गो के ज्ञान से अश्वादि की व्यावृत्ति हो जाती है। अतः किसी शब्द के अर्थ-ज्ञान में अनुवृत्ति और व्यावृत्ति दोनों को मानना आवश्यक है। तब ज्ञान के इन दोनों अंशों के रहते हुये अनुवृत्ति के लिए जाति और व्यावृत्ति के लिए व्यक्ति को मानना आवश्यक है। इस प्रकार जाति और व्यक्ति दोनों से युक्त ज्ञान होता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार जाति और व्यक्ति दोनों का ज्ञान मुख्य ही होता है। कोई भी मुख्य अथवा गौण नहीं होता। दोनों ही ज्ञान सत्य और दृढ़ होते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी ज्ञान (जाति या व्यक्ति) में भ्रान्ति नहीं होती है। भ्रान्ति तो भ्रान्तिवादियों को होती है, मीमांसकों को नहीं—

"नाप्यन्तरा भ्रान्तिरूपचारेणावगम्यते।
दृढ़त्वात् बुद्धेर्भान्तिस्तत् भ्रान्तिवादिनाम्।।"[2]

कुमारिल के अनुसार व्यक्ति को नष्ट करके जाति का और जाति को नष्ट करके व्यक्ति का ज्ञान नहीं होता है। विरोधाभाव के कारण जाति और व्यक्ति दोनों का ज्ञान एक साथ ही होता है।

जयन्त भट्ट "न्यायमंजरी" में बड़े तार्किक ढग से उक्त मत का खण्डन करते हुये लिखते हैं कि कुमारिल भट्ट का यह कथन कितना उपहासास्पद है कि वही जाति है, वही व्यक्ति। वही एक है और वही अनेक। वही नित्य और अनित्य है। वही है और वही नहीं है। यह कथन वैसा ही है, जैसे—प्रकाश और अन्धकार की युगपद्-स्थिति। जयन्त भट्ट कहते हैं कि एक वस्तु नाना रूपों वाली नहीं हो सकती। ऐसा प्रलाप केवल अस्थिर बुद्धि वाला ही कर सकता है।[3]

प्रभाकर मिश्र उक्त मतों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर जाति या तो नष्ट हो जायेगी या उस व्यक्ति से पृथक् हो जायेगी। जाति नित्य है। अतः वह नष्ट नहीं हो सकती। अपितु उसके नष्ट हो जाने पर उस व्यक्ति

---

१. श्लोक वार्तिक, आकृतिवाद ५।

२. श्लोकवार्तिक आकृतिवाद, ७।

३. न्यायमंजरी, पृ० सं० २७४–९५।

से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।[1] प्रभाकर के अनुसार व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध अनादि या अनन्त नहीं है—

प्रभाकर के अनुयायियों के अनुसार शब्द से जाति का बोध होता है और उसके विशेषण रूप में व्यक्ति का स्मरण होता है। तब व्यक्ति विषयक शाब्द-बोध होता है। व्यक्ति विरहित जाति का निर्विकल्प ज्ञान सम्भव नहीं है—"प्राभाकरास्तु जातिशक्तिज्ञानादेव प्रकारेण व्यक्तेः स्मरण शाब्दबोधश्च, न तु निर्विकल्पं रूपं जाति-स्मरणम् निर्विकल्पानभ्युपगमात् ।"[2] अस्तु, प्रभाकर के मत में शब्द से जाति रूप विशेष्य का बोध होता है और उसके विशेषण रूप में व्यक्ति का स्मरण होता है।

सभी जातिवादी मीमांसक येन-केन-प्रकारेण जाति और व्यक्ति उभय की उपस्थिति शब्द से मानते हैं, किन्तु जाति को मुख्य, विशेष्य या प्राथमिक ज्ञान मानते हैं और व्यक्ति को गौण विशेषण या अनुस्मृत अर्थ मानते हैं। इस प्रकार व्यक्ति को प्रवृत्ति-निवृत्ति के रूप में स्वीकार करने के प्रश्न का समाधान देते हैं। ऐसी क्लिष्ट कल्पना के बाद भी मीमांसक जाति को ही पदार्थ क्यों मानते हैं ? इसके कारण का उल्लेख करते हुये श्रीगंगेश ने लिखा है कि जाति को पदार्थ मानने में लाघव है और व्यक्ति को मानने में गौरव—"भट्टमते तु जातिरेव शक्या लाघवात् ।"[3] यदि व्यक्ति में शक्ति मानी जाये तो अनन्त व्यक्तियों के वाचक अनन्त शब्दों में शक्ति माननी पड़ेगी जिसमे अनन्तापत्ति होती है। साथ ही व्यभिचार दोष भी आता है। एक व्यक्ति में शक्तिज्ञान होने पर उस जाति के अन्य व्यक्ति में भी उसी (पूर्व ज्ञातार्थ शब्द) की शक्ति का ज्ञान होने लगेगा। अतः व्यक्तिपक्ष मानने पर अनन्तता और अनियमितता (व्यभिचार) दोष आता है।[4] जिसके निवारणार्थ जाति को ही अर्थ मानना समीचीन है। किसी भी व्यक्तिबोधक शब्द से बिना जाति रूप अर्थ की उपस्थिति के व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है 'पुस्तक लाओ' यहाँ पुस्तक इस व्यक्ति का ज्ञान जाति रूप अथपूरक ही होता है। व्यक्ति का केवल व्यक्ति-रूप ही ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। जाति और व्यक्ति सम्बन्ध ज्ञान के पूर्व व्यक्ति का ज्ञान नहीं होता है। शब्द से पहले जाति का ज्ञान होता है, तब उससे सम्बन्धित व्यक्ति का ज्ञान होता है। शब्द से व्यक्ति रूप अर्थ का ज्ञान विवेचनात्मक (Perfectual) होता है। व्यक्ति को जब 'घट' का ज्ञान करना होता है तो पहले 'घट' (जाति) की उपस्थिति होती है, अनन्तर व्यावृत्ति की प्रक्रिया से 'घट' व्यक्ति का ज्ञान होता है।[5]

व्यक्ति जाति का अंगरूप है। जब यह प्रश्न होता है कि 'गाय क्या है ?' तब उत्तर में कहा जाता है कि गाय एक प्रकार का अवयवों का संस्थान है जिसमें अनेक

---

१. प्रकरण पंजिका, पृ० २६।

२. शक्तिवाद, पृ० १६०।

३. अर्थविज्ञान और व्या० द० में उद्धृत, पृ० २६२।

४. तत्वचिन्तामणि, पृ० ५५७, वही उद्धृत।

५. प्राब्लेम आफ मीनिंग, पेज १६५ तथा शब्दशक्ति, पृ० २६–४४।

अवयव मिल कर एक शरीर हो जाते हैं और वही शरीर गाय के रूप में जाना जाता है, क्योंकि वह अवयव संस्थान गो जाति से भिन्न रूप नहीं है। वह विशेष अवयवों वाला (गाय का) शरीर गो जाति का अंग है। 'गो' व्यक्ति को इसीलिए 'गो' कहा जाता है, क्योंकि उसमें गोत्व है। अतः 'गो' और गोत्व दोनों ही एक है।[२] मीमांसक मत का उल्लेख करते हुये आर० सी० पाण्डेय ने लिखा है—

"Word mean the expressions of universals and not the universal in itself. Words by their very nature mean only parts of the whole existence."

श्रीकर के अनुसार शब्द की शक्ति जाति में होती है। अतः जातिवाचक पद से जाति का बोध होता है और व्यक्ति का बोध उपादान रूप से होता है क्योंकि जाति व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती—

"श्रीकरस्तु, जातिशक्तिपदात् जातेरनुभवः शाब्दो व्यक्तेरौपादनिकः अशक्यत्वादिति।"[३]

गदाधर ने मंडनाचार्य के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है कि शब्द के द्वारा जाति के अभाव या सत्ता का बोध नहीं कराया जाता है। भाव या अभाव व्यक्ति के ही विशेषण होते हैं, जाति के नहीं—

"जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वाल्लक्ष्यमाणाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे।।"[४]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "सरुप......०"[५] सूत्र के भाष्य में जातिवादी वाजप्यायन और व्यक्तिवादी व्याडि के मतों का उल्लेख किया है। वाजप्यायन ने शब्द के अर्थ को जाति मानने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये है[६]--

(१) 'गो' शब्द के कहने पर नील, पीत शुक्लादि रहित 'गो' सामान्य का बोध होता है।

(२) 'गो' के ज्ञान से गो मात्र का ज्ञान हो जाता है। किसी भी देश, काल या वर्ण वाली गो का ज्ञान हो जाता है।

(३) धर्मशास्त्रादि में जाति को ही आधार मानकर कर्म का विधान और निषेध किया जाता है अर्थात् 'न ब्राह्मणं हन्यात्' आदि शास्त्रादेशों से ब्राह्मण मात्र की हत्या का निषेध किया गया है। यदि व्यक्ति को अर्थ माना जाय तो किसी एक ब्राह्मण की हत्या न करने से ही उक्त धर्मशास्त्र के आदेश का पालन हो जायगा।

---

१. प्राब्लेम आफ मिनिंग४६–४७।

२. वही। पेज १९८।

३. तत्व चि०, शब्द, पृ० ५६९–६।

४. शक्तिवाद—पृ० १८७।

५. म० भा० १/२/६४।

६. पा० सू० १/२/६४।

अतः शब्द का अर्थ जाति ही होता है। एक ही जाति अनेक स्थलों पर कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसका समाधान देते हुये कहा है कि जैसे एक ही इन्द्र अनेकों यज्ञों में युगपत् उपस्थित होता है उसी प्रकार जाति भी अनेकत्र एक साथ उपस्थित होती है।

व्यक्तिवाद—संग्रहकार व्याडि ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम केवल व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ माना है। व्यक्ति-पक्ष में इनके तर्क इस प्रकार है—

(१) व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने पर शब्द से लिंग और वचन का विधान होता है। जैसे—नर-नारी, बाल-बाला आदि (लिंग के उदाहरण), बालकः-बालकाः आदि (वचन के उदाहरण)। यदि जाति को अर्थ माना जाये तो उससे लिंग और वचन का विधान नहीं किया जा सकेगा।

(२) लोक-व्यवहार में प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यक्ति में ही होती है, जाति में नहीं। जैसे—'गाय लाओ', 'पुस्तक पढ़ो' आदि कहने पर गाय व्यक्ति लायी जाती है और पुस्तक व्यक्ति पढ़ी जाती है। न तो 'गो' जाती लाई जाती है और न हो पुस्तक जाति पढ़ी जाती है।

(३) एक जाति एक समय में एक ही स्थान में रह सकती है, अनेक स्थानों में नहीं। जैसे – एक 'गो' (जाति) एक ही समय में कानपुर और बनारस दोनों स्थानों में नहीं रह सकती है।

(४) शब्द का अर्थ जाति मानने पर एक गो के मरने पर विश्व की सभी गायों को मर जाना चाहिये और एक के उत्पन्न होने पर सभी को उत्पन्न हो जाना चाहिये।

(५) संसार में प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्नता या अभिन्नता रहती है और उसी के आधार पर विग्रह की जाती है। जाति मानने पर ये परस्पर विरोधी गुण (एक ही जाति मे) कैसे रह सकेंगे ?

(६) अनेकार्थक शब्दों में व्यक्ति-विभेद को ही मान कर एक शेष होता है—'आक्षाः पादाः' आदि।

द्रव्यमिधानं व्याडिः। तथा च लिंग, वचन, सिद्धिः। चोदनासु च तस्यारम्भात्। न चैकमनेकाधिकरणस्थम् युगपत्। विनाशो प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्। अस्ति च वैरूप्यम्। तथा च विग्रहः। व्यर्थेषु च मुक्त संशयम्।"[१]

वस्तुतः जातिवाद के विरुद्ध व्यक्तिवाद के पक्ष में व्याडि ने सभी सम्भावित तर्कों के आधार पर अपने मत को प्रौढ़ता के साथ प्रतिपादित किया है। व्यक्तिवाद का उल्लेख करते हुये गौतम ने भी इसी आशय से लिखा है—"या शब्दसमूहपरित्यागपरिग्रह संख्यावृद्ध्यापचयवर्णसमासानुबन्धनाव्यक्तावुपचारात् व्यक्तिः।"[२]

इस प्रकार लोक-व्यवहार विनिश्चयात्मिका पदार्थ वृत्ति व्यक्ति में रहती है। अतएव 'गो' पद से विविधार्थ का कथन होता है—गौः तिष्ठति, गवां समूहः, चैत्रस्य

१. म० भाष्य १/२/६४।
२. न्या० सूत्र २/२/६२।

गां ददाति, ब्राह्मणस्य गौः, विंशति गवि, अवर्धत् गौः, शुक्ला गौः, गौर्गां जनयति, इत्यादि प्रयोग-स्थलों पर क्रमशः जातिभेदक व्यक्ति, व्यक्तिभेद, द्रव्य का त्याग, सम्बन्ध भेद, संख्या, अपचय, वर्ण, अनुबन्ध आदि का प्रयोग व्यक्ति में ही संभव है, जाति में नहीं। अतः व्यक्ति में ही शक्ति मानी जानी चाहिये।[1]

जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद—कुछ आचार्य जाति और व्यक्ति दोनों पक्षों में असंगति का अवलोकन करके जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति में शक्ति मानने पर अनवस्था दोष होता है और जातिरूप अर्थ मानने पर 'गो' शब्दार्थ जाति रूप अर्थ से भिन्न होता है तथा द्रव्यमात्र का कथन जाति के बिना सम्भव नहीं है। तब पदार्थ किसे माना जाये ? अतः जाति विशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ माना जाना चाहिये।

"न व्यक्ति पदार्थः। कस्मात् ? अनवस्थानात्। या शब्द प्रभृतिभिर्यो विशिष्यते स गो शब्दार्थः। या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति न द्रव्यमात्र विशिष्टं जात्या बिनाभिधीयते। किं तर्हि ? जातिविशिष्टम्।"[2]

हेलाराज ने भी मतान्तर का उल्लेख करते हुये लिखा है कि—द्वितीयेन वा शब्देन पदार्थान्तरं सूचितम्, जातिविशिष्टम् द्रव्याभिधानमिति।"[3]

आकृतिवाद—कुछ विद्वान् जाति और व्यक्ति दोनों के अतिरिक्त आकृति (आकार) में शक्ति मानते हैं। शब्दप्रयोग से कम्बुग्रीवादिमान् घट आकृति का बोध होता है। अतः उसी को शब्दार्थ मानना चाहिये। "अतः प्रत्यक्षविषये पदं प्रवर्तमानमाकृतावेव वर्तितुमर्हति।"[4]

आकृतिवाद के मत को उद्धृत करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि आकृति को ही पदार्थ मानना चाहिये, क्योंकि शब्दार्थ से उसी की अपेक्षा होती है। आकृति में ही घटादि रूप सत्व सिद्ध होता है और तद्रूप सत्व विशिष्ट आकार में ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। कपालादि अवयव समूह रूप एक विशिष्ट आकार प्रकार का ही घटादि शब्द से बोध होता है। घटादि शब्द और घट सत्व में सतत एकरूपता रहती है। अतः उसी को शब्द का अर्थ समझना चाहिये।

'आकृतिर्पदार्थः। कस्मात् ? तदपेक्षत्वात्, सत्वव्यवस्थान सिद्धेः। सत्वावयवानां तदवयवानां च नियतोव्यूह आकृतिः—यस्य ग्रहणात् सत्वव्यवस्थानम् सिध्यति तं शब्दोऽभिधातुमर्हति।"[5]

जात्याकृति व्यक्तिवाद—नैयायिकों ने मीमांसकों एवं अन्य आचार्यों का खण्डन करते हुये स्वमत की स्थापना की है। नैयायिकों में भी दो मत हैं। एक, प्राचीन मत

---

१. न्या० वा० भाष्य, पृ० ४१७।
२. न्या० वा० भाष्य पृ० ४१७।
३. वा० प० हेलाराज ३/१/२।
४. न्या० मं०, पृ० २९१।
५. वा० भा० (न्या० सू०), पृ० ४२३।

जो जाति, आकृति एवं व्यक्ति को पदार्थ मानता है और दूसरा है नवीन मत जो जाति-व्यक्ति और उन दोनों के समवाय सम्बन्ध को पदार्थ मानता है।[१] नैयायिकों का कथन है कि शब्द के उच्चारण के बाद श्रोता को जिन अर्थों का बोध होना सर्वानुभवसिद्ध है वही शब्द का अर्थ है। उन सभी अर्थों में शब्द की शक्ति है। जैसे—गो शब्द के उच्चारण से एक विशेष जाति और विशेष आकार के पशु व्यक्तियों का ही बोध होता है। अतः वही जाति, आकार तथा व्यक्ति 'गो शब्द का अर्थ' होता है और उन सभी अर्थों में गो शब्द की शक्ति होती है। इसी वाक्य से न्याय-दर्शन में गौतम ने लिखा है—"जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदाथः।[२]

इस सूत्र की व्याख्या में आकृति शब्द का विद्वानों ने पृथक्-पृथक् अर्थ किया है। प्राचीन काल के विद्वानों ने आकृति शब्द का अर्थ आकार (अवयव संस्थान) किया है। अतः उनके अनुसार जाति आकार और व्यक्ति तीनों ही शब्दार्थ हैं। इन तीनों में से किसी एक की शक्ति का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। अर्वाचीन विद्वानों ने आकृति का अर्थ जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को माना है। अतः उनके अनुसार जाति विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्ति विशिष्ट जाति ही शब्दार्थ है।[३]

वात्स्यायन भाष्य के अनुसार—"व्यज्यते इति व्यक्तिः" अर्थात् व्यक्ति इन्द्रिय-ग्राह्य होता है तथा जिससे जाति, संख्या, लिङ्ग आदि का ज्ञान हो, वह आकृति है। वही सत्वावयवों का समूह है। जिस प्रकार हाथी कान, नाक, पूछ, सूंड आदि अवयवों वाला समझा जाता है, उसी प्रकार जाति से ही कुछ जाना जा सकता है। जैसे—सुवर्ण मृत्तिकादि। उक्त सूत्र में 'तु' का पाठ विशेषार्थ है। अतः भेद विवक्षा में विशेषगति व्यक्ति प्रधान तथा जात्याकृती अगभूत होंगे और अभेद विवक्षा में सामान्यगति जाति प्रधान तथा व्यक्त्याकृती अंगभूत होंगे—"यदहि भेदविवक्षा विशेषगतिस्तदा व्यक्तिः प्रधानमगन्तु जात्याकृती यदा तु भेदो विवक्षितः सामान्यगतिश्च जाति प्रधानमंगन्तु व्यक्त्याकृती।"[४]

गदाधर भट्ट ने शक्तिवाद में लिखा है—आकृति विशेष का ज्ञान अनुभव सिद्ध होते हुए भी शब्द की प्रवृत्ति-निवृत्ति उनमें नहीं होती, क्योंकि उसमें साक्षात् बाह्य-वृत्ति का अभाव होता है। यह सत्वावयव संस्थान है। उसकी जाति में समानाधिकरण के सम्बन्ध से सत्ता है। अतः दोनों का ज्ञान एक साथ ही होता है, एक को छोड़कर नहीं। 'गो' शब्द की जात्याकृती रूप गो में एक ही सत्ता (शक्ति) मानी जाती है। जिस प्रकार पुष्पवन्त शब्द से सूर्य और चन्द्रमा दोनों का बोध होता है, उसी प्रकार शब्द से भी जाति और आकृति दोनों का बोध होता है। जाति और

---

१. तर्कभाषा टीका, प० बदरीनाथ शुक्ल, पृ० १६६।
२. न्या० सूत्र २/२/ ७।
३. तर्कभाषा हिन्दी टीका, प० बदरीनाथ शुक्ल, पृ० १६६।
४. न्या० सूत्र, वा० भा० २/२/६७।

व्यक्ति में किसी एक को विशेषण मानना ठीक नहीं है और विशेष्य-विशेषण भाव का निश्चय भी नहीं किया जा सकता।

'गो' शब्द के कथन से जाति और आकृति से युक्त व्यक्ति दोनों का बोध होता हैं। अतः जाति और आकार से युक्त व्यक्ति में एक ही शक्ति रहती है। इसलिये गौतम ने 'जात्याकृती व्यक्तयः' इस बहुवचनान्त उद्देश्य पद का विधेय 'पदार्थः' को एकवचनान्त निर्दिष्ट किया है।[1]

न्याय-मञ्जरी में जयन्त भट्ट ने भी पूर्वोक्त भाष्य के अनुसार 'तु' को विशेषण मानकर कहीं पर जाति की प्रधानता और कहीं पर व्यक्ति की प्रधानता सिद्ध की है। यथा--

१. **जाति प्रधान**—गौर्पदा न स्प्रष्टव्या (गाय को पैर से नहीं छूना चाहिये)।

२. **व्यक्ति प्रधान**—गाम् बधान (गाय बाँधो)

कहीं-कहीं पर आकृति प्रधान होती है, व्यक्ति गौण और कहीं पर जाति का अभाव रहता है। यथा—पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्ताम् (पीठी की गाय बनाओ)। इस प्रकार कहीं जाति, कहीं आकृति और कहीं व्यक्ति प्रधान होता है अन्य गौण होते है।[2]

जातिव्यक्तिवाद—सूत्रकार पाणिनि ने 'जात्याख्यायानेकस्मिन् बहुवचन अन्यतरस्याम्' सूत्र से जाति रूप अर्थ और 'सरूपाणामेक शेष एक विभक्तौ' सूत्र से व्यक्ति रूप अर्थ का निर्देश किया है।[3] अतएव भाष्यकार ने लिखा है—"किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद्द्रव्यम् ? उभयमित्याह। उभयया ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि।"[4]

जाति या व्यक्ति किसी एक पदार्थ को मानने पर व्याकरणशास्त्र की व्यवस्था नहीं बनती। अतः पाणिनि ने दोनों को पदार्थ मानना उचित समझा। अनन्त व्यक्ति के साथ शब्द का सम्बन्ध मानना असम्भव है। अतः विभिन्न द्रव्यों में सामान्य रूप से समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति को ही शब्दार्थ मानना उचित है। 'गो' जाति के बोध हो जाने पर जाति विशिष्ट व्यक्ति का बोध होता है और उसी प्रकार शुक्लादि गुणों में रहने वाली गुणत्व जाति के सम्बन्ध से गुण का ज्ञान होता है। द्रव्य में गुण का ज्ञान परम्परा से होता है और गुण द्रव्य में रहता है। अतः गुण से गुणी (द्रव्य) का ज्ञान होता है।

व्यक्ति वाचक शब्दों से भी जाति का बोध होता है। जैसे—देवदत्त बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक विभिन्न अवस्थाओं वाला होता है, किन्तु कहा जाता है कि यह वही देवदत्त है। शब्द से इसी अभिन्नता के कारण देवदत्तत्व जाति का बोध होता है। इसी प्रकार धातु से जाति का बोध होता है। जैसे—पठति, पपाठ

---

१. श० वा०, पृ० १७२।

२. न्या० मं० पंचम आह्निक, पृ० २६९।

३. पा० सू० १/२/५८, १/२/६४।

४. म० भाष्य १/२/६४।

आदि में एक पठ् धातु को देखकर पठ् के सभी रूपों में सामान्य रूप से रहने वाली जाति (पठ् रूप) का बोध होता है। व्यक्तिवादियों के अनुसार गाय आदि शब्द का अर्थ 'गो' रूप व्यक्ति होता है। व्यक्ति में जाति रहती है। अतः व्यक्ति का प्रधान रूप से और जाति का गौण रूप से बोध होता है। इसलिए व्यक्तिपक्ष मे दिये गये अनन्तता आदि दोष समीचीन नहीं हैं।[१]

महाभाष्यकार पतञ्जलि समन्वयवादी थे। उन्होंने जातिवादी वाजप्यायन और व्यक्तिवादी व्याडि के मतों का उल्लेख करते हुये जाति व्यक्ति उभय को शब्द का अर्थ माना है, तथापि वे जाति की प्रमुखता अवश्य स्वीकार करते हैं। पतञ्जलि ने जाति-व्यक्तिवाद का विचार 'जात्यारव्योमर्कास्मन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' और 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' सूत्र के भाष्य में किया है। भाष्यकार कहते हैं कि —"जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्। जाति शब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि।"[२] अर्थात् जातिवाचक शब्द से द्रव्य का अभिधान होता है और जाति का भी। इसका आशय यह हुआ कि शब्द सामान्यतः जाति का बोधक होता है और उसी द्रव्य (व्यक्ति) और जाति दोनों का बोध होता है। अतएव नागेश और कैयट ने लिखा है कि वक्ता के अभीष्ट के अनुसार कभी जाति प्रधान होती है और कभी व्यक्ति। जाति और व्यक्ति की प्रधानता वक्ता की इच्छा पर निर्भर होती है। जब वक्ता को जाति अभीष्ट होती है, तब जाति का बोध होता है और जब व्यक्ति अभीष्ट होता है, तब व्यक्ति का बोध होता है।[३]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने जातिपक्ष को मुख्य मानते हुये व्यक्तिवादी व्याडि के सभी आक्षेपों का उत्तर दिया है—

१. लिंग और वचन व्यक्ति में ही सम्भव है जाति में नहीं। इसका समाधान देते हुये भाष्यकार ने लिखा है—गुण या गुणों की विवक्षा अनित्य है। अतः जाति रूप अर्थ से लिंग, वचन हो सकते हैं। स्त्रीत्व-पुंसत्व की विवक्षा में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग और दोनों की अविवक्षा में नपुं० लिंग होगा। इसी प्रकार एकत्व, द्वि व और बहुत्व की विवक्षा में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होंगे। अथवा जैसे गुणवाची शब्दों के आश्रय के अनुसार लिंग और वचन होते हैं, उसी प्रकार द्रव्याश्रित आकृति के लिंग और वचन के अनुसार उस जाति के भी लिंग और वचन हो जाते हैं—लिंगवचनसिद्धेर्गुणविवक्षानित्यत्वात्। विवक्षातः। गुणावचनाद्वा।"[४]

२. व्यवहार में प्रवृत्ति-निवृत्ति यद्यपि व्यक्ति में होती है। (व्यक्ति का ही आनयन आदि होता है), जाति में नहीं तथापि जातिबोधक शब्दों से भी बोध्य जाति-

---

१. म० भाष्य प्रदीप १/२/६४।

२. म० भाष्य १/२/५८।

३. म० भाष्य, १/२/५८, उद्योत प्रदीप।

४. वही १/२/६४।

सहचारी या जात्याश्रय व्यक्ति का बोध हो जाता है और सभी कर्म व्यक्ति में सम्पादित होते हैं—

"अधिकरणगतिसाहचर्यात् । असम्भवात् ।"[1]

३. यद्यपि एक ही जाति अनेकत्र युगपत् नहीं रह सकती तथापि जैसे एक ही इन्द्र सहस्रों यज्ञों में युगपत् उपस्थित रहता है, उसी प्रकार एक जाति भी एक ही समय में अनेक स्थानों में उपलब्ध हो सकती है—"अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत् । आदित्यः । इतीन्द्र वद् विषयः ।"[2]

४. व्यक्ति के जन्म या मृत्यु से जाति का जन्म या मृत्यु नहीं होती, क्योंकि जाति और व्यक्ति की आत्मा पृथक्-पृथक् होती है । जैसे—वन और वृक्ष । किसी वृक्ष के नाश होने पर वन का नाश नहीं होता है—"अविनाशोऽनेकात्म्यात् । अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च ।"[3]

५. जाति को पदार्थ मानने पर द्रव्यगत विरूपता या भिन्नता तदवस्थ रहती है । महाभाष्यकार के अनुसार रूप भेद । (आकृति भेद) के कारण द्रव्यभेद होता है । अतः उसमें विरूपता तथा विग्रह होते हैं—वैरूप्य विग्रहौद्रव्यभेदात् ।[4]

६. नानार्थ शब्दों में क्रिया अथवा संख्या की समानता के कारण जाति से भी एकशेष सिद्ध हो जाता है—"व्यर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम् ।"[5]

महाभाष्यकार ने जातिवादी और व्यक्तिवादी विचारों को समन्वित करते हुए कहा है कि किसी को यह नहीं समझना चाहिये कि जातिवादी व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानता या व्यक्तिवादी जाति को पदार्थ नहीं मानता, अपितु दोनों को पदार्थ मानते हैं । अर्थात् जातिवादी भी व्यक्ति को पदार्थ मानता है और व्यक्तिवादी भी जाति को पदार्थ मानता है । अन्तर केवल इतना है कि जातिवादी जाति को प्रधान और व्यक्ति को गौण मानता है तथा व्यक्तिवादी व्यक्ति को प्रधान तथा जाति को गौण अर्थ मानता है—

न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थो दव्य पदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतं । आकृति पदार्थिकस्याकृतिप्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम् द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधान भूतमाकृतिगुणभूता ।"[6]

भाषाशास्त्री भर्तृहरि ने भी भाष्यकार के अनुसार ही जाति और द्रव्य दोनों को पदार्थ और तात्विक (पारमार्थिक) दृष्टि ने नित्य माना है—

"पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।"
"पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ ।।"[7]

१. म० भाष्य, १/२/६४ ।
२. वही ।
३. वही ।
४. वही ।
५. वही ।
६. म० भा०, १/२/६४ ।
७. वा० प०, ३/८ ।

वाक्यपदीयकार ने ब्रह्मकाण्ड में लिखा है—यद्यपि कुछ लोग स्वरूपम् शब्दस्या शब्द संज्ञा"[1] सूत्र के आधार पर स्वरूप बोधक व्यक्ति को संज्ञा मानते हैं, वहाँ पर भी व्यक्ति में जाति रहती है, क्योंकि व्यक्ति के बिना जाति की अवस्थिति सम्भव नहीं है। लोक में लिखित कार्यकारिता व्यक्ति में ही होती है। अतः व्यक्ति में जाति संसृष्ट होती है। कुछ लोग संज्ञी को व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार जाति से अवबोधित व्यक्ति में ही विविध क्रियायें सम्पादित होती हैं। अर्थात् व्यक्तिवादी व्यक्ति में कार्य की सत्ता और उसमें जाति की अवस्थिति स्वीकार करते हैं तथा जातिवादी जाति के द्वारा अपगृहीत व्यक्ति में कार्यकारिता मानते हैं। अतः जाति और व्यक्ति दोनों ही पदार्थ होते हैं—

"संज्ञिनि जातिस्तिष्ठति व्यक्तिं विना जातेरभावात्।
कार्यकारिता व्यक्तामेव अतो व्यक्तौ संसृष्टा जातिः।।"[2]
संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रग्राह्यमथापरे।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेपूपतिष्ठति।।"[3]

भर्तृहरि के अनुसार शब्द को जातिबोधक इसलिये माना जाता है, क्योंकि शब्द से या तो जाति का अर्थबोध होता है या जाति-युक्त व्यक्ति का बोध होता है।

"जातौ पदार्थे जातिर्वा विशेषो वापि जातिवत्।
शब्दैरपेक्ष्यते यस्मादतस्ते जातिवाचिनः।।"[4]

भर्तृहरि की यह मान्यता है कि जातिरहित व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि लोक-व्यवहार में भिन्नता और अभिन्नता का ज्ञान जाति (सामान्य धर्म) के कारण ही होता है। अतः जाति संसर्ग से ही लोक-व्यवहार चल रहा है—

"भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः।
भावात्मसु प्रपंचोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते।।"[5]

जाति की सत्ता न मानने पर एकत्व-अनेकत्व तथा अस्तित्व-अनस्तित्व का व्यवहार ही नहीं हो सकता है। जाति के कारण ही एक रूपात्मक अनेक घटों में से एक की उपस्थिति के लिये एकत्व का व्यवहार होता है तथा व्यक्तिगत विभिन्नता के कारण अनेकत्व का व्यवहार होता है। बुद्धि में घटत्व ज्ञान तो रहता ही है उसके बाह्य अस्तित्व के भाव और अभाव बोधन के लिये 'अस्ति' और 'नास्ति' का प्रयोग होता है—

"नैकत्वं नापि नानात्वम् न सत्वं न च नास्तिता।
आत्मतत्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते।।"[6]

---

१. पा० सू०, १/१/६८।
२. वा० प०, १/६८।
३. वा० प०, १/६८/६९।
४. वही, ३/जाति समुद्देश्य।
५. वही, ३/जाति समुद्देश्य।
६. वही, ३/जाति समुद्देश्य।

इस प्रकार भाषावैज्ञानिक के धर्म का निर्वाह करते हुये भर्तृहरि ने लोकोपयोगी सिद्धान्त, जाति-व्यक्ति उभयरूप शब्दार्थ, की स्थापना करने के बाद पारमार्थिक दृष्ट्या भी विचार किया है और जाति को ही सत्य माना है। व्यक्ति आदि विभाग केवल औपाधिक तथा व्यवहारोपयोगी हैं। ब्रह्म जाति है और द्रव्यादि ब्रह्म की शक्तिया हैं।[1] द्रव्यादि सुवर्ण के कुण्डलादि आकृति के समान असत्यांश हैं और जाति सुवर्ण के ही समान सत्यांश हैं। अर्थात् सुवर्ण मूल या सूक्ष्म तत्व है और कुण्डलादि आकृतियाँ दृश्य या स्थूल तत्व हैं। प्रत्येक भाव-पदार्थ में उक्त दो तत्व (सत्यांश और असत्यांश) रहते हैं। जाति की महासत्ता है। सम्बन्ध भेद से वहा गौत्वादि विभिन्न रूपों में रूपायित होती है। यहाँ तक कि भर्तृहरि के अनुसार वह जाति ही भाव-विकारों में छः अवस्थाओं को प्राप्त होती है। उसका क्रमशः जिस शक्ति से सम्बन्ध होता है, उसी के अनुसार वह प्रतीत होती है।[2]

अतएव काव्यप्रकाशकार मम्मट ने जाति को पदार्थ का प्राणप्रद धर्म कहा है—"पदार्थस्य प्राणप्रदः धर्मः जातिः।"[3]

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में भी जाति-व्यक्ति का विवाद बना हुआ है। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों की चिन्तन प्रणाली भिन्न है। एडमस्मिथ ने इस सम्बन्ध में कहा है कि यदि दो भाषा से अपरिचित व्यक्ति मिलेंगे तो आपस में मुंह बनाकर कुछ आवश्यक नित्योपयोगी वस्तुओं के लिये कुछ सकेत करेंगे। धीरे-धीरे वही वस्तुयें पौनः-पुन्येन दृष्टिगत होंगी, तब वे ही पद तज्जातीय पदार्थों के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं अर्थात् जो शब्द पहले व्यक्तिगत पदार्थों के बोधक थे, वे ही बाद में जाति-बोधक हो गये। जैसे सभी बालक जनक और जनयितृ को पिता-माता आदि कहते हैं।[4]

लाईबनित्स ने भी बच्चे का उदाहरण देते हुये लिखा है कि जब बच्चे बोलना प्रारम्भ करते हैं तब उनका उस विषय का सीमित ज्ञान नहीं रहता है। इसलिये वे व्यक्तिवाचक नाम तो प्रयोग में नहीं लाते किन्तु उनके स्थान पर साधारण जातिवाचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे—वृक्ष, पशु आदि तथा यह भी निश्चित है कि व्यक्तिवाचक या विशेष-विशेष वस्तुओं के नाम आदि काल में साधारण या व्यक्तिवाचक थे। इस प्रकार मैं यह कहने का साहस करूँगा कि प्रारम्भिक युग में सभी शब्द जातिवाचक थे।[5] मैक्समूलर स्मिथ के मतों के अनुसार ही कहता है कि किसी पदार्थ के विषय में पहले गुण या साधारण कर्म जाने जाते हैं और उसके आधार पर उसका नाम रखा जाता है। तदनन्तर ये व्यक्तिबोधक नाम जातिबोधक हो जाते हैं। इस

---

१. वा० प० ३/जाति समुद्देश्य।   २. वही।

३. काव्यप्रकाश, २/१०।

४. उद्धृत, भाषा पर भाषण, द्वारा—मैक्समूलर, ३६६।

५. उद्धृत, वही, पृ० ३६७।

प्रकार धीरे-धीरे व्यक्तिबोधक शब्द भी जातिबोधक हो जाते हैं।[1] सर विलियम हैमिल्टन जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानते हैं।[2]

समीक्षा—इस प्रकार उपर्युक्त भारतीय विभिन्न दार्शनिकों के मतों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ में जाति का अस्तित्व सर्वतोभावेन रहता ही है, चाहे वह व्यक्तिवाचक शब्द हो किम्वा जातिवाचक। शुद्ध रूप से सभी शब्दों को केवल जातिवाचक मानने पर अवश्य ही कुछ असमाधेय विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिये वैयाकरण पतञ्जलि और भर्तृहरि ने जाति-व्यक्ति उभय को पदार्थ मानना ही न्यायसंगत समझा। भाषा व्यावहारिक वस्तु अधिक है और शास्त्रीय कम। अतः शास्त्रों के अतिरिक्त हम व्यवहार में भी देखते हैं कि शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है। जैसे—'रमेश अच्छा बालक है।' इस वाक्य में 'रमेश' शब्द एक व्यक्ति का बोध कराता है और 'अच्छा' शब्द कुछ सामान्य धर्मों (शील, सदाचार तथा कर्त्तव्यनिष्ठता आदि) का। अतः इसे जातिबोधक माना जा सकता है। 'छात्र कक्षा में पढ़ रहे हैं'—इस वाक्य में जातिवाचक—'छात्र' शब्द छात्रत्व जाति का बोध कराता है, जबकि 'कक्षा' शब्द व्यक्ति का वाचक है। उसमें एकत्व अर्थात् व्यक्तिगत भावना निहित है। 'छात्र आ रहा है—इसमें वही 'छात्र' शब्द व्यक्तिबोधक हो गया है। अतः जाति और व्यक्ति दोनों में वाचक शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो यह देखने को मिलेगा कि कोई भी शब्द नितान्त वैयक्तिक नहीं होता है। व्यक्तिबोधक शब्दों में भी जाति की भावना या जातित्व छिपा रहता है जैसे—'अश्व लाओ' में 'अश्व' शब्द व्यक्तिबोधक है तथापि अवबोद्धा या प्रयोक्ता दोनों की बुद्धि में अश्व का आकार प्रकार, गुण-धर्म आदि अर्थात् अश्व जाति का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर तत्सम्बन्धित एकत्व का बोध होता है। अतः शब्द से व्यक्ति का ज्ञान भी जाति सम्प्रत्यायित ही होता है, जाति विरहित नहीं। जातिवाचक शब्दों में भी जाति-विशेष (विशेष) (घटत्व आदि) का अन्य जातियों (पटत्व, अश्वत्व आदि) से व्यावर्तन के लिये, व्यक्ति रूप अर्थ की भावना छिपी रहती है। जातिवाचक शब्द से भी व्यक्ति का अमुख्यतया भान होता है। अतः भर्तृहरि एवं पतञ्जलि के अनुसार[3] यह कहा जा सकता है कि वक्ता की इच्छानुसार कहीं पर शब्द का अर्थ जातिबोधक होता है और कहीं पर व्यक्ति-बोधक, किन्तु जाति-बोधक पदार्थों में जाति प्रमुख और व्यक्ति गौण रूप में रहती है। तथा व्यक्ति बोधक पदार्थों में व्यक्ति प्रमुख और जाति गौण रूप में रहती है। पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिक एडमस्मिथ, लाइबनित्स का भी इस सम्बन्ध में यही आशय है और हैमिल्टन ने तो इस आशय को प्रत्यक्षतः स्वीकार ही किया है।[4]

---

१. उद्धृत भाषा या भाषण द्वारा मैक्समूलर, पृ० ३६७।

२. वही, उद्धृत, पृ० ३६८।

३. पूर्वोधृत ३९६। ४. पूर्वोधृत ३९६।

अपोहवाद-विमर्श

अर्थ-विचार की परम्परा में बौद्धों के अपोह रूप अर्थ को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता—"अपोहो वा शब्दार्थः" बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द का अर्थ अपोह होता है। बौद्धों के अपोह अर्थ मानने का कारण था कि बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी दर्शन है[1] और उनका एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—क्षणिकवाद।[2]

अर्थात् सम्पूर्ण संसार में आत्मरूप कोई नित्य वस्तु नहीं है, सब कुछ अनित्य है, क्षणिक है। समस्त जगत् क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। जो वस्तु एक क्षण पूर्व जिस रूप में थी, दूसरे क्षण वह उसी रूप में नहीं रहती।

इसी आधार पर नागार्जुन ने 'शून्यवाद' सिद्धान्त की स्थापना की। 'मज्झिम निकाय' में आतमवाद को वात-धर्म कहा गया है—"क्षयं भिक्खवे, केवलं परिपुरो बालधम्मो।"[3]

व्यक्ति की अनित्यता तो सभी मतों में मानी गई है, किन्तु जाति को नित्य माना गया है।[4] बौद्ध यदि जाति को नित्य मान लें तो उनका क्षणिकवाद ही आधारहीन हो जाता है। अतः दिङ्नाग ने जाति नित्यता का भी खण्डन करके 'प्रमाण समुच्चय' में 'अपोह' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

बौद्धों के अनुसार शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही शब्द किसी अर्थ को सीधे-सीधे बोध कराता है तथा 'जाति' अदृष्ट होने के कारण उसकी सत्ता मानना विचारसह नहीं है। व्यक्ति के भी अनित्य होने के कारण जाति अथवा व्यक्ति दोनों को ही सकेत का विषय नही माना जा सकता। अतः गवादि शब्दों के द्वारा अगवादि से व्यावृत भूत (गो रूप) अपोह अर्थ मानना समीचीन है—

"जातेरदृष्टत्वेन विचारासहत्वात् व्यक्तेश्च क्षणिकत्वादुभयत्रापि संकेतस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् गवादि शब्दानामगवादिरूपोऽपोहोऽर्थः।"[5]

बौद्धों के अनुसार अपोह का अर्थ—अतद्व्यावृत्ति—"अतद्व्यावृत्तिरपोहः पदार्थः।"[6] अर्थात् अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्न भिन्नत्व ही अपोह है। 'घट' कहने से 'घट' पदार्थ से इतर (भिन्न) संसार में पटादि जितने पदार्थ हैं, उनकी व्यावृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका निषेध हो जाता है। तब 'घट' भिन्न सम्पूर्ण पदार्थों का निषेध हो जाने पर जो शेष बचता है—'घट रूप' अर्थ, वही घट शब्द का अर्थ है। शब्द का उसी तद्भिन्न-भिन्न में संकेतग्रह होता है। अत्यन्त विलक्षण पदार्थों में सामान्य का बोध तत्पदार्थ से अन्य की व्यावृत्ति से ही देखा जाता है। 'गो' और 'अश्व' का सादृश्य बोध कराना हो तो 'गो' और 'अश्व' से भिन्न हरित आदि सकल पदार्थ से

---

१. अनित्यदुःख, अनात्म अंगुत्तर निकाय ३/१/१४।

२. महानिदानमुत्त दी० नि०, २/१५। ३. मज्झिम निकाय, १/१/३।

४. इसके पूर्व विवेचन किया है।

५. का० प्र० वामन भट्ट टीका, पृ० ३८। ६. ··· वही ···।

भिन्न पदार्थ कहने से उनका बोध हो जाता है। उसी प्रकार जब केवल गाय का अर्थ बोध कराना हो तो गाय से भिन्न पदार्थों से भिन्न के बोध से गाय का बोध होता है। यदि काली गाय का बोध कराना हो तो काली गाय से भिन्न श्वेतादि गो रूप सहित समस्त पदार्थों की व्यावृत्ति से काली गाय का बोध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कोई भी शब्द वस्तु की सत्ता का बोध नहीं कराता, अपितु उससे भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति का ही बोध कराता है।[1]

यह ज्ञान विकल्पात्मक होता है। अन्य की व्यावृत्ति से जो ज्ञान होता है, न तो बाह्य होता है और न ही आभ्यन्तर। यह ज्ञान और वस्तु दोनों से पृथक् है। अतः अर्थ-ज्ञान मिथ्या तथा आरोपित विकल्पात्मक आकार मात्र होता है। इसका कोई स्वरूप न होने के कारण ही इसे अपोह (अन्य व्यावृत्ति) कहा जाता है।[2]

रत्नकीर्ति ने विशिष्टापोहवाद की स्थापना की है। उनके अनुसार अपोह से न तो केवल अन्य की व्यावृत्ति होती है और न विधि का ग्रहण ही, अपितु अन्य व्यावृत्ति विशिष्ट विधिरूप अपोह होता है। अर्थात् अपोह का अर्थ है घट से इतर पदार्थों से व्यावृत्ति तथा घट-पदार्थ का ज्ञान। इस प्रकार शब्द से निषेध और विधान रूप जो दो कार्य होते हैं वे दोनों एक साथ ही होते हैं, आगे-पीछे नहीं। अतएव कोई भी व्यक्ति विधि का ज्ञान करने के बाद अर्थापत्ति से अन्य व्यावृत्ति को नहीं जानता और न ही अपोह को जानकर अन्य व्यावृत्ति विधि को ही जानता है। इसीलिये गाय का ज्ञान ही अन्य से व्यावृत्ति का ज्ञान है। जिस प्रकार नीलकमल के बोधक इन्दीवर शब्द से नीलकमल के ज्ञान में नील का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से हो जाता है, उसी प्रकार गो भिन्न व्यावृत्त के अर्थ मे प्रयुक्त गाय शब्द से एक ही साथ गो भिन्न की व्यावृत्ति का ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि शब्द से अर्थज्ञान के समय अन्य की व्यावृत्ति नहीं होती तो अन्य का परिहार कैसे हो सकता है? 'गाय बांधो' कहने से घोड़े को भी बांधा जा सकता है।

"नास्मभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रं किन्त्वन्यापोहो विशिष्टोविधिः शब्दानामर्थः।"[3]

कुमारिल भट्ट ने अपोहवाद का खण्डन करते हुये लिखा है कि काली गाय के कहने से व्यवहार में 'काली गाय' रूप अर्थ का बोध होता है। किन्तु अपोहवाद के अनुसार 'काली गाय' शब्द एक ओर तो गाय से भिन्न की व्यावृत्ति करता है और दूसरी ओर काली से भिन्न की व्यावृत्ति करता है। अतः इसके दो अर्थ हुये—

१—समस्त गाय अर्थात् काली, नीली, पीली कोई भी गाय,

---

१. श्लोक वार्तिक, अपोहवाद प्रकरण श्लोक–१।

२. न्यायमंजरी, पृ० २८०।

३. अपोह सिद्धि, पृ० २, अर्थ० वि० प्र० २१३ में उद्धृत।

२—दूसरा अर्थ हुआ—काली गाय। इस प्रकार 'काली गाय' का अर्थ हुआ—'काली और काली से भिन्न गाय।' यह अर्थ असङ्गत तथा अविचारपूर्ण है।[1]

विशिष्टापोहवाद सिद्धान्त में एक प्रश्न उठता है कि एक साथ ही निषेध और विधान कैसे सम्भव हो सकता है?

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी कहते हैं कि जिस प्रकार यहाँ घट नहीं है इससे दो प्रकार का अर्थबोध होता है—(१) निषेधात्मक—घट नहीं है, (२) विधानात्मक—घटाभाव का विधान। उसी प्रकार एक ही शब्द से उभयविध अर्थबोध सङ्गत है।[2] जाति व्यक्तिवादियों के अनुसार भी शब्द में अर्थ की उभयात्मकता रहती है—एक सत्यांश (जाति रूप) और दूसरा असत्यांश (व्यक्ति रूप)। जब सत्य और असत्य की स्थिति एक साथ रह सकती है तो विधि-निषेध की स्थिति एकत्र क्यों नहीं हो सकती?

प्रतिषेध दो प्रकार का माना गया है—

१. पर्युदास प्रतिषेध और

२. प्रसज्य प्रतिषेध।

पर्युदास प्रतिषेध भी दो प्रकार का होता है—

१. बुद्ध्यात्मक और

२. अर्थात्मक।

अपोह (निगेशन)

पर्युदास (निगेशन फार ऐफर्मेशन)
- बुद्ध्यात्मक (द निगेशन आफ दी आइडियल यूनिवर्सल)

प्रसज्य प्रतिषेध (टोटल निगेशन)
- (अर्थात्मक) (द निगेशन आफ द फिजिकल यूनिवर्सल)

भामह ने अपोहवाद का खण्डन करते हुये कहा है कि यदि गो शब्द अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति से कृतार्थ हो जाता है तो 'गो' रूप बोध के लिए अन्य ध्वनि की खोज करनी पड़ेगी। शब्द का 'अर्थज्ञान मात्र' एक ही फल होता है। अतः यह विधि और निषेध दोनों का कारण नहीं हो सकता—

---

१. श्लोक वार्तिक, अपोहवाद ४-१०।

२. प्रोब्लेम आफ मीनिंग, पृ० २०८।

"यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ ।
जनको गवि गो बुद्धे विमृस्ताम परो ध्वनिः ।
अर्थज्ञानफलाः शब्दाः न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवाद विधि ज्ञाने फले चैकस्य वः कथम् ।।[1]

महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी 'वाक्यपदीय' के तृतीय खण्ड में अपोहवाद का उल्लेख किया है। कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में, जयन्त भट्ट ने 'न्याय-मञ्जरी' में तथा प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' में अपोहवाद के स्वरूप को बतलाते हुये उसका तार्किक ढङ्ग से खण्डन किया है। इसके विपरीत डॉ० आर० सी० पाण्डेय ने 'प्राब्लेम ऑफ मीनिंग' में बौद्धों के अपोहवाद की सम्यक् विवेचना की है तथा कुमारिल और जयन्त भट्ट के अधिकांशतः तद्विरोधी तर्कों का खण्डन करके अपोह रूप अर्थ को समीचीन बताया है।[2]

समीक्षा—वस्तुतः जब हम अपोह रूप शब्दार्थ की पृष्ठभूमि और उसके स्वरूप को देखते हैं तो जहाँ यह सिद्धान्त कुछ अंशों में असङ्गत प्रतीत होता है वहीं उसका तार्किक ढङ्ग एकदम निराधार नहीं है। तर्क के द्वारा किसी सत्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता, उससे केवल वाद, अल्प और वितण्डामात्र का सृजन होता है। सत्य प्रतीति की आधारशिला है—अनुभूति। अतः अनुभूति के आधार पर अपोह या अतद् व्यावृत्ति रूप अर्थ को पूर्णतः काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। लोक-व्यवहार में जब हम किसी अर्थ से भली-भाँति परिचित नहीं होते हैं, उस समय तद्वाचक शब्द के उच्चारण से ऊहापोह में पड़ जाते हैं और उस शब्द के अर्थ को ज्ञात करने के लिए एक-एक पदार्थ का निषेध करते जाते हैं और अन्त में उस पदार्थ का ज्ञान कर पाते हैं जो उस शब्द का वाच्य होता है।

किसी नगर में प्राप्तव्य गृह को ढूँढ़ने में सड़क के किनारे के सभी अन्य गृहों को एक-एक करके निषेध करते जाने पर ही हम अभीष्ट गृह को प्राप्त कर पाते हैं। इसी प्रकार सामान्यतः अल्प-परिचित सभी वस्तुओं के शब्दार्थ के लिए ऊहापोह होता है और तब अर्थ का ज्ञान होता है। जिन अर्थों के साथ अभ्यास दृढ़ हो गया है उनके ज्ञान के लिए भी वही प्रक्रिया व्यवहृत होती है, किन्तु वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका अनुभव हम नहीं कर पाते हैं। अतः यदि मुझे अपोहवाद का अख्यात्मक ज्ञान नहीं है तो मैं कह सकता हूँ कि अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ की मान्यता बौद्धिक एवं आनुभूतिक है तथा लोक-व्यवहार पर आश्रित है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'गौरित्यत्र कः शब्दः' ? प्रश्न के उत्तर में जिस प्रक्रिया को स्वीकार किया है वह भी अपोहरूपात्मक ही है। गो निष्ठ जाति, गुण, क्रिया अर्थात् शब्द से भिन्न का निषेध करके ही शब्द का विधान किया है। इसीलिए

१. काव्यालंकार, १७, १८।
२. प्राब्लेम ऑफ मीनिंग, पृ० २००–२१६।

भाषावैज्ञानिक भर्तृहरि ने भी अपोहवाद का खण्डन नहीं किया है, क्योंकि वे उसके व्यावहारिक महत्व से परिचित थे। इस सम्बन्ध में मेरी एक और धारणा निश्चित हुई है। जिसकी समीचीनता विद्वानों के अधीन है। वह यह है कि अपोहवाद के अनुसार 'गो' शब्द से 'गो' भिन्न की व्यावृत्ति से गौ का ज्ञान होता है। यह ज्ञान जाति रूप भी हो सकता है और (नीली गौः में वही ज्ञान) व्यक्ति रूप भी। जहाँ तक बौद्धों के जाति न मानने का प्रश्न है वह शुद्ध रूप से दार्शनिक (पारमार्थिक) है। लोक-व्यवहार में जाति और व्यक्ति रूप उभयविध पदार्थ का ज्ञान अपरिहार्य है और वह ज्ञान अतद्व्यावृत्ति के द्वारा हो सकता है। अतः बौद्धों के द्वारा जाति का खण्डन पारमार्थिक दृष्ट्या है। अपोह रूप अर्थ भले ही उसकी सम्पुष्टि के लिए ही क्यों न माना गया हो, परन्तु व्यावहारिक अनुभूति के कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टि से उसका महत्व है।

शब्द प्रवृत्ति निमित विमर्श

पूर्व प्रकरण में यह विचार किया गया है कि शब्द की शब्दार्थ बोधनिका शक्ति जाति में होती है या व्यक्ति में? अर्थात् शब्द से बोध्य मान अर्थ जाति रूप होता है या व्यक्ति रूप? इस सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जा चुका है कि शब्द से बोध्य अर्थ वक्ता की इच्छानुसार कहीं जाति विशिष्ट व्यक्ति होता है और कहीं व्यक्ति विशिष्ट जाति। इसके बाद शब्द से अभिधेय अर्थ कितने प्रकार का होता है अर्थात् शब्द से किन-किन अर्थों का संकेत किया जाता है? इस विषय पर विशेष रूप से भारतीय वैयाकरणों ने विचार किया है और उन्हीं को आधार मानकर अन्य कुछ शास्त्रों में भी किया गया है। वैयाकरणों ने शब्द की प्रवृति का आधारभूत अर्थ चार प्रकार का माना है—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। वस्तुतः यह चार भेद अर्थ के हैं, किन्तु उपलक्षण से ये शब्द के भी भेद माने जाते हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं अतः अर्थगत भेद शब्द के हो सकते हैं तथा शब्दगत भेद अर्थ के भी हो सकते हैं। उक्त जात्यादि भेद अर्थकृत हैं। अतएव भाष्यकार ने लिखा है—"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जाति शब्दाः गुणशब्दाः क्रिया शब्दाः यदृच्छाशब्दाः-श्चतुर्थाः।"[1] अर्थात् शब्दकी अर्थ में चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है। इससे अर्थ का चातुर्विध्य ध्वनित है तथा अभेदोपचार से शब्द भी चार प्रकार के माने जा सकते हैं। अतएव इन्हें अर्थभेद ही कहना उचित समझा है।

उक्त चतुर्विध अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में एक मत नहीं है। प्राचीनकाल से ही यह विवादास्पद विषय रहा है। जहाँ कुछ वैयाकरण चार अथवा तीन ही प्रकार का अर्थ मानते हैं। वहीं मीमांसक केवल जातिरूप एक ही प्रकार का अर्थ मानते हैं। अस्तु, इस विषय में मत-मतान्तरों का विवेचन प्रस्तुत है।

महर्षि पाणिनि ने स्पष्ट रूप से कहीं पर जाति-गुण आदि की चर्चा नहीं की

१. म० भाष्य १/१/२।

है किन्तु जाति, गुण, और क्रियात्मक/क्रियापरक अनेक सूत्रों की रचना की है जिससे प्रतीत होता है कि वे जाति, गुण और क्रियागत भेद को मानते हैं तथा "अर्थवाद धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र के भाष्य में कैयट के अनुसार पाणिनि यदृच्छा शब्द को भी स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

भाष्यकार के द्वारा उक्त सूत्र के प्रत्याख्यान कर देने पर कैयट लिखते हैं— अर्थवत् के प्रवचन से यह प्रतीत होता है कि अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्द भी होते हैं—

अर्थवत् सूत्रारम्भाच्च अव्युत्पन्नायदृच्छा शब्दासन्तीत्यवगम्यते।"[2]

जिनेन्द्र बुद्धि ने 'न्यास' ने लिखा है कि यास्क और शाकटायन शब्दों की केवल तीन प्रवृत्ति मानते थे जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द। उनके अनुसार यदृच्छा शब्द नहीं हैं—"तदेवं निरुक्तकार शाकटायन दर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाश्च। न सन्ति यदृच्छा शब्दा इति।[3]

कुछ आचार्य केवल क्रिया को शब्द की प्रवृत्ति मानते हैं। उनका तर्क है कि सभी शब्द धातुज होने के कारण क्रिया से विकसित हुये हैं। अतः सभी शब्दों की प्रवृत्ति केवल क्रिया में है, अन्य में नहीं—

"जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव। धातुजत्वात्। ततश्चैकैवशब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति।"[4]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋलृक् सूत्र में अपना परस्पर विरोधी मत प्रस्तुत किया है। पहले तो उन्होंने शब्द की अर्थात्मक प्रवृत्ति चार प्रकार की मानी।[5] तदनन्तर उसी सूत्र में यदृच्छा शब्द का प्रत्याख्यान करते हुए केवल तीन ही प्रकार की प्रवृत्ति को स्वीकार किया—"त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः", जातिशब्दाः, गुणशब्दाः क्रिया शब्दाश्चेति। न सन्ति यदृच्छा शब्दाः।"[6]

अस्तु इस विरोधाभास का कारण देते हुए प्रदीपकार ने लिखा है कि सभी यदृच्छा शब्द (आधुनिक नाम) सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति के गुण-क्रिया आदि के आधार पर ही होते हैं।[7] अतः सभी यदृच्छा शब्दों का गुण या क्रिया के सामान्यत्व के आधार पर जाति के अन्तर्गत समाहार हो जायेगा। इसलिये भाष्यकार ने अधिक तात्त्विकदृष्ट्या विचार करने पर यदृच्छा शब्दों का प्रत्याख्यान कर दिया।

---

१. सं० व्या० दर्शन, पृ० १२४।
२. म० भाष्य प्रदीप, पृ० १०१, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
३. न्यास, ३/३/१।
४. न्यास, ३/३/१।
५. म० भाष्य ऋलृक् सूत्र।
६. वही।
७. वही। प्रदीप।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः भाष्य की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने भी यदृच्छा शब्द को जाति के अन्तर्गत मानते हुए तीन ही प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति मानी है—"यदा तु द्रव्ये निमित्तापेक्षयाप्रवर्तते तदापि जातिशब्दाः ग्रयत्वमभिधेयं द्रव्यमस्य द्रव्य शब्दः। एवं क्रियाशब्दः क्रिया सामान्ये यदृच्छ शब्दः क्रियायां क्रिया शब्दो जाति शब्दो वा। अतस्तिसृषु शब्द-प्रवृतिषु नियत शब्दत्वं नियतार्थत्वंच। चतुर्थ्यान्तु शब्द प्रवृत्तावस्ति पौरुषेयत्वम्।"[1]

मीमांसक केवल जाति को ही शब्द-प्रवृत्ति निमित्त मानते हैं। इसका संकेत भर्तृहरि तथा मम्मट ने किया है—

"अपरेभज्यन्ते जाति प्रत्यासादेव तेऽर्थाः ताच्छब्द्यं प्रति लभन्ते।"[2]

+

"संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।"[3]

उनके अनुसार गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द भी जाति ही हैं, क्योंकि पय, शंख तथा बलाका आदि में जो शुक्ल गुण प्रतीयमान होता है, वह व्यक्तिशः विभिन्न प्रकार का होता है। किन्तु उन सभी शुक्ल गुणों में शुक्लता सामान्य रहती है। अतः गुण को जाति के रूप में माना जा सकता है। क्रिया एक ही पाक-क्रिया तण्डुल, घट आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, तथापि उसमें पाकत्व सामान्य रहता है। इसी प्रकार यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि का भी उच्चारण—बाल, वृद्ध, शिक्षित, अशिक्षित तथा शुकादि के द्वारा विभिन्न रूपों में होता है तथापि उनमें देवदत्तत्व सामान्य रहता ही है। अर्थात् व्यक्तिशः उच्चरित यदृच्छा (देवदत्तादि) शब्दों में भी एक अनुगताकार प्रतीति होती है। अतः उनका (यदृच्छा-शब्दों का) भी प्रवृत्ति निमित्त जाति को माना जा सकता है। एतावता गुण, क्रिया और यदृच्छा इन सभी शब्दों की प्रवृत्ति जातिगत ही होती है।[4]

मुकुल भट्ट ने मीमांसकों के मत को असंगत एवं अव्यवहारिक बताते हुए लिखा है कि गुण और क्रिया शब्द का ग्रहण जाति के अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि उपर्युक्त शखादि के शुक्लादि गुण तथा पाकादि क्रियायें परमार्थतः भिन्न नहीं हैं। उनमें भिन्नत्व की प्रतीति केवल आश्रम भेद के कारण है। जैसे - एक ही मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण खड्ग एवं जलादि में आश्रयभेद के कारण एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न रूपों वाला प्रतीत होता है। अतः भाष्योक्त मत, त्रिविध शब्द प्रवृत्ति, ही अभिमत है—"गुण क्रिया यदृच्छा शब्दानामपिजाति शब्दत्वाच्चतुष्टयीशब्द प्रवृत्ति नोत्पद्यते। अत्राभिधीयते—गुण-क्रिया शब्दसंज्ञिव्यक्तीनाम् तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजु-

---

१. म० भाष्य त्रिपादी टीका, पृ० ७१।

२. म० भाष्य टीका, पृ० ७१।

३. काव्यप्रकाश, २/८ (पूर्वार्द्ध)।

४. सं० का० द०, पृ० १२३, २४।

सामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वं न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम् ।"[1]

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने संकेतित अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिजाति रेव वा ।"[2] अर्थात् संकेतित अर्थजात्यादि (जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा) चार प्रकार का होता है अथवा कुछ आचार्यों (मीमांसकों) के अनुसार केवल जातिरूप एक प्रकार का होता है उक्त कारिकांश की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि यद्यपि अर्थ-क्रिया कारिता की दृष्टि से शब्द प्रवृत्ति निमित्त में योग्य व्यक्ति ही होता है तथा आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष के आ जाने के कारण उसमें संकेतग्रह मानना उचित नहीं है । "गौः शुक्लः चलः डित्थः" आदि से व्यक्ति की उपस्थिति होने के कारण विषय-विभाग नहीं हो सकता । अतः उसमें उपाधिभूत धर्म, जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा में ही संकेत का ग्रहण होता है ।

यह (शब्दगत) उपाधि दो प्रकार की होती है—

१. वस्तु का यथार्थ धर्म और

२. वक्ता की इच्छा से सन्निवेशित (यदृच्छा शब्दों में) ।

वस्तु धर्म दो प्रकार का होता है—

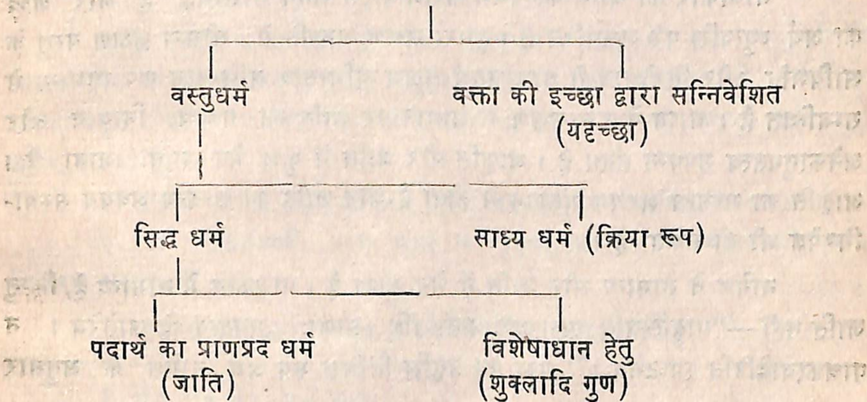
१. सिद्ध और

२. साध्य ।

सिद्ध धर्म भी दो प्रकार का होता है—

१. पदार्थ का प्राणप्रद धर्म अर्थात् जीवन धर्म (जाति) और

२. वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने का कारणभूत धर्म (गुणादि) ।[3]



१. अभिधावृत्तिमात्रिका, पृ० ५ ।

२. काव्यप्रकाश २/८ ।

३. काव्य प्रकाश, २/८ ।

इस प्रकार मम्मट ने भाष्य के अनुसार ही चार प्रकार के अर्थ का निर्देश करने के बाद मीमांसकों के (जातिरेव) मत का उपपादन किया है और वही तर्क प्रस्तुत किया है जो पहले लिखा जा चुका है। इस प्रकार शब्द प्रवृत्ति-निमित्त के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन मत सामने आते हैं—

१. ······जात्यादि चार प्रकार के अर्थ,
२. ····· जात्यादि तीन प्रकार के अर्थ तथा
३. ······केवल जातिरूप अर्थ।

आचार्यों के मत में जात्यादि स्वरूप इस प्रकार माना गया है। यथा—

जाति--जाति अथवा आकृति पद से प्रवृत्ति-निमित्त रूप अर्थ लिया जाता है। कहा जा चुका है कि आनन्त्य और व्यभिचार दोष के निवारणार्थ जाति में संकेत-ग्रह माना जाता है। चक्षुरादि के समान शब्द जाति-निरपेक्ष अर्थ-बोध नहीं कराते हैं, अपितु जात्यवच्छिन्न व्यक्ति का ही बोध कराते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार जाति के चार लक्षण स्वीकृत हैं—

(१) जननेनया प्राप्यते सा जाति।[1]
(२) आकृति ग्रहणाजातिर्लिङ्गानान्च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह।[2]
(३) प्रादुर्भावविनाशाभ्यामसत्वस्य युगपद् गुणैः।
असर्वलिंगां बह्वर्थां [illegible] जातिं कवयो विदुः॥"[3]
(४) यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं सशब्दः।
नेत्याह। आकृतिर्नाम सा।[4]

भाष्यकार का जाति का प्रथम लक्षण केवल जनन से सम्बद्ध है और शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति पर आधारित है। दूसरा लक्षण आकृति से, तीसरा लक्षण वस्तु के आविर्भाव और तिरोभाव से तथा चतुर्थ लक्षण अभिन्नत्व अछिन्नत्व रूप सामान्य से सम्बन्धित है। भाष्य के इस लक्षण के आधार पर जाति का एकत्व, नित्यत्व और अनेकानुगतत्व उपपन्न होता है। आकृति और जाति में कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध अवयव संस्थान से होता है और जाति का सम्बन्ध अवयव संस्था-निरपेक्ष भी हो सकता है।[5]

नागेश ने सामान्य और जाति में भेद माना है। पाचकत्व में सामान्य है, किन्तु जाति नहीं—"यावत्स्थिति एकाकार प्रतीतिर्हि प्राणाः तत्पदत्वं हि जातेरेव। न पाचकत्वादेरिति स्पष्टमेव।"[6] शब्द का प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ नागेश के अनुसार

---

१. म० भाष्य ४/३/५५।   २. वही ४/१/६३।
३ वही।   ४. वही, पश्य०।
५. सं० व्या० दर्शन।   ६. वै० ल० मं० पृ० ४५३।

जाति ही है। रूप, क्रियादि से विशिष्ट अवयव संस्थान आकृति ही जाति है। अतएव 'गां लिख' इस वाक्य की लेखन कर्मता सम्भव होती है—"तत्र जातिः प्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षणम् आकृतिपदेन रूपक्रियादिविशिष्टमवयव संस्थानं जातिलिङ्गमेव। अतएव 'गां लिख' इत्यादौ कर्मत्वोपपत्तिः।"[1]

भर्तृहरि के अनुसार गोत्व रूप जाति से सम्बद्ध होने के कारण ही गाय को गाय कहा जाता है। स्वरूपतः न तो 'गाय है' और न ही गाय नहीं है—"नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः। गोत्वाभिसम्बन्धातु गौः।"[2] अनन्त गो शब्दों के उच्चारण करने पर रूप विशेष की प्रतीति नहीं होती है। गोत्वादि जाति की ही प्रतीति होती है। अतः जाति रूप अर्थ ही शब्द से वाच्य है—

"शतशोऽपि गौः इत्युक्ते शुक्लत्वादिविशेषानवगम पूर्वकम्—सामान्यस्य शब्दतोऽवगतेः सा शब्द शक्या।"[3]

शब्दों की जातिवाचकता सिद्ध करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—शब्द का अभिधेय 'अर्थ' है। सभी शब्द जातिवाचक हैं, क्योंकि शब्द-व्यापार से पदार्थ लक्षित होते हैं। (व्यक्ति के अतिरिक्त) जाति में भी जातिरूप पदार्थ की कल्पना होती हैं—

"अर्थ जात्यभिधानेऽपि सर्वेजात्यभिधायिनः।
व्यापारलक्षणा यस्मात् पदार्थाः समवस्थिताः॥"[4]

शब्द पहले अपने रूप को कहता है और उसमें शब्द जाति रहती है। तदनन्तर तादात्म्य सम्बन्ध से उसका अर्थ और तन्निष्ठ अर्थजाति सामने आती है। अतएव भर्तृहरि ने लिखा है—

"स्वजातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥"[5]

अस्तु, नागेश ने मञ्जूषा के स्फोट निरूपण प्रकरण में तथा भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के वाक्यकाण्ड के जाति समुद्देश्य में जाति की वाच्यता के अतिरिक्त उसका बहुत ऊँचा स्थान सिद्ध किया है। जाति को नित्य, व्यापक, अजन्मा अविनाशी आदि बताया है—

१. सा च जातिः सर्वत्र आकाश जाति समवायादेरप्यौपाधिकानेकत्वात्।"

२. सा जातिरुत्पत्तेः प्राक् नाशे च सूक्ष्मसूक्ष्मरूपेष्वाश्रयेष्ववतिष्ठते इति नित्यत्व तस्याः।"

३. सा च शब्द तन्मात्रस्यैव परिणामविशेषः, आकाशवद्विभुः।"[6]

---

१. वै० ल० मं०, पृ० ४४८।
२. वा० प० ३, जाति समुद्देश्य।
३. ल० मञ्जूषा, पृ० ४६३।
४. वा० प० ३/१/११। ५. वा० प० ३/१/६।
६. १, २ और ३ ल० मञ्जूषा, पृ० ४६५–४७१।

"सम्बन्धि भेदात् सत्तैव विद्यमानागवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।।
तां प्रातिपदिकार्थन्च धात्वर्थन्च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ।।"[१]

डॉ० त्रिपाठी ने व्याकरण दर्शन के अनुसार दो प्रकार की जाति का प्रतिपादन किया है। (१) शब्द जाति, (२) सत्ता जाति।[२]

उच्चरित शब्द से पहले शब्द-स्वरूप का ज्ञान होता है तदनन्तर उसके वाच्य-अर्थ का। एतावता 'गो' शब्द से वाच्य 'गो' शब्द रूप ही अर्थ हुआ क्योंकि शब्द का वाचक भी तो शब्द ही होता है। इसी को अनुकरण शब्द कहा जाता है। इस वाच्य शब्द रूप अर्थ में शब्दत्व जाति रहती है, वही शब्द जाति है। 'स्वंरूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा।' सूत्र से पाणिनि ने इसी आशय को स्पष्ट किया है। इसी कारण शब्द स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है—"इह केचिद् वृत्तिकाराः पठन्ति स्वं रूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति, द्योत्यं प्रत्यायकमिति। अपरे तु स्वंरूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याख्यम्।[३]

किसी भी शब्द के पौनः पुन्येन उच्चारण से शब्द जाति की मानसी सिद्धि होती है। जब शब्दों को बुद्धि परिकलिपत करने में वर्णादिरूप अवयव संस्थान क्रम से उपलब्ध होते हैं, तब उन्हें ही शब्द जाति कहा जाता है। उन्हीं से सभी व्यवहार परिचालित होते हैं। अतएव किसी शब्द के प्रथम अक्षर से जाति का आभास मात्र होता है और द्वितीय तृतीय आदि वर्णों से क्रमशः स्फुट-स्फुटतर रूप जाति का निर्धारण होता जाता है। इस प्रकार जो संस्कार बनता है उससे अभिव्यक्ति शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। शब्दतत्व अन्ततः निरवयव है और वह सर्वप्रथम स्वजाति (शब्द जाति) का बोध कराता है। उसी को शब्द जाति कहा जाता है। रक्त वस्त्र के रक्त वर्ण और वस्त्र की भाँति शब्द-जाति अर्थ-जाति के व्यपदेश के लिए होती है। शब्द जाति और अर्थ-जाति एक होकर 'जाति' कार्य का ही सम्पादन करती है। यह अध्यास दर्शन के आधार पर हेलाराज की व्याख्या है।[४]

भर्तृहरि ने बिना अध्यास का आश्रय लिये हुये जाति पदार्थ की व्याख्या की है। शब्द के द्वारा विशुद्ध अर्थ-जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष में भी सभी शब्द 'जाति' के अभिधायक होते हैं। जाति शब्द भी जाति का बोधक होता है, क्योंकि व्याकरण में सामान्य में भी सामान्य माना जाता है।[५] अतः शब्द स्वरूप में रहने वाली शब्द जाति ही सत्ता जाति कही जा सकती है।

जिस प्रकार शब्द-जाति शब्द में रहती है, उसी प्रकार सत्ता जाति सत्ता में रहती है। भिन्न-भिन्न पदार्थों से भिन्न होकर सम्बन्धित भेद के आधार पर रहने

१. वा० प० ३/१/३३–३४। २. सं व्या० द०, पृ० १५०।
३. वा० प० १/६६, टीका। ४. सं० व्या० द०, पृ० १५३।
५. सं० व्या० द०, पृ० १५४।

वाली सत्ता जाति कही जाति है। 'अश्व' की सत्ता 'अश्वत्व' है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। 'गो' की सत्ता 'गोत्व' है। सभी शब्द सत्ता मात्र के वाचक हैं। वही प्रतिपादिकार्थ हैं। वही नित्य है। महान् आत्मा है।

पाणिनि ने "तस्यभावस्त्वतलौ" सूत्र में "त्व" और 'तल' से उसी का निर्देश किया है। सत्ता जाति को भर्तृहरि ने अन्ततः ब्रह्म रूप ही माना है। सभी पदार्थों के वाचक जाति पदार्थ की व्यापकता उपपन्न होती है।[1] यह दृष्टिकोण विशुद्ध पारमार्थिक है।

अस्तु जिस जाति की विवेचना प्रस्तुत प्रकरण में अपेक्षित है, वह है वैयाकरणिक जाति जिसे अनुगताकार प्रतीति सामान्यत्व या साधारण धर्म कहा जा सकता है। अतः एतल्लक्षण ललित पदार्थ जातिरूप माने जाते हैं। यथा— गो, घट, पट, गृह, पुस्तक आदि। एतदतिरिक्त गुण, क्रिया, यदृच्छा रूप अर्थ की भी स्थिति है।

गुण—

गुण किसी अर्थ के विशेषक या विभेदक तत्व को कहते हैं। सम्भव और व्यभिचार की दशा में इनका प्रयोग होता है। 'गौरयं शुक्ला' में शुक्ल गुण विशेषण है तथा सामान्य से विभेदक है। कभी गुण गुणी का विभेदक होता है और कभी गुणी से गुण का व्यपदेश होता है। जैसे—'शुक्लः पटः' तथा 'पटस्य शुक्लः।"[2]

वैशेषिकों ने सप्त पदार्थों में गुण को पदार्थ माना है और गुण रूप पदार्थ के चतुर्विंशति भेद माने हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जो पदार्थ किसी कार्य का समवाय कारण नहीं होता, कर्म से भिन्न होता है तथा सामान्य का आश्रय होता है उसे गुण कहा जाता है। गुण सदैव द्रव्याश्रित होता है। रूप-रस-गन्धादि चौबीस गुण हैं— "सामान्यतान् असमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुणः। स च द्रव्याश्रित एव।"[3]

वैयाकरण, वैशेषिकों के द्वारा प्रतिपादित गुण नहीं मानते हैं। वे लोक-व्यवहार और शास्त्रान्वाख्यानरीति से लोकोपयोगी गुण को मानते हैं। अर्थात् 'अयं शुक्लः', 'अयं नीलः' यहाँ 'शुक्ल' तथा 'नील' द्रव्यरूप (गुण) है। 'गौरयं नीलः' में उपसर्जनीभूत 'नील' गुण है।[4]

भाष्यकार ने वैशेषिकों के सदृश ही गुण रूपों को माना है—'सत्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते। आधेयश्च क्रियाजश्च सोऽसत्व प्रकृतिगुणैः।"[5] द्रव्य से द्रव्यान्तर में प्राप्त होने वाला, द्रव्य में रहने वाला तथा त्याग करने वाला, सभी लिंगों का वाचक गुण, द्रव्य से अन्य होता है—"उपैत्यन्यदजहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि। वाचकः सर्वलिंगानां द्रव्यादन्योगुणः स्मृतः।"[6]

---

१. वा० प० जातिसमु०।
२. वही, ३/५/२।
३. तर्कभाषा, पृ० २८४।
४. वा० प०, ३/५/१।
५. महाभाष्य ४/१/४४।
६. वही।

गुणों की गणना करते हुये भाष्यकार ने लिखा है कि शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये ही गुण हैं। इनसे अन्य द्रव्य हैं। अर्थात् जो अमूर्त है, द्रव्याश्रित है, वे गुण हैं—'शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्धगुणास्ततोऽन्यद् द्रव्यम्।"[१] जैसे गुड़ की मधुरता, कुमारी की रूपमाधुरी आदि गुण हैं। नागेश ने भाष्य एवं भामती के अनुसार 'अवयव' एवं धर्म को गुण माना है—"गुणपदेनावयवधर्माश्च।"[२]

अस्तु, पतञ्जलि एवं भर्तृहरि के लक्षणों के अनुसार द्रव्याश्रित द्रव्य विभेदक तत्व, द्रव्यनिष्ठ धर्म-संख्या-अवयव आदि तथा स्वतन्त्र रूप से शब्द-रूपादि अमूर्त तत्वों को गुण कहा जा सकता है। ये ही शब्द के गुण रूप प्रवृत्ति निमित्त होते हैं।

क्रिया—

क्रिया का स्वरूप बताते हुये भर्तृहरि ने लिखा है कि जो सिद्ध हो या असिद्ध हो, किन्तु साध्य के रूप में उसका कथन अपेक्षित हो, आश्रितक्रम रूप होने के कारण वही क्रिया है—

"यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् तत् क्रियेत्यभिधीयते॥"[३]

गमन (क्रिया) साध्य के रूप में अभीष्ट है। यद्यपि उस गमन क्रिया के अन्तर्भूत संयोग-वियोगादि विभिन्न व्यापार हैं, किन्तु वे साध्य नहीं हैं। उनका आश्रितक्रम के रूप में ज्ञान नहीं होता। अतः साध्य के रूप में विवक्षित को ही क्रिया कहते हैं। साध्य चाहे सिद्ध हो या असिद्ध। जैसे—गच्छति, गमिष्यति साध्य असिद्ध हैं और जगाम' में साध्य सिद्ध है। महाभाष्य क्रिया का अर्थ 'भूवादयो धातवः' सूत्र के भाष्य में ईहा, चेष्टा या व्यापार माना है। आगे उन्होंने क्रिया का व्यापक एवं लोकोपयोगी अर्थ करते हुये लिखा है—

'कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया।"[४]

अर्थात् कारकों की प्रवृत्ति विशेष को क्रिया कहते हैं। अपि च, एक क्रिया पूर्व-क्रिया की निर्वातिका होती है। यथा—पचति, खादति ततः पठति आदि। उक्त भाष्य की व्याख्या विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। सभी कारकों की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। तब एक ही क्रिया के आश्रय अनेक कारक नहीं हो सकते। भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति मानने पर भिन्न-भिन्न लकार भी होने लगेंगे। परन्तु 'रमेशः कक्षायां तिष्ठन् पुस्तकं पठति।' वाक्य में पठति क्रिया का सम्बन्ध सभी कारकों में होते हुये भी लकार का सम्बन्ध केवल प्रधानभूत कर्त्ता कारक से ही और गौण रूप में अन्य से होता है। कर्त्ता और कर्म से ही लकार का विधान होता है।

कुछ विद्वान मानते है कि धातु का सीधा सम्बन्ध सम्प्रदान आदि से न होकर

१. महाभाष्य ५/१/११९। २. ल० मञ्जूषा, पृ० ३४७।
३. वा० प० ३, क्रिया समुद्देश्य १।
४. म० भाष्य पृ० १/३/१।

करण आदि से होता है, क्योंकि करण आदि में स्वातन्त्र्य की विवक्षा होती है, अपादानादि के साथ नहीं। अतएव अधिश्रयण एवं उदकसेचन आदि से व्यापार का नाम ही क्रिया है। वार्तिककार भी ऐसा ही मानते हैं। कुछ आचार्य सभी कारकों से अन्य विक्लित्यादि रूप भूति (भवन) को क्रिया कहते हैं। अन्य आचार्यों ने कारक का अभिप्राय प्रधान कारक (कर्त्ता) से मानते हुये उसी की प्रवृत्ति-विशेष को क्रिया माना है।[1]

डॉ० त्रिपाठी ने भाष्यादि के आधार पर अत्यन्त विचार करके लिखा है कि प्रत्येक दशा में क्रिया कारकों का प्रवृत्तिविशेष है, आश्रित क्रमवाली है और साध्य-स्वभाव वाली है। पूर्वापरीभूत क्षणप्रवाह का एक क्रिया के रूप में एक साथ सन्निधान बौद्धिक संकलन द्वारा होता है। एक फल के उद्देश्य से प्रवृत्त अवयवों में एकत्व की कल्पना सहज है। काल्पनिक अभेद के आधार पर सभी क्रमभावी अवयवों के समुदाय को क्रिया कहते हैं।[2]

क्रिया से सम्बन्धित दो पद और हैं—भाव और आख्यात। इनको समझ लेने पर क्रिया का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। आख्यात किसी भी तिङन्त (धातु-रूप) को कहते हैं, किन्तु क्रिया प्रत्येक तिङन्त रूप को नहीं कह सकते। 'विदाङ्करोतु' या 'रधाञ्चकार' में 'कृ' का प्रयोग क्रिया नहीं कहला सकता, क्योंकि उसका फल कर्त्ता को नहीं मिलता। जिसका फल उसके होने के बाद कर्त्ता को प्राप्त हो, वही प्रधान रूप क्रिया कहलाती है—

"अनन्तरं फलं यस्याः कल्पते तां क्रियां विदुः।
प्रधानभूतां तादर्थ्यादन्यासां तु तदाख्याता॥"[3]

प्रत्येक तिङन्त पद आख्यात हो सकता है किन्तु फलोत्पादिनी क्रिया एक ही हो सकती है। "मृगो धावति इति पश्य" में केवल 'पश्य' ही प्रधान क्रिया है, 'धावति' नहीं। 'धावति' को क्रिया की अपेक्षा कर्म कहना अधिक संगत होगा। उसकी क्रिया रूपता तब होगी जब 'पश्य' क्रिया को वाक्य से पृथक् कर दिया जाय।

चन्द्रकीर्ति के अनुसार ५ आदि के रूप जिससे व्यक्त हों वह आख्यात है अथवा कर्त्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है—"आख्यायन्ते कथ्यन्ते अर्थात् निष्पाद्यन्ते भ्वादीनां रूपाणि येन तदाख्यातम्। अथवा आख्यान्ति आचक्षते कर्त्तुर्व्यापारमित्याख्याताः।[4]"

---

१. सं० व्या० द०, पृ० १६६।
२. वही, पृ० १६६।
३. वा० प० ३/८/१५।
४. सं० व्या० द० में उद्धृत, पृ० १५७।

महाभाष्यकार ने आख्यात को 'क्रियाप्रधानमाख्यातम्' कहा है।[१] आख्यात चार रूपों में प्राप्त होता है—

१—पचति, कर्त्ता में,
२—पच्यते, कर्म में,
३—भूयते, भाव में, और
४—पच्यते स्वमेव, कर्म कर्त्ता में।

सर्वत्र द्रव्य अप्रधानतया विवक्षित होने के कारण क्रिया ही प्रधान होती है। अतएव क्रिया-प्रधान आख्यात कहा जाता है। आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है तथा गौण रूप में काल, पुरुष, उपग्रह, वाच्य और संख्या भी आख्यात में रहते हैं, क्योंकि ये सभी आख्यातार्थ माने जाते हैं।[२]

अर्थात् 'पचति' आख्यात से प्रधानतया पाक-क्रिया की प्रतीति होती है। तदतिरिक्त, काल (भूत, वर्तमानादि), प्रथम-मध्यम उत्तमादि पुरुष, कर्त्तृ-गामिफल—एधते या परगामिफल-पचति आदि से उपग्रह, पचति से कर्त्ता, पच्यते से कर्मरूप साधन एवं पचति-पचन्ति आदि से एकत्व बहुत्व रूप संख्या की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'आख्यात' तिङन्त के उस रूप को कहते हैं जिसमें क्रिया-काल-पुरुष, उपग्रह, वाच्य एवं संख्या आदि अर्थ निहित रहते है और उन अर्थों में प्रधान क्रिया ही होती है।

क्रिया के स्वरूप को भाव द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यास्क ने कहा है—"भावप्रधानमाख्यातम्।"[३] ऋक् प्रातिशाख्य में भी तदाख्यातम् येन भावं स धातुः' कहा गया है। आख्यात क्रिया-प्रधान या भावप्रधान होता है। अतः भाव और क्रिया एक ही है। कौण्ड भट्ट ने भी लिखा है—"व्यापारो भावना सैवोत्पादना सै व च क्रिया। कृञोऽकर्मकता पतेर्नहि यत्नोऽर्थ इष्यते।"[४]

यास्क ने भाव की छः अवस्थायें स्वीकार की हैं—"जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति।"[५]

अतः क्रिया के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि इन छः अवस्थाओं में से किसी भी अवस्थागत व्यापार या स्थिति को क्रिया कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि जहाँ से स्थतियाँ व्यापार अन्य क्रिया (प्रधान क्रिया) के द्वारा अप्रधानीकृत अर्थात् कारकीकृत कर दिये जाते हैं, वहाँ उसमें साध्यत्व या आश्रितक्रमरूपता का अभाव हो जाने से उसका क्रियात्व तिरोहित हो जाता है। अस्तु, अनेक अवान्तर व्यापारभूत अवयवों से युक्त अतएव आश्रित क्रमरूप (साध्य) को क्रिया कहा जा सकता

---

१. म० भाष्य ५/३/६१।
२. वा० प० १/१३, २६ हरिवृत्ति तथा म० भा० ३/१/६७।
३. निरुक्त, १/१/९। ४. भूषणसार, धात्वर्थ प्रकरण—५ कारिक।
५. निरुक्त १/१।

है। इसीलिये कुछ आचार्यों ने क्रिया को जाति क्रिया भी माना है, क्योंकि उसमें
छोटी-छोटी क्रियाओं का समूह रहता है। जैसे—'पचति' में चूल्हा जलाने से लेकर
स्थाली के उतारने तक अनेक व्यापार होते हैं।

यदृच्छा—नागेश और कैयट में यदृच्छा शब्द की परिभाषा की है कि जिसको
वक्ता अपनी इच्छा से किसी अर्थ में प्रयुक्त करता है, वह यदृच्छा शब्द होता है।
इसमें प्रयोक्ता का अभिप्राय ही प्रमुख होता है, अर्थ का प्रवृत्ति निमित्त नहीं। ये
एच्छिक शब्द होते हैं। जैसे—व्यक्तियों के डित्थ, डवित्थ, पिंकू, मटरु, महेश,
कमलेश, सिम्मी, लूसी आदि नामकरण कर दिये जाते हैं। इनमें व्यक्ति की इच्छा के
अतिरिक्त और कोई कारण नहीं होता।[1]

भाष्यकार लिखते हैं कि जब व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी वस्तु या व्यक्ति
का नामकरण कर देता है तब उसे यदृच्छा शब्द कहा जाता है। जैसे—किसी का
'लृतक' ऐसा नाम रख दिया जाता है। "यदृच्छा शब्दार्थ-स्तावत्-यदृच्छया कश्चित्
लृतको नाम।"[2]

वस्तुओं के निर्देश के आधार पर यदृच्छा शब्द दो प्रकार के देखे जाते हैं—

(१) जातिवाचक शब्द, टि, घु, भा आदि तथा

(२) व्यक्तिवाचक शब्द राम, श्याम, मोहन आदि।[3]

लोक व्यवहार में यदृच्छा शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग होता है, क्योंकि ये
ऐच्छिक शब्द होते हैं और दिन-प्रतिदिन अभिनव निर्मित वस्तुओं तथा नवजात
व्यक्तियों के नामकरण किये जाते हैं। इन वस्तुओं या व्यक्तियों के नाम व्यक्तिविशेष
के द्वारा ही रखे जाते हैं। अतः ये यदृच्छा शब्द हुये। यदृच्छा शब्दों के अभाव में
लोक-व्यवहार ही असम्भव हो जायगा। अतः इनका परित्याग नहीं किया जा
सकता।

भाषा-शास्त्री भर्तृहरि के अनुसार जो जाति, गुण और क्रिया-परक संज्ञा
शब्द है, वे मूलरूप से यदृच्छा शब्द ही हैं। अतएव अनपेक्षित अर्थ में किसी शब्द
सन्निवेश नहीं होता। अतः संज्ञाओं के आदिभूत यदृच्छा शब्द को अवश्य ही मानना
चाहिये।

"या एताजातिगुणक्रियानिमित्ताः संज्ञाः सर्वासामेवासां यदृच्छा शब्दाएवादि-
भूताः। नहि अनपेक्षितनिमित्तान्तरा अर्थेषु विनिवेशं कुर्वन्ति। अतः संज्ञानामादिभूतेषु-
यदृच्छाशब्देषु न्याय्यो यः स कल्पयितव्यः।"[4]

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा की उत्पत्ति अर्थात् शब्द के अर्थज्ञान के
लिये प्रथम प्रयोग के सम्बन्ध में जो अनेक मत प्रतिपादित किये हैं, उन सभी के

---

१. म० भाष्य, प्रदीपोद्योत, ऋलृक् सूत्र।

२. म० भाष्य ऋलृक् सूत्र।

३. वही।

४. म० भाष्य त्रिपादी टीका पृ० ७१।

अनुसार यदृच्छा शब्द की स्थिति अपरिहार्य है। यहाँ तक कि उनके अनुसार सम्पूर्ण शब्द और शब्दार्थ व्यक्ति सन्निवेशित होने के कारण सभी यदृच्छा शब्द ही हैं। चाहे शब्द धातुओं से बने हों और चाहे अनुकरण आदि के आधार पर। अतएव हर्मन-पाउल कहता है कि भाषा-विषयक प्रत्येक उत्पत्ति (शब्दों का जन्म) केवल व्यक्ति का ही कार्य होता है ' इसमें सन्देह नहीं है कि विभिन्न व्यक्ति एक ही जैसी उत्पत्ति कर सकते हैं। अर्थात् अनेकों व्यक्ति एक ही पदार्थ के विभिन्न अवस्था आदि में एक ही सोचकर रख सकते हैं, किन्तु इससे न तो व्यक्तियों के निर्माण और न ही निर्मित वस्तु पर कोई प्रभाव पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता कि अनेकों व्यक्ति अपने सम्मिलित प्रयत्न से कोई वस्तु (नाम या शब्द) उत्पन्न कर सकते हैं।[1]

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यदृच्छा शब्द-प्रवृत्ति को स्वीकार करने के बाद सम्भवतः पारमार्थिक या तात्विक दृष्टि से पतञ्जलि, कैयट एवं नागेश ने उसका प्रत्याख्यान कर दिया है। क्योंकि प्रत्येक यदृच्छा शब्द द्रव्य का वाचक होता है और द्रव्य अनित्य, विनाशी है। नागेश तथा कैयट के अनुसार सभी यदृच्छा शब्द गुण या क्रिया के आधार पर यौगिक होते हैं। अतः इनको जाति में अन्तर्भूत किया जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से स्थूल द्रव्य की सत्ता को स्वीकार करना उतना ही आवश्यक है, जितना कि तात्विक दृष्टि से सूक्ष्म द्रव्य रूप परब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करना।

समीक्षा—वस्तुतः तात्विक दृष्टि से यदृच्छा शब्द का प्रत्याख्यान करना भ्रम-मूलक प्रतीत होता है। यदि तात्विक-दृष्ट्या यदृच्छा का प्रत्याख्यान किया जा सकता है तो उन्हीं तर्कों के आधार पर गुण और क्रिया का भी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण पद पदार्थ का विभाजन ही व्यावहारिक सत्ता पर ही आधारित है। पारमार्थिक-दृष्ट्या तो एक ही तत्व माना जा सकता है। अतः भाष्य-कार ने जो यदृच्छा शब्द का प्रत्याख्यान किया है, उसका कारण हो सकता है कि सभी नाम चाहे गुण या क्रिया के आधार पर हों चाहे—नितान्त वैयक्तिक अर्थात् रूढ़ि के द्वारा संकेतात्मक हों। उन पदों और पदार्थों की अनुवृत्ति और प्रत्यभिज्ञा के आधार पर उनकी जातिरूपता मानी जा सकती है। अस्तु यह कहना असंगत नहीं होगा कि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से शब्द के चार प्रवृत्ति-निमित्त ही मानना उचित है। जैसा कि भाष्यकार ने माना है। अतः व्यावहारिक-दृष्ट्या यदृच्छा पदार्थ का त्याग उचित नहीं है।

इस प्रकार शब्द प्रवृत्ति के निमित्त जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के सम्यक् विवेचन करने पर यह कहा जा सकता है कि भाषावैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्ट्या चारों की सत्ता अभीष्ट है। इन चतुर्विध शब्द-प्रवृत्ति निमित्त की तुलना जोनलियोन्स के द्वारा माने गये नाम, क्रिया, क्रिया-विशेषण तथा विशेषण से की जा

---

१. अर्थविज्ञान और व्या० दर्शन, पृ० २४६ में उद्धृत।

सकती है।[1] शुद्ध-पारमार्थिक दृष्ट्या विचार करने वाले मीमांसकों के अनुसार केवल जाति को ही माना जा सकता है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक वान्द्रियैज ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—"

"पदो को छांटते चले जाने का यह क्रम आगे बढ़ाया जाये तो अन्त में केवल दो शब्द भेद अक्षुण्ण रह जाते हैं— संज्ञा तथा क्रिया। अन्य सब भेद इन मुख्य दो वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं।"[2]

इस विभाजन में बौद्धिकता का परित्याग है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कदाचित् गुणपरक शब्दों का जातिवाचक शब्दों के अन्तर्गत समावेश हो सकता है, किन्तु गुणों का समावेश जाति के अन्तर्गत करना दुःसाध्य है। अस्तु, व्यावहारिक दृष्टि से जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा पदार्थों की सत्ता तथा पारमार्थिक दृष्टि से केवल जाति की सत्ता मानना समीचीन प्रतीत होता है।"

अर्थ-विभेद विमर्श

अर्थ एक ओर नित्य है तथापि लोक-व्यवहार में प्रतीयमान विविध अर्थ कुछ वर्गों में विभक्त हुआ प्रतीत होता है। पिछले प्रकरण में जो जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा रूप अर्थ का विभाजन किया गया है उसका कारण सम्पूर्ण अर्थ-जगत् की चार रूपों में प्रतीति है। यहाँ पर हम इस विषय पर विचार करने जा रहे हैं कि किसी भी शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उस शब्द का किस प्रकार का अर्थ है? अतः यह कहा जा सकता है कि इस अर्थ-विभाजन का एक कारण शब्द और अर्थ के मध्य स्थित सम्बन्ध या शक्ति है और दूसरा कारण वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न स्थितियों में शब्द के अर्थ की अन्यान्य रूपों में होने वाली प्रतीति। इन अर्थभेदों को भर्तृहरि के अनुसार अर्थज्ञान के विविध मार्ग कहा जा सकता है। अतः अर्थ विभेदों को उनकी वास्तविकता भिन्न नहीं अपितु प्रायोगिक सौविध्य के लिये कल्पित भेद समझना चाहिये। इसका निर्देश भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है। अर्थ के अनेकविध विभाजन आचार्यों ने किये हैं। उनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है—

द्विविध अर्थ

(क) **गौण एवं मुख्य अर्थ**—शब्द का अर्थ वाच्य होता है और उस वाच्यता का कारण शब्द की अभिधाशक्ति को माना गया है। वैसे तो शब्द शक्तियाँ तीन हैं— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, किन्तु इनमें अभिधा मुख्य शक्ति है तथा लक्षणा और व्यंजना गौण शक्तियाँ हैं। अतः वाच्य अर्थ वही होता है जिस अर्थ का किसी शब्द के उच्चारणानन्तर अव्यवहित ज्ञान होता है।[4] किसी शब्द के उच्चारण के पूर्व अथवा श्रवण के अनन्तर उससे बोध्य अर्थ का चित्र वक्ता या श्रोता के बुद्धि-पटल पर चित्रित हो उठता है। यदि शब्द अनेकार्थक होता है तो सभी प्रसिद्ध अर्थ सहभाव में उप-

---

१. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान, पृ० ४३५। २. भाषा वान्द्रियैज, पृ० १४२।
३. वाग्विज्ञान, पृ० ३२४। ४. वा० प० २/३३०।

स्थित हो जाते हैं किन्तु जब पद-समूह अर्थात् वाक्य का उच्चारण या श्रवण होता है तब केवल उस पदार्थ का ही नहीं, अपितु वाक्यनिष्ठ सम्पूर्ण पदार्थों का चित्र उपस्थित होना स्वाभाविक है। अत. जहाँ पद से अर्थ अभिधेय या वाच्य होता है वहीं पर वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ पदसमूह का सम्मिलित रूप से अभिधेय या वाच्य हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि अभिधेय या वाच्य शब्द की निजी स्वतन्त्रता अथवा सत्ता पर आधारित नहीं होता, अपितु उसकी प्रायोगिक स्थिति पर आधारित होता है। यहाँ पर एक बात यह भी ध्यान देने की है कि किसी शब्द का कोई भी अर्थ निश्चित या सर्वकालिक रूप से लक्ष्य या व्यंग्य नहीं होता।

'गंगायां घोषः' में गंगा का मुख्यार्थ गंगा प्रवाह, लक्ष्यार्थ गंगा तट और व्यंग्यार्थ शैत्य-पावनत्व की प्रतीति रूप अर्थ होता है। परन्तु यह लक्ष्यार्थ गंगा तट और शैत्य-पावनत्व आदि व्यंग्यार्थ सर्वत्र ही गंगा पद के लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नहीं होंगे। अतः किसी शब्द का वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) तो भले ही निश्चित हो किन्तु उसका लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ निश्चित नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि जहाँ गंगायाः घोषः में वक्ता को लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही अभीष्ट है वहाँ वही उसका वाच्य है क्योंकि शब्द से अभिप्रेत अर्थ को ही वाच्य कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि उस अर्थ में उस शब्द की वाचनिकी शक्ति नहीं है तथापि वक्ता की अभिष्टि के अनुसार लक्ष्य.र्थ और व्यंग्यार्थ ही वाच्य है। अनेकार्थक शब्दों की प्रायोगिक स्थिति पर उसकी अर्थवता का निर्णय होता है। अतः उस स्थिति में जो वाच्य अर्थ होगा वही उसका व.च्य हुआ, अन्य अवाच्य हुये। इस प्रकार कोई भी वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य कहीं पर वाच्य और कहीं पर अवाच्य हो जाता है। इसलिये गौण और मुख्य अर्थ का 'इदमित्थम्' रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता, अपितु केवल व्यावहारिक सुविधा के लिये शब्द की प्रायोगिक स्थिति के आधार पर गौण और मुख्य अर्थ का निर्णय किया जा सकता है—

"अवाच्यमिति यदवाच्यं तदवाच्यतया यदा।
वाच्यमित्यवसीयेत् वाच्यमेव यदा भवेत्॥"[1]

जब कोई पद स्वतन्त्र रूप में उच्चरित होता है तब वह अपने सम्भाव या बोध्य अर्थ को वहन करने में सक्षम होता है किन्तु जब वही शब्द वाक्य में प्रयुक्त होता है तब वह कभी-कभी देश, काल प्रकरण आदि के अनुसार, अनेकार्थक होने पर किसी एक अर्थ को तथा एकार्थक शब्द वाच्य या वाक्य से भिन्न तत्सम्बद्ध या असम्बद्ध, किसी एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है। यही उसका परिसीमन है। इसी कारण वह अर्थ मुख्य न होकर गौण हो जाता है। अतः भर्तृहरि कहते हैं कि जब शब्द के अर्थ-निर्धारण में किसी देश, काल, प्रकरण आदि की अपेक्षा नहीं होती तब उन सबसे उसका अर्थ परिसीमित या अन्यथाकृत नहीं होता, अपितु शब्द अपने

१. वा० प० ३/३/२०।

से बोध्य अर्थ का ही ज्ञान कराता है, तब वह शुद्ध अर्थ मुख्य अर्थ कहा जाता है और जब उसके अर्थ-निर्धारण में देश, काल प्रकरण आदि का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है, तब शब्द के उस अर्थ को गौण अर्थ कहा जाता है।

"शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते।
स मुख्य इति विज्ञेयो स्वरूपमात्र निबन्धनः ॥"[१]

+ +

"अर्थ प्रकरणापेक्षो यो वा शब्दान्तरैः सह।
युक्तः प्रत्यायत्यर्थं तं गौणभपरे विदु ॥"[२]

जहाँ मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध होने से शब्द अस्खलद्गति वाला होता है, वहाँ शब्द का 'मुख्य अर्थ' होता है। मुख्यार्थ का बोध हो जाने से प्रकरणादि के कारण जिस अर्थ का ज्ञान होता है, वह गौण अर्थ होता है। जब कोई शब्द अन्य शब्दों के प्रयोग के कारण प्रकरणादि प्रयत्नों के द्वारा अन्य अप्रसिद्ध अर्थ में नियुक्त (प्रयुक्त) कर दिया जाता है, तब उसे गौण रूप अर्थ मान लिया जाता है। वस्तुतः वह गौण अर्थ होता नहीं है—

"यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशनम् ॥"[३]

कुछ विद्वानों ने उस मुख्य अर्थ को निमित और गौण अर्थ को निमित्ती माना है।[४] गंगायां घोषः में मुख्यार्थ गंगा, लक्ष्यार्थ गंगा तट के प्रति निमित्त और गंगा तट को निमित्ती माना जा सकता है। अवधेय है कि जब मुख्य अर्थ का बाध हो जाता है तब देश-काल-प्रकरणादि के आधार पर उस मुख्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्य अर्थ (गौण) का ज्ञान होता है। वहाँ देश, काल-प्रकरणादि को तो निमित्त के रूप में माना जा सकता है किन्तु मुख्य अर्थ को भी निमित्त के रूप में मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, अपितु वह (मुख्यार्थ) लक्ष्यार्थ के प्रति उपादान कारण हो सकता है किन्तु व्यंग्यार्थ के प्रति तो वह न निमित्त कारण हो सकता है और न ही उपादान (कारण) क्योंकि व्यंग्य-अर्थ मुख्य अर्थ से पूर्णतया भिन्न होता है। अतः मुख्यार्थ को निमित्त और गौण अर्थ को निमित्ती मानना उचित नहीं प्रतीत होता। डा० सत्यकाम वर्मा ने भी निमित्त और निमित्ती अर्थ का खण्डन किया हैं।[५]

अनेकार्थक शब्दों में अर्थ, प्रकरणादि के अनुसार प्रयोज्य अर्थ को मुख्य और अप्रयोज्य को अमुख्य नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों ही अर्थ मुख्य ही होते हैं, कोई अर्थ गौण नहीं होता। जैसे—'पुरा' शब्द के भूत और भविष्य दो विरोधी अर्थ होते हैं। अतः देश-काल-प्रकरणादि के अनुसार उसका एक अर्थ (जो अभीष्ट होगा)

---

१. वा० प० २/२६५। २. वही, २/२६४।
३. वही, २/२६६। ४, वही, २/२६७।
५, भा० त० और वा० प०, पृ० १६५।

वाच्य होगा और वह मुख्य होगा दूसरा अर्थ अवाच्य हो सकता है, किन्तु वह गौण नहीं होगा।[1]

अखण्डवाक्य पक्ष में अखण्ड वाक्यार्थ ज्ञान ही होता है, अखण्ड नहीं। अतः पद-पदार्थ-त्रिभाग के अभाव में गौण मुख्य विभाग कैसे सम्भव होगा? इसके उत्तर में भर्तृहरि ने कहा है कि पदार्थों के अपोद्धार की प्रकल्पना में ही गौण मुख्य विभाग सम्भव है।[2]

अस्तु, उपर्युक्त गौण मुख्य का विभाजन केवल लोक-व्यवहार के लिए है। यह कोई वास्तविक विभाजन नहीं है। इसीलिये अरुचि दिखाते हुये भर्तृहरि ने कहा है—"तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशनम्।" अर्थात् गौण अर्थ केवल अभिनिवेश है। जब शब्द विशेषण का अर्थ विशेष के साथ कोई आत्यन्तिक या निश्चित सम्बन्ध नहीं है तो किसी को मुख्य किसी को गौण अर्थ मानना वास्तविक नहीं, अपितु केवल व्यावहारिक है। शब्द की उपयोगिता भी तो इसी में है कि वक्ता और श्रोता दोनों में भावात्मक सामञ्जस्य स्थापित हो सके। अतः वक्ता का अभिधेय ही मुख्य या वाच्य अर्थ होता है। तथापि व्याकरणिक प्रक्रिया के निर्वाहार्थ गौण और मुख्य विभाग किया गया है गौण मुख्य का भेद लौकिक है, व्यावहारिक है, अतः वास्तविक है। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों में बलूमफील्ड ने भी अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) और लक्ष्यार्थ को माना है। उनके अनुसार लक्ष्यार्थ के असंख्य और अपरिमेय भेद-प्रभेद हैं और वे समग्र रूप से अभिधेयार्थ से स्पष्टतया अभिन्न नहीं किये जा सकते हैं।[3]

द्वादश विध

अर्थ—भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के वाक्यकाण्ड में पूर्वाचार्यों के मत-मतान्तरपूर्वक अर्थ के बारह भेद बताये हैं—साकार अर्थ, निराकार अर्थ, आकार रूप अर्थ, समूह अर्थ, संसर्ग रूप अर्थ, असत्योपधि सत्य अर्थ, अध्यास अर्थ, शक्त अर्थ, अशक्त अर्थ, बौद्ध अर्थ, बाह्य अर्थ और अनिश्चित अर्थ।

१. **निराकार अर्थ**—कुछ विद्वानों के अनुसार अर्थ निराकार होता है। धर्माधर्म, स्वर्ग देवता आदि के समान ही सभी शब्द आकारहीन अर्थ का बोध कराते हैं। 'गो' आदि शब्दों से आकार युक्त पदार्थों की प्रतीति अविनाभाव से होती है—

"असत्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्व देवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥"[4]

यदि शब्द प्रत्येक आकारयुक्त पदार्थ का बोध कराते तो विभिन्न आकार वाले घट को घट नहीं कहा जाता।[5]

२. **साकार अर्थ**—कतिपय विद्वानों के अनुसार कुछ शब्द जाति-पदार्थ का

---

१. वा० प० २/२६८। २. वा० प० २/२६९।
३. भाषा, पृ० १८१।
४. वा० प०, २/१२३। ५. वा० प० २/११९।

बोध कराते हैं और कुछ शब्द जाति के साथ व्यक्ति का अबिनाभाव सम्बन्ध से बोध कराते हैं। जातिपरक शब्दों से जातिगत आकार का बोध होता है तथा जिन शब्दों से व्यक्ति का बोध होता है, उनमें भी व्यक्तिगत भेद समवाय सम्बन्ध से जाति में रहता है। अतः अर्थ साकार होते हैं—

"केचिद् भेदाः प्रकाश्यन्ते शब्दैस्तदभिधायिभिः।
अनुनिष्पादिनः काश्चिच्छब्दार्था इति मन्वते ॥"[1]

इस मत में अरुचि प्रदर्शित करते हुये भर्तृहरि ने जाति से जाति मात्र का तथा व्यक्ति का आनुषंगिकरूप ज्ञान स्वीकार किया है, क्योंकि जाति बिना व्यक्ति के नहीं रह सकती। जाति शब्द व्यक्तिगत भेदों का बोध नहीं कराते।[2]

३. **आकार रूप अर्थ**—पूर्व मत के अनुसार कुछ शब्द आकार (जाति) का बोध कराते हैं, कुछ शब्द आकार का बोध अविनाभाव सम्बन्ध से कराते हैं। कतिपय विद्वान् इस मत को न मानते हुये कहते हैं कि सभी शब्दों से गौण या मुख्य रूप में आकार का ज्ञान होता है क्योंकि जाति या व्यक्ति एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। अतः साध्य-साधन विशिष्ट सभी प्रकार का अर्थ शब्द का अभिधेय है—

"नियतास्तु प्रयोगा ये नियतं यच्च साधनम्।
तेषां शब्दाभिधेयत्वमपरैरनुगम्यते ॥"[3]

साकार अर्थ में जाति विशिष्ट का बोध होता है और आकार रूप अर्थ में व्यक्ति अर्थ का ही बोध होता है। यही दोनों में अन्तर है।

४. **समुदाय रूप अर्थ**—शब्द से अभिधेय अर्थ समुदाय रूप होता है, अवयव रूप नहीं। जैसे 'गो' शब्द से सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर, विषाणादि समुदाय रूप अर्थ का बोध होता है। प्रत्येक अवयव का पार्थक्येन बोध नहीं होता है। यदि समुच्चय रूप अर्थ माना जायेगा तो एक 'गो' के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होगा तथा समुच्चय और विकल्प उभय रूप अर्थ मानने पर कभी एकवचन और कभी बहुवचन का प्रयोग होगा। अतः अवयवातिरिक्त अवयवी का बोध होता है—

"समुदायोऽभिधेयोवाप्यविकल्पसमुच्चयः।"[4]

५. **संसर्ग रूप अर्थ**—कुछ आचार्यों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध (संसर्ग) ही अर्थ है अर्थात् अर्थ, जाति, गुण और क्रिया रूप है। जातिगुण और क्रियावाचक शब्दों से तत्तदर्थों (जाति, गुण, क्रियारूप) के साथ संसर्ग होता है। वह संसर्ग वस्तुओं के बिना रह नहीं सकता। अतः वह संसर्ग (सम्बन्ध) ही अर्थ है।

"असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते।"[5]

६. **असत्योपाधि सत्य अर्थ**—अर्थ सत्य है, नित्य है, किन्तु असत्य उपाधि से

---

१. वा० प० २/१२१। २. वही, २/१२२। ३. वही, २/१२५।
४. वा० प० २/१२६ (पूर्वार्द्ध) तथा पुण्यराज।
५. वही, २/१२६ (उत्तरार्द्ध)

उपहित होने के कारण वह असत्य प्रतीत होता है। व्यक्ति अर्थात् द्रव्य सत्य है,[1] वह असत्य जात्यादि उपाधियों (व्यावर्तक धर्मों) के संसर्ग से असत्य प्रतीत होता है। जैसे—सुवर्ण सत्य है किन्तु वह असत्य कुण्डलादि जातियों के संसर्ग से असत्य रूप प्रतीत होता है—

"असत्योपाधियत्सत्यं तद्वा शब्द निबन्धनम्।"[2]

७. **अभिजल्प अथवा अध्यास रूप अर्थ**—जब शब्द अपने स्वरूप को ही अभिधेय के रूप में प्रस्तुत करता है तब उसे अध्यास अर्थ कहते हैं। "शब्दो वाप्यभिजल्पात्वमागतो याति वाच्यताम्।" इस मत में शब्द अभिजल्प रूप को प्राप्त होकर वही शब्द का वाच्य हो जाता है। अभिजल्प या अध्यास कहते हैं—शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध से अभेद प्रतीति को। 'जो यह शब्द है वही अर्थ है, वही शब्द है", इस प्रकार के इतरेतराध्यास या तादात्म्य को ही अभिजल्प कहते हैं—

"सोऽमित्यभिसम्बन्धाद् रूपमेकीकृतं यक्ष।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥"[4]

अध्यास रूप अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि 'जब दोनों में अभेद प्रतीति है तो प्रधानता अर्थ की रहती है या शब्द की ? भर्तृहरि कहते हैं कि लोक में शब्द का प्रयोग अर्थ-बोध के लिये ही होता है। अतः अर्थांश की प्रधानता रहती है। शास्त्र में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता होती है। अथवा प्रधानता सर्वत्र (लोक या शास्त्र में) विवक्षा के अधीन रहती है—

"लोकेऽर्थरूपतां शब्दः प्रतिपन्नः प्रवर्तते।
शास्त्रे तूभयरूपत्वं प्रविभक्तं विवक्षया॥"[5]

८. **अशक्त अर्थ**—अर्थ का ज्ञान शब्द से होता है। शब्द अर्थ का जिस रूप में ज्ञान कराता है, उसी रूप में अर्थ का ज्ञान होता है। एतावता अर्थ स्वयं अपने को स्वतन्त्र रूप में शब्द व्यक्त करने में असमर्थ है, अर्थ कभी क्रिया रूप में और कभी द्रव्य रूप में शब्द के द्वारा बोधित होता है। अतः अर्थ शब्द के अधीन है। असर्वशक्ति मत है। "अशक्तः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता। एकस्यार्थस्यनियता क्रियादि परिकल्पना।"[6]

९. **शक्त अर्थ**—भर्तृहरि ने पूर्वोक्त एक ही कारिका में अर्थ-वैचित्र्य की अशक्तता और सर्वशक्तिमता दोनों का निर्देश किया है। अर्थशक्तिमान है। शब्द के द्वारा प्रत्येक नियत शक्ति का बोध कराया जाता है। घटादि शब्द शक्ति के द्वारा अर्थ कभी 'घटादि' क्रिया रूप में अभिहित होता है और कभी घटत्वादि जाति

---

१. 'द्रव्यं' हि नित्यम्, म० भा० प५प०।
२. वा० प० २/१२७। ३. वा० प० २/१२७।
४. वा० प२ २/१२८।
५. वा० प० २/१३०। ६. वा० प० २/१३१।

रूप में। नियत रूप से शब्दार्थ के द्वारा जातिगुण क्रियादि रूपता का बोध होता है।[1] संसार में जो कुछ भी है वह अर्थ ही है, क्योंकि वह भी शब्द से बोध्य है। सर्व-बोधकता शक्ति के कारण सर्वशक्तिमान शब्द के समान अर्थ भी सर्वशक्तिमान है, क्योंकि संसार में सब कुज अर्थ के रूप में वोध्य है।[2] अतः अर्थ सर्वशक्तिमान है। कैयट ने भी अर्थ की सर्वशक्तिमत्ता स्वीकार की है—"सर्वशब्दप्रत्याण्य शक्तियुतश्चार्थः।"[3]

१०. **बौद्ध-अर्थ** -- शब्द का अर्थ बौद्ध है, बाह्य नहीं। जैसे शब्द की बाह्य सत्ता नहीं, वैसे ही अर्थ की भी नहीं है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बौद्ध है। बुद्धिगत अर्थ में भ्रम के कारण दृश्य वस्तु के साथ एकाकार प्रतीति के होने से बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है।[4]

२. **बौद्ध और बाह्य अर्थ**—गोघटादि शब्द से आकार विशेष से युक्त गो घटादि बाह्य वस्तु (अर्थ) का ज्ञान होता है। अतः शब्द से बोध्य अर्थ वाला है तथा अपूर्वदेवतास्वर्गादि आकारसहित अर्थों का ज्ञान भी शब्द से होता है और उनकी सत्ता, अमूर्त होने के कारण बौद्ध होती है। अतः अर्थ बौद्ध है। अतः बौद्ध और बाह्य उभयविध अर्थ की सत्ता सिद्ध होती है—

"आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृति निबन्धनाः।
ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा।"[5]

१२. **अनियत या संस्कारानुगत अर्थ**—किसी शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है। शब्द का अर्थ देश, काल और व्यक्तिगत संस्कारों के अनुरूप होता है। जैसे एक ही वस्तु को अनेक व्यक्ति इन्द्रिय दोषादि के कारण विभिन्न रूपों में देखते हैं, उसी प्रकार एक ही शब्द से कोई व्यक्ति किसी अर्थ का ज्ञान करता है और कोई व्यक्ति किसी अर्थ का—

"यथेन्द्रियं सन्निपतद्वैचित्र्येणोपदर्शकम्।
तथैव शब्दादर्थस्य प्रतिपत्तिरनेकधा।।"[6]

वक्ता अपनी बुद्धि के अनुरूप अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है और विभिन्न श्रोता अपनी-अपनी बुद्धि के अनुरूप विभिन्न अर्थ का ज्ञान करते हैं। शब्द का अर्थ देश, काल और अवस्था भेद से परिवर्तित भी होता रहता है।[7] अर्थ परिवर्तन का कारण मानवीय अपूर्णता है। मानव-ज्ञान अपूर्ण और अव्यवस्थित है। त्रुटि और स्खलनों से युक्त है। अतः उनका शब्द प्रयोग भी सर्वथा अव्यवस्थित, स्खलित,

---

१. वा० प० २/१३१। २. वा० प० २/४३६।
३. म० भाष्य प्रदीप १/१/६७।
४. वा० प० २/१३२, विशेष विवरण बौद्ध अर्थ प्रकरण में देखिये।
५. वा० प० २/१३३।
६ वा० प० २/१३४। ७. वा० प० २/१३५-३६।

अतात्विक एवं त्रुटिपूर्ण है।[1] तब किसी शब्द का अर्थ कैसे निश्चित किया जा सकता है ? अस्तु शब्द का अर्थ अनियत (परिवर्तनशील) है।

भर्तृहरि के द्वारा बताये गये ये बारह प्रकार के अर्थ भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। अद्यावधि इनमें से कुछ अर्थों पर भाषावैज्ञानिकों ने विचार किया है, किन्तु अभी अधिक पर विचार करना शेष है। इसके पूर्व जिन आठ प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है वे व्याकरणात्मक विधाओं पर आधृत है। तत्तद् विधाओं से जिस पदार्थ का ज्ञान होता है, वह पदार्थ विभिन्न विद्वानों के अनुसार विभिन्न रूपात्मक स्वीकार किया गया। भर्तृहरि ने उन्हीं बारह प्रकार के पदार्थों का वर्णन किया है। इसका आशय यह नहीं है कि ये बारह प्रकार के अर्थ एक-दूसरे से भिन्न हैं, अपितु किसी भी शब्द के मतमतान्तरपूर्वक ये १२ प्रकार के अर्थ स्वरूप माने गये हैं। इन रूपों में ही पदार्थ का परिज्ञान होता है।

अष्टादश-विध अर्थ

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने अट्ठारह प्रकार का अर्थ स्वीकार किया है—"अर्थोऽष्टादशधा, तत्र वस्तुमात्रमभिधेयश्च·········।"[2] इनका विवरण इस प्रकार है—

१. **वस्तुमात्र**—वह बाह्य सत्ताक अर्थ जो अबोध्य तथा अप्रतिपाद्य है, वस्तुमात्र अर्थ है।

२. **अभिधेय**—वह बाह्य सत्ताक अर्थ जो बोध्य एवं प्रतिपाद्य है। उसे अभिधेय अर्थ कहा जाता है। अभिधेय अर्थ दो प्रकार का होता है—शास्त्रीय और लौकिक।

३. **शास्त्रीय**—वेद-शास्त्रादि के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ शास्त्रीय अर्थ कहलाता है। इसका (शास्त्रीय अर्थ का) ज्ञान अपोद्धार प्रक्रिया के द्वारा होता है।

४. **लौकिक अर्थ**—लौकिक अर्थ उसे कहते हैं जिसका ज्ञान लोक प्रसिद्धि के आधार पर होता है। लौकिक अर्थ वाक्यार्थ रूप ही होता है। सखण्ड पदार्थों का ज्ञान नहीं होता।

४. **विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु**—इसका सम्बन्ध केवल बौद्ध कहा जाता है। जैसे—"कंसं घातयति" कंस तो अब तक मर चुका है तो पुनः वर्तमान काल में किसे मारा जाता है ? भाष्यकार कहते हैं कि वहाँ बुद्धि में एक विशिष्ट आकार का ज्ञान रहता है उसी का प्रत्यक्ष होता है और उस असत्य भूत अर्थ को भी सत्य मानकर कार्य किया जाता है।[3] इस प्रकार के अर्थ को ही विशिष्टावग्रह सम्प्रत्यय हेतु कहते हैं।

६. **वास्तविक**—वास्तविक अर्थ उक्त अर्थ के विपरीत होता है। अर्थ का

---

१. वा० प० २/२३८। २. वा० प० पुण्यराज, २/८१।

३. म० भाष्य ३/१/२६।

स्वरूप लोक-व्यवहार में देखा जाता है, उसका वही स्वरूप वास्तविक अर्थ कहलाता है।

७. **मुख्य अर्थ**—जो अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द का वाच्य अर्थ होता है।

८. **परिकल्पित रूप विपर्यास**—जिसमें कोई नया अर्थ निकालने के लिए लोक-प्रसिद्ध को ज्ञानपूर्वक बदल दिया जाये। वह लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ होता है।

९. **व्यपदेश्य**—जिस अर्थ का वर्णन किया जा सके जैसे संसार के सभी प्रत्यक्ष पदार्थ। भर्तृहरि ने इसे समाख्येय अर्थ कहा है।

१०. **अव्यपदेश्य**—जिस अर्थ का तात्विक रूप से वर्णन न किया जा सके या जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थ न हो। जैसे—ब्रह्म, आत्मा आदि। इसे भर्तृहरि ने असमाख्येय अर्थ कहा है।

११. **सत्यमावापन्न**—बाह्य अर्थ के बोध कराने वाले दृश्य पदार्थ को सत्वमावापन्न अर्थ कहते हैं। जैसे—तिलेषु तैलम्।

१२. **असत्वभूत**—उक्त अर्थ के विपरीत अर्थात् सत् (विद्यमान) नहीं है, उस अर्थ का ज्ञान जिस अर्थ से कराया जाये यह असत्वभूत अर्थ है।

१३. **स्थिर लक्षण**—जो अर्थ सदा एक सा रहे और उसमें कभी परिवर्तन न हों। स्थिर रूप से अर्थ-बोध कराने के कारण इसे स्थिर लक्षण अर्थ कहते हैं। जैसे—'राजपुरुष' में पुरुष शब्द राज सम्बन्ध पुरुष का बोध कराता है।

१४. **विवक्षा प्रापित सन्निधान**—स्थिर लक्षण के विपरीत जहाँ अर्थ विवक्षाधीन होता है, उसे विवक्षा-प्रापित सन्निधान अर्थ कहते हैं। जैसे—राज्ञः पुरुषस्ये में 'राज्ञः' और 'पुरुषस्य' दोनों षष्ठ्यन्त पदों को विवक्षा के अनुसार विशेष्य-विशेषण बनाया जा सकता है।

१५. **अभिधीयमान**—सामने प्रस्तुत होने पर संकेत करके जिस अर्थ का कथन किया जाये वह अभिधीयमान अर्थ होता है। जैसे—'सामस्य पुस्तकमिदम्' में राम की पुस्तक का प्रस्तुत रूप से वर्णन किया गया है।

१६. **प्रतीयमान**—जो अर्थ शब्द के द्वारा साक्षात् ज्ञात न होकर व्यञ्जना या ध्वनि के द्वारा ज्ञात हो, उसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। जैसे—'राज सखा' में दोनों पदों के अतिरिक्त बहुब्रीहि समास द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है।

१७. **अभिसंहित वाच्य अर्थ**—जब किसी शब्द से जाति या व्यक्ति का सीधा-सीधा परिचय प्राप्त होता है तब वह अभिसहित होता है। जैसे- गो, कमल आदि।

१८. **नान्तरीयक**—जब कोई अर्थ किसी के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहता है तब एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान हो जाता है। जैसे गो शब्द से ज्ञात अर्थ 'गाय' से उसमें रहने वाले शुक्लनीलपीतादि वर्ण का ज्ञान होता है। अतः वह नान्तरीयक होता है।

उपर्युक्त अठारह प्रकार के अर्थों का उल्लेख डा० कपिलदेव द्विवेदी ने

अर्थविज्ञान' तथा आचार्य चतुर्वेदी ने 'वाग्विज्ञान' में किया है ।[1] अर्थ का यह विभाजन पदार्थ ज्ञान की विधाओं से सम्बन्धित है । अर्थात् अर्थावबोध उक्त अठारह प्रकार से होता है । एक ही अर्थ का ज्ञान अनेक विधाओं से हो सकता है । अतः इनमें अन्तर्विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिये ।

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने इसी सन्दर्भ में ओग्डेन और रिचार्ड्स के द्वारा बताये गये उन १६ प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है जो आधुनिक भाषावैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. (क) तात्विक अर्थ भाग ।

२. अन्य वस्तुओं के साथ एक अनुपम अनिर्वचनीय अर्थ सम्बन्ध अर्थ है ।

३. (ख) शब्दकोष में एक शब्द के साथ जोड़े गये अन्य शब्द अर्थ है ।

४. शब्द का लक्ष्य अर्थ है ।

५. सारांश अर्थ है ।

६. वस्तु रूप में निरूपित क्रियात्मक अर्थ है ।

७. (१) अभिमत अर्थ है ।
(२) संकल्प अर्थ है ।

८. शास्त्रीय प्रक्रिया में निर्दिष्ट भाव अर्थ है ।

९. हमारे भावी अनुभवों से सिद्ध किसी वस्तु का क्रियात्मक परिणाम है ।

१०. किसी वक्तव्य में वाच्य या लक्ष्य रूप में निहित विचारात्मक परिणाम अर्थ है ।

११. किसी वस्तु के द्वारा उद्बोधित मनोभाव अर्थ है ।

१२. (ग) किसी निर्धारित सम्बन्ध के द्वारा किसी संकेत से वस्तुतः सम्बन्ध पदार्थ अर्थ है ।

१३. (१) किसी प्रेरणा से स्मरणोद्बोधक परिणाम अर्थ । सम्प्राप्त सम्बन्ध अर्थ है ।
(२) कोई अन्य घटना जिससे किसी अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम सम्बद्ध हैं, अर्थ हैं ।
(३) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ ।
(४) जिस अर्थ को कोई बात अभिव्यक्त करती है, वह अर्थ है । (संकेत के विषयों में) वह वस्तु जिसको सकेत का प्रयोक्ता वस्तुतः संकेत करता है वह अर्थ है ।

१४. संकेत के प्रयोक्ता को जिसका निर्देश करना चाहिये, वह अर्थ है ।

१५. संकेतों के प्रयोक्ता का जो स्वयं अभिमत भाव है, वह अर्थ है ।

---

१. अर्थविज्ञान और व्या० दर्शन, पृ० ९३-९५ तथा
वाग्विज्ञान, पृ० ३२३-२४ ।

१६. (१) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ को समझता है, वह अर्थ है।
(२) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ की अपने हृदय में भावना करता है, वह अर्थ है।
(३) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत भाव समझता है, वह अर्थ है।

उपर्युक्त १६ प्रकार के अर्थों की तुलना वाक्यपदीय में पुण्यराज के द्वारा प्रतिपादित १८ प्रकार के अर्थों से की जाये तो कुछ शब्दों के साथ दोनों में पर्याप्त समानता प्रतीत होती है। यत्किंचित् अन्तर है वह केवल सरणि भेद के कारण है। अतः 'वाक्यपदीय' में हेलराज द्वारा वर्णित अठारह प्रकार के अर्थों का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्व सिद्ध होता है।

पूर्व वर्णित अर्थभेदों के अतिरिक्त अन्य अर्थभेदों का विवेचन विद्वानों ने किया है। सीरदेव ने 'परिभाषा वृत्ति' में तीन प्रकार की अर्थवत्ता बतायी है—

१. लौकिक,[1]
२. अन्वयव्यतिरेक समधिगम्य[2] तथा।
३. प्रतिज्ञाज्ञापित।[3]

डा० सत्यकाम वर्मा ने 'भाषातत्व' में शब्दार्थ, वाच्यार्थ, मुख्यार्थ, अभिधेय, प्रतिपाद्य गौणार्थ, चरितार्थ, उपसर्जनीभूतअर्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ, गम्यार्थ, प्रक्रान्तार्थ परार्थ और बुद्ध्यर्थ आदि अर्थों का उल्लेख किया है, किन्तु ये सभी अर्थ पूर्वोक्त भेदों के अतिरिक्त नहीं माने जा सकते हैं, यथा "सर्वे पदः हस्ति पदे निमग्नाः।"

अर्थ-विकास विमर्श

जगत् (गच्छतीति जगत्) की प्रत्येक वस्तु क्षणिक एवं परिवर्तनशील है। इसी का निर्देश बौद्धों का क्षणिकवाद करता है तथा "यत् किं च जगत्यां जगत्" यजुर्वेद का यह मन्त्र भी इसकी पुष्टि करता है। सम्पूर्ण शाब्दी प्रक्रिया मानवीय है। उसका आत्यन्तिक रूप भले ही अतिमानवीय होने के कारण नित्य तथा विभु हो किन्तु उसका व्यावहारिक रूप क्षणिक परिणामी है, क्योंकि मानव से सम्बन्धित है, अतः उस प्रक्रिया और स्वरूप का भी रूपान्तर अवश्यम्भावी है। शब्द से अर्थ का सम्बन्ध शास्वत है[4], किन्तु शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का सम्बन्ध शास्वत नहीं है। शब्दार्थ सम्बन्ध की इसी अनियतता के कारण ही भाष्यकार पतञ्जलि के सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे[5] तथा "एकश्च शब्दो बह्वर्थः"[6] आदि वचन की अर्थसंगति होती है। एक ही

---

१. वा० प० २/४२७। २. म० भाष्य १/२/४५।
३. वही, १/१/१।
४. द्र०, शब्दार्थ सम्बन्ध, प्रस्तुत निबन्ध।
५. म० भाष्य, पश्य पृ० ४७, मोतीलाल प्र० वाराणसी १९६७।
६. वही।

शब्द का देश और कालभेद से भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। शब्द या ध्वनियों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप भाषा परिवर्तित होती रहती है। शब्द विकसित या परिवर्तित होते रहते हैं, उसी शब्द का अर्थ भी विकसित होता रहता है। यह अर्थ-विकास, अर्थ-परिवर्तन अर्थ संकोच एवं अर्थ-विस्तार इन तीन रूपों में देखा जाता है। आधुनिक भाषा-शास्त्रियों ने अर्थ-विकास के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों एवं वैयाकरणों ने अर्थविकास के सम्बन्ध में विचार अवश्य किया है, किन्तु आधुनिक विचारों तथा प्राचीन विचारों का स्वरूप एक नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इसका कारण यह है कि आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की वैचारिक आधारशिला तुलनात्मक है और प्राचीन भाषाविदों की वैचारिक प्रक्रिया का आधार एक ही भाषा थी, तथापि यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि और भर्तृहरि आदि ऐसे भाषाशास्त्री थे जिन्होंने भाषाविज्ञान के अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के साथ ही अर्थ-विकास की ओर भी संकेत किया है।

कैय्यट का निम्न अर्थ-विकास सिद्धान्त की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है, यदि एक शब्द का एक ही नियत अर्थ होता तो अर्थविषयक सन्देह न होता, किन्तु ऐसा नियम न होने के कारण ही सन्देह होता है—

"यद्येकः शब्दः एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्, यतस्त्वनियमः ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः।"[1]

यास्क ने सभी शब्दों के अर्थों का निर्वचन करके यह सिद्ध किया है कि सभी शब्द यौगिक अर्थात् धातुज हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक शब्द का निर्माण तद्वाच्य (अर्थ) के, किसी न किसी गुण या कर्म के आधार हुआ है। इन गुण-कर्मों के सांकर्य एवं अर्थ परिसीमन के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन, विस्तार एवं संकोच आदि होना स्वाभाविक है। गो, दुहिता, कुशल, कौपीन, विद्या, वर, अदूत, सपत्न, अनुग्रह आदि ऐसे ही शब्द हैं। आचार्य चतुर्वेदी के अनुसार अर्थ-विकास की अधोऽंकित अवस्थायें मानी गयी हैं—

"अपकर्षश्चोत्कर्षो विस्तारादेशभावसंकोचाः।
विनिमय विसर्पणौ चेदर्थारोपो हि परिवृत्तिश्चार्थो॥"[2]

अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष, अर्थ-विस्तार, अर्थादेश, अर्थसंकोच, अर्थ-विनिमय और अर्थविसर्पण ये अर्थ-विकास की आठ अवस्थायें होती हैं। अपकर्ष—अच्छे अर्थ का बुरा हो जाना, उत्कर्ष—बुरे अर्थ का अच्छा हो जाना, विस्तार—संकुचित अर्थ का विस्तृत हो जाना, संकोच-विस्तृत अर्थ का संकुचित हो जाता, विनिमय—एक अर्थ को छोड़ कर दूसरा अर्थ हो जाना विसर्पण–अर्थ की मात्रा में वृद्धि हो जाना–तथा आरोप किसी नये अर्थ को आरोपित करना।

---

१. म० भाष्य, उद्योत, १/२/४५।

२. वाग्विज्ञान, पृ० ३४०।

अर्थ-परिवर्तन के उक्त प्रकारों का परस्पर अन्तर्समाविष्ट करने पर अर्थ-विकास की तीन दिशायें स्वीकृत की जा सकती हैं—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थादेश। इन तीनों अवस्थाओं का भारतीय भाषाविदों के अनुसार संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत है :

अर्थ-विस्तार—अर्थ-विस्तार में शब्दों का अर्थ अपने मौलिक अर्थ के रहते हुये अपने सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण करके व्यापक अर्थ को सूचित करने लगता है। जब कोई शब्द अपने अर्थ के ज्ञान कराने के साथ ही अपने से सम्बन्धित अन्य अर्थ का भी ज्ञान कराने लगता है तो धीरे-धीरे वह सम्बन्धित अर्थ भी उसी शब्द का वाच्य हो जाता है और उस शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है। जैसे—तेल शब्द पहले 'तिल' से प्राप्त होने वाले स्नेह को कहा जाता था। धीरे-धीरे गुण-धर्म के साम्य से अन्य तेलों को भी तेल कहा जाने लगा। इस प्रकार तेल शब्द के अर्थ का विस्तार हुआ। निम्नलिखित कतिपय शब्द, अर्थ-विस्तार के उदाहरण हैं—

शब्द	**मूल अर्थ**	**विस्तृत अर्थ**
अभ्यास	बाण आदि फेंकना	प्रयत्न
गवेषणा	गाय ढूंढने की इच्छा	अनुसंधान
प्रवीण	वीणा-वादन में कुशल	चतुर
कुशल	कुश लाने वाला	दक्ष
निपुण	पुण्य करने वाला	अच्छे-बुरे सभी कार्यों में चतुर।

अर्थविस्तार का कारण—शब्द की निष्पत्ति या नामकरण वस्तु के गुण-कर्म आदि के आधार पर होता है। उनमें कुछ सामान्य धर्म होते हैं और कुछ विशेष। जब विशेष धर्म की अविवक्षा कर दी जाती है तथा सामान्य धर्म का ही कथन होता है तो शब्द के अर्थ का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। पतञ्जलि का कथन है कि अर्थ-विस्तार विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से होता है—

"विशेषस्याविवक्षितत्वात सामान्यस्य च विवक्षित्वात् सिद्धम्।"[१]

"वीणायां प्रकृष्टः प्रवीणः" वीणावादन में चतुर को प्रवीण तथा "कुशं लातीति कुशलः" कुश लाने वाले को कुशल कहा जाता था, किन्तु विशेष धर्म 'वीणावादन' तथा "कुश लाने की दक्षता" का परित्याग होता गया उसके सामान्य धर्म चातुर्य मात्र का अर्थ-बोध कराने के लिये प्रवीण और कुशल शब्द का प्रयोग होने लगा। इसी अर्थ-विस्तार की प्रक्रिया का निर्देश भाष्यकार ने "कौशलं त्वस्य प्रवृत्ति-निमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यपि भवति।"[२] से किया है।

वार्तिककार कात्यायन ने 'गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनादिभ्यः' द्वित्वे गो युग च', 'संघाते कटच्', तथा 'विस्तारे पट च' आदि वार्तिकों से अर्थ-विस्तार की ओर ही संकेत किया है।[३]

---

१. म० भाष्य १/२/६८।

२. म० भा० ५/२/२६।

३. म० भाष्य, उद्योत, ५/२/२९।

लक्षणा और व्यञ्जना शब्द-शक्तियाँ भी अर्थ-विस्तार के प्रति महत्वपूर्ण कारण हैं। इसका निर्देश भर्तृहरि तथा महाभाष्यकार आदि ने किया है।[१] आचार्य चतुर्वेदी ने भी शब्द-शक्तियों को अर्थ-विस्तार के प्रति कारण माना है।[२] अर्थ-विस्तार के ये कारण कालकृत हैं। इनके अतिरिक्त कुछ देशकृत् परिवर्तन होते हैं जिन्हें भौगोलिक या सामाजिक कारण कहा जा सकता है।

इस (भौगोलिक) कारण का संकेत करते हुये भाष्यकार ने लिखा है कि एक धातु या शब्द का प्रयोग किसी देश में किसी अर्थ के लिए होता है और किसी देश में किसी अन्य अर्थ के लिए होता है।

"एतस्मिंश्चातिमहतिशब्दस्यप्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेवभाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति।"[३]

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने अर्थ-परिवर्तन के अनेक कारण माने हैं, जिनमें बलापसरण (Strees) अपूर्णता भाषा सांकर्य, नामकरण, सादृश्य, शिष्टाचार व्यंगयात्मकता, अज्ञानता तथा आलंकारिता आदि मुख्य हैं।[४]

भर्तृहरि ने गौणार्थता और अर्थ-साहचर्य को अर्थ विस्तार का कारण माना है। उनके अनुसार जिस प्रकार वस्तु-विशेष घटादि के दर्शन के लिए दीपक का प्रयोग किया जाता है, किन्तु वह दीपक घटादि वस्तु-विशेष के साथ ही साहचर्य या सामीप्य के कारण वस्तु सामान्य (पटादि) का भी दर्शन कराता है, उसी प्रकार शब्द भी जिन अर्थों के लिए प्रयुक्त होता है, उनके साथ साहचर्य आदि से वह अन्य अर्थों का भी बोध कराता है। कभी-कभी शब्द अपने वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ ही तत्सम्बद्ध गौण अर्थ का भी बोध करा देता है। इस प्रकार इस गौणार्थ बोधकता तथा साहचर्यादि से आनुषंगिक बोधकता को अर्थ-विस्तार के प्रति कारण माना है—

"संसर्गिषु तथार्थेषु शब्दो येन प्रयुज्यते
तस्मात् प्रयोजकादन्यानपि प्रत्यायत्यसौ।
यथा शब्दोऽपि कस्मिंश्चित् प्रत्याय्यार्थो विवक्षिते
अविवक्षितमप्यर्थं प्रकाशयति सन्निधेः॥"[५]

शब्द कभी-कभी समानता के कारण स्ववाच्य से अतिरिक्त को बोध करा देता है। धीरे-धीरे वह सम्पूर्ण अर्थ उसी शब्द का वाच्य हो जाता है। इससे भी अर्थ-विस्तार होता है—',सामान्यमाश्रित्यः शक्तेरर्थः कश्चित् प्रतिपादनकः।"[६]

---

१. महाभाष्य १/४/२३। तथा वा० प० २/३१४।

२. वाग्विज्ञान, पृ० ३४४।

३. महाभाष्य पश्प०।

४. भाषाविज्ञान, डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० १३१।

५. वा० प० २/२९९, ३०१।

६. वा० प० १/३११९।

भर्तृहरि ने दो और कारणों का भी निर्देश किया है—

(१) शब्दार्थ के एक अंश का परित्याग करके उसको सामान्यपरक बना दिया जाता है जिससे वह अधिक अर्थ का बोध कराने लगता है। अर्थात् विशेषार्थ का परित्याग और सामान्यार्थ मात्र के ग्रहण द्वारा अर्थ-विस्तार होता है।

(२) शब्द अपने सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराते हुये साम्य-साहचर्यादि के कारण अधिक अर्थ का बोध कराने लगता है अर्थात् स्वार्थापरित्याग पूर्वक अर्थ-विस्तार होता है।[1]

अस्तु, प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने सामान्य की विवक्षा, विशेष की अविवक्षा, लाक्षणिक प्रयोग, लक्षणा, व्यंजना, गौणार्थ बोधकता, साहचर्य (सन्निधि) आदि को अर्थ-विस्तार का प्रमुख कारण माना है।

अर्थ-संकोच—अर्थसंकोच होने पर सामान्य या विस्तृत अर्थ का द्योतक शब्द किसी विशिष्ट या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। 'मृग' शब्द प्राचीन-काल में पशुमात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता था किन्तु कालान्तर में मृग शब्द केवल हरिण के अर्थ का वाचक हो गया। अर्थ-संकोच के अन्य उदाहरण निम्न हैं—

शब्द	**मूल अर्थ**	**संकुचित अर्थ**
वर	जो मांगा जाये	दूल्हा
धान्य	अन्न मात्र	धान (केवल)
अस्पृश्य	न छुआ जाने वाला (अछूत)	जाति-विशेष

वस्तुतः भाषा का जितना ही विकास होता जाता है, शब्दों की बहुलता तथा सूक्ष्मार्थ के निर्देशन से अर्थात्मक प्रवृत्तियों में उतना ही संकोच आता जाता है। अतएव टकर महोदय की भी मान्यता है कि जो जाति या देश जितना ही अधिक सभ्य होगा, उसकी भाषा में अर्थ-संकोच उतना ही अधिक होगा।[2]

अर्थ-संकोचात्मक प्रवृत्ति का निर्देश करते हुये यास्क ने लिखा है कि निर्वचन के आधार पर ही सभी नाम नहीं होते, अपितु उनका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता है। अतएव लक्षण—क्रिया करने वाले सभी व्यक्तियों को तक्षा नहीं कहा जाता है, अपितु बढ़ई को ही तक्षा कहा जाता है। इसी प्रकार मार्ग पर सभी चलने वालों को अश्व नहीं कहा जाता और न ही प्रत्येक छेदन करने वाली वस्तु को 'तृण' ही कहा जाता है। अर्थात् जिस शब्द का जितना निर्वचनात्मक क्षेत्र होता है उससे सीमित अर्थ में ही उसकी प्रवृत्ति होती है।[3] पतञ्जलि ने भी इसका समर्थन करते हुये लिखा है—

''युक्तम् पुनर्यत् नियतविषयानाम शब्दा स्युः। बाढं युक्तम्।''[4]

गच्छतीति गौ अर्थात् चलने वाले को गौ कहते हैं किन्तु 'गौ' शब्द गाय मात्र

---

१. वा० प० २/३०४, ३०५।

२. सं० भाषाविज्ञान, राजकिशोर सिंह में उद्धृत, पृ० २४५।

३. निरुक्त, १/१२–१४।

४. महाभाष्य २/२/२९।

का बोधक होता है अर्थात् 'गो' के अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतः तन्निष्ठ क्रिया व्युत्पत्ति के लिए ही होती है। अन्यथा मनुष्यादि को भी 'गौ' कहा जा सकता था। अतएव नागेश ने लिखा है—

"रूढ़ि शब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्यर्थमाश्रीयते,
गच्छतीति गौरिति।"[1]

इस आशय का निर्देश नागेश ने 'लघु-मंजूषा' में भी किया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार अर्थ की संकोचात्मक प्रवृत्ति का निर्देश करते हुये यास्क ने लिखा है—

"न तिप्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्।"[2]

अर्थात् वेद में 'न' शब्द निषेध तथा उपमा दो अर्थों का बोधक था। कालान्तर में अर्थ-संकोच के अनुसार वह केवल निषेधार्थक ही रह गया। वेद के बहुत से शब्द इसी प्रवृत्ति के कारण संस्कृत में संकुचित अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। इसका संकेत यास्क ने निरुक्त में किया है।[3] यथा—

मूल शब्द	मौलिक अर्थ	संकुचित अर्थ
गौ	पृथ्वी, सूर्य, गाय, इन्द्रिय, किरण आदि।	गाय
शिरस	सिर, सूर्य	सिर
अर्क	देव, अन्न, मदार	मदारवृक्ष

पूर्व-परिभाषित सभी योगरूप शब्द अर्थ-संकोच के उदाहरण माने जा सकते हैं, क्योंकि शब्द की यौगिक व्यापकता को रूढ़ि के द्वारा ही संकुचित कर दिया जाता है।

अस्तु, भाषा एक विकासोन्मुख वस्तु है। आरम्भकाल में शब्दों की न्यूनता के कारण उनके प्रवृत्ति-निमित्त का क्षेत्र अधिक होता है। कालान्तर में जैसे-जैसे भाषा का विकास होता जाता है वैसे-वैसे शब्दों की वृद्धि के साथ ही उनके अर्थ प्रवृत्ति का क्षेत्र संकुचित होता जाता है। इसीलिये यास्क ने बार-बार यह निर्देश किया है कि शब्द की व्युत्पत्ति से उसका जितना अर्थ लभ्य होता है, शब्द उतने अर्थ का बोध न करा कर केवल आंशिक रूप में ही अर्थ का बोध करता है। जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—

"अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति निमित्तमन्यच्च—
प्रवृत्ति निमित्तम्।"[4]

अर्थ-संकोच के कारण—आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने अर्थ-परिवर्तन में बलापसरण को कारण माना है जिसका निर्देश नागेश ने परिभाषेन्दु शेखर में करते हुये लिखा है—"अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी।"[5] अर्थात् व्यापक अर्थों के

१. म० भाष्य ३/२/५६। २. निरुक्त १/४।
३. निरुक्त अध्याय ३—५। ४. साहित्यदर्पण, २/५।
५. परिभाषेन्दु शेखर, पृ० १०७।

बोधक शब्द लोकप्रसिद्धि के कारण सीमित अर्थ के बोधक हो जाते हैं। उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं।

रूढि भी अर्थ-संकोच के प्रति कारण होती है। नागेश ने महाभाष्य की 'उद्योत टीका' में तथा हेलाराज ने 'वाक्यपदीय' की टीका में इसका निर्देश किया है।[1] दुहितृ शब्द गाय दुहने वाले का बोधक था। कालान्तर में में रूढ़ि के कारण वह पुत्री अर्थ में रूढ़ हो गया।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने समास को भी अर्थ-संकोच का कारण माना है।[2] यथा—'अब्भक्षः' केवल जल पीकर रहने वाला, 'वायु भक्षः' केवल वायु पीकर रहने वाला, कर्णेजपः=पिशुन, पश्यतोहर=स्वर्णकार आदि।

इस प्रकार अर्थ-संकोच के कारणभूत कुछ तत्वों का उल्लेख भारतीय मनीषियों ने अवश्य किया, किन्तु उनकी प्रणाली अद्यतनीन भाषाविज्ञान के समान नहीं थी। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक नहीं था, अपितु उन्होंने संस्कृत भाषा के शब्दों के अर्थ-निर्वचन अथवा व्युत्पत्ति के अनुसार न होकर सीमित या संकुचित होने के सम्बन्ध में ही विशेष विचार किया है। यह अवश्य है कि इसी प्रसंग में कुछ ऐसे नियमों का भी संकेत किया गया है जो अद्यतनीन तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक भाषावैज्ञानिक नियमों के समरूप है। उपसर्ग, प्रत्यय, विशेषण आदि अर्थ-संकोच के ऐसे ही कारण हैं जो शब्द निष्पत्ति काल में अर्थ को सीमित कर देते हैं। अतः इन अर्थ-संकोचात्मक कारणों को मात्र वैयाकरणिक नियम कहा जा सकता है।

यदि अर्थ संकोचात्मक प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो उसके मूल में भाषा का विकास, शब्द का अर्थ-विशेष में प्रयोग तथा वस्तुओं के नामकरण में मुख्य कारण पाये जाते हैं। अतएव यास्क ने सभी वैदिक शब्दों का निर्वचन करके यह सिद्ध कर दिया है कि भाषा यौगिकता से रूढ़िता की ओर विकसित होती है। नामकरण को डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने भी अर्थ-संकोच का कारण मानते हुये लिखा है कि सब प्रकार के नामकरण अर्थ-संकोच के उदाहरण है।[3]

अर्थादेश—शब्द के दो प्रकार के अर्थ बताये गये हैं—मुख्य और गौण। अभेदोपचार, उपलक्षण या भावसाहचर्य आदि के कारण किसी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ कभी-कभी एक गौण अर्थ भी प्रचलित हो जाता है। धीरे-धीरे कालान्तर में प्रधान अर्थ के लुप्त हो जाने से वह शब्द गौण अर्थ का ही बोधक हो जाता है। इसी एक अर्थ के लोप और एक अन्य अर्थ की वाचकता को ही अर्थादेश कहते हैं।

---

१. महाभाष्य, उद्योत, ३/२/५६ तथा वा० प० तृतीय काण्ड, पृ० ४६५, हेलाराज टीका।

२. महाभाष्य पशप०।

३. अर्थ विज्ञान और व्या० द०, पृ० १०३।

उदाहरण—

शब्द	मौलिक अर्थ	आदिष्ट (नया) अर्थ
अनुग्रह	पीछे से ग्रहण करना या हाथ लगाना	कृपा
उपवास	अग्नि के पास रहना	व्रत या भूखा रहना
पाषण्ड	साधु सम्प्रदाय	भ्रष्टाचार अर्थात् गलत प्रदर्शन करना।
सपत्न	एक स्त्री के लिये लड़ने वाला।	शत्रु।

अर्थ-परिवर्तन की अन्य दशाओं की अपेक्षा अर्थादेश का क्षेत्र अधिक व्यापक है। अर्थादेश के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय-काण्ड में अधिक विस्तार से विचार किया है।

देश और काल के अनुसार अर्थ-परिवर्तित होता रहता है। व्यक्ति किसी काल में किसी शब्द का कोई अर्थ ग्रहण करता है और किसी काल में कोई अर्थ, क्योंकि सामाजिक प्रयोक्ता तथा अवबोद्धा परिवर्तित होते रहते हैं। शब्दार्थ के नियन्ता परिवर्तन से गतिशील भाषा के शब्दार्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं—

"एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः॥"[१]

शब्द और अर्थ के लौकिक सम्बन्ध के सांकेतिक होने के कारण किसी शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता है। अतः वक्ता और अवबोद्धा के पारस्परिक अवज्ञान पूर्वक अर्थ-परिवर्तन होता रहता है।[२]

अर्थ की अनियतता तथा परिवर्तनशीलता को देखते हुये ही कैयट ने लिखा है कि प्रयोग का विषय अनन्त है, उसकी इयत्ता निर्धारण करना कठिन है—"अनन्तत्वात् प्रयोगविषयस्यावधारणस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्।"[३] महाभाष्यकार ने अर्थ-परिवर्तन का एक उदाहरण दिया है—'भोग' शब्द जो कि पहले द्रव्य या उपभोग का वाचक था, कालान्तर में सर्प के फण का वाचक हो गया। अर्थ-परिवर्तन भाषा की आवश्यक प्रक्रिया है। इसका यत्किंचिद् रूप में निर्देश भारतीय भाषाविदों ने भी किया है।

अर्थादेश के कारण—प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने शब्दों की अनेकार्थकता, अर्थव्यापकता, साहित्यिक, साम्प्रदायिक एवं वर्गीय विभेदात्मकता, वैयक्तिकता, अपूर्णार्थकता, प्रातिभविभेदता आदि अर्थादेश (अर्थपरिवर्तन) के अनेक कारणों का निर्देश किया है।

महाभाष्यकार ने 'भोग' शब्द को अर्थादेश का उदाहरण माना है। कैयट ने आशय को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि प्रयोग के विषयों के अनन्त होने के कारण उसकी इयत्ता निश्चित नहीं की जा सकती है।[४]

---

१. वा० प० १/१३६।
२. वा० प० २/१३७।
३. म० भा० प्रदीप ५/१/६।
४. म० भाष्य एवं प्रदीप ५/१/६।

निर्वचन के आधार पर शब्द का आर्थी क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। परिणामतः उसका प्रसिद्ध एकक्षेत्रीय (या आंशिक) अर्थ साहचर्य अथवा सादृश्य के कारण परिवर्तित हो जाता है। शब्द एक अर्थ से बदलकर दूसरे अर्थ का वाचक हो जाता है। अर्थ के इस क्रमिक परिवर्तन में अव्यवस्थित निमित्त भी कारण होते हैं। स्तन और थन मूलतः एक ही शब्द है और उनका अर्थ भी एक ही है, किन्तु कालान्तर में स्तन स्त्रियों के लिये तथा थन पशुओं के लिये प्रयुक्त होने लगा। 'गर्भिणी' और 'गाभिन' भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं। इसका निर्देश करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है—[1]

"एकस्यापि च शब्दस्य निमित्तैरव्यवस्थितैः।
एकेन बहुभिश्चार्थो बहुधा परिकल्प्यते ॥"

शब्द अधिकांशतः वर्गों में विभक्त होते हैं। जिस वर्ग या सम्प्रदाय का शब्द होता है उसी के अनुसार उसकी अर्थ-प्रतीति होती है। 'गुण' शब्द व्याकरण, राजशास्त्र, वैशेषिक दर्शन तथा लौकिक व्यवहार आदि में भिन्न-भिन्न अर्थों का बोधक होता है। दर्शन (या सम्प्रदाय) भेद से भी अर्थभेद होता है। पुरुष का अर्थ सांख्य और वेदान्त में भिन्न-भिन्न होता है। एक काल में किसी शब्द का कुछ अर्थ होता है और कालान्तर में अन्य अर्थ होता है। 'कुशल' पहले आश्रमों में कुश लाने वाले शिष्य को कहते थे। कालान्तर में लोक-व्यवहार में चतुर व्यक्ति को कुशल कहा जाने लगा। इस आशय को स्पष्ट करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है[2]—

ऋष्श्रीणां दर्शनं यच्च तत्वेकिञ्चिदवस्थितम्।
न तेन व्यवहारोऽस्ति न तच्छब्दनिबन्धनम् ॥

व्यक्ति अपूर्ण है, व्यक्ति का ज्ञान अपूर्ण है। व्यक्ति का कार्य, वचन, अनुभूति, स्थिति सब कुछ अनित्य (क्षणिक) है। क्षणशः परिवर्तनशील है। अतएव अर्थ-विषयक ज्ञान भी प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। वैयक्तिक अनुभवशीलता ही कालान्तर में सामूहिक हो जाती है—

"तस्माददृष्टतत्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं वाऽपि नित्यमेवानवस्थितम् ॥"[3]

अर्थ इसलिये भी परिवर्तित होता है क्योंकि शब्दार्थ और बाह्य पदार्थ का समन्वय या संयोग सम्बन्ध नहीं होता है। अतएव पद का अर्थ व्यवस्थित नहीं होता। लौकिक निरूपण से ही उसकी व्यवस्था होती है। अतः लोक-निरूपण से अर्थ परिवर्तित होता रहता है।

"लक्षणाद व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः।
उपकारात् स एवार्थः कथंचिदनुगम्यते ॥"[4]

---

१. वा० प० २/१३७। २. वा० प० २/१३६।
३. वा० प० २/१३८। ४. वा०प० २/४३५।

अर्थज्ञान प्रतिभा के कारण होता है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा समान नहीं होती है।[1] अर्थज्ञान प्रतिभा के अनुरूप ही होता है। बाल, वृद्ध, युवा, पशु, पक्षी आदि को भी अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार अर्थज्ञान होता है—

"अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोपरैःस्मृतः।
बालानां च तिरश्चांच यथार्थ प्रतिपादने॥"[2]

प्रतिभा के कारण अर्थज्ञान की वैयक्तिकता भी अर्थादेश के प्रति कारण है।

भर्तृहरि ने अर्थ-विकास के जिन कारणों का निर्देश किया है, वे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने अर्थ-परिवर्तन के जिन कारणों को स्वीकार किया है उनमें बाह्य कारण अधिक हैं, आन्तरिक कारण न्यून हैं।[3]

अर्थ-नित्यत्व-विमर्श

अर्थ-स्वरूप विवेचन के बाद उसकी नित्यता या अनित्यता पर भी विचार कर लेना उचित होगा। 'शब्द विचार' प्रकरण में शब्द की नित्यता पर विचार किया गया है, शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का विवेचन आगे किया जायगा। कात्यायन और पतञ्जलि ने शब्द, अर्थ और शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है—"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।"[4] सिद्ध शब्द का प्रयोग महाभाष्यकार ने 'नित्य' के अर्थ में किया है। नित्य रूप में पृथ्वी, आकाश आदि को उद्धृत करते हुये कहा है—"नित्य पर्यायवाची सिद्ध शब्दः, कथं ज्ञायते ? यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। तद्यथा सिद्धाद्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति।"[5]

निखिल पदार्थ कूटस्थ और अविचलित नहीं हो सकते तो उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है ? इस आशय को स्पष्ट करते हुये भाष्यकार ने कहा है—"तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्वम् ? तस्य भावस्तत्वम्॥"[6] अर्थात् उसे भी नित्य कहा जाता है, जिसमें उसके मूलतत्व का नाश नहीं होता। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुये भाष्यकार कहते हैं – जैसे सुवर्ण के विभिन्न आभूषण कटक-कुण्डलादि बनाये जाते हैं, उन सब में मूल रूप में सुवर्ण ही रहता है अथवा सुवर्ण के किसी आभूषण को नष्टकर (गलाकर) उसी का दूसरा आभूषण बना दिया जाता है, किन्तु सुवर्ण वही रहता है। अतः सुवर्ण तत्व के सदा विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य कहा जा सकता है।[7] इसी प्रकार किसी शब्द का किसी काल में कुछ अर्थ

---

१. वा० प०, २/१३५। २. वा० प० २/११७।

३. भाषाविज्ञान, अर्थविज्ञान, पृ० २३१–६५, डा० भोलानाथ तिवारी।

४. म० भाष्य पश्प० पृ० ५९, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।

५. ··· वही ···। ६. ··· वही ···।

७. म० भाष्य पश्प०, पृ० ५९, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।

होता है और किसी काल में अन्य अर्थ होता है किन्तु उसका भाव रूप अर्थतत्व कुछ-न-कुछ सदा रहता ही है। अतः अर्थ नित्य है। शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने के कारण पाणिनि आदि आचार्य उसके स्मर्ता माने जाते हैं, उपदेष्टा नहीं। महा-वैयाकरण भर्तृहरि ने लखा है कि सूत्रकार एवं भाष्यकार आदि पूर्वमहर्षियों के द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना गया है—

"नित्याः शब्दार्थ सम्बन्धाः समाम्नाताः महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥"[1]

सम्बन्ध को नित्य मानने पर अर्थ को नित्य मानना आवश्यक हो जाता है।

भर्तृहरि ने 'नित्यता' का अर्थ व्यवहार नित्यता किया है। उनके अनुसार वे अर्थ जिनकी आकृति अभिधेय है, नित्य हैं—"द्रव्ये अपि पदार्थे व्यवहार नित्यता।"[2] भाष्यकार ने कहा है कि—"नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।" अर्थवान् शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि शब्द का सम्बन्ध द्रव्य से है या आकृति से ? शब्द का जिसके साथ नित्य सम्बन्ध माना जायेगा, उसको भी नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि नित्य का अनित्य के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः भाष्यकार ने पक्षान्तर से द्रव्य और आकृति दोनों को ही नित्य माना है—

"द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। ········ न नु चोक्तम्-आकृतिरनित्या इति। नैतदस्ति नित्याकृतिः।"[3] भर्तृहरि कहते हैं कि एक की नित्यता से दूसरे को भी नित्य मानना पड़ेगा—"यदि द्रव्यं नित्यमाकृतिरपिनित्या।"[4] भर्तृहरि ने अनित्यता तीन प्रकार की बताई है।[5] यथा—

१—संसर्गानित्यता,
२—विपरिणामानित्यता, तथा
३—वस्तुविरामानित्यता।

१. **संसर्गानित्यता**—स्फटिक मणि का स्वरूप द्रव्यान्तर के द्वारा प्रच्छादित होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, अपितु तद्रूप में ही दिखाई पड़ता है। यह संसर्गानित्यता है।

२. **विपरिणामानित्यता**—जैसे बादलों में श्यामता तिरोभूत होकर उसमें रक्तता का आधान हो जाता है।

३. **वस्तुविरामानित्यता**—जब वस्तु का पूर्णविराम (प्रध्वंस) हो जाये तो वह वस्तु विरामानित्यता है—"यः सर्वेण सर्वं प्रध्वंसो निरूपाख्यः।"

---

१. वा० प० १/२३। ······ वही,
२. म० भाष्य पश्प०, त्रिपादी टीका, पृ० २६।
३. म० भा० पश्प पृ० ६२–६३, बम्बई प्रकाशन, १९५१ ई०।
४. वही त्रिपादी टीका, पृ० २७। ५. वही।

उक्त तीन प्रकार की अनित्यता जहाँ न हो, उन्हें नित्य समझना चाहिये, उपर्युक्त तीनों लक्षण भाष्योक्त ध्रुव, कूट और अविचाली के प्रति लोभी हैं। इस लक्षण से सांख्य का पुरुष तो नित्य हो सकता है, किन्तु प्रकृति अनित्य हो जायगी। अतः दूसरा लक्षण किया गया—"यस्मिंस्तत्वं न विहन्यते तन्नित्याम्।" अथवा जिसको जैसी नित्यता अभीष्ट हो वैसा ही लक्षण कर ले, क्योंकि क्षणिकवादी भी प्रकृति को नित्य मानते हैं। द्रव्य या आकृति जो भी पदार्थ नित्य हो, उसी को मान कर विग्रह किया जाना चाहिये, क्योंकि सम्बन्ध की नित्यता के लिये पदार्थ नित्यता को स्वीकार करना आवश्यक है। यह मत भर्तृहरि ने 'भाष्य' के 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक में प्रकट किया है।

पतञ्जलि और भर्तृहरि के उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ नित्यता से तात्पर्य, अर्थ की तात्विक या सामान्य रूप नित्यता से है, न कि अर्थ विशेष रूप नित्यता से। अन्यथा आकृति नित्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या करते हुये नागेश कहते हैं कि शब्द का कुछ न कुछ अर्थ अवश्य होता है तथा यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। अर्थ में परिवर्तन भले ही होता रहे किन्तु वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। अतः अर्थ के अनित्य होने पर भी तद्गत धर्म नष्ट न होने के कारण उसमें प्रवाह-नित्यता होती है।[1]

कैयट कहते हैं कि यदि अर्थ को जाति रूप माना जाय तो जाति की नित्यता के आधार पर अर्थ की नित्यता मानी जा सकती है। यदि अर्थ को द्रव्य रूप माना जाये तो अर्थ की नित्यता दो प्रकार से मानी जा सकती है—एक पारमार्थिक और दूसरी व्यावहारिक। पारमार्थिक नित्यता के अनुसार सकल अर्थजात ब्रह्मतत्व हैं और ब्रह्म नित्य है, अतः अर्थ नित्य है। व्यावहारिक नित्यता के अनुसार शब्द से अर्थ का ज्ञान और अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग अनादि काल से चला आ रहा है। अतः अर्थ की प्रवाह या व्यवहार नित्यता है—

"अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्म तत्वं वाच्यमिति नित्यतया प्रवाह नित्यतया वा।"[2]

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अर्थ को परिवर्तनशील मानता है और लोक-व्यवहार में अर्थ परिवर्तनशील है भी। अर्थ की नित्यता का प्रतिपादन करने वाले आचार्य भी इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे। कैयट ने महाभाष्य में लिखा है कि शब्द का एक अर्थ नियत नहीं होता, वह देश, काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। यदि ऐसा होता तो अर्थ के सम्बन्ध में किसी को सन्देह ही नहीं होता।[3] इस सम्बन्ध में हेलाराज ने भी कहा है कि अर्थ को नित्य इसीलिये माना गया है कि शब्द का कुछ न कुछ अर्थ

---

१. म० भाष्य पश्प० (प्रदीप)। २. म० भाष्य पश्प० (प्रदीप)।
३. म० भाष्य (प्रदीप) १/२/४५।

होता है। अतः अर्थ के अनित्य होने पर भी उसमें प्रवाहनित्यता मानी जाती है—

"अनित्येष्वापि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्।"[1]

अस्तु, शब्द से अर्थ-बोधन का व्यवहार अनादिकाल से वृद्ध-व्यवहार परम्परा से चला आ रहा है। अतएव शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को भाष्यकार ने नित्य माना है—**"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।"**[2]

समीक्षा—अर्थ को नित्य तथा परिवर्तनशील मानना—ये दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्त आभासित होते हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। अनेक स्थलों पर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि शब्द का अर्थ, देश-काल आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है तथा अर्थ परिवर्तित होता रहता है, तथापि शब्द विशेष से बोध्य अर्थ-विशेष तो परिवर्तित होता ही रहता है किन्तु 'सर्वे सर्वार्थ वाचकाः' भाष्य के अनुसार शब्द सामान्य का अर्थ सामान्य के साथ बोध्य-बोधक सम्बन्ध सदा से चला आ रहा है। अर्थात् किसी भी शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ सभी देश-काल में होता है। अतः शब्द के समान ही अर्थ को भी नित्य माना जा सकता है। यह अर्थ की नित्यता उसी प्रकार से है जिस प्रकार जगत् में मनुष्य को नित्य माना जा सकता है या नेत्र से दर्शन और कर्ण से श्रवण रूप कर्म को नित्य माना जा सकता है। इसे ही प्राचीन आचार्यों ने प्रवाह नित्यता के रूप में स्वीकार किया है। अतः अर्थ की परिवर्तनशीलता को मानने पर भी उक्त रूप में अर्थ नित्यता के सिद्धान्त में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। सिद्धान्त रूप में यही कहा जा सकता है कि सामान्य दृष्टि से अर्थ-नित्य है और विशेष दृष्टि से अनित्य है।

———

१. वा० प० पृ० ११३।

२. म० भाष्य पश्प०, पृ० ४७, मोतीलाल, बनारस १९६७।

चतुर्थ-कल्प

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विमर्श

सम्बन्ध प्रयोजन — शब्द अर्थवान् होता है अर्थात् शब्द के गर्भ में नित्य रूप से अर्थ विद्यमान रहता है। शब्द के उच्चारण होते ही अर्थ प्रस्फुटित हो उठता है। अतएव भाष्यकार ने कहा है — नित्योह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः[1]। हरि के अनुसार सम्पूर्ण अर्थात्मक ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है।[2] इस प्रकार शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित तथा अविना-भाव सम्बन्ध से उपस्थित होते हैं। शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है तथा अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। शब्द और अर्थ के इस साहचर्य के कारण ही भाष्यकार ने — 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' कात्यायन के इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए शब्दार्थ सम्बन्ध तथा उसकी नित्यता का प्रतिपादन किया।[3]

अस्तु, शब्द और अर्थ के इस सहभाव को देखते हुए उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना आवश्यक है कि क्या शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध है? यदि सम्बन्ध है तो उसका स्वरूप क्या है तथा वह सम्बन्ध स्वाभाविक (नित्य) है या कृत्रिम (सांकेतिक) है।

शब्द से अव्यभिचरित रूप से अर्थज्ञान होने के कारण अथवा एक ही आत्मा के दो भेद—शब्द और अर्थ होने के कारण[4] शब्दार्थ सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

सम्बन्ध दो वस्तुओं में होता है और उन दोनों में भेद विवक्षा होती है— "द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्" पाणिनि ने षष्ठी शेषे[5] सूत्र से शेष (सम्बन्ध) में षष्ठी का विधान किया है। लोक-व्यवहार नियमन के लिए "अस्यशब्दास्यायमर्थः" तथा "अयमर्थः अस्य शब्दस्य उद्वा अस्यार्थस्य वाचकोऽयम् शब्दः" के रूप में शब्द और अर्थ दोनों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है—'सम्बन्ध'। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि को शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानना अभीष्ट था। षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सत्ता भर्तृहरि भी मानते हैं—

---

१. म० भा० पश्प० पृष्ठ ४६ मो० ला० प्र० वाराणसी १९६७।
२. वा० प० १, १९६७ ई० मो० ला० प्र०, पृ० ४९।
३. म० भाष्य, पश्प० पृ० ४७, मो० ला० प्र०, वाराणसी १९६७।
४. वा० प०, २/३१।
५. पा० सू० २/३/५०।

अस्यायं वाचको वाच्यः इति षष्ठ्या प्रतीयते ।
योगः शब्दार्थस्तत्व मध्यतो व्यपदिश्यते ॥"[1]

शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध है, इसकी सिद्धि भाष्यकार ने लोकव्यवहार से बताई है—"कथं ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति, लोकतः[2] ।" शब्द से पृथक् अर्थ की सत्ता मानने पर उक्त तर्क के अनुसार सम्बन्ध अभिप्रेत है । शब्दाभिन्न अर्थ—"एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थाविपृथक् स्थितौ ।" मानने पर भी सम्बन्ध की कल्पना होती है—'मम अयं हस्तः', 'राहोः शिरः' आदि की तरह । इस प्रकार दोनों स्थितियों में शब्दार्थ सम्बन्ध मानना उचित है ।

शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध मानने का एक मूल कारण यह है कि यदि सम्बन्ध न माना जाय तो 'घट' पद से घट का ही बोध न होकर पट का भी बोध हो सकता है । अतः अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही बोध हो, अन्य का नहीं । इस नियमन के लिये सम्बन्ध मानना आवश्यक है । अतएव भर्तृहरि ने कहा है—"सम्बन्धस्याविशिष्टत्वान्नचात्र नियमो भवेत् ।"[3] शब्द और अर्थ ही दोनों एक ही वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रति कारण हैं तथापि भाषा-वैज्ञानिक-दृष्टया उनमें भेद की कल्पना आवश्यक है, क्योंकि बौद्ध शब्दार्थ से बाह्य अर्थ की प्रतीत होती है । अतः शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध तत्व को भी स्वीकार करना आवश्यक है—

"ज्ञानं प्रयोक्तुरर्थस्य स्वरूप च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥"[4]

अस्तु शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध वैयाकरण तथा अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं । आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को मानते हैं । यह दूसरी बात है कि सम्बन्ध का स्वरूप मानते हैं ? इसका विवेचन आगे किया जायेगा । नैयायिक और वैशेषिक शब्द और अर्थ के बीच किसी नियत सम्बन्ध को नहीं मानते हैं, किन्तु उन्हें भी संकेत रूप सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है ।

सम्बन्ध स्वरूप—सम्बन्ध कोई मूर्त वस्तु नहीं है जिसे अंगुल्या निर्देश के द्वारा इंगित किया जा सके और न ही सम्बन्ध अमूर्त कोई तत्व ही है जिसका लक्षण किया जा सके । कहा जा चुका है कि सम्बन्ध एक वस्तु नहीं, अपितु दो में स्थित होता हुआ एक विशेष स्थिति का सूचक तत्व है । अतः सम्बन्ध के लिए ईदृश् या तादृश् पद का कथन नहीं किया जा सकता । उसका स्वयं का कोई धर्म नहीं होता जिसके आधार पर उसका वर्णन किया जा सके । वह अत्यन्त परतन्त्र होता है—

"नाभिधानं स्वधर्मेण सम्बन्धस्यास्तिवातकम् ।
अत्यन्त परतन्त्रत्वाद्रूपं नास्यापदिश्यते ॥"[5]

---

१. वा० प० ३/३/३ ।
२. म० भाष्य पश्प० पृ० ५०, मोतीलाल प्रकाशन, १९६७ ।
३. वा० प० ३/३/१५ ।
४. वा० प० ३/३/१ ।
५. वा० प० ३/३/४ ।

सम्यक् अन्धः, सम्बन्धः "सम्बन्ध एक ऐसा तत्व है जो दो मूर्त या अमूर्त वस्तुओं को किसी न किसी प्रकार से जोड़ता है। एक को दूसरे से जोड़ने की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए भाष्यकार ने सम्बन्ध को असंख्येय बताते हुये लिखा है कि सम्बन्धों की संख्या एक सौ है अथवा और भी हो सकती है। लोक में बहुत से सम्बन्ध हैं—अर्थार्थी भाव सम्बन्ध, स्वस्वामिभाव सम्बन्ध, योनि सम्बन्ध, विद्या-सम्बन्ध, यज्ञीय-सम्बन्ध आदि।

'एक शतं षष्ठ्यर्थाः, यावन्तो वा सन्ति । लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्था, यौनाः, गौरवाः स्रौवाश्चेति।''[1]

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किस प्रकार का है? इस विषय में पर्याप्त मत-भेद हैं। वैयाकरण तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, नैयायिक संकेत सम्बन्ध तथा मीमांसक योग्यता सम्बन्ध मानते हैं। वैयाकरणों में कुछ आचार्य कार्य-कारण सम्बन्ध तथा कुछ वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध मानते हैं। इन सम्बन्धों का स्वरूप संक्षप में प्रस्तुत है।

मीमांसक बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध तथा नैयायिक संकेत रूप सम्बन्ध मानते हैं। सांख्य तथा वेदान्ती भेदाभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। सांख्यमतानुयायी भेद को व्यावहारिक और अभेद को आध्यात्मिक मानते हैं। वेदान्ती भेद को आध्या-सिक तथा अभेद को पारमार्थिक मानते हैं। वैयाकरण एवं आलंकारिक तादात्म्य-सम्बन्ध ही मानते हैं। प्राचीन वैयाकरण उसे बोध्य-बोधक और नवीन वाच्य-वाचक के रूप में मानते हैं।[2] सम्बन्ध के विषय में दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्बन्ध को स्वाभाविक (सिद्ध) मानता है और दूसरे सम्बन्ध को असिद्ध (सांकेतिक) मानते हैं।

१. सिद्धसम्बन्धवादी—सर्वप्रथम स्वभाववादी वैयाकरणों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा रहा है। पाणिनि, पतञ्जलि, नागेश आदि को तादात्म्य सम्बन्ध अभिप्रेत था। पाणिनि ने इसी आशय से 'अदेङ्गुणः', 'वृद्धिरादैच्' आदि में उद्देश्य और विधेय दोनों में समान विभक्ति का निर्देश किया है। समान-विभक्तिक निर्देश विशेष्य-विशेषण स्थलों में ही होता है और उन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। यथा—'नीलो घटः' का अर्थ नील-विशिष्ट घट होता है। अर्थात् नीलत्व का अभ्यास में घट में होता है। उसी प्रकार वृद्धि पदविशिष्ट आदैच् तथा गुण पद विशिष्ट अदेङ् अर्थ होता है। यहाँ पर जिस तादात्म्य सम्बन्ध को पाणिनि ने व्यक्त किया है, वही उनका मन्तव्य था। तादात्म्य कहते हैं—अभेद सम्बन्ध को। अर्थात् शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध है किन्तु अभेद सम्बन्ध मानने पर 'अग्नि' के उच्चारण से मुख जल सकता है और गुड़ कहने पर मधुरता की प्रतीति हो सकती है। अतएव नागेश ने तादात्म्य का अर्थ किया है—

---

१. म० भाष्य, १/१/४९।

२. चित्रनिबन्धावलि, पृ० १, शब्दार्थ सम्बन्ध।

"तद्भिन्नत्वे तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्"[१] अर्थात् वस्तुतः भिन्न होते हुये भी अभेद की प्रतीति को ही तादात्म्य माना गया है। भाष्यकार ने भी इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य माना है। एक का दूसरे में आरोप करना इतरेतराध्यास है। शब्द और अर्थ में इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः इसी भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हुये नागेश ने लिखा है—"संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, योऽयंशब्दः सोऽर्थः, योऽर्थः स शब्दः।[२] अर्थात् शब्द में अर्थ का और अर्थ में शब्द का आरोप कर लेना ही इतरेतराध्यास है तथा शब्द और अर्थ में वही (तादात्म्य) सम्बन्ध है।

भाष्यकार ने सूत्रकार के मत का समर्थन करते हुये लिखा है—"समानाधिकरण्यं............विशेषणविशेष्ययोर्वासंज्ञासंज्ञिनोर्वा।"[३] कैयट ने भी इसका समर्थन किया है।[४]

हरिवृषभ ने तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार किया है।[५] भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक आत्मा के दो भेद बताया है, सम्पूर्ण ज्ञान को शब्दानुविद्ध माना है तथा लोक-व्यवहार में शब्द और अर्थ पार्थक्येन विद्यमान दृष्टिगत होते हैं। अतः भेदाभेद उभय की प्रतीति से उनके अनुसार भी तादात्म्य सम्बन्ध को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उन्होंने उस तादात्म्य सम्बन्ध को शक्तिरूप माना है। और वाच्य-वाचक भाव आदि को उसका द्योतक माना। भर्तृहरि ने कहीं पर भी केवल अपने मूल का कथन न करके पूर्वाचार्यों के मत को भी प्रदर्शित किया है। अतएव शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कई रूपों में वर्णन किया है। दूसरे में यह भी कहा जा सकता है कि भर्तृहरि ने स्पष्टता के लिए अनेक रूपों में शब्दार्थ सम्बन्ध की व्याख्या की है। सम्बन्ध का विशेष वर्णन तृतीय काण्ड में किया है। वस्तुतः जिन सम्बन्धों को स्वीकार किया है, उनमें कोई आन्तरिक विरोध नहीं है। उनके द्वारा प्रदर्शित सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध—भर्तृहरि ने सम्बन्ध के स्वरूप को परिभाषित करते हुये लिखा है कि सम्बन्ध का कोई स्वरूप नहीं हो सकता है। केवल 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' यह अर्थ इस शब्द का वाच्य है। इस प्रकार षष्ठी विभक्ति के द्वारा ही उसका स्वरूप जाना जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि को वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही अभीष्ट था।[६] वाच्य-वाचक भाव वक्ता की दृष्टि से है, क्योंकि वाच्य और वाचक की सिद्धि 'वच्' धातु से हुई है, इसी से उच्चारण और उच्यते भी निष्पन्न होता है। दूसरा सम्बन्ध भर्तृहरि ने प्रत्याय्य प्रत्यायक माना है अर्थात् शब्द प्रत्यायक और अर्थ प्रत्याय्य है—

---

१. लघु मंजूषा, पृ० ३४। २. वही, पृ० २५।
३. म० भा० १/१/१। ४. महाभाष्य। प्रदीप-टीका।
५. वा० प० १/२४, २५। ६. वा० प० ३/३/३।

"यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।[1]

\+ \+

सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्धः उपपद्यते।

शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीतिगम्यते॥"[2]

महाभाष्यकार ने शब्द की परिभाषा करते हुये कहा है कि जिसके उच्चारण से अर्थ का संप्रत्यय हो वह शब्द है।[3] अस्तु प्रत्याय्य-प्रत्यायक सम्बन्ध श्रोता की दृष्टि से संकल्पित है। अतः कहा जा सकता है कि वाच्य-वाचक तथा प्रत्याय्य-प्रत्यायक ये दोनों शब्दार्थ सम्बन्ध के स्वरूप के अधिक निकट और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। ये एक-दूसरे के पूरक हैं। वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानने पर ही लक्षणा आदि शक्त्यन्तर की आवश्यकता होती है। अन्य सम्बन्धों-योग्यता तथा कार्यकारण आदि को मानने पर पृथक् रूप में शक्ति न मानने पर कार्य निर्वाह हो सकता है। अतएव उच्चरितः शब्दः एव प्रत्यायको भवति नानुच्चरितः यह प्रसिद्धि सार्थक होती है। वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध को स्वीकार करते हुये डा० सत्यकाम वर्मा ने लिखा है कि शब्दार्थ सम्बन्ध केवल वाच्य-वाचक भाव ही है। शब्दवाच्य अर्थ का प्रत्यायक और वाच्य अर्थ प्रत्याय्य है।[4] वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध को नागेश ने भी माना है।[5]

कार्य-कारण भाव सम्बन्ध—भर्तृहरि ने कार्य-कारण भाव और योग्य भाव दोनों का निर्देश प्रथम काण्ड में किया है। वस्तुतः कार्य-कारण भाव के साथ जो योग्य भाव का निर्देश किया गया है, उसका आशय है—कारण की योग्यता को सूचित करना—

"कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थितः।

धर्मे च प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु॥"[6]

श्रोता की दृष्टि से शब्द कारण है, अर्थ कार्य है तथा वक्ता की दृष्टि से अर्थ कारण है शब्द कार्य है। एतावता दोनों एक-दूसरे के कार्य और कारण उभय रूप हैं। अतः शब्द और अर्थ में कार्य और कारण उभयरूप हैं। अतः शब्द और अर्थ में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुये आगे लिखा है—

"शब्दः कारणमर्थस्य स हितेनोपजन्यते।

तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते॥"[7]

अर्थात् बुद्धिस्थ अर्थ का कारण शब्द है, शब्द के कारण ही श्रोतृबुद्धिस्थ अर्थ जागृत होता है तथा बुद्धिस्थ शब्द के द्वारा ही शब्द या अर्थ का स्मरण होता है। अतएव शब्द अर्थ का कारण है और अर्थ शब्द का कार्य है।

१. वा० प० २/३२८। २. वा० प० ३/३/३७।

३. म० भाष्य पश्प०, पृ०, १२, मो० ला० प्र० वारणसी १९६७।

४. भा० त० और वा० प०, पृ० १८७।

५. लघु मंजूषा, पृ० १६–१७। ६. वा० प० १/१२५।

७. वा० प० ३/३/३२।

योग्यता सम्बन्ध—जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों में रूपादि विषयों को ग्रहण करने की योग्यता होती है, उसी प्रकार शब्द में अनादि एवं स्वाभाविक योग्यता होती है कि वह उच्चारण से अर्थ का बोध कराता है। शब्द की इसी सामर्थ्य को योग्यता सम्बन्ध कहा गया है—

"इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादियोग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥"

जिस प्रकार माता और पुत्र में पारस्परिक सम्बन्ध की एक स्वाभाविक चेतना (नेचुरल इन्स्टिंक्ट) रहती है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी एक योग्यता (आन्तरिक चेतना) रहती है। योग्यता सम्बन्ध सतत रहते हुये भी शब्दबोध संकेत से ही होता है। संकेत के अभाव में ज्ञान नहीं होता—

"सम्बन्धशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रतियोग्यता।
समयात् योग्यता संविन्मातापुत्रादियोगवद्॥"[1]

शब्द अनादि योग्यता के कारण, अनादि परम्परा से प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराते हैं। आधुनिक संकेत स्थलों में अर्थात् व्यक्ति-विशेषकृत सांकेतिक नामों से समया अर्थात् संकेत के द्वारा अर्थज्ञान होता है।[2] हेलाराज ने भी उक्त आशय को स्वीकार किया है।[3] वस्तुतः 'योग्यता' सम्बन्ध नहीं, अपितु शक्ति या सामर्थ्य होती है। जैसे—प्रकाश में भी तो प्रकाशित करने की योग्यता होती है, किन्तु प्रकाश्य और प्रकाशक में योग्यता सम्बन्ध नहीं अपितु उक्त रूप (प्रकाश्य-प्रकाशक) सम्बन्ध होता है। अतः भर्तृहरि ने योग्यता (सामर्थ्य) की योग्यता को सम्बन्ध माना है। उस योग्यता सम्बन्ध का ज्ञान शब्द की अर्थबोधनिका योग्यता से ही होता है। अतएव कहा है--योग्यतां प्रति योग्यता। उक्त कारिका से यह भी स्पष्ट होता है कि शब्द में अर्थबोध कराने की योग्यता रहते हुये भी योग्यता का ज्ञान समय या संकेत से ही होता है और जहाँ पर योग्यता नहीं रहती है, (अपभ्रंश में) वहाँ केवल संकेत से ही ज्ञान होता है। जिस प्रकार रूपादि विषय में प्रणिहित चक्षु दर्शन में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार तत्तद् अर्थ में प्रतिनियत शब्द स्वार्थ का वाचक होता है—

"यथाप्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते।
तथाभिसंहिता शब्दैः भवत्यर्थस्य वाचकः॥"[4]

प्रकाश्य प्रकाशक सम्बन्ध—"येनोच्चारितेन·········संप्रत्ययो भवति सशब्दः" भाष्य की टीका करते हुये कैयट ने उच्चरितेन-प्रकाशितेन अर्थ किया है जिससे शब्द प्रकाशक रूप और अर्थप्रकाश्य रूप ध्वनित होता है।"[5] अथवा ज्योति-

---

१. वा० प० ३/३/३१।
२. वा० प० हरिवृषभ टीका १/२५।
३. वही, हेलाराज। ४. वा० प० २/४००।
५. म० भाष्य पश्प० प्रदीप पृ० १३, मोतीलाल प्रकाशन, १९६७।

र्वज्ञानानि भवन्ति" भाष्य के अनुसार भी शब्द को प्रकाशरूपता आभासित होती है।[1] भर्तृहरि ने भी शब्द को प्रकाश्य मानते हुये अरणिस्थ ज्योति के समान प्राकाशान्तर का कारण माना है—

'अरणिस्थं यथाज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।"[2]

+ +

घटादिषु यथा दीपो येनार्थेन प्रयुज्यते ।
ततोऽन्यापि साचिव्यात् स करोति प्रकाशनम् ॥"[3]

शब्द प्रदीप के समान स्वयं को प्रकाशित करते हुये अर्थ को प्रकाशित करता है—

"प्रदीपोऽन्यरूपं प्रकाशयन् आत्मरूपमपि प्रकाशयति । तथा शब्दोऽपि वाचकोऽर्थमभिधीयमानतया प्रकाशयन् सर्वस्यापि प्रत्ययस्य शब्दानुविद्धत्वादात् मानमभिधेयतथैव प्रकाशयति ।[4]

शब्द की प्रकाशरूपता तथा अर्थ की प्रकाश्यरूपता का निर्देश करते हुये हरि ने लिखा है—

"प्रत्यस्तमितभेदायाः (रूपाया) यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
यदग्निनेव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते ।[5]"
"वैकृतं समतिक्रान्ताः मूर्ति व्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोक तमसी प्रकाशं यमुपासते ॥"

वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ अनेक के प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार किया है, परन्तु इन सब में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है, अपितु स्पष्टतर व्याख्या मात्र है। वैयाकरणों का मुख्य सम्बन्ध तो तादात्म्य सम्बन्ध है, उपर्युक्त सभी सम्बन्ध उसी (तादात्म्य) स्वरूप के द्योतक हैं। अर्थात् शब्द से अर्थ न तो पूर्णतः भिन्न है और न ही अभिन्न। शब्द का अर्थ में और अर्थ का शब्द में अध्यास है, परन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शाश्वत एवं नित्य है।

आलंकारिक शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सभी को तीन प्रकार का मानते हैं। वाचक, लक्षक और व्यंजक—तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ हैं। इसी प्राकार वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लक्षक तथा व्यंग्य-व्यञ्जक ये तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। सम्बन्ध के अतिरिक्त अभिधा, लक्षणा और व्यंजना —ये तीन शक्तियाँ हैं।[6]

मीमांसक सम्बन्ध के अतिरिक्त शक्ति को नहीं स्वीकार करते हैं। जैमिनि ने

---

१. म० भाष्य प॰प॰ । २. वा० प० १/४६ ।
३. वा० प० २/२९८ ।
४. व्या० द० भूमिका, पृ० १/७९ ।
५. वा० प० १/१८, १९ । ६. काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास ।

शब्द और अर्थ में औत्पत्तिक सम्बन्ध माना है।[1] उनके अनुसार शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध होता है। अतएव अन्योन्याश्रय दोष की सम्भावना का उल्लेख शास्त्रदीपिका में किया गया है।[2]

कुमारिल के मत में शब्द, द्रव्य तथा नित्य है। अर्थ नित्य है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। भब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक (अकृत्रिम) है। अतएव मीमांसकों के यहाँ "अस्यपदस्यायमर्थः" माना जाता है।[3]

२. **असिद्ध सम्बन्धवादी**—शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में न्यायवैशेषिक की मान्यता पृथक् है। वे शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं मानते—जैसा कि वैयाकरण, मीमांसक या अलंकारिक मानते हैं। नैयायिक शब्द अर्थ में सामयिक अर्थात् संकेत सम्बन्ध मानते हैं—"इदं पदमिममर्थं बोधयतु" एतद्रूप ईश्वरेच्छाकृत संकेत ही सम्बन्ध है। किसी पद से किसी अर्थ के ज्ञान में कोई स्वाभाविक कारण नहीं होता अपितु संकेत ही कारण होता है। गौतम ने लिखा है—"सामयिकत्वाच्छब्दादर्थ सम्प्रत्ययः[4]" अर्थात् संकेत के कारण ही शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद के अनुसार भी शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वर संकेत से होती है। अतः ईश्वरेच्छारूप संकेत ही शब्दार्थ के बीच का सम्बन्ध है—

"सामयिकः शब्दार्थदर्थसम्प्रत्ययः"[5] के अनुसार न्यायवैशेशिक दर्शन के अनुसार संकेत रूप सम्बन्ध माना जाता है।

जयन्त भट्ट ने भी न्याय-मंजरी में कार्य-कारणादि तथा अविनाभाव आदि सभी सम्बन्धों का खण्डन करते हुये वाच्य-वाचक के निर्धारक संकेत सम्बन्ध को ही माना है—"शब्दार्थयोः समया परतामः वाच्यवाचकभावः।"[6]

समीक्षा—शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक (नित्य) है अथवा कृत्रिम (अनित्य)। इस विषय में चिन्तकों में मतभेद है। भाषा-शास्त्रियों, मीमांसकों तथा आलंकारिकों के अनुसार सम्बन्ध नित्य अथवा स्वाभाविक है। नैयायिकों तथा वैशेषिकों के अनुसार सम्बन्ध को अनित्य मानते हैं।

वेद-तन्त्र-आगम आदि के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना जा सकता है। वे सभी श्रुतियाँ तथा तर्क जिनके द्वारा शब्द की नित्यता या शब्द की विश्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है, सम्बन्ध की नित्यता का ही प्रतिपादन करते हैं।[7] क्योंकि

---

१. मी० दर्शन १/१/५।

२. शा० दी० प्रथम तर्क पाद ३ ५६ ५८।

३. श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपवाद १–४६।

४. न्या० सू० २/१/५५।

५. वैशेषिक दर्शन, ७/२/२०।

६. न्यायमंजरी, पृ० १४२।

७. द्रष्टव्य, शब्द नित्यत्व विमर्श।

सम्बन्ध का आधार वस्तुगत धर्म होता है। वस्तु को नित्य मानने पर तद्गत धर्म को भी नित्य मानना पड़ता है। अतः शब्द की नित्यता से सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध होती है। यास्क का—"अर्थनित्यम् परीक्षेत्" तथा पाणिनि के 'वृद्धिरादैच्' एवं 'अदेङ्गुणः सूत्र सम्बन्ध की नित्यता की ओर ही संकेत करते हैं। कात्यायन ने शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता को कण्ठतः स्वीकार करते हुए लिखा है—"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे ।"[१] अर्थात् शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है तथा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुये लिखा है कि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध नित्य है—

"सिद्धे शब्दे अर्थ सम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभि सम्बन्धः ।" शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कैयट ने व्यवहार परम्परा से अनादि तथा अनादित्वात् नित्य माना है—"सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परया नादित् यान्नित्यता ।"[२] कैयट ने व्यवहारपरम्परा से जो शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है उसका आशय शब्दार्थ के सामान्य सम्बन्ध से है। वस्तुतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दो दृष्टियों से अवधेय है—एक तो यह कि लोक-व्यवहार में अर्थज्ञान के लिए अर्थात् किसी वस्तु को संकेतित करने (बताने) के लिए शब्द-रूप चिन्ह का प्रयोग किया जाता है। अर्थनिर्देश के लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है और शब्दोच्चारण से अर्थ का ही ज्ञान होता है। अर्थ का यह अविनाभाव सम्बन्ध कब और किसके निर्देश से माना गया ? इसके अज्ञात होने के कारण अनादि तथा स्वाभाविक या ईश्वरकृत मान लिया जाता है। भाषा रूप संकेत का उद्गम या आविर्भाव किसने किया। यह अन्धकार के गर्त में है। वैयाकरण सम्प्रदाय शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध व्यक्ति-कृत या ईश्वरकृत नहीं मानता है। वह शब्दार्थ के सामान्य सम्बन्ध को स्वाभाविक मानता है। अतएव वह नित्य है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों एक ही वस्तु के दो पार्श्व हैं, एक ही आत्मा के दो रूप हैं एक शब्दरूप है और दूसरा अर्थरूप है। शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता या स्वाभाविकता स्वतः सिद्ध है।

शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का सम्बन्ध अवश्य ही कृतक, ईश्वरेच्छा या कृत्रिम हो सकता है। सम्बन्धनित्यता का अभिप्राय शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष के सम्बन्ध से नहीं है। अपितु घट-पट आदि शब्दों से यत्किंचित् अर्थ (वस्तु) का ज्ञान होता है, यह सामान्य सम्बन्ध ही स्वाभाविक तथा नित्य है और 'घट' पद से कम्बुग्रीवादिमान् का तथा पट से वस्त्र रूप अर्थ का ही बोध हो, यह विशेष सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को स्वाभाविक या नित्य नहीं बताया गया है। शब्द-विशेष के सम्बन्ध को सभी भारतीय भाषाशास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने अनित्य एवं कृत्रिम माना है। पाणिनि

---

१. म० भाष्य पश्प०, पृष्ठ ४७, मो० ला० प्र० १९६७।

२. म० भाष्यप्रदीप पश्प०।

३. वा० प० १/२५ हरिवृषभ में उद्धृत संग्रह का श्लोक।

व्याकरण का रूपसिद्धि के विषय में विकल्प-विधान इसी ओर संकेत करता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसकी स्पष्ट घोषणा करते हुये लिखा है कि एक शब्द कहीं पर किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है और कही पर किसी अर्थ में। 'शवति' को कम्बोज में गतिकर्मक तथा आर्य विकाररूप अर्थात् शवरूप मानते हैं—

"एतस्मिंश्चाति महतिशब्दस्य प्रयोगविषये ते ते—शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते, तद्यथा शवलिर्गति कर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकारमेवैनमार्या भाषन्ते शव इति ॥"[१]

यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन सामान्य सम्बन्ध की दृष्टि से ही है। विशेष सम्बन्ध की नित्यता या स्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता, जैसा कि उपर्युक्त भाष्य से स्पष्ट हो जाता है।

अतएव भाषा-शास्त्री भर्तृहरि ने पाणिनि, कात्यायन, और पतञ्जलि के शब्दार्थ सम्बन्ध विषयक नित्यता सिद्धान्त का समर्थन करते हुये लिखा है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों के द्वारा नित्य प्रतिपादित है। बहुवचन निर्देश से उसका समादर किया है—

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रेणतृभिः ॥"[२]

इसी श्लोक की हरिवृषभ टीका में लिखा गया है कि शब्द से अव्यभिचरित रूप से अर्थ का ज्ञान होता है, अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है तथा शब्दार्थ सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। अतः यह सम्बन्ध स्वाभाविक (नित्य) है—"सम्बन्धों हि नित्यः। तर्हि भेदः प्रथमतया शक्यः कर्त्तुम्। अर्थादिशनस्याशक्यकर्त्तव्यत्वात् किन्त्वौत्पत्तिकः स्वभावसिधोऽनादि प्राप्ताविच्छेद इति नित्यः।"[३]

व्याकरण या भाषा-शास्त्र लक्षण-प्रधान है, लक्ष्य तो है लोक-भाषा, जिसका ये अध्ययन करते हैं। अतः भाषा सम्बन्धी नियमों का निर्धारण भी लोक के आधार पर ही किया जा सकता है। शब्द-भावना और अर्थ-भावना दोनों ही सहवर्ती हैं। इसीलिये तो शब्द सार्थक या अर्थवान् होता है। इसी कारण किसी शब्द-विशेष का प्रयोग अर्थविशेष में लोक-व्यवहार या व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है, किन्तु इससे शाब्दी और अर्थोभावना के सह-अस्तित्व को और अधिक बल मिलता है। उनमें मौलिक विभेदकता का प्रत्याख्यान होता है। यदि शब्द और अर्थ सम्बन्ध नित्य न हो तो शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष में प्रयोग शंकाग्रस्त तथा व्यभिचरित होने लगेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता लोक-व्यवहार में अर्थ के लिए शब्द का ही प्रयोग होता

१. म० भा० पश्प०, पृ० ४४, (मोतीलाल प्रकाशन १९६७ ई०)।

२. वा० प० २/२५ हरिवृषभ टीका।

३. वा० प०, १/२३।

३. वा० प०, १/२५ हरिवृषभ टीका।

है। अतः लोक से ही शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध है—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते।"[1]

भर्तृहरि ने सम्बन्ध की नित्यता को अनादि योग्यता के आधार पर सिद्ध किया है। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों में रूप-दर्शनादि की योग्यता है, उसी प्रकार शब्द में भी अर्थ-प्रत्यायन की योग्यता अनादि है, आरोपित नहीं।[2]

कौण्डभट्ट ने भी 'भूषणसार' में 'वाक्यपदीय' की उक्त कारिका को उद्धृत करते हुये शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है।[3] जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा स्वविषय ग्रहण में स्वतः सिद्ध योग्यता होती है, पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार शब्द से अर्थ के ग्रहण में नित्य योग्यता होती है, पुरुषकृत नहीं। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है—

"इन्द्रियाणां चक्षुरादि विषयेषु पुरुषप्रयत्नानपेक्षा यथा योग्यता तदीयचाक्षुषादि-कारणतावच्छेदकरूपास्ति। तथा अर्थे पदानां साकम् सम्बन्धो योग्यता तच्छाब्दबोध-जनकतावच्छेदक धर्मो न तु जनकत्वमेवोक्तयुक्ते न तद्विरोधः।"[4]

नागेश भट्ट ने लघु मञ्जूषा में शक्ति-निरूपण के सम्बन्ध में शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना करते हुये अनादि वृद्ध-व्यवहार परम्परा से शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है। शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध अवश्य है, क्योंकि सम्बन्ध के बिना कारणता नहीं हो सकती।[5] शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता तो नियत रूप में शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता और लोक-व्यवहार भी असम्भव हो जाता।[6]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में शब्दार्थ सम्बन्ध को विशेष युक्तियों तथा लौकिक प्रमाणों से नित्य प्रतिपादित किया है। यदि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध न हो तो किसी प्रकार के लौकिक या शास्त्रिक नियम की परिकल्पना नहीं हो सकती। अतः सम्बन्ध परिकल्पित नहीं, अपितु स्वाभाविक (नित्य) है। भर्तृहरि ने अनेक युक्तियों के आधार पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य तथा स्वाभाविक सिद्ध किया है। उनका मत है कि सम्बन्ध की स्वाभाविकता वैशेषिकों को भी स्वीकार करनी चाहिये क्योंकि जिस प्रकार सर्वव्यापक आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवों के साथ समान रूप से है, तथापि धर्माधर्म विशेष के कारण कोई स्वामी होता है और कोई सेवक अर्थात् स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का कारण भी अदृष्ट विशेष को ही मानना पड़ेगा। सामान्य शब्द सामान्य अर्थ का वाचक होता है, किन्तु विशेष वाचकता के लिए अदृष्ट विशेष को मानना आवश्यक होगा—

---

१. महाभाष्य पश्प०। २. वा० प० ३/३/२९।

३. भूषणसार, ३७ कारि० शक्ति निरूपण।

४. भूषणसार, दर्पण टीका। ५. मञ्जूषा शक्ति निरूपण।

६. महाभाष्य, पश्प० प्रदीप।

"अदृष्टवृत्तिलाभेन यथा संयोग आत्मनः ।
क्वचित् स्वस्वामिभावाख्यो भेदेऽन्यत्रापि संक्रमः ।।"[1]

हेलाराज ने भी इसका आशय स्पष्ट करते हुये लिखा है कि शब्द और अर्थ में शब्दविषय नियत है, उसका प्रयोग दर्शन अभ्यास तथा संकेत से ज्ञात होता है। यह ज्ञान-रूप संस्कार ही योग्यता रूप सम्बन्ध है। प्रयोग-दर्शन के कारण प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का ज्ञान नहीं कराया जाता।[2]

शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध न होने पर बाह्यार्थ की नित्यता (जातिमत्ता) अथवा अनित्यता (वैयक्तिकता) की स्थिति में शब्द में संकेतग्रह नहीं हो सकता अर्थात् शब्द और अर्थ में संकेत सम्बन्ध नहीं हो सकता—

"नित्येऽनित्येऽपि बाह्येऽर्थे पुरुषेण कथंचन ।
सम्बन्धोऽकृत सम्बन्धैः शब्दैः कर्तुम् न युज्यते ।।"[3]

हेलाराज ने उसको और भी स्पष्ट करते हुये सिद्ध कर दिया है कि संकेत सम्बन्ध के मूल में जाने पर स्वाभाविक सम्बन्ध को मानना पड़ता है। स्वाभाविक सम्बन्ध ही संकेत सम्बन्ध का कारण है अर्थात् शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध को संकेत के द्वारा व्यक्त किया जाता है।[4] सम्बन्ध नित्यता के लिये भर्तृहरि ने नित्य शब्द का प्रयोग किया है और कात्यायन ने सिद्ध शब्द का। दोनों का आशय स्वाभाविकता से है। कैयट और नागेश ने नित्यता का अर्थ अनादि-कालिक व्यवहार नित्यता किया है।[5] पतञ्जलि ने सम्बन्ध की नित्यता द्रव्य-नित्यता या जाति नित्यता के समान मानी है।[6] जिस प्रकार एक द्रव्य से अनेक आभूषण बनते हैं, वैसे ही एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक हो सकता है, किन्तु द्रव्य के समान ही शब्द की नित्यता या सम्बन्ध-नित्यता में कोई विकार नहीं आता।

वैयाकरणों का यह सम्बन्ध नित्यवाद सर्वार्थवाचकता रूप सिद्धान्त पर ही आधारित है। सम्पूर्ण अर्थ-जगत् वाच्य है और शब्द-राशि वाचक। प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का वाचक हो सकता है। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत कर दिया जाता है वह उसी का वाचक माना जाने लगता है। अर्थात् शब्द की स्वाभाविक वाचकता और अर्थ की स्वाभाविक वाच्यता का सूचक संकेत होता है। इसी शब्द-तत्व से ही संसार में अनेकों भाषाओं का प्रादुर्भाव सम्भव होता है। प्रत्येक शब्द में यह शक्ति होती है कि वह किसी भी अर्थ का वाचक हो सकता है। अतः उसे जिस

---

१. वा० प० ३, सम्बन्धसमुद्देश्य, पृ० १०५।
२. वही, हेलाराज टीका।
३. वा० प० सं० समु०, पृ० ११५।
४. वही, हेलाराज टीका।
५. महाभाष्य पश्प० प्रदीपोद्योत।
५. महाभाष्य पश्प० तथा प्रदीपोद्योत।

अर्थ का वाचक मान लिया जाता है वह उसी का वाचक हो जाता है। इस प्रकार शब्द-तत्व और अर्थ-तत्व का सम्बन्ध स्वाभाविक एवं अनादि है और वह योग्यता सम्बन्ध पर आधारित है। वैयाकरणों ने इसी सर्वार्थवाचकता को दृष्टिगत करते हुये सम्बन्ध नित्यता का प्रतिपादन किया है, शब्द-विशेष का अर्थ विशेष की दृष्टि से नहीं।

भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द के उच्चारण से शब्द रूप, प्रयोक्ता की अर्थ-भावना (ज्ञान) तथा तद्बोध्य बाह्य वस्तु इन तीन की प्रतीति होती है। अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समवस्थित अर्थात् स्वभावसिद्ध है—

"ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः॥"[1]

शब्द के उच्चारण से तीन तत्वों की नियमतः उपलब्धि होने के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। शब्द का उक्त तीन तत्वों से सम्बन्ध नियत है। कहीं पर केवल शब्द-स्वरूप का ज्ञान होता है, कहीं पर वक्ता के आशय का और कहीं बाह्य वस्तु का और कहीं पर तीनों ज्ञान एकत्र भी हो सकता है।

अस्तु, अनेक युक्तियों तथा लौकिक प्रमाणों से वैयाकरणों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक या नित्य सिद्ध किया है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने सम्बन्ध की सत्ता के प्रति वैयाकरणों के द्वारा दी गयी कतिपय युक्तियों का परिगणन किया है।[2] प्रतिपादित युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. लोक-व्यवहार से शब्दार्थ सम्बन्ध सिद्ध होता है।

२. वृद्ध-व्यवहार-परम्परा से सिद्ध होता है।

३. सम्बन्ध नियामक तत्व है।

४. शब्द से तीन तत्वों की (शब्द रूप, अर्थ भावना और बाह्य अर्थ) की प्रतीति होती है।

५. सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है।

६. शब्द से स्वरूपोपलब्धि या अर्थोपलब्धि नियत रूप से होती है।

७. अर्थ शब्द रूप है।

८. षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से स्वाभाविक सम्बन्ध की प्रतीति होती है।

९. आप्तोपदेश से सम्बन्ध सिद्ध होता है।

१०. अर्थ-प्रत्यायक शब्द है (या शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है)।

११. शब्द और अर्थ तादात्म्य बुद्धि होती है।

एतावता वैयाकरणों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य तथा स्वाभाविक माना है।

---

१. वा० प० ३/३/१।

२. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० १६२–६६।

वह अनादि तथा अपौरुषेय है। शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष के साथ सांकेतिक सम्बन्ध हो सकता है।

मीमांसक मत—मीमांसक भी वैयाकरणों के समान शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। जैमिनि ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक (नित्य) है—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।"[1] शबर स्वामी ने "औत्पत्तिक" शब्द का अर्थ 'नित्य' किया है।[2] कुमारिल भट्ट के अनुसार शब्द एक द्रव्य है, वह नित्य है, अर्थ नित्य है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। "अस्यपदस्यायमर्थः" के आधार पर सम्बन्ध की स्वाभाविकता सिद्ध होती है। नैयायिकों के द्वारा सम्बन्ध नित्यता के प्रति आरोपित अनेक आक्षेपों का खण्डन करके कुमारिल भट्ट ने नित्यवाद की स्थापना की है।[3]

आलङ्कारिक मत—आलङ्कारिकों के अनुसार भी शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक ही माना गया है। शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष के साथ सांकेतिक सम्बन्ध होता है और वही लोक-व्यवहार-प्रयुक्त होता है। इसी दृष्टि से मम्मट ने लिखा है—"साक्षात्संकेतितयोऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।"[4] आलङ्कारिक वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार का अर्थ मानते हैं। अतः तदनुसार तीन प्रकार का सम्बन्ध भी मानते हैं। यदि शब्दार्थ सम्बन्ध का नित्यत्व न माना जाये तो शब्दार्थ साहित्य रूप काव्य का लक्षण ही नहीं बन सकेगा। विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य काव्य नहीं हो सकेगा। काव्यगत गुण-दोष का प्रतिपादन भी शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व पर आधारित है। उक्त सभी काव्यगत लक्षणों की स्थिति शब्दार्थ में अभेद अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर ही संभव होती है और तादात्म्य सम्बन्ध अभेदाभेद रूप सम्बन्ध होता है। इससे शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता स्पष्ट सिद्ध होती है।

जैन-मत—जैन दार्शनिकों ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्वाभाविक माना है। जिस प्रकार मीमांसक प्रत्यक्ष अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेय कमल मार्तण्ड में शब्दार्थ सम्बन्ध को सिद्ध किया है और प्रयोज्य-प्रयोजन वृद्ध-व्यवहार परम्परा से अवापोद्वाप पद्धति द्वारा अर्थावबोधकता को स्वीकार किया है।[5]

प्रभाचन्द्र के अनुसार शब्द और अर्थ में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक शक्ति है तथा स्वाभाविक योग्यता रूपी सम्बन्ध है। उन्होंने शब्द और अर्थ में कार्यकारणादि सम्बन्धों को अस्वीकार किया है। शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध के रहने से ही संकेतग्रह

---

१. मी० द० १/१/५। २. वही, शाबर भाष्य।
३. श्लोक वार्तिक, सम्बन्धाक्षेपवाद।
४. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।
५. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० ११६।

संभव है ।[१] जैन-दर्शन अनित्यवादी दर्शन है । अतः प्रभाचन्द्र ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य न मानते हुये स्वाभाविक ही माना है । "नित्याः शब्दार्थ सम्बन्धाः........" भर्तृहरि के मत का खण्डन किया है । सम्बन्ध स्वाभाविक होने पर भी नित्य नहीं है; जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र भी नष्ट हो जाता है—

"सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यबाये चित्रवत् ।"[२]

तान्त्रिक मत—नागेश तन्त्रानुगामी वैयाकरण हैं । उन्होंने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुये लिखा है कि तान्त्रिक शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हैं— "नित्यः शब्दार्थ सम्बन्धः इति तान्त्रिकाः ।"[३] तान्त्रिक पद्धति के अनुसार ही इसका हेतु भी दिया है कि शब्द और अर्थ दोनों का उपादान कारण परा रूप शब्द-ब्रह्म ही है—

"क्रियाशक्ति प्रधानायाः शब्द शब्दार्थ कारणम् ।
प्रकृते विन्दु रूपिव्याः शब्दब्रह्माभवत् परा ।।"[४]

नागेश ने शब्दार्थ नित्यता का आशय स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब से शब्दार्थ सम्बन्ध चला आ रहा है । अतः इसी व्यावहारिक नित्यता के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना जाता है--"नित्यत्वं तु यावत् सृष्टिस्थित्या व्यवहार नित्यतया च बोध्यम् ।"[५] सर्वार्थवाचकता को ही नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध का आधार माना है तथा योगवाचस्पत्य के उद्धरण से समर्थित किया है-"सर्वे च शब्दाः सर्वार्थाभिधान समर्थाः इति सर्वैरर्थैः सर्वेषां शब्दानां सम्बन्धः । ईश्वर संकेतस्तु प्रकाशकः ।"[६]

तान्त्रिक मन्त्रों में विषापहरण आदि का सामर्थ्य होता है तथा बीजाक्षरों (मन्त्रों) के जप से अदृष्ट की प्राप्ति होती है । इन मन्त्र-शक्तियों से यह प्रतीत होता है कि अवश्य ही शब्द और अर्थ का स्वाभाविक तथा नित्य सम्बन्ध यदि ऐसा न हो तो तन्त्रशास्त्र ही व्यर्थ हो जाये ? इसी आशय से भर्तृहरि ने लिखा है—

"शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्ट प्रयोजनः ।
क्रियते सोऽभिसम्बन्धमन्तरेण कथं भवेत् ।।"[७]

अर्थात् शब्द से दृष्टादृष्ट निमित्तिक अर्थ का संस्कार किया जाता है । अतः शब्दार्थ सम्बन्ध अवश्य है । गौतम ने भी मन्त्रात्मक शक्ति को स्वीकार किया है, जो बिना शब्दार्थ सम्बन्ध के सम्भव नहीं है ।[८]

न्याय-वैशेषिक मत—ये दोनों ही दर्शन आरम्भवादी या उत्पत्तिवादी हैं । इनके अनुसार शब्द अनित्य होता है । अनित्य शब्द से अर्थ का सम्बन्ध नित्य कैसे हो

---

१. प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ० १२३ । २. प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ० १२४ ।
३. ल० मञ्जूषा, पृ० ४१ । ४. वहीं, उद्धृत ।
५. ल० मञ्जूषा, पृ० । ६. वहीं, उद्धृत ।
७. वा० प० वा० का० सम्बन्ध समु० । ८. न्याय० द० २/१/७० ।

सकता है ? अतः ये शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सांकेतिक (ईश्वरेच्छाकृत) मानते हैं। किसी भी सम्बन्ध को मानने पर उसकी सत्ता दो ही रूपों में सम्भव हो सकती है—संयोग सम्बन्ध के रूप में या समवाय सम्बन्ध के रूप में। अतः नैयायिकों ने स्वाभाविक सम्बन्ध का खण्डन विशेष रूप में संयोग और समवाय इन दो सम्बन्धों को आधार मान कर किया है। 'घटवद् भूतलम्' के समान शब्द और अर्थ में संयोग सम्ब्रन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्द और अर्थ एकदेशवर्ती नहीं होते। अर्थ बाहर होता है और शब्द मुख में। तन्तु और पट या मिट्टी और घट के समान शब्द और अर्थ का समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। अन्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकते।[1] ऐसी दशा में प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई भी सम्बन्ध न माना जाये, सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है ? शब्द और अर्थ को असम्बद्ध ही क्यों न मान लिया जाये ? परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। इसका उत्तर देते हुये न्याय-भाष्यकार कहते हैं—

"शब्दार्थ व्यवस्थानादप्रतिषेधः। शब्दार्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनात् अनुमीयते अस्ति शब्दार्थ सम्बन्धो व्यवस्था कारणम्। असम्बन्धे हि शब्दभावादर्थमात्रेप्रत्यय प्रसङ्गः तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति।"[2]

अर्थात् संसार में जो भी पदार्थ हैं, वे सभी व्यवस्थित दिखायी देते हैं। किसी पद-विशेष से किसी अर्थ-विशेष की उपस्थिति होती है। सभी पदों से सभी अर्थ की उपस्थिति नहीं होती। इस व्यवस्था का एकमात्र कारण शब्दार्थ सम्बन्ध ही है। सम्बन्ध के बिना उक्त अवस्था सम्भव नहीं हो सकती। अतः अवश्य ही सभी पद की सवार्थवाचकता रूप आपत्ति के अपसरणार्थ शब्द और अर्थ का मिथः सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। इसी कारण विश्वनाथ पंचानन ने भी सम्बन्धतत्व की सत्ता को स्वीकार किया है—"तत्रापि वृत्या पदजन्यत्वं बोध्यम् इत्युक्तम्।"[3]

इस प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की आवश्यकता सिद्ध हो जाने पर पूर्वोक्त सम्बन्धता की कल्पना के सम्बन्ध में वात्स्यायन ने कहा है—

"प्रतिलक्षणस्तु शब्दार्थतयोः सम्बन्धः प्रतिषिद्धः। कस्मात् ? प्रमाणतोऽनुपलब्धे। प्रत्यक्षस्तावत् शब्दार्थ प्राप्तेनोपलब्धिः अतीन्द्रियत्वात्।"[4]

अर्थात् एक इन्द्रिय से ग्राह्य ही दो वस्तुओं का संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु शब्द और अर्थ ऐसे नहीं हैं। अतः उनका संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी आपत्ति यह है कि शब्दार्थ का संयोग मानने पर अर्थ की आद्योप-स्थिति मुख में होगी जिससे अग्नि के उच्चारण से मुख जलने लगेगा और खड्ग के उच्चारण से मुखच्छेदन हो जायेगा।

१. वैशेषिक सूत्र, ७/२/१४–१८। २. न्या० सू० भा० २/१/५४
३. न्या० सि० मु० शब्दवाद।
४. न्या० सू० भाष्य २/१/५२।

अतः अमुक पद से अमुक अर्थ का ज्ञान हो अथवा अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है—इस प्रकार के समय (संकेत) से ही वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध रूप वृत्ति का ज्ञान होता है और एतद्रूप संकेतात्मिका वृत्ति के अभाव में शब्दार्थ की प्रतीति नहीं होती है। संकेत या समय ज्ञान के अभाव में शब्द सुनने पर भी अर्थज्ञान नहीं होता है। इस अन्वय-व्यतिरेक प्रक्रिया द्वारा शब्दार्थ ज्ञान के प्रति संकेत ज्ञान ही कारण है। 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्यः (इस शब्द से इस अर्थ का ज्ञान हो) यही संकेत है।[१]

यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है तो सम्बन्धी होने के कारण एक शब्द का एक ही अर्थ सर्वत्र होना चाहिये, विभेद नहीं होना चाहिये, किन्तु इसके बहुत से अपवाद हैं। शब्दों का यथेच्छा प्रयोग मिलता है। लिखा जा चुका है कि किसी शब्द का किसी देश में कोई अर्थ होता है और किसी देश में कोई। इससे सम्बन्ध की स्वाभाविकता व्यभिचरित होती है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, अपितु सांकेतिक है। अन्य सम्बन्धों का खण्डन करके महर्षि गौतम ने 'सामयिक' सम्बन्ध को स्वीकार किया है—

"न सामयिकत्वाच्छब्दार्थ संप्रत्ययस्य।"[२] अर्थात् शब्दार्थ बोध में शब्दार्थ व्यवस्था संयोगसमवायादि सम्बन्धों वाली नहीं, अपितु समयमूला अर्थात् संकेतात्मिका है। वैशेषिक दर्शन में भी शब्द के गुण होने से अर्थ के साथ संयोगादि सम्बन्धों का खण्डन करके सामयिक सम्बन्ध की स्थापना की गयी है। कणाद ने लिखा है—"सामयिक शब्दार्थप्रत्ययः"[३] शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वर संकेत से होती है। अतः ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही शब्दार्थ सम्बन्ध हैं।

जयन्त भट्ट ने 'न्याय मञ्जरी' में संयोग, समवाय, कार्यकारण आदि सभी सम्बन्धों का खण्डन करके शब्दार्थ सम्बन्ध की आवश्यकता का अनुभव करते हुये शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक नियम का निर्धारण करने वाले संकेत सम्बन्ध को स्वीकार किया है और मीमांसकों के अनुसार अनुमानाश्रित शब्दार्थ सम्बन्ध का भी खण्डन किया गया है।[४]

नैयायिकों और वैशेषिकों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक या नित्य मानने पर जो मुख्य रूप से आक्षेप प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

५. संयोग सम्बन्ध का खण्डन—(क) शब्द और अर्थ का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता—"गुणत्वात्"[५] वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है और संयोग सम्बन्ध भी गुण है। गुण द्रव्याश्रित होता है, गुण गुण के आश्रित नहीं होता अर्थात् गुण में गुण नहीं रहता। अतः गुण और द्रव्य का संयोग सम्बन्ध नहीं हो

---

१. न्यायदर्शन सू० भाष्य २/१/५२। २. न्या० द० २/१/५६।
३. वै० द० सू० ७/२/२०।
४. न्या० मञ्जरी पृ० १२१–१४२। ५. वैशे० द० सू० ७/२/१४।

सकता; क्योंकि उनका तो समवाय सम्बन्ध सिद्ध है। यदि संयोग रूप सम्बन्ध माना जाये तो संयोग रूप गुण का आश्रय शब्दगुण कैसे हो सकेगा? एतावता संयोग सम्बन्ध मानने पर गुण में भी गुण मानना पड़ेगा। रूप-रसादि का अर्थ भी गुण है, इसलिए भी दोनों में संयोग सम्बन्ध असम्भव हैं—"गुणोऽपि विभाव्यते।[1]"

(ख) शब्द अर्थ का संयोग सम्बन्ध आकाशादि अर्थ और तद्गुण शब्द दोनों के निष्क्रिय होने के कारण भी नहीं हो सकता—"निष्क्रियत्वात्[2]" शब्द निष्क्रिय है, शब्द से वाच्य आकाशादि रूप अर्थ भी निष्क्रिय होते हैं। संयोग के लिए अन्यतर का सक्रिय होना आवश्यक होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों के निष्क्रिय होने से संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(ग) संयोग सम्बन्ध के अभाव का एक कारण है—"असतिनास्तीति प्रयोगात्।"[3] घटाभाव में 'घटो नास्ति' का प्रयोग होता है। संयोग सम्बन्ध के लिए दोनों की युगपत् अवस्थिति आवश्यक होती है। घट सत्ता के भाव में उपस्थित और अनुपस्थित (भावाभाव) का संयोग नहीं हो सकता तथा यही आपत्ति भूत, भविष्यत् आदि कथन में भी आपतित होगी।

(घ) एकेन्द्रिय से ही ग्राह्य दो वस्तुओं का संयोग होता है। जैसे—"घटवद् भूतलम्"। किन्तु शब्द और अर्थ में ऐसा नहीं होने से संयोग नहीं हो सकता। यदि कथंचिद् संयोग सम्बन्ध मान भी लिया जाये तो मुख में अर्थोपस्थिति होने के कारण मुखदाहाद्यापति होगी।[4] साथ ही दोनों वस्तुओं को एक देशस्थ होना चाहिये। भिन्न देशस्थ वस्तुओं का भी संयोग नहीं हो सकता। यथा—विन्ध्य और हिमालय का संयोग नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ में प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध का अभाव है। अर्थात् अर्थ के स्थान पर शब्द या शब्द के स्थान पर अर्थ की उपस्थिति नहीं होती।[5] यदि शब्द से अर्थ की उपस्थिति तद्देश में होने लगे तो मोदक के कथन से मुख भर जाना चाहिये और अग्नि के उच्चारण से मुख जल जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव शब्द और अर्थ का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता—"पूरण प्रदाह पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः[6]।" शब्द और अर्थ में संयोग का अभाव प्रदर्शित करते हुये भर्तृहरि ने भी लिखा है कि शब्द वस्तु का उपलक्षण है, वह वस्तु के उपकार (कर्त्तव्यता) का वाचक नहीं है। क्योंकि शब्द-शक्ति घटादि का स्पर्श नहीं कर सकती—"वस्तूपलक्षणं शब्दो नोपकारस्य वाचकः। न स्वशक्तिः पदार्थानां संस्प्रष्टुं तेन शक्यते।"[7]

२. समवाय सम्बन्ध का खण्डन—शब्द और अर्थ में समवाय सम्बन्ध भी

---

१. वैशे० द० सू०, भाष्य, ७/२/१४। २. वही ७/२/१५।
३. वैशे० द० सू० ७/२/१६। ४. न्या० सू० भा०, २/१/५४।
५. न्या० सू० २/१/५४। ६. न्या० सू० भा० २/१/५३।
७. वा० प० २/४३४।

नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार हस्तपादादि से शरीर का अथवा मिट्टी और घट का सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नहीं है। घट के लिए 'मृण्मयः घटः' कहा जा सकता है, किन्तु अर्थ के लिए 'घटशब्दमयः घटः नहीं कहा जा सकता। अतएव कणाद ने लिखा है कि समवाय सम्बन्धी हस्त आदि शब्द का विशेष (भेद) है—"संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च।"[1] भर्तृहरि ने भी संयोग और समवाय सम्बन्ध की असम्भावना व्यक्त करते हुए लिखा है—

"सम्बन्धि धर्मासंयोगः स्वशब्देनाभिधीयते।
सम्बन्धः समवायश्च सम्बन्धत्वेन गम्यते॥[2]

न्याय-मञ्जरी में जयन्त भट्ट ने भी शब्द और अर्थ के समवाय सम्बन्ध का खण्डन करते हुए लिखा है कि तन्तु और पट के समान शब्द और अर्थ का समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पदार्थ में कार्य समवेत-समवाय सम्बन्ध से आश्रित होकर उत्पन्न होता है, वह समवायिकारण है, अथवा यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के समय ही कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो जाता है, वह समवायिकारण होता है—"यत् समवेत कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्।" समवायिकारण के नष्ट हो जाने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। यथा—तन्तु के नष्ट हो जाने पर पट नष्ट हो जाता है, किन्तु शब्द के नष्ट हो जाने पर भी अर्थ नष्ट नहीं होता। स्मरण रहे कि न्याय-वैशेषिक में शब्द को अनित्य (नाशवान्) माना गया है। शब्द और अर्थ में समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः शब्द अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

३. **शब्द का अर्थ अनियत होता है**—किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ नहीं होता। एक शब्द का विभिन्न देशों तथा भाषाओं में विभिन्न अर्थ होना है तथा शब्द का अर्थ कालान्तर में परिवर्तित भी होता रहता है। यदि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक या नित्य सम्बन्ध होता तो यह अनियमितता न होती। अतः लोकव्यवहार में शब्दार्थ के विषय में जो उक्त अनियमितता देखी जाती है इससे भी शब्दार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता—'जाति विशेषेचानियमात्।'[4] पतञ्जलि ने भी महाभाष्य के पश्पशाह्निक में इस वाक्य को व्यक्त किया है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर नैयायिक और विशेषिकों ने शब्दार्थ सम्बन्ध की स्वाभाविकता का खण्डन किया है।

४ (क). **बाह्य वस्तु का अभाव**—बाह्य पदार्थ की सत्ता का निषेध करके जयन्त भट्ट ने कहा है कि जब शब्द के सम्बन्ध योग्य कोई वस्तु नहीं तो सम्बन्ध किसके साथ होगा ? "शब्दार्थ संसर्गयोग्यार्थ प्रतीतिः किल कल्पना।"[5]

---

१. वै० दर्शन, ७/२/१९।   २. वा० प० २/४३५।
३. तर्कभाषा, पृ० ४७।
४. न्या० द० सू० २/१/५७।   ५. न्या० मं०, पृ० ८६।

सिद्ध-सम्बन्धवादी वैयाकरणों एवं मीमांसकों ने उपर्युक्त आक्षेपों को निरस्त करके शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध की स्थापना की है। आक्षेपों का परिहार विशेष रूप से नागेश, भर्तृहरि, कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों ने किया है।

वैशेषिकों की सबसे पहली मान्यता यह है कि सम्बन्ध केवल दो प्रकार का हो सकता है—संयोग सम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध। अतएव उनके अधिकांशतः आक्षेप केवल संयोग सम्बन्ध पर ही आधारित है। यदि शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक होता है, तो उनका संयोग अवश्य होना चाहिये।

नैयायिकों का यह विचार है कि सम्बन्ध दो ही प्रकार का होता है, संगत नहीं प्रतीत होता। पाणिनि ने 'तस्येदम्'।[1] सूत्र से जिस सम्बन्ध का निर्देश किया है, वह इन दोनों से भिन्न है। 'भृगोः अपत्यम् भार्गवः।' पाणिनि की दृष्टि में भृगु और भार्गव में जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है जो कि संयोग और समवाय दोनों से भिन्न है। इसी प्रकार तदधीते तद्वेद'[2] तेन् प्रोक्तम्[3] आदि अनेक सम्बन्धों का निर्देश पाणिनि ने किया है।

पतञ्जलि ने सम्बन्ध की अनेकरूपता को सिद्ध करते हुए द्विधा सम्बन्ध वाद को निरस्त किया है। उनके मत के संयोग और समवाय के अतिरिक्त सम्बन्ध एक सौ प्रकार का होता है अर्थात् सम्बन्धों की संख्या अपरिमित है। जैसे—अर्थार्थी भाव सम्बन्ध, जन्य-जनक भाव सम्बन्ध, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, यज्ञ-याज्ञिक भाव सम्बन्ध तथा स्व-स्वामि सम्बन्ध आदि।

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में कहीं पर संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया है।[4]

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध, योग्यता सम्बन्ध, उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध तथा वाच्य-वाचक सम्बन्धादि का निर्देश किया है।[5] जिस प्रकार माता और पुत्र का सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध है। संकेत से उसी का परिज्ञान कराया जाता है। जैसे—बालक को बताया जाता है कि 'ये माता है', 'ये पिता है' आदि। उनमें सम्बन्ध तो पहले से ही विद्यमान रहता है। किन्तु संकेत के द्वारा उसी का परिज्ञान कराया जाता है। उसी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध नियत होते हुए भी संकेत के द्वारा उसी का परिज्ञान कराया जाता है—"समयाद् योग्यता संविन्मातापुत्रादियोगवत्।"[6]

नागेश ने संयोग और समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना की है। इस सम्बन्ध के अनुसार इतरेतराध्यास होता

१. पा० सू० ४/३/१२०। २. पा० सू० ४/२/५९।
३. पा० सू० ४/३/१०१। ४. वा० प० २/४३५।
५. द्रष्टव्य—सम्बन्ध स्वरूप विमर्श।
६. वा० प० ३/३/११।

है अर्थात् भेद में अभेद का आरोप। सूक्ति से रजत के पूर्णतः भिन्न होने पर भी सूक्ति में रजतत्व की प्रतीति होती है। न वहाँ पर संयोग है और न ही समवाय। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में समवाय और संयोग के अतिरिक्त सम्बन्ध की सत्ता है।[1] कुमारिल भट्ट ने हिमालय और विन्ध्य के समान सुदूर होने के कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध होने के तर्क को खण्डित करते हुए लिखा है कि यद्यपि वे दूर हैं; तथापि एक ही भू-पर सब स्थित होने के कारण पार्थिव या आधाराधेय सम्बन्ध हो सकता है।[2]

अस्तु शब्द अर्थ में संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं, तदतिरिक्त अन्य सम्बन्ध तो हो ही सकते हैं, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। यह तर्कणा केवल शास्त्रीय ही नहीं है, अपितु लौकिक भी है। संयोग सम्बन्ध एक प्रकार से दैशिक सम्बन्ध है। एक देश में अवस्थित विभिन्न वस्तुओं का संयोग सम्भव है। समवायिकारण उपादान कारण होता है, तन्निष्ठसम्बन्ध्र समवाय सम्बन्ध होता है। अतः समवाय सम्बन्ध को कार्यकारण भाव सम्बन्ध कहा जा सकता है। लोक-व्यवहार में इन दोनों के अतिरिक्त कालिक सम्बन्ध, गोत्रीय सम्बन्ध तथा सजातीय आदि अनेक सम्बन्ध व्यवहृत होते हैं। अतः नैयायिकों का उक्त तर्क निराधार है।

यदि यह कहा जाये कि शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता, अपितु तदनुरूप कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति भी होती है। अतः शब्द से अर्थ की उपस्थिति सिद्ध होने के कारण दोनों में संयोग मानना अपेक्षित हो तो इसका निराकरण सुतरां सिद्ध है। वैयाकरण बाह्य के अतिरिक्त बौद्ध अर्थ और बौद्ध शब्द भी मानते हैं। अतः श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य शब्द का संयोग बौद्ध अर्थ से होता है और तद्बुद्धिस्थ अर्थ के समरूप बाह्य अर्थ की उपस्थिति होती है। जब मुख से शब्द उच्चरित होता है तब भी अर्थानुविद्ध रहता है। जहाँ अग्न्यादि के उच्चारण से मुखदाहादि की आपत्ति है वह इसलिये नहीं है कि बौद्ध अर्थ में दाहादि रूप शक्ति नहीं होती।[1] बौद्ध पदार्थ की उपस्थिति से लोक-व्यवहार सम्भव नहीं। अतः बाह्य पदार्थ की उपस्थिति आवश्यक है, वह कैसे होगी? बुद्धिविचिन्तित विषय का कार्यान्वयन मन और इन्द्रियों के माध्यम से होता है। जैसे सर्प को नेत्र से देखने पर उसके दंश-भय से पाँव सहसा उछल पड़ते हैं। नेत्रगत अनुभव से जैसे पाँव कार्य में उद्यत हो जाता है वैसे ही श्रवणगत अनुभव से अपेक्षित इन्द्रिय क्रियारत हो जाती है।

(ख) नैयायिकों का तर्क है—शब्द और अर्थ दोनों के निष्क्रिय होने के कारण अर्थ की उपस्थिति या दोनों का संयोग कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों निष्क्रिय है तथापि उन दोनों का

---

१. दृष्टव्य, सम्बन्ध-स्वरूप-विमर्श।

२. श्लोक वार्त्तिक सम्बन्धाक्षेप परिहार, ९, १०।

३. द्रष्टव्य—बौद्ध पदार्थ, प्रकृत निबन्ध।

सम्बन्ध कराने वाला तृतीय तत्व है—अन्तरिन्द्रिय तथा तथा बाह्येन्द्रिय। इन्द्रियों के सक्रिय होने से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की स्थापना सम्भव होती है। जैसे—दो दूरस्थ व्यक्तियों में सन्देशवाहक (दूत) सम्बन्ध की स्थापना करता है। 'रामेण वाणेन हतो बाली' में राम और बाली के दूर होने पर भी माध्यमभूत बाण के द्वारा दोनों में सम्बन्ध की स्थापना होती है। यद्यपि दोनों व्यक्ति चेतन होने से सक्रिय हैं तथा दूरस्थ होने के कारण संयोग के प्रति सक्रिय नहीं है अपितु तृतीय तत्व बाण ही सक्रिय है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तृतीय तत्व इन्द्रिय की सक्रियता से सम्भव हो सकता है। पुनश्च शब्द को व्यापक माना गया है।[१] कोई भी अर्थ ऐसा नहीं है जो शब्द से असंपृक्त हो। अतः (संयोग) सम्बन्ध सम्भव है।

(ग) भूत और भविष्यत् अर्थ के साथ शब्द का (संयोग) सम्बन्ध कैसे सम्भव है? वैयाकरण बौद्ध पदार्थ के आधार पर अर्थ की त्रैकालिक सत्ता मानते हैं। अतः 'घटोऽस्ति' तथा 'घटः नास्ति' का प्रयोग सम्भव है। अतः भूत और भविष्यत् अर्थ के साथ भी शब्द का सम्बन्ध हो सकता है।[२] यह दूसरी बात है कि शब्द से पदार्थ मात्र का ज्ञान होता है, भाव या अभाव का नहीं। वह ज्ञान बौद्ध होता है। बाद में बाह्य वस्तु के भावाभाव का ज्ञान 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' से होता है।[३] यह कहा जा चुका है कि शब्द जाति-विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराते हैं और जाति नित्य होती है। अतः व्यक्ति के अभाव में भी जाति रूप में पदार्थ सदा बना रहता है। अतः जाति रूप पदार्थ से सम्बन्ध हो सकता है।[४]

(घ) एकेन्द्रिय से ग्राह्य वस्तुओं का ही संयोग नहीं माना जा सकता। क्योंकि पुष्प में सुगन्ध और रूप का ज्ञान क्रमशः नासिका एवं चक्षु (विभिन्न इन्द्रियों) से होता है, जबकि वे दोनों संयुक्त होते हैं। जहाँ तक प्राप्ति लक्षण का सम्बध है तो शब्द और अर्थ में प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह सम्बन्ध केवल एकेन्द्रियकरण ग्राह्य वस्तु में ही होता है। शब्द वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु उसका ज्ञान कराता है।[५]

सिद्ध सम्बन्धवादियों के अनुसार समवाय सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ के बीच नहीं माना जाता है। अतः उसके खण्डन से सम्बन्धवाद में कोई अन्तर नहीं आता। यदि शब्द और अर्थ का तात्विक-दृष्टया विचार किया जाये तो अर्थ सदैव शब्द-संश्लिष्ट रहता है या शब्द का विवर्त ही अर्थ है।[६] भर्तृहरि ने इसका निर्देश ब्रह्म-काण्ड में किया है—"शब्दानुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।"[७] किन्तु व्यावहारिक प्रतीति इससे भिन्न होती है। अतएव इस तर्क को प्रस्तुत करना हम उचित नहीं

---

१. द्र० शब्द-स्वरूप-विमर्श। २. द्रष्टव्य, बौद्ध पदार्थ।
३. श्लोक वार्तिक आकृतिवाद ४; ५।
४. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका; पृ० ३४१।
५. वा० प० ३/१२३। ६. द्रष्टव्य शब्द ब्रह्म विमर्श। ७. वा० पा० १।

समझते। इसलिये भर्तृहरि, पतञ्जलि आदि ने उक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त लौकिक सम्बन्धों के आधार पर ही सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध की है।

४. गौतम का एक आरोप भाषावैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसका अपलाप भी नहीं किया जा सकता, जिसमें कहा गया है कि शब्द अर्थ निश्चित नहीं होता। एक ही शब्द का अर्थ देश या भाषा-भेद से भिन्न-भिन्न होता है। अर्थ परिवर्तन भाषाविज्ञान के अनुसार भाषा का शाश्वत नियम हैं। इसी का निर्देश प्राचीन भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने अप्रभ्रंश शब्द से किया है। जब किसी आदर्श भाषा का कोई शब्द अर्थान्तर में प्रचलित हो जाता था या अर्थ-विशेष के लिये प्रयुक्त शब्द के ध्वनिपरिवर्तन के नियम के अनुसार अन्य रूप में परिवर्तित हो जाता था, तो उसे अप्रभ्रंश शब्द से अभिहित किया जाता था। इस प्रकार भर्तृहरि, पतञ्जलि, नागेश आदि वैयाकरणों ने पर्याप्त विचार किया है। एक ही शब्द देश-भेद से अर्थ-भेद का बोधक होता है—इस तथ्य का निर्देश भी पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि मनीषियों ने किया है।[1]

शब्दार्थ सम्बन्ध के विचार काल में यह तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था इसको ध्यान में रखकर ही उन सबने शब्दार्थ की नित्यता का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का आशय यह है कि सभी शब्द सामान्य रूप से सभी अर्थों के वाचक होते हैं। अर्थात् कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का वाचक हो सकता है। लोक-व्यवहार से जो जिस अर्थ में संकेतित हो जाता है वह उसी अर्थ का वाचक होता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का आशय यही है कि शब्द अर्थ का नियत रूप से वाचक होता है, इसका कहीं व्यभिचार नहीं होता। अर्थज्ञान के लिये शब्द-रूप साधन का ही प्रयोग किया जाता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक है। जब शब्दार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध विशेष शब्द के विशेष अर्थ की दृष्टि से माना ही नहीं गया है तो उक्त प्रश्न ही व्यर्थ है। प्रश्न के आशय को पतञ्जलि आदि ने स्वयं कण्ठतः स्वीकार किया है। एक शब्द का देश और भाषा भेद से विभिन्न अर्थ होता है—इससे भी सवार्थवाचकता रूपी वैयाकरणों के सिद्धान्त का समर्थन ही होता है। सर्थार्थवाचकता के कारण ही तो कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का वाचक हो सकता है। अस्तु, सिद्ध सम्बन्धवादियों को गौतम का उक्त कथन मान्य है, प्रश्न के रूप में नहीं, अपितु स्वपक्ष समर्थन में।

५. शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में यह कहना कि बाह्य वस्तु के अभाव में द्विष्ठ सम्बन्ध की कल्पना सम्भव नहीं है, उचित नहीं। शब्द का सम्बन्ध असत्य या अध्यस्ति वस्तु से होता है। शब्द का सम्बन्ध बाह्य वस्तु से सम्भव ही नहीं है। इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है कि शब्द असत्योवाधि विशिष्ट सत्य का बोध कराता है—"असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्।"[2] पुण्यराज ने शब्द और अर्थ

१. म० भाष्य पश्प०, पृ० ५४, मोतीलाल प्रकाशन १९६७।

२. वा० प० २/१२७।

में वास्तविक समन्वय का खण्डन किया है—"शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद् वास्तवः समन्वय इति बोद्धव्यम् ।"[१]

अस्तु, पूर्वोक्त नैयायिकों और वैशेषिकों के सभी आक्षेपों का उत्तर वैयाकरणों एवं मीमांसकों ने दिया है, तथापि अवधेय है कि सिद्ध सम्बन्धवादी और असिद्ध सम्बन्धवादी की विचारसरणि में अन्तर या विभेद के दो मूल कारण हैं—

१. एक तो यह है कि नैयायिक शब्द के अर्थ-विशेष को दृष्टि में रखकर उसके सम्बन्ध का निर्धारण तथा सिद्ध सम्बन्ध का खण्डन करते हैं और वैयाकरण शब्द सामान्य के साथ अर्थ-सामान्य का सम्बन्ध नित्य मानते हैं ।

२. दूसरी बात यह है कि नैयायिक केवल संकेत तक ही विचार करते हैं और वैयाकरण संकेत से एक कोटि और आगे बढ़कर उसकी स्वाभाविकता तक विचार करते हैं, क्योंकि वैयाकरण भी संकेतग्रह को स्वीकार करते ही हैं । अतः इनका विशेष स्पष्टीकरण प्रस्तुत है—

सिद्ध सम्बन्ध और संकेत सम्बन्ध में अन्तर—नैयायिकों का संकेत सम्बन्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है । इस शब्द से इस अर्थ का ज्ञान हो अथवा इस शब्द का यह अर्थ होता है'—इस संकेत के आधार पर ही लोक में शब्दार्थ का ज्ञान होता है । कोश, व्याकरण आदि इसी संकेत के निर्देशक हैं । अवापोद्वाप प्रक्रिया द्वारा यज्ञ को इसी संकेत का ज्ञान होता है । यह संकेतग्रह जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा सभी शब्दों में होता है । यह संकेत चाहे अनादि काल से चला आ रहा हो, चाहे ईश्वरेच्छाकृत हो, चाहे आधुनिक व्यक्तियों द्वारा यदृच्छा शब्द सम्बन्धी हो । इसका विशेष विवेचन पीछे संकेतग्रह विचार में किया जा चुका है । शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का ज्ञान संकेतग्रह के बिना नहीं होता । अतएव नागेश ने कहा है—

"तत्राग्रहीत वृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात् ।"[२] शब्द और अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध व्यावहारिक है । यह वैयाकरणों मीमांसकों आदि सभी को मान्य है । इसको मानने में किसी को कोई विप्रत्तिपत्ति नहीं है । इसके आगे तात्विक दृष्टि से विचार करने पर शब्द ही एक ऐसा तत्व है जिससे संकेत अर्थ का ज्ञान होता है । किसी भी शब्द को किसी भी अर्थ का वाचक माना जा सकता है अर्थात् सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक हो सकते हैं । इसी आधार पर वैयाकरणों ने 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' सिद्धान्त की स्थापना की है । शब्द अर्थ के वाचक होते हैं । यह किसी प्रकार के संकेत के कारण सम्भव नहीं हुआ, अपितु शब्द का अनादिकालिक धर्म ही इसके प्रति कारण है । शब्द में अर्थवाचकता रूप धर्म शाश्वतरूपेण निहित है । शब्द का यह धर्म अनादि, अनन्त तथा अविनाशी है । इसी कारण वैयाकरणों, मीमांसकों आदि ने शब्द

---

१. वा० प० २/४१८ पुण्यराज टीका ।

२. ल० मञ्जूषा, शक्ति निरूपण, पृ० १० ।

और अर्थ का स्वाभाविक अथवा नित्य सम्बन्ध माना है। नित्यता से अभिप्राय अनादिता, अनन्तता तथा अविनश्वरता से है।[1] इस प्रकार संकेत और नित्य सम्बन्ध दोनों अलग-अलग दृष्टियों से संकल्पित हैं। अतः इनमें कोई विरोध नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि संकेत सम्बन्ध केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से है और नित्य सम्बन्ध शब्द और अर्थ के तात्विक दृष्टिकोण से है। इसीलिये जयन्त भट्ट ने कहा है कि शब्द के सुनने से जितने स्तर तक ज्ञान होता है, उसका ही विचार करना उचित और अपेक्षित है और वह केवल संकेत सम्बन्ध तक का ही होता है। अतः उसके आगे की शक्ति के विषय में विचार करना उचित नहीं है और न ही आवश्यक है।[2]

नित्य तथा संकेत सम्बन्ध का मूल कारण—वस्तुतः यह आशय बहुधा व्यक्त किया गया है कि शब्द स्वाभाविक रूप से अर्थ का वाचक होता है। उसके प्रति कोई संकेत कारण नहीं होता किन्तु इस दशा में कोई विशेष अर्थ का वाचक नहीं होता, अपितु 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' सभी शब्द अर्थों के वाचक होते हैं, यह सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। अर्थ-विशेष के प्रत्यायन के लिए शब्दविशेष में संकेत किया जाता है। यह संकेत नैयायिकों के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने किया तथा वैयाकरणों के अनुसार अनादि है। यदृच्छा शब्द की स्थिति दोनों मतों में इससे भिन्न है। वहाँ आधुनिक संकेत माने जाते हैं।

संयोग-समवाय तथा शब्दार्थ सम्बन्ध—अनित्यवादियों ने संयोग एवं समवाय सम्बन्ध को लेकर बहुत अधिक वितण्डा किया है। शब्दार्थ सम्बन्ध इन्हीं सम्बन्धों के कठघरे में बन्द सा प्रतीत होता है। वस्तुतः शब्दार्थ सम्बन्ध किसी दार्शनिक विचार-पद्धति के उतना निकट नहीं है जितना कि भाषा-शास्त्रीय विचार-पद्धति के। शब्दार्थ सम्बन्ध का विनिश्चय न तो प्रत्यक्ष अनुमान या अर्थापत्ति प्रमाणों का विषय है और न ही अपौरुषेयता या ईश्वरेच्छा का परिणाम। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के सम्बन्ध समुद्देश्य में भर्तृहरि ने बहुचर्चित संयोग-समवाय की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करते हुये उनकी स्थिति और उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

जैसा कहा जा चुका है कि वैशेषिकों ने संयोग-समवाय सम्बन्ध मानकर उसके शब्दार्थ सम्बन्ध होने का खण्डन किया है। किसी वस्तु रूप कार्य के प्रति संयोग समवायि रूपकारण के धर्म का ही कथन संयोग-समवाय सम्बन्ध के द्वारा होता है। अतः कहा जा सकता है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के धर्मों का ही कथन करने वाले संयोग और समवाय हैं। मूलतः इनके कारण की स्थितियों का ही ज्ञान होता है। जैसे घट रूप कार्य के प्रति मृत्तिका, चक्र, चीवर, कुलालादि कारण हैं। इन अनेक कारणों में संयोग-वियोग धर्मता तथा समवायधर्मता रहती है। संयोग और समवाय

---

१. महाभाष्य पश्प० उद्योत प्रदीप।

२. न्यायमञ्जरी, पृ० सं० २२४–२२५।

द्वारा इन्हीं स्थितियों या धर्मों का कथन होता है। अतः कहा जा सकता है—संयोग और समवाय सम्बन्धनिर्णायक धर्म हैं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है—

"तद् धर्मणोस्तु तात्छब्द्यं संयोगसमवाययोः।
तयोरप्युपकारार्थाः नियतास्तदुपाधयः ॥"[1]

समवाय एक वस्तु (कार्य) व्याप्य धर्म है। वस्तु से सतत् संयुक्तरूप में उसकी सत्ता मानी जा सकती है। अतः संयोगधर्मता समवायगत भी होती है। असमवायि कारणों में संयोग-वियोग धर्मता होती है। संयोग क्वचित् नियतकालिक होता है और क्वचित् अनियत कालिक। विभाग विरहित अवस्था को समवाय और सविभाग अवस्था को संयोग कह सकते हैं। समवायिक स्थिति को संयोग की अपेक्षा व्यापक माना जा सकता है—

"काचिदेव हि सावस्था कार्यप्रसवसूचिता।
कस्यचिद् केनचिद् यस्यां संयोग उपजायते ॥"[2]

अर्थात् समवाय एक प्रकार की आवश्यक या अपरिहार्य स्थिति है जो किसी कार्य या प्रयोजन से सूचित होती है और उस स्थिति में किसी का किसी से संयोग होता है। अर्थात् कारणों की प्रायोगिक स्थिति संयोगात्मक हो सकती है, किन्तु समवयात्मक तभी होगी जब कार्य की स्थिति अभिव्यक्त होगी। शब्द के उच्चारण में संयोग की स्थिति हो सकती है, किन्तु उसके अर्थावबोध में ही समवाय की स्थिति होगी। समवाय की स्थिति संयोग-मूलक होती है और संयोग की स्थिति समवायात्मक होती है। भर्तृहरि ने समवाय शक्ति को शक्तियों का भी उपकारी माना है। वह भेदाभेद से अतिक्रान्त अन्यथा रूप में अवस्थित है। संयोग का भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है—"

"तां शक्तिं समवायाख्यां शक्तिनामुपकारिणीम्।
भेदाभेदातिक्रान्तामन्यथैव व्यवस्थिताम्[3] ॥"१३६

डॉ० सत्यकाम वर्मा ने भी संयोग को समवाय के अन्तर्गत माना है।[4] सम्भवतः संयोग अर्थ उन्होंने कार्यप्रवृत्ति से लिया है?

अस्तु, भर्तृहरि के उक्त लक्षण के अनुसार समवाय कार्य की एक व्यापक स्थिति है और संयोग उसकी पूर्वपीठिका है। ये दोनों ही धर्म या स्थितियाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध के प्रकाशन में सहायक होती हैं। इसके बाद भर्तृहरि ने पद-पदार्थ सम्बन्ध को परिभाषित करते हुये कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शब्दार्थ से पृथक् तत्व है। वह सर्वलक्षण सम्पन्न है अर्थात् उसमें संयोग-समवाय आदि सभी लक्षणों का अन्तर्भाव हो जाता है। वह सम्बन्ध इन सब (संयोगादि) से परे है। अतः संयोगादि को सम्बन्ध धर्म कहा जा सकता है, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि शब्दार्थ सम्बन्ध के कारण की योग्यता या शक्ति इन्हीं में होती है।

---

१. वाक्यपदीय, ३/३/६। २. वाक्यपदीय, ३/३/७।
३. वाक्यपदीय, ३/३/१०। ४. भा० त० वा० प० पृ० १८१।

अस्तु, संयोग दृष्टादृष्ट वृत्ति से शब्दार्थ की समवायात्मिका वृत्ति का सूचक होता है। समवायाख्यावृत्ति प्राप्ति मात्र या अनुभूति मात्र होती है। वह वाच्य-धर्म का विषय नहीं हो सकता। प्रयोक्ता या ग्रहीता को शब्दों के द्वारा उसका अनुभव होता है, किन्तु शब्द से अभिधान नहीं हो सकता—

"प्राप्तिं तु समवायाख्याम् वाच्यधर्मातिवर्तिनीम्।
प्रयोक्ता प्रतिपत्ता वा न शब्दैरनुगच्छति ॥"[१]

समवाय सम्बन्ध कोई विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध नहीं है और न ही सम्बन्ध से पृथक् उसकी सत्ता है—"समवायस्य सम्बन्धो नापरस्तत्र दृश्यते।"[२] शब्द और अर्थ का जो वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, संयोग या समवाय उसके सूचक या धर्म माने जा सकते हैं। वाक् और वाच्य की समवायिक स्थिति का अपलाप वैसे ही नहीं किया जा सकता है। जैसे कारण और कार्य का या मृत्तिका और मृण्मय घट का। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संयोग या समवाय रूप नहीं हो सकता।

समीक्षा—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है या कृत्रिम ? यह प्रश्न दार्शनिक विचारों में जितना उलझा हुआ है प्रतीत होता है, व्यावहारिक या भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उतनी उलझने सामने नहीं आती। प्रथमतः विवाद का विषय यह है कि शब्दार्थ पुरुषकृत है, ईश्वरकृत है या अनादि (स्वाभाविक) है ? वृत्तिकार ने शब्दार्थ सम्बन्ध को पुरुष-कृत माना है। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ स्वभावतः असम्बद्ध हैं। किसी पुरुष के द्वारा उनको सम्बन्धित किया गया है—"अथ कः सम्बन्ध इति। यच्छब्देविज्ञातेऽर्थो विज्ञायते स तु कृतक इति पूर्वमुपपादितम्। तस्मान्मन्या महे केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहर्तुं वेदाः प्रणीताः।"

नैयायिकों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को ईश्वरेच्छाकृत माना है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नियत किया है।[३] अतएव शब्द और अर्थ में संकेत सम्बन्ध मानते हैं। मीमांसकों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को अपौरुषेय (औत्पत्तिक) माना है—"औत्पत्ति स्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।"[४] वैयाकरणों ने इसे अनादिकालिक या योग्यता सम्बन्ध माना है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध स्वाभाविक तथा नित्य है।[५]

वस्तुतः शब्दार्थ सम्बन्ध के निर्धारण में ईश्वरेच्छाकृति या वेद की अपौरुषेयता का उतना महत्व नहीं है जितना लोक-व्यवहार का, पाणिनि के 'अर्थवत्……०" सूत्र का तथा यास्क की अर्थ-नित्यता का कोई भी शब्द, शब्द नहीं हो सकता जब तक वह किसी अर्थ का संप्रत्यय न कराये। विस्पष्ट अर्थ का तब तक बोध नहीं हो

१. वा० प० ३/३/१६।
२. वाक्यपदीय, ३/३/१४।
३. ल० मञ्जूषा शक्ति नि०।
४. मी० द० १/१/५।
५. ल० मञ्जूषा शक्ति नि।

सकता जब तक वह शब्द से अभिहित न हो। शब्द प्रयोग और अर्थज्ञान के सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र का यह कथन कि—"शब्द से अर्थ का उतना स्पष्ट ज्ञान नहीं होता जितना इन्द्रिय प्रत्यक्ष से होता है। जैसे—अग्नि के स्पर्श से अग्नि शब्द के उच्चारण की अपेक्षा स्पष्टतर ज्ञान होता है।"[1]

शब्दार्थ सम्बन्ध की दृष्टि से महत्वहीन प्रतीत होता है। अग्नि का स्पर्श तो उसकी (अग्नि की) प्रायोगिक स्थिति है, ज्ञानात्मक स्थिति नहीं। ज्ञानात्मक स्थिति प्रायोगिक स्थिति से भिन्न होती है। प्रत्येक स्थल पर व्यक्ति अग्नि का ज्ञान उसके स्पर्श से ही तो नहीं कर सकता और न ही बालक को अग्नि का स्पर्श करा कर उसका ज्ञान कराया जा सकता है या किसी की हत्या करके हत्या का ज्ञान कराया जा सकता है। सम्पूर्ण अर्थ ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है। शब्द का उच्चारण बिना किसी अर्थ-भावना के नहीं होता है। प्रत्येक शब्द आत्माभिव्यक्ति या आत्म-प्रकाशन के लिए तभी उद्यत होता है जब वह अर्थभावना से प्रेरित होता है।[2] शब्दाभिव्यक्ति अर्थ-संश्लिष्ट ही होती है, अर्थ विश्लिष्ट नहीं। इस अर्थ भावनाभिव्यक्ति रूप शब्द का नियमन कहीं कभी, किसी ने किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। संसार के सभी व्यक्ति किसी-न-किसी भाषा का प्रयोग करते हैं अर्थात् अर्थभावना की अभिव्यक्ति के शब्द रूप साधन का प्रयोग करते हैं। ऐसा कोई ऐतिह्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि किसी ने अर्थाभिव्यक्ति के लिए शब्द-रूप संकेत को माध्यम निश्चित किया हो। अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध की स्थापना की हो। यह दूसरी बात है कि अमुक अर्थ का ग्रहण किया जाये, इस प्रकार का संकेत पुरुषकृत हो। इसीलिए इस प्रकार के संकेतों की विभिन्नता भी है। एक ही शब्द देश-काल भेद से विभिन्न अर्थों का वाचक होता है अथवा एक ही अर्थ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता है, क्योंकि यह संकेत स्वाभाविक या नित्य नहीं, अपितु पुरुषकृत है, संकेतात्मक है, किन्तु शब्द में अर्थ-प्रकाशन की अनादि योग्यता है। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य तथा स्वाभाविक है। यथा—

"सम्बन्धस्य न कर्ताऽस्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥"[3]

अर्थभावना शब्द की सहवर्ती है। उस अर्थ-भावना के कारण ही शब्द अर्थवान् होता है। शब्द और अर्थ के इस नित्य सम्बन्ध के कारण ही अर्थावबोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है। शब्दार्थ सम्बन्ध इसलिये नित्य है, क्योंकि शब्द अर्थवान् होता है और यह शब्द की अर्थवत्ता अनादि लोक व्यवहार से अबाधित है। अतः उसे पुरुषकृत कैसे माना जा सकता है? इसीलिए कात्यायन ने—'सिद्धे शब्दार्थ

---

१. प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० १२८।
२. द्रष्टव्य—शब्दोच्चारण प्रक्रिया।
३. व्याडि के संग्रह का श्लोक, पूर्व उद्धृत।

सम्बन्धे, लोकतोऽर्थ प्रयुक्ते" तथा पतञ्जलि ने 'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः" कहा है।[1] इसीलिये पतञ्जलि ने 'सर्वे सवार्थ वाचकाः' कहा है। सब शब्द सभी अर्थ के वाचक हो सकते हैं, तब किसी भी शब्द का वाच्य संकेत के द्वारा कुछ भी निश्चित किया जा सकता है अथवा किसी भी अर्थ का किसी शब्द को वाचक माना जा सकता है। यही संकेत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध पुरुषकृत हो सकता है। इसीलिये भाषा-वैविध्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु शब्द से अर्थज्ञान के नियम का कभी व्यभिचार नहीं होता।

अस्तु, शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता के सम्बन्ध में जो मत-मतान्तरों का निर्देश किया गया है, उसमें मूलतः कोई अन्तर नहीं है, जो अन्तर प्रतीत होता है या विवाद का विषय बना हुआ है वह केवल अलग-अलग दृष्टियों से विचार करने के कारण हैं। सामान्य दृष्टि से शब्दमात्र अर्थमात्र के वाचक हैं और शब्दार्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध नित्य है। शब्द-विशेष अर्थ-विशेष का वाचक संकेत के द्वारा होता है, वह ईश्वरेच्छाकृत हो या पुरुषकृत। अतः सामान्य दृष्टि से शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य तथा विशेष दृष्टि से सांकेतिक (कृत्रिम) है।

वृत्ति-विमर्श

शक्ति स्वरूप—शब्द की सार्थकता इसी में है कि वह अर्थ-बोध कराये, किन्तु प्रत्येक शब्द एक निश्चित शब्द का ही बोध कराता है। अर्थात् कोई भी शब्द उसी अर्थ का बोध कराता है जिस अर्थ में जिस शब्द का संकेतग्रह होता है।[2] शब्द के इस अर्थबोधन की क्षमता को वृत्ति या शक्ति कहा जाता है। मंजूषाकार नागेश ने इसे वृत्ति कहा है। उनके अनुसार अगृहीत-वृत्तिक व्यक्ति को शाब्दबोध नहीं होता है—"तत्रागृहीत वृत्तिकस्यशाब्दबोधादर्शनात्।"[3] पदनिष्ठ वृत्ति को न जानते हुये व्यक्ति को उस शब्द के सुनने पर भी शब्दबोध (शब्दार्थज्ञान) नही होता। नागेश वृत्ति के तीन भेद मानते हैं-(१) शक्ति (२) लक्षणा, (३) व्यंजना। "साचवृत्तिस्त्रिधा। शक्ति-लक्षणा व्यंजना च।"[4] अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिये। इस प्रकार निश्चयात्मक ज्ञान ही शक्ति है। एक प्राचीन श्लोक में शक्तिग्रह के आठ साधन बताये गये हैं। इसका उल्लेख अधिकांश विद्वानों ने किया है—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तिर्वदन्तिसान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥"

इसके पूर्व शब्दार्थ सम्बन्ध के विवेचन में शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। इसके आधार पर शब्द में एक वाचनिकीशक्ति होती है, उसमें अर्थबोध कराने की क्षमता होती है, वही शक्ति है, जैसे अग्नि में वस्तु

---

१. महाभाष्य पश्प० पृष्ठ ४६, मो० ला० प्र० वाराणसी १९६७।
२. द्रष्टव्य—संकेतग्रह विचार। ३. ल० मंजूषा, पृ० १०।
४. ल० मंजूषा, पृ० सं० १६।

को जलाने की दाहात्मिकाशक्ति होती है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि अग्नि की दाहात्मिकाशक्ति निर्विशेष होती है और शब्द की बोधनिकाशक्ति सविशेष होती है। जब तक शब्द-शक्ति का ज्ञान नहीं होता तब तक उस शब्द से अर्थबोध नहीं हो सकता।

नागेश ने शब्द और अर्थ में इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य को स्वीकार करते हुये उसी को शक्ति का ग्राहक माना है—

"तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेवशक्तिः वाच्यवाचकभावा परपर्याया। तद्ग्राहकं चेतरेतरेतराध्यास मूलं तादात्म्यम्।"[1]

भर्तृहरि ने भी शब्द की अर्थप्रवृत्ति को वृत्तिरूप माना है। अतएव उन्होंने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड के अन्तिम परिच्छेद का नाम वृत्तिनिरूपण किया है और उसमें शब्दशक्तियों के सम्बन्ध से विचार किया है। अतः शब्द की अर्थात्मक प्रवृत्ति को वैयाकरण वृत्ति के रूप में स्वीकार करते थे। कालान्तर में लाक्षणिकों ने इसी वृत्ति को शक्ति नाम से अभिहित किया है। नैयायिकों ने पद का लक्षण 'शक्तम् पदम्' किया है अर्थात् निरूपकता सम्बन्धेन शक्ति विशिष्टम् पदम्। जो पद जिस शक्ति वृत्ति से जिस अर्थ की उपस्थिति कराता है, वही उस पद का अर्थ होता है। शाब्द-बोध के प्रति कारणभूत पदार्थोपस्थिति और उस पद एवं पदार्थ का सम्बन्ध वृत्ति कहलाता है। पद से पदार्थ की उपस्थिति में पद-पदार्थ का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वही वृत्ति है।[2]

वैयाकरणों के अनुसार सम्बन्ध से अतिरिक्त वृत्ति मानी गई है। वृत्ति तत्पदनिष्ठ होती है और सम्बन्ध शब्द और अर्थ को सम्बन्धित करने वाला एक अतिरिक्त तत्व है।

गदाधर भट्टाचार्य ने व्युत्पत्तिवाद और शक्तिवाद में शब्द-शक्तियों पर विशेष विचार किया है। उनके अनुसार वृत्ति का लक्षण है—"इदं पदमिममर्थं" बोधयतु अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोध कराये। इस प्रकार का ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही वृत्ति है। ईश्वर के नित्य होने के कारण संकेत रूप शक्ति भी नित्य है।[3]

अभिधा (शक्ति) विमर्श—अभिधा शक्ति के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। इस शक्ति को वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक एवं आलंकारिक सभी स्वीकार करते हैं और सभी के मत में इसका स्वरूप भी एक ही है। 'अभिदधातीति अभिधा' जो शक्ति अर्थ का बोध कराती है, वही अभिधाशक्ति है। अभिधान शब्द और अभिधेय अर्थ होता है। शक्तिग्रह अथवा संकेतग्रह के आधार पर अभिधा शक्ति से ही शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में इसे वाचनिकी या बोधजनिका शक्ति कहा

---

१. लघुमंजूषा पृ० २३। २. न्यायभाष्य, १/५४।
३. शक्तिवाद, पृ० सं० १–३।

जा सकता है। शब्द के स्वाभाविक अर्थ-बोध कराने की सामर्थ्य को ही अभिधा-शक्ति कहा जाता है।[1]

भर्तृहरि ने अभिधान, अभिधेय और सम्बन्ध इन तीन तत्वों के अतिरिक्त विनियोग, उक्ति (सम्भाषण) अभिसन्धान (सम्बन्ध करना) तथा अभिधा (शक्ति) इन चार तत्वों को भी स्वीकार किया है। तीन के स्थान पर चार तत्वों की संगति बताते हुये कहा है कि अभिधेय और अभिधान में जो वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, वह अभिधा नामक शक्ति के द्वारा ही नियमित होता है। कर्म, करण आदि कारकों में अयः शलाकावत् परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि जिस प्रकार उनके क्रिया के व्यवधान अथवा उसके आश्रय से सम्बन्ध दिखाई देता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ में अभिधा शक्ति के द्वारा वाच्य-वाचक सम्बन्ध का नियमन होता है—

"क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥"[2]

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु उन सभी अर्थों में से जिस एक अर्थ के लिये प्रयोक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है, अर्थात् जिस शब्द से जिस अर्थ को अभिधा शक्ति द्वारा सम्बद्ध करता है, वह शब्द उसी अर्थ का वाचक होता है, अन्य का नहीं—

"बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
यत् प्रयोक्ताभिसन्धित्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते॥ ॥"[3]

भर्तृहरि ने अभिधा शक्ति की शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध से अतिरिक्त सत्ता सिद्ध करते हुये लिखा है कि अभ्यास अथवा पारायण के लिये पठित वैदिक शब्द अनर्थक होते हैं, अध्यापनार्थ पठित वैदिक शब्दों का अर्थ स्वरूपात्मक होता है तथा जब वे वैदिक शब्द यज्ञीय विविध कर्मों में, विभिन्न विनियोगों के अनुसार विभिन्न अर्थों में पढ़े जाते हैं तब वे अभिधा शक्ति द्वारा विभिन्न अर्थों में नियमित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि अभिधा शक्ति से शब्द के निश्चित अर्थ का बोध होता है।[4]

शब्द-भेद-वादियों के अनुसार शब्दों में एकता नहीं होती, केवल साहृश्य के आधार पर उनमें एक जाति के आधार पर समन्वय होता है। जैसे—अक्ष-भाष आदि प्रत्येक शब्द-अर्थ वैविध्य के कारण अनेक हैं, किन्तु रूप साम्य के आधार पर इनमें अभेद की प्रतीति होती है। इस मत के अनुसार शब्द-प्रयोग के अतिरिक्त अभिसन्धान, उक्ति या अभिधा नामक शक्ति इन तीनों की स्थिति नहीं होती—"प्रयोग

---

१. ल० मंजूषा, पृ० १०–१२।

२. वा० प० २/४०१।   ३. वा० प० २/४०२।

४. वा० प० २/४०३–४०४।

उच्चारणम् । तस्मादन्यत्तत्त्वभिसन्धानमुक्तिरभिधा नैव विद्यते ।"[१] शब्दानेकवादियों के अनुसार शब्द का अर्थ अभिधा से नियमित नहीं होता है, अपितु प्रत्येक शब्द अपने विशेष अर्थ में स्वतः नियमित होता है । विभिन्न शब्दों की विभिन्न शक्तियाँ होती हैं । अतः वे अपने-अपने अर्थ में नियमित रहते हैं—"तत्र तत्र विषये नियतशक्तिवाद विभिन्नशक्तित्वादेव स शब्दस्तत्र तत्र व्यवस्थितः ।"[२] इस मत के अनुसार जितने अर्थ की प्रतीति होती है उतने शब्दों की प्रकल्पना की जाती है । अतः अभिधा शक्ति का निषेध किया जाता है, किन्तु यह मार्ग अत्यन्त विषम है ।

वैयाकरणों के अनुसार उच्चरित शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है । सम्प्रतीयमान शब्द से अर्थ का बोध नहीं होता—"उच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति, न सम्प्रतीयमानः ।"[३] मनन-चिन्तन में भी शब्द का सूक्ष्म उच्चारण होता है, अन्यथा बौद्ध शब्द से ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगेगी । नागेश ने इसे स्पष्ट करते हुये लिखा है-"उच्चारितस्यैव शब्दस्य प्रत्यायकत्वमुक्तम् । अन्यथा ज्ञानमात्रे शब्दभानात् शाब्दधारापत्तिः ।"[४] उच्चरित शब्द से जिस शब्द की प्रतीति साक्षात् अव्यहित रूप से होती है वही उस (वाचक) शब्द का वाच्य या अभिधेय होता है और वह शब्द व्यापार ही शक्ति या अभिधा होती है । उच्चरित शब्द से ज्ञात अर्थ के अनन्तर प्रतीयमान या अनुमेय अर्थ लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ रूप होता है । वह साक्षात् शब्द-शक्ति (अभिधा) से बोध्य नहीं होता । अतएव भर्तृहरि की दृष्टि में लक्षणा या व्यंजना आदि को शब्द की शक्ति के रूप में मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी ।

नागेश ने भाषावैज्ञानिक दृष्टि से शक्ति (अभिधा) के तीन भेद बताये हैं—(१) रूढ़ि, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़—"शक्तिस्त्रिधा रूढ़िर्योगो योगरूढिश्च ।"[५]

१. रूढ़ि – जहाँ शास्त्रों से प्रकल्पित अवयवार्थ (प्रकृतिपत्ययार्थ) की प्रतीति नहीं होती, अपितु समुदाय मात्र से पद में बोधकता रहती है, उसे रूढि शक्ति कहते हैं अर्थात् शब्द से व्युत्पत्तिपरक अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, केवल उस शब्द से संकेतित अर्थ का ही बोध होता है, तब वहाँ (शब्द में) रूढ़ि शक्ति होती है और वह शब्द रूढ़ होता है । जैसे—मणि, नूपुर आदि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि से अर्थों की पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती है । अतः वहाँ रूढ़ा शक्ति है—"शास्त्रकृत कल्पितावयवार्थप्रतीतौ यदर्थनिरूपितं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायमात्रे बोधकत्वं तत् पदे सां तदर्थनिरूपिता रूढ़िः, यथा मणिनूपुरादौ ।"[६] पतञ्जलि और कैयट ने भी रूढ़ि शक्ति के सम्बन्ध में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है ।[७] हेलाराज के अनुसार रूढ़ि शब्दों में अवयवार्थ का ज्ञान नहीं होता है, यद्यपि प्रवृत्ति निमित्तिक क्रिया वहाँ रहती है,

१. वा० प० पुण्यराज टीका २/४०६ । २. वही ।
३. महाभाष्य १/१/६६ । ४. ल० मंजूषा, पृ० ४३२ ।
५. ल० मंजूषा, पृ० ८८ । ६. ल० मंजूषा पृ० ८८ ।
७. महाभाष्य तथा प्रदीप, ३/२/५६ ।

परन्तु उसका अनादर करके रूढ़ि शब्द पदवाच्य द्रव्य के तुल्य हो जाते हैं और व्युत्पत्ति के लिये क्रिया का आश्रय लिया जाता है, परन्तु उसका अर्थ में उपयोग नहीं होता है।[1] प्रकृति-प्रत्यय विभाग की असत्यता के कारण रूढ़ि और यौगिक शब्दों के विभाजन की असंगति का समाधान करते हुये भर्तृहरि ने लिखा है कि वृत्ति और वाक्य में जो सादृश्य देखा जाता है, वह शास्त्रकारों द्वारा कल्पित है। कितने ही शब्द शास्त्रों में रूढ़ि शक्ति वाले देखे जाते हैं।

"वाक्येत्वार्थान्तिरगतेः सादृश्यपरिकल्पने।
केषांचिद् रूढ़िशब्दत्वं शास्त्र एवानुगम्यते॥"[2]

अश्वकर्णादि शब्द समास होने पर यौगिक न रहकर वृक्ष-विशेष के वाचक रूढ़ हो जाते हैं।

२. यौगिक शक्ति—शास्त्रकारों के द्वारा प्रकल्पित प्रकृति-प्रत्यय के अर्थमात्र के बोधन में यौगिक शक्ति होती है अर्थात् जिस शब्द से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ के अनुसार शब्दार्थ का बोध होता है, उसे यौगिक शक्ति कहते हैं। जैसे—पाचकः (पकाने वाला), कर्त्ता (करने वाला) आदि। "शास्त्रकल्पितावयवार्थमात्रबोधे योगशक्तिः, यथा पाचकादौ।"[3] भर्तृहरि के पूर्वोक्त (रूढ़िगत) प्रसंगों के अनुसार रूढ़ि के विपरीत (अरूढ़ि) यौगिक शक्ति होती है। अर्थात् जहाँ-जहाँ अवयवार्थ की पार्थक्येन प्रतीति होती है, वहीं यौगिक शक्ति रहती है।[4]

३. योगरूढ़ि—नागेश ने एक सिद्धान्त का निर्देश किया है—"रूढ़िर्योगापहारिणी।"[5] अर्थात् रूढ़ि शक्ति यौगिक शक्ति का अपहरण करने वाली होती है। यौगिक शक्ति से रूढ़ि बलवती होती है। अतः जो शब्द ऐसे होते हैं, जहाँ पर प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों की प्रतीति पार्थक्येन होती है, किन्तु वे विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, वहाँ योगरूढ़ि शक्ति होती है। जैसे—'पंकज' आदि शब्दों में यह शक्ति होती है। पंकज का अर्थ होता है—पंक से उत्पन्न होने वाला। यह पंकज का यौगिक अर्थ हुआ। इसके अनुसार शैवाल, कुमुदनी आदि का भी पंकज से बोध होना चाहिये किन्तु वह 'कमल' विशेष के अर्थ में रूढ़ हो जाता है। अतः यहाँ योगरूढ़ि शक्ति है। अतएव नागेश ने लिखा है—"यत्र शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वित विशेष्य भूतार्थ निरूपितं समुदाये बोधकत्वं सा योगरूढ़िः। यथा—"पंकजादिपदे।"[6]

कहीं-कहीं पर तात्पर्य या प्रकरण आदि के कारण केवल यौगिक या रूढ़ दोनों में से किसी एक अर्थ का बोध भी उक्त शक्ति के द्वारा होता है, यथा—"भूमौ पंकजमुत्पन्नम्" (भूमि में कमल खिला है), यहा पर पंकज का यौगिक नहीं, अपितु

---

१. वा० प० तृतीय काण्ड, पृ० ६६१।
२. वा० प० २/३७।
३. ल० मंजूषा, पृ० ८६।
४. द्रष्टव्य, पूर्वोक्त हरिमत।
५. ल० मंजूषा, पृ० ८६।
६. लघु मंजूषा पृ० ८६।

रूढ़ अर्थ ही गृहीत है, अन्यत्र पंक में उत्पन्नता के साथ ही कमलरूप योगरूढ़ अर्थ का बोध होता है।[1] इसी कारण से आधुनिक भाषावैज्ञानिक शक्ति का इसे चौथा भेद मानते हैं तथा पूर्वोक्त तीनों भेद आधुनिक भाषावैज्ञानिक यथावत् स्वीकार करते हैं।[2]

नयायमत—"सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्यस्य"[3] सूत्र के अनुसार समय (संकेत) के कारण शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। शंकर मिश्र ने उपस्करसूत्र में समय ईश्वर संकेत को माना है—"समयः ईश्वरसंकेतः" अर्थात् इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये। इस प्रकार की ईश्वरेच्छा संकेत है और इसी संकेत को शक्तिरूप माना जाता है। नव्य नैयायिक ईश्वरेच्छा ही नहीं, अपितु इच्छामात्र को संकेत मानते हैं जिससे आधुनिक नामों से भी अर्थबोध होता है—"नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव तेनाधुनिक संकेतेऽपि शक्तिरस्त्येव।"[4] शक्तिग्रह के व्याकरणोपमान आदि आठ लोकप्रसिद्ध कारण हैं।

न्याय के अनुसार शाब्द-बोध में पद-ज्ञान कारण होता है, पदार्थधी। (पदार्थोपस्थिति) द्वारा होती है, शक्तिज्ञान सहकारिकारण तथा शाब्दबोध फल होता है—

"पद ज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। शाब्दबोधः फलम् तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।[5] अवधेय है कि नैयायिक कर्तृमुख्य विशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं। 'देवदत्तः पचति' का अर्थ होता है—"पाकानुकूलकृतिमान् देवदत्तः। "वैयाकरण आख्यात प्रधान शाब्दबोध मानते हैं अर्थात् देवदत्तकर्मकः पाकः इति"। नैयायिक आख्यातार्थ का समवाय सम्बन्ध से कर्त्ता में अन्वय करते हैं और वैयाकरण कर्त्ता और कर्म का प्रथमान्त पद के द्वारा आख्यातार्थ में अन्वय करते हैं। इसका कारण है कि नैयायिक आख्यात की शक्ति कर्त्ता में नहीं मानते, वैयाकरण आख्यात की शक्ति (तिप्) कर्त्ता में नहीं मानते हैं। अतः पाककर्त्ता का देवदत्त से अभेदान्वय हो जाता है।[6]

व्याकरण एवं न्याय आदि में शक्ति पद अभिधा शक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अतएव प्रत्येक पद शक्त होता है। पद-निरूपिता शक्ति पदार्थ में होती है। पद और पदार्थ में निरूप्य-निरूपक सम्बन्ध रहता है। निरूपकता सम्बन्ध से शक्ति विशिष्ट पद होता है। जैसा कि विश्वनाथ पंचानन में लिखा है—"वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः।"[7] नैयायिक वृत्ति दो प्रकार की मानते हैं—शक्ति और

---

१. लघु मंजूषा पृ० ८६।
२. भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, शब्दविज्ञान।
३. न्या० द० सू० २/१/५५। ४. न्या० सि० मु०।
५. न्या० सि० मुक्तावली, श्लोक ८१।
६. वही—टीका।
७. न्या० सि० मु०, शब्दखण्ड।

लक्षणा। स्वाभाविक वृत्ति को ही शास्त्र में शक्ति कहा जाता है और औपाधिक वृत्ति को लक्षणा-संकेतोलक्षणा अर्थे पदवृत्तिः। तथा वृत्था प्रतिपाद्य एवं पदार्थः इत्यभिधीयते।"[1]

अन्य नैयायिकों के अनुसार गदाधर ने भी ईश्वर-संकेत को शक्ति मानकर अन्त में उसका खण्डन किया है, क्योंकि ईश्वर संकेत को शक्ति मानने पर आधुनिक नामों में तथा नास्तिकों में शाब्दबोध नहीं होगा।[2] नागेश ने भी ईश्वरेच्छा संकेत रूप शक्ति का खण्डन किया है। इच्छा या जनकतारूप शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में नहीं रह सकती।[3]

आलंकारिक मत—आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ को अभिधा शक्ति कहा है। उनके अनुसार वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ होते हैं तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ होती हैं। साक्षात् संकेतित अर्थ का अभिधान करने वाला शब्द वाचक होता है—"साक्षात् संकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।"[4] उस वाचक शब्द से साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ होता है—"स साक्षात् संकेतित एवार्थो मुख्यः।"[5] मुख्यार्थ बोध से जो मुख्य (मुखमिव मुख्यः) व्यापार अर्थात् वृत्ति होती है, वही अभिधा शक्ति है—"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।"[6] अभिधा शक्ति का ही दूसरा नाम है—"एवं च शक्त्यपरपर्यायः संकेतितार्थबोधजनको व्यापारोऽभिधा।"[7]

अभिधा को शक्ति इसलिये भी माना जाता है कि शब्द की सहवृत्ति अभिधा है, वह शब्द, पद एवं वाक्य सभी स्थितियों में शब्दनिष्ठ होती है। यह दूसरी बात है कि वाक्य में कहीं-कहीं पर वह शक्ति प्रकरणादि के अनुरोध से बाधित हो जाती है, किन्तु इससे उसके मुख्यात्व में बाधा नहीं आती। जैसे—अतिथि निवास से गृहस्वामी के स्वामित्व में बाधा नहीं आती है। अतएव डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है—अभिधा शब्द की शक्ति है। इसी को मुख्यावृत्ति भी कहते हैं।[8]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी अभिधा के सम्बन्ध में लिखा है—"तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।"[9] प्रसिद्ध अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार (के मूलकारण) को अभिधा शक्ति कहते हैं।

---

१. न्या० सि० मु० शब्दखण्ड, शक्तिवाद पृ० ९।
२. शक्तिवाद, पृ० १०–१२।
३. द्रष्टव्य—ल० मन्जूषा, शक्तिनिरूपण।
४. काव्यप्रकाश, २/७।
५. काव्यप्रकाश २/८ वामनी टीका।
६. काव्यप्रकाश, २/८।
७. काव्यप्रकाश २/८ वामनी टीका।
८. ध्वनि सि० एवं उसकी मान्यतायें, पृ० ६२।
९. साहित्यदर्पण २/४।

आचार्य जगन्नाथ ने भी कहा है कि अभिधा उस व्यापार को कहते हैं, जहाँ अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ में साक्षात् संकेत हो—

"शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्ध विशेषोऽभिधा।"[1]

इस प्रकार शब्द का जनसाधारण में प्रचलित एवं प्रसिद्ध अर्थ ही अभिधेयार्थ होता है और वह शब्द-व्यापार ही अभिधा है।

अभिधा शक्ति शब्द का मुख्य व्यापार है। अतः अभिधा से बोध्य अर्थ मुख्य अर्थ हुआ। ये मुख्य अर्थ अनेकार्थक (जिनके अनेकों अर्थ प्रसिद्ध हैं) शब्दों के अनेक होते हैं। एकार्थक शब्द का मुख्यार्थ एक और नियत होने के कारण सन्देह का अवसर नहीं रहता, किन्तु अनेकार्थक शब्द के विषय में उसकी मुख्यार्थता में सन्देह होना स्वाभाविक है। इन अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है। कहीं-कहीं पर उसके अनेक अर्थ भी अभीष्ट होते हैं। अतएव वहाँ वे सभी मुख्यार्थ हो जाते हैं। जैसे—श्री हर्ष ने एक साथ पाँच अर्थों (इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, नल) को वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) रूप में प्रस्तुत किया है—

"देवः प्रतिविदुषि नैषधगजगत्या।
निर्णीयते न किमु न वियते भवत्या॥"

अस्तु, शब्द से साक्षात् अर्थ बोध कराने वाली अभिधा शक्ति ही मुख्य है।

लक्षणा-शक्ति

शब्द और अर्थ के बीच अनेकविध सम्बन्धों को वैयाकरणों ने स्वीकार किया है।[2] उन सभी सम्बन्धों के आधार पर शब्दोच्चारण के अनन्तर उच्चरित शब्द से बोध्य अर्थ का ज्ञान होता है। उस बोध्य अर्थ के प्रति लोक-प्रसिद्धि आदि अनेक कारण होते हैं। इसका विवेचन भी पहले (अभिधा शक्ति विमर्श में) किया जा चुका है। कभी-कभी वक्ता-वाक्य में ऐसे शब्द का प्रयोग कर देता है जिसका मुख्यार्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बन्ध या अन्वय असंगत होता है। ऐसे स्थलों पर असंगत शब्द के अर्थ से सम्बन्धित अर्थ का ज्ञान वक्ता को अभीष्ट होता है और वही अर्थ श्रोता को समझना होता है। उस अर्थ में प्रसिद्धि न होने के कारण उसे गौण या औपचारिक अर्थ कहा जा सकता है। यद्यपि शब्द का वह अर्थ वाच्य रूप में प्रसिद्ध नहीं होता तथापि अनेकत्र स्थलों में उस प्रकार का अर्थ बोध्य होने के कारण वह ईषद् वाच्य होता है। अतएव भर्तृहरि ने उसे औपचारिक या गौण अर्थ माना है—

"सर्वशक्तेस्तुतस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदात् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते॥"[3]

शब्द का अर्थ दो रूपों में व्यवस्थित होता है—(१) स्वरूप पात्र, (२) आरो-

---

१. रस गंगाधर, पृ० १४०। २. द्र० शब्दार्थ-सम्बन्ध-विमर्श।
३. वाक्यपदीय, २/२५३।

प्यमाण। गौर्वाहीकः में 'गो' में स्वरूप गोत्व है और 'बाहीक' में आरोपित गोत्व है। इस आरोपित या उपचारित गोत्व को लक्ष्यार्थ भी माना जाता है—

"गोत्वानुषङ्गो बाहीको निमित्तात् कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः॥"[1]

वैयाकरणों की परम्परा में नागेश भट्ट ही ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीनों शब्द-शक्तियों का नामोल्लेखपूर्वक विवेचन किया है। लक्षणा और व्यंजना को भी शब्द-शक्ति (वृत्ति) के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में पाणिनि, कात्यायन की कोई स्पष्ट सम्मति नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लक्षणा शक्ति का स्पष्ट निर्देश तो नहीं किया है, किन्तु पाणिनि के 'तदर्हति'[2] और 'तदर्हम्'[3] सूत्र के भाष्य में उस अर्थात्मक विधा का निर्देश अवश्य किया है जिसे अन्य विद्वान् लक्ष्यार्थ रूप मानते हैं। वैयाकरण शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। तादात्म्य का अर्थ है—इतरेतराध्यास। अर्थात् विभेद में अभेद या अतत् में तत् का ज्ञान ही तादात्म्य है। शब्द गुण का अर्थ में और अर्थ गुण का शब्द में आरोप ही शब्दार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार जाति का व्यक्ति में और व्यक्ति का जाति में आरोप होता है। इस अन्य में अन्य के आरोप को पतञ्जलि ने चार प्रकार का माना है—(१) तात्स्थ्य, (२) ताद्धर्म्य, (३) तत् सामीप्य एवं (४) तत् साहचर्य तथा इनके उदाहरण भी दिये हैं—"चतुर्भिप्रकारैस्तस्मिन् 'स' इत्येतद् भवति तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात्, तत्समीप्यात्, तत् साहचर्यादिति।"[4]

१. **तात्स्थ्य**—जो वस्तु जिस पर स्थित होती है, वह वस्तु वही मान ली जाती है अर्थात् आधेय में आधार का आरोप हो जाता है। जैसे—'मंचाः क्रोशन्ति।' का अर्थ होता है कि मंच पर स्थित व्यक्ति चिल्ला रहे हैं। यहाँ मंच का मंचाधीनस्थ व्यक्ति में आरोप हो गया है।

२. **ताद्धर्म्य**—भिन्न पदार्थों में गुण या क्रिया (धर्म रूप) की सदृशता के कारण अभेद का आरोप हो जाता है। जैसे—"सिंहो माणवकः" (बालक सिंह है) में बालक में सिंह सदृश शूरवीरता देखकर उसमें और सिंह में अभेद का आरोप कर लिया जाता है अर्थात् बालक को सिंहतुल्य मान लिया जाता है। इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' में बाहीक में गो तुल्य जाड्य-मान्द्य देखकर उसमें गोत्व का आरोप किया जाता है।

३. **तत् समीप्य**—अत्यन्त समीपता के कारण भी अन्य में अन्य का आरोप हो जाता है। यथा—"गंगायाम् घोषः" में गंगा के अत्यन्त समीप तट में गंगा का आरोप कर लिया गया है। अर्थात् गंगा के तट पर घोष है।

---

१. वाक्यपदीय, २/२५५। २. पा० सू० ५/१/६३।
३. पा० सू० ५/१/११७। ४. महाभाष्य, ४/१/४८।

४. **तात्साहचर्य**—साहचर्य के कारण में अन्य का अन्य में आरोप हो जाता है। अथवा जो जिस वस्तु को धारण करता है, वह उस नाम से अभिहित होता है। जैसे—कुन्ताः प्रविशन्ति (भाले प्रवेश कर रहे हैं)। लाठियाँ जा रही हैं। अधिक सिपाहियों को देखकर कहा जाता है—लाल टोपियाँ ही टोपियाँ दिखायी दे रही हैं।

इस प्रकार पतञ्जलि के अनुसार एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में आरोप उक्त चार कारणों से होता है। इस आरोपित अर्थ को नागेश आदि ने लक्ष्यार्थ और उस शब्द व्यापार को लक्षणा माना है।

पतञ्जलि के समान ही भाषा-शास्त्री भर्तृहरि ने भी लक्षणाशक्ति का स्पष्टतः विवेचन नहीं किया है। वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में शब्दार्थ की मुख्यता और उसकी गौणता पर अवश्य विचार किया है। भर्तृहरि ने यह स्वीकार किया है कि शब्दार्थ से दो प्रकार का—एक तो स्वरूपपरक या मुख्य अर्थ होता है और दूसरा उपचरित या आरोपित (गौण) अर्थ होता है। मुख्यार्थ लोक में प्रसिद्ध होता है और गौण अर्थ लोक में पूर्णतः प्रसिद्ध नहीं होता है।[१] 'गो' शब्द से कभी गोत्व विशिष्ट गो जाति का बोध होता है और कभी गोत्व आरोपित बाहीक का। इससे शब्दार्थ सम्बन्ध की अनित्यता नहीं बोधित होती, अपितु प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कृत गौण मुख्य विभाग का ही भेद करना चाहिये।[२] भर्तृहरि की दृष्टि में गौण या उपसर्जनीभूत अर्थ उसे कहा जा सकता है, जब कोई शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को सामने न लाकर प्रकरणादि के कारण जिस सहभूत अर्थ को सामने लाता है, किन्तु प्रश्न यह है कि इस अर्थ को क्या वाच्य माना जा सकता है या नहीं? वाच्य का अर्थ होता है—"कहा जाने वाला" या अभिधेय। अतः किसी शब्द से जिस किसी अर्थ का कथन या बोध होगा वह उसका वाच्य ही होगा। यह दूसरी बात है कि वह वाच्य (रूप अर्थ) लोक में प्रसिद्ध है अथवा नहीं? यदि 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद से तट रूप अर्थ वाच्य है (अभिधेय) है तो लक्षणा आदि का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं माना जा सकता और यदि गङ्गा पद से गङ्गा रूप अर्थ ही वाच्य है, तदनन्तर गङ्गा रूप अर्थ से तट रूप अर्थ बोध्य या प्रतीयमान है तो इस प्रकार के लक्ष्यार्थ को गङ्गा शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि तट रूप अर्थ, गङ्गा रूप अर्थ से बोध्य है न कि गङ्गा पद से। अतः गङ्गा पद से शक्ति से अन्य लक्षणादि रूप कोई शब्द-शक्ति (या वृत्ति) नहीं मानी जा सकती।

'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' वैयाकरणों के इस सिद्धान्त के अनुसार सभी पद सभी अर्थों के वाचक होते हैं, किन्तु लोक-व्यवहार के आधार पर पदों के कुछ अर्थ (न्यून या अधिक) प्रसिद्ध हो जाते हैं। इस प्रसिद्धि के कारण निश्चित पद से निश्चित अर्थ

---

१. वाक्यपदीय, २/२५२–५६।

२. वाक्यपदीय, २/२५६ पुण्यराज।

का बोध होता है। बह्वर्थक शब्द किसी एक अर्थ में विशेष प्रसिद्ध होने पर सामान्यतः उसी अर्थ का बोधक होता है किन्तु प्रकरण संसर्गादि के कारण वह दूसरे अनति-प्रसिद्ध अर्थ का बोधक हो जाता है। जैसे 'राम' शब्द सामान्यतः दशरथापत्य का बोधक है किन्तु "रामार्जुनगतिस्तयोः" आदि में संयोगादि कारणों से राम शब्द परशुराम का बोधक हो जाता है। ये शब्द के वाच्य या अभिधेय ही होते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी प्रकरणादिवश अप्रसिद्ध अर्थ का वाचक हो जाता है। जैसे—गङ्गा से तट अर्थ का बोध होता है। ऐसे (गौण) अर्थों का बोध सदैव वाक्य में ही होता है। पद की स्थिति में नहीं। इन्हीं अर्थों को भर्तृहरि ने गौण या उपचरित अर्थ माना है, किन्तु इस रूप में इनको वाच्य से भिन्न नहीं माना जा सकता।[1]

जिस लक्षणा और व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियों की चर्चा विद्वानों ने की है उनके सम्बन्ध में एक बात यह भी अवधेय है कि लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति सदैव वाक्य से ही होती है, पद से नहीं। जब पद स्वतन्त्र होता है, तब वह केवल अपने बाध्य अर्थ का बोधक होता है उसका कोई लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नहीं होता। वाक्यगत पद अपनी सत्ता का परित्याग कर देता है अथवा वाक्य के प्रति समर्पित कर देता है। यदि लक्षणा भी अभिधा की भाँति स्वतन्त्र शब्द-शक्ति (वृत्ति) है तो स्वतन्त्र पद से भी इनके व्यापार के परिणामभूत लक्ष्य या व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि लक्षणा या व्यञ्जना आदि स्वतन्त्र शब्द-शक्तियाँ नहीं हैं। इसी आशय से भाषाशास्त्री भर्तृहरि ने लाक्षणिक अर्थों की चर्चा की है, किन्तु लक्षणा आदि किसी शब्द-शक्ति का विवेचन नहीं किया है। उनकी दृष्टि में लक्ष्यार्थ उपसर्जनीभूत अर्थ होता है जो लोक में पूर्णतः प्रसिद्ध नहीं होता है।

जहाँ पर एक ही शब्द से वाक्यार्थ का बोध होता है, वहाँ अपेक्षित शब्दों का अध्याहार हो जाता है। जैसे 'गेहम्' से 'प्रविश' का गच्छामि से 'अहम्' का तथा 'कुतः' पद से 'आगमनम्' का अध्याहार हो जाता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पूर्वोक्त जिन चार प्रकार के आरोपित अर्थों की चर्चा की है वे भी इसी प्रकार के उपसर्जनीभूत अर्थ हैं। "मंचाः क्रोशन्ति" में 'मंच' शब्द का अर्थ मंचाधीनस्थ पुरुष नहीं हो सकता अतः मंच में मंचाधीनस्थ पुरुष का आरोप किया जाता है। अतएव भाष्यकार ने उसे आरोपित अर्थ कहा है।

इस दृष्टि से भर्तृहरि या भाष्यकार लक्षणा या व्यञ्जना शक्ति को मानते हुये नहीं प्रतीत होते हैं। वे उन अर्थों के प्रतिपादन के प्रति अवश्य सचेष्ट दिखायी पड़ते हैं जिनको अनन्तरकालीन विद्वानों ने लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ रूप में स्वीकार

---

१. वा०प० २/२५०-२६०।

किया है। डॉ कपिलदेव द्विवेदी ने पतञ्जलि एवं भर्तृहरि के उक्त विवरणों के आधार पर उन्हें लक्षणा का समर्थक स्वीकार किया है।[1]

डॉ० सत्यकाम वर्मा ने बड़े विस्तार से भर्तृहरि के द्वारा लक्षणा या व्यञ्जना-शक्ति न मानने का विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के अनुसार गौण-मुख्य का विभाग होता है—"सिद्ध्यसिद्धिकृता तेषां गौण मुख्य-प्रकल्पना।"[2] डॉ० वर्मा ने लिखा है कि वाच्यार्थ की सत्ता होते हुये भी गौण-मुख्य का यह भेद केवल व्यवहार सौन्दर्य के लिए ही होता है। इन्हें वास्तविक मानकर लक्ष्य आदि अर्थों की पृथक् कल्पना कर बैठना उचित नहीं।[3] यह बात सच है कि गौ का अर्थ पशु विशेष भी है और जड़मति मन्द भी। कहीं वह पशु-विशेष मुख्यार्थ का सूचक होता है और कहीं जड़ता-मन्दता की सूचना मुख्य हो जाती है। अधिक प्रचलन और प्रसिद्धि के कारण किसी प्रदेश में पशु रूप अर्थ मुख्य होता है और किसी प्रदेश में अधिक प्रसिद्धि के कारण जड़त्वादि अर्थ मुख्य हो जाता है। अतः अर्थोपचारता या गौणता भी देशकालकृत ही होती है, आत्यन्तिक नहीं। डॉ० वर्मा के द्वारा गौणार्थ में मुख्यार्थ की कल्पना असंगत नहीं, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से अवश्य है।

डॉ० वर्मा ने लिखा है कि भर्तृहरि लक्षणा और व्यञ्जना का कोई अस्तित्व नहीं मानते। लक्षणा सम्बन्ध में चर्चा करते समय हमें यह भर्तृहरि के उपसर्जनीभूत अर्थ को नहीं भूलना चाहिये। उनके अनुसार लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ न कह कर अर्थ-विस्तारमात्र कहा जाना चाहिये।[4]

वैयाकरण सम्प्रदाय में नागेश भट्ट ने लक्षणा शक्ति को स्वीकार किया है और उसका विस्तृत विवेचन किया है—"अन्वयानुपपत्ति ज्ञानपूर्वकं शक्यत्वेन गृहीतार्थ-सम्बन्धज्ञानेनोद्बुद्धशक्तिसंस्कारतो बोधे लक्षणा इति व्यवहारात्।"[5] अर्थात् अन्वयादि की अनुपपत्ति होने पर जिस शब्दार्थ का ग्रहण होता है, उससे सम्बन्ध ज्ञान के द्वारा जो शक्ति-विषयक संस्कार उद्बुद्ध होता है, तज्जन्य बोध को लक्षणा कहते हैं। ऐसे स्थलों पर शक्ति विषयक संस्कार का उद्बोधन पूर्वजन्म के संस्कार के कारण होता है।

नागेश अन्वयादि अनुपपत्ति रूप लक्षणा बीज के प्रति अरुचि दिखलाते हुये तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। अन्यथा "गङ्गायां घोषः" में गङ्गा तट रूप अर्थ में लक्षणा न करके घोष पद की मकरादि में लक्षणा सम्भव हो सकती है। इससे अन्वयानुपपत्ति का परिहार हो जाता है, किन्तु इससे वक्ता के तात्पर्य (गङ्गा तट पर घोष) की सिद्धि नहीं होती। अतः तात्पर्यानुपपत्तिरेव को लक्षणा का बीज मानना सङ्गत प्रतीत होता है।

---

१. व्या० द० और अर्थ० वि०, पृ० २५५। २. वाक्यपदीय, २/२६३।
३. भाषा त० और वा० प०, पृ० १९०।
४. भा० त० और वा० प०, पृ० ११९। ५. लघुमंजूषा, पृ० ६४।

"वस्तुतः तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणा बीजम् । अन्यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ घोषादि पद एव मकरादि लक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्तिः परिहारात् ।"[1] इसके अतिरिक्त नागेश ने रूढ़ि या प्रयोजन को भी लक्षणा का कारण माना है।[2] नागेश के अनुसार शक्य सम्बन्ध में लक्षणा होती है। पहले पदार्थ की उपस्थिति होती है, तदनन्तर उसके वक्तृतात्पर्य से विरुद्ध होने पर तत्सम्बन्ध में लक्षणा होती है। गङ्गा पद से प्रवाह रूप अर्थ के उपस्थित होने पर वक्ता के तात्पर्य की सिद्धि नहीं होती है तब तत्-सम्बन्ध (गङ्गा सम्बन्ध तट) में लक्षणा होती है। इस प्रकार लक्षणा मुख्यार्थ के सम्बन्ध में होती है। लक्षणा के लिए अपेक्षित है कि—

१. मुख्यार्थ का बोध हो,
२. मुख्यार्थ से सम्बन्धित हो तथा
३. रूढ़ि या कोई प्रयोजन हो।[3]

नागेश ने लक्षणा भेद निम्न प्रकार से किया है—लक्षणा दो प्रकार की होती है—(अ) गौणी और (ब) शुद्धा । सादृश्य सम्बन्ध के कारण तत्सम्बन्ध अर्थ में होने वाली लक्षणा गौणी होती है और सादृश्य से अतिरिक्त सम्बन्ध के कारण होने वाली लक्षणा शुद्ध कहलाती है। यथा—शुद्ध—"मंचाः क्रोशन्ति"। गौणी—"गौर्बाहीकः"। प्रकारान्तर से भी लक्षणा के दो भेद होते हैं—(अ) अजत्स्वार्था—वह है जो अपने अर्थ को छोड़े बिना ही अन्य अर्थ का बोध कराती हो। यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'छत्रिणः यान्ति" अर्थात् 'कुन्ताधारी प्रवेश कर रहे हैं' तथा 'छाते वाले जा रहे हैं'। यहाँ पर कुन्त का कुन्तधारी में और छत्र का छत्रधारी में लक्षणा है, किन्तु कुन्त और छत्र रूप अर्थ का परित्याग नहीं हुआ है। (ब) दूसरी जहत्स्वार्था लक्षणा होती है जिसमें लक्षक पद अपने अर्थ का परित्याग कर देता है और अन्य लक्ष्य रूप का बोध कराता है। यथा—'गा वाहीकं पश्य', 'मूर्ख वाहीक (देशवासी) को देखो—यहाँ पर गो पद अपने पशु-विशेष रूप अर्थ का परित्याग करके मूर्ख (लक्ष्य) अर्थ का प्रतिपादक है। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझना चाहिये।[4]

निरूढ़ा लक्षणा के सम्बन्ध में नागेश ने लिखा है कि प्रयोजन न होने पर भी मुख्यार्थ के बाध होने पर तत्सम्बद्ध अन्य अर्थ के बोध को निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं। अन्यथा उसको रूढ़ शक्ति ही समझना चाहिये। 'असति प्रयोजने शक्यार्थबाधप्रतिसन्धानपूर्वकं तत्सम्बध्यपरपदार्थबोधे निरुढ़ लक्षणा इति व्यवहारः, अन्यथा रूढ़शक्तिरेवेति बोध्यम् ।"[5] निरूढ़ लक्षणा का उदाहरण दिया है—"त्वचा ज्ञातम्" (त्वचा से ज्ञान हुआ)। त्वचा स्वयं अचेतन है अतः रूढ़ि के कारण त्वचा की त्वगिन्द्रिय में लक्षणा होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा उसे कहते हैं जहाँ पर कोई विशेष प्रयोजन होने पर ही

---

१. ल० मंजूषा, पृष्ठ ९४–९५। २. वही।
३. वही, पृ० ९६–९७।
४. ल० मंजूषा, पृ० १००–१०१। ५. वही, पृ० १०१।

मुख्यार्थ बाध के कारण तत्सम्बद्ध अन्य (लक्ष्य) अर्थ का बोध होता हो। जैसे—गङ्गायां घोषः' गङ्गा की गङ्गा-तट में लक्षणा शैत्य पावनत्व प्रतीति रूप प्रयोजन के लिये होती है। गौर्वाहीकः में वाहीक देशवासी की मूर्खता रूप अर्थ में लक्षणा होती है।[1] नागेश ने पूर्वविमृष्ट हरिमत तथा पुयोगादाख्यायाम्'[2] सूत्र के भाष्य के लक्षणा की सिद्धि के प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[3] नागेश ने अपने मत के स्थापन में नैयायिकों एवं मीमांसकों के अनभीष्ट सिद्धान्तों का खण्डन करके स्वमत का दृढ़ता से प्रतिपादन किया है।[4]

नैयायिक मत में लक्षणा–भाष्यकार के समान गौतम ने भी न्यायसूत्र में अन्य में अन्य के आरोप के दस कारण बताये हैं, जिन्हें लक्षणा के कारण रूप में जाना जा सकता है। नागेश ने भी 'मंजूषा में उस सूत्र को उद्धृत किया है—"सहचरणस्थान तादर्थ्यवृत्तमानधारणा सामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण बाल नटराजसक्तुचन्दन-गङ्गासकटान्न पुरुषेष्वतद भावेऽपि तदुपचारः।"[5] अर्थात् साहचर्य ,तात्स्थ्य, तादर्थ्य, वृत्त, मान ,धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य आदि कारणों से अतद् में तद् का उपचार होता है अर्थात् जिसमें जो धर्म नहीं है उसमें उस धर्म का आरोप कर लिया जाता है। इनके क्रम से उदाहरण हैं—'यष्टीः प्रवेशय' 'मंचा क्रोशन्ति', 'वीरणेष्वास्ते', 'अयं राजा यमः', 'प्रस्थः सक्तुः', 'चन्दनं तुलां', 'गङ्गायां घोषः', 'कृष्णः शकटः', 'अन्नं पाणाः तथा अयं कुलस्थ राजा।

कुछ नैयायिकों के अनुसार 'द्विरेफ' पद की भ्रमर में लक्षित लक्षणा है[6]—द्विरेफौ यस्मिन् सः द्विरेफः' के अनुसार द्विरेफ विशिष्ट पद लक्षित भ्रमर पद से भ्रमर रूप अर्थ का बोध लक्षणा के द्वारा होता है। नागेश ने नैयायिकों के इस 'लक्षित लक्षणा' का खंडन करके द्विरेफ पद से रूढ़िशक्ति के द्वारा ही भ्रमर-बोधन को संगत बताया है। अतएव कोशादि में भ्रमर को द्विरेफ का पर्याय माना गया है।[7]

गुढ़ार्थदीपिका में लक्षणा के पाँच कारण बताये गये हैं—सारूप्य, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग इन्हीं पाँच कारणों से लक्षणा होती है—

"अभिधेयेन सारूप्यात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधामतः॥"[8]

नव्य नैयायिक तात्पर्यानुपपत्ति से शक्य सम्बन्ध में लक्षणा मानते हैं—"लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः।"[9] 'गङ्गायां घोषः' में प्रवाह रूप शक्यार्थ के सम्बन्ध

---

१. ल० मंजूषा, पृष्ठ १०१। २. पा० सू०, ४/१/४८।
३. ल० मंजूषा, पृष्ठ ११२। ४. ल० मंजूषा लक्षणानिरूपण।
५. न्या० द० सू०, २/२/६३।
६. न्या० सि० मु०, पृ० ५१।
७. ल० मंजूषा, पृ० १२८ तथा रत्नप्रभा टीका।
८. पदवाक्य रत्नाकर, पृ० १४५ में उद्धृत। ९. न्याय० सि० मु०, पृ० ४८।

की तट में लक्षणा होती है, उससे तट का स्मरण होता है तब शाब्दबोध होता है— "प्रवाह रूप शक्यार्थ सम्बन्धस्य तीरे गृहीतत्वात् तीरस्य स्मरणं ततः शाब्दबोधः।"[1]

प्राचीन नैयायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। नव्य-नैयायिक इसका खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि 'यष्टीः प्रवेशय' में यष्टि की प्रवेशकर्मता सम्भव है, अतः अन्वयानुपपत्ति के अभाव में लक्षणा नहीं होगी और वक्तृतात्पर्य की सिद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में लक्षणा नहीं होगी।[2] इस लक्षणा का खण्डन नागेश ने भी 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण से ही कर दिया है।[3] विश्वनाथ पंचानन ने लक्ष्यतावच्छेक लक्षणा का खण्डन करते हुये लिखा है—"लक्ष्यतावच्छेदके न लक्षणा प्रतप्रकारक बोधस्य तत्र लक्षणां बिनाप्युपपत्तेः।"[4] आशय यह है कि 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गापद से शक्यार्थ प्रवाह का सम्बन्ध तीर में जिस प्रकार से ग्रहण होगा उसी प्रकार तीर का शाब्द-बोध में भान होगा। यदि तीर की उपस्थिति गङ्गा तीरत्व रूप में होगी तो गङ्गातीरत्व रूप से ही तीर का शाब्द-बोध में भान होगा, क्योंकि उपस्थित अर्थ का ही शाब्द-बोध में भान होता है।

नैयायिक मीमांसकों के वाक्यगत लक्षणा का खण्डन करते हैं—"वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि नास्ति।"[5] अर्थात् नद्यां घोषः में 'नद्यां' वाक्यैकदेश में 'परमसुन्दरः' में सुन्दरः की भाँति लक्षणा है। 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकं देशेन' यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। सार्वत्रिक मान लेने पर—"गंभीरपदं गंभीरनदीतीररूपमर्थं बोधयतु" एतद्रूप तात्पर्य-ग्राहक लक्षणा हो जायेगी। अतः वाक्य में नहीं अपितु पद में ही लक्षणा होती है।

नैयायिक समास स्थल में अभिधा शक्ति न मानकर लक्षणा शक्ति से ही निर्वाह करते हैं—"तत्र हि चित्रगु पदादौ यद्येकदेशान्वयः स्वीक्रियेत, तदा गो-पदस्य गोस्वामिनि लक्षणा गविचित्राभेदान्वयः। यद्येक देशन्वयो न स्वीक्रियेत तदागोपदस्य चित्र गोस्वामिनि लक्षणा। चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम्······तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा।"[6] अर्थात् समास शक्ति मानकर एकदेशान्वय पक्ष स्वीकार करने पर गो पद का गोस्वामी में लक्षणा होगी और चित्र का गो में अभेदान्वय होगा। एकदेशान्वय न स्वीकार करने पर गो पद का चित्र गोस्वामी में लक्षणा होगी। इसी प्रकार 'राजपुरुषः' में भी राज की सम्बन्धी में लक्षणा होगी और उसका पुरुष के साथ अभेदान्वय होगा—"राजपुरुष इत्यादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः।"[7]

नैयायिक अभिधा (शक्ति) और लक्षणा दो ही वृत्ति मानते हैं, व्यंजनावृत्ति

---

१. न्याय० सि० मु०, पृष्ठ ४८। २. न्याय० सि० मु०, पृ० ४६।
३. ल० मञ्जूषा, पृ० ६४। ४. न्याय० सि० मु०, पृ० ४६।
५. न्याय सिन्धु मु०, पृ० ५३।
६. न्याय सिन्धु मु०, पृ० सं० ५७।
७. न्याय सिन्धु मु०, पृ० सं० ५८।

नहीं मानते। अतः साहित्यिक आदि जिस कार्य को व्यंजना से सम्पादित करते हैं, नैयायिक उस कार्य को लक्षणा के द्वारा ही मानते हैं। व्यंजना न मानने पर 'गङ्गायाम् घोषः' में 'शैत्य-पावनत्व' की प्रतीति की बात रही, तो जिस प्रकार निरूढ़ लक्षणा, लक्षित लक्षणा, गौणी लक्षणा या लक्षण-लक्षणा आदि को लक्षणा के अन्तर्गत मान लिया गया है, उसी प्रकार व्यंजना वृत्ति भी लक्षणा के अन्तर्गत हो सकती है। तात्पर्यानुपपत्ति से शैत्य-पावनत्व विशिष्ट तीर में लक्षणा होगी अथवा गंगा पद के श्रवण से लक्षणतया तीर का बोध होगा तब गंगा के समान तीर भी शैत्य-पावनत्वादिमान् है—इस प्रकार अनुमान से शैत्य पावनत्व का बोध हो जायेगा। अतः व्यंजना वृत्ति लक्षणा के अन्तर्गत मानी जा सकती है।[1] गदाधर भट्टाचार्य ने शक्तिवाद में केवल अभिधा और लक्षणा का ही उल्लेख किया है। उनके टीकाकार कृष्णभट्ट ने गौणी और व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में किया है—"एवं च गौणी व्यंजनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तम् तयोर्लक्षणायामन्तर्भावसम्भवात्।"[2]

मीमांसक मत—मीमांसक लाक्षणिक पद को शाब्द-बोध का कारण नहीं मानते हैं। लाक्षणिक अर्थ के शाब्द-बोध में पदान्तर (गङ्गायां घोषः में घोषादि पद) कारण होते हैं, क्योंकि शक्ति लक्षणान्यतर सम्बन्ध द्वारा इतर पद से उपस्थित जो अर्थ-तदन्वित स्वशक्यार्थ विषयक शाब्द-बोध के प्रति-प्राचीन मत में ज्ञायमान पद की कारणता है और नवीन मत में पद-ज्ञान की कारणता होती है। अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा द्वारा गंगा पद से उपस्थित तीर-अर्थ उससे अन्वित घोष पद का शक्य अर्थ हुआ। घोष, तदविषयक शाब्द-बोध के प्रति घोष पद की कारणता है। वाक्य में शक्ति न होने पर शक्य सम्बन्ध रूपा लक्षणा भी नहीं हो सकती। अस्तु, मीमांसकों के अनुसार वाक्य में लक्षणा मानी जाति है।[3]

मीमांसक ज्ञाप्य सम्बन्ध में लक्षणा मानते हैं—"एक सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिज्ञानस्यस्मारकम् भवति" अर्थात् एक पदार्थ का ज्ञान तत्–सम्बन्धित पदार्थ का स्मरण कराता है। नागेश ने मीमांसकों के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है—"केचित्तु स्वज्ञाप्य सम्बन्धेनोद्बुद्धशक्ति संस्कारतो बोधे लक्षणा 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' इत्याद्यनुरोधात्।"[4]

कुमारिल भट्ट के अनुसार अभिधेय से अतिरिक्त और अभिधेय से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं—"अभिधेयाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।"[5] कुछ

१. न्यायमते शाब्दबोधविमर्श—डा० बद्रीनाथसिंह, वृत्तेर्भेद विमर्शः, पृ० सं० १८२।

२. शब्द शक्ति टीका, मञ्जूषा, पृ० १।

३. ल० मञ्जूषा, रत्नप्रभा टीका, पृ० १०६।

४. ल० मञ्जूषा, पृ० १०।

५. तन्त्र वार्त्तिक—कुमारिल भट्ट, प्रथम चतुर्थ पाद।

मीमांसक—"शक्यादशक्योपस्थितिर्लक्षणेत्याहुः" मानते हैं। अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' अभिधेय अर्थ की उपस्थिति होने पर अन्वयानुपपत्ति के कारण प्रतिसन्धानपूर्वक पुनः गंगापद के प्रवाह ज्ञान के सम्बन्धी अपर ज्ञान तीर रूप का स्मरण किया जाना ही लक्षणा है किन्तु यहाँ वृत्ति की उपस्थिति अपर वृत्ति को उपस्थिति का हेतु नहीं हो सकती। कृष्णभट्ट ने "अशक्ये तात्पर्यं लक्षणेति वदन्ति"[1] लक्षणा का लक्षण किया है"। नैयायिकों ने इसका भी खण्डन किया है। अप्पयदीक्षित—"स लक्षणा मुख्यार्थ सम्बन्धेन शब्दस्य प्रातिपदिकत्वम्"[2] मानते हैं।

आलंकारिक मत—साहित्य-शास्त्रियों ने लक्षणा आदि शब्द-शक्तियों का विस्तार से विवेचन किया है। लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुल भट्ट, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि ने विशेष रूप से विचार किया है। आचार्य मम्मट ने लक्षणा के लिए तीन तत्वों को आवश्यक माना है—(१) मुख्यार्थ बाध, (२) तद्योग और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। अर्थात् मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शब्द-शक्ति कहते हैं—

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽर्थप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।"[3]

विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन करते हुये इन तीनों तत्वों को लक्षणा का बीज माना है—

"मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥"[4]

मुख्यार्थ बाध और तद्योग के साथ रूढ़ि अथवा प्रयोजन के होने पर इन तत्वों के कारण लक्षणा व्यापार होता है, उससे ज्ञात अर्थ लक्ष्यार्थ होता है तथा ज्ञापक शब्द लक्षक होता है। वृत्ति वार्तिककार का भी यही मत है।[5]

मुख्यार्थ बाध के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकार अन्वयानुपपत्ति रूप मुख्यार्थ बाध मानते हैं किन्तु वामन भट्ट नागेश के अनुसार तात्पर्यानुपपत्ति को मानते हैं—"वस्तुतस्तु बाधे तद्रूपेण वक्तृतात्पर्याविषयत्वे सतीत्यर्थः।"[6] अन्वयानुपपत्ति के मानने पर नागेश द्वारा सम्भावित आपत्तियों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। अस्तु, जहाँ वक्ता के तात्पर्य की सिद्धि न होने के कारण मुख्यार्थ बाधित होता है वहाँ तद्योग मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ में लक्षणा होती है, किन्तु वह लक्षणा रूढ़ि के कारण होती है या तो किसी प्रयोजन के कारण। 'कर्माणि कुशलः' में 'कुशलः' का अर्थ 'कुशान् लातीति कुशलः' (कुश लाने वाला) होता है, किन्तु वह (कुशल पद)

---

१. वृत्तिदीपिका, पृ० १०। २. वृत्तिवार्त्तिक, पृ० सं० १८।
३. काव्यप्रकाश २/९। ४. साहित्यदर्पण २/५।
५. वृत्तिवार्तिक, पृ० १५। ६. का० प्र० वामनी टीका, पृ० ४०।

कुश लाने वाले के विवेचकत्वादि गुणों के कारण 'दक्ष' अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतएव कुशल का अर्थ दक्ष होगा। इस प्रकार 'कर्माणि कुशलः' (कर्म में दक्ष) में रूढ़ि लक्षणा है।[1]

रूढ़ि के अतिरिक्त प्रयोजन के कारण भी लक्षणा होती है। जैसे—'गंगायां घोषः' में गंगा में घोष की स्थिति असम्भव है। तब मुख्यार्थ के बाध होने से तद्सम्बद्ध अर्थ गंगा-तट में शैत्य-पावनत्वादि रूप प्रयोजन की उपपत्ति के लिए लक्षणा होती है। अतः 'गंगायां घोषः' का अर्थ गंगा के तट पर घोष होता है। यहाँ वक्ता का तात्पर्य शैत्य-पावनत्वातिशय प्रदर्शित करने का है। यह प्रयोजनवती लक्षणा सव्यंग्या या व्यंजनाश्रित लक्षणा होती है, क्योंकि प्रयोजन व्यंग्य होता है। इसके विपरीत रूढ़ा लक्षणा निर्व्यंग्या होती है।

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के कुल छः भेद स्वीकार किये हैं—"लक्षणा तेन षड्विधा।" पूर्वोक्त प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है—शुद्धा और गौणी। शुद्धा पुनः दो प्रकार की होती है—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। स्वार्थसिद्धि के लिए परार्थ का ग्रहण उपादान लक्षणा है और परार्थ की सिद्धि के लिए स्वार्थ का समर्पण लक्षण लक्षणा है। यथा—कुन्ताः प्रविशन्ति (उपादान लक्षणा) तथा गंगायां घोषः (लक्षण लक्षणा)—

"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।"[2]

मम्मट ने उक्त दोनों (लक्षण और उपादान लक्षणा) लक्षणा को शुद्ध माना है, क्योंकि इन दोनों में उपचार का मिश्रण नहीं है—"उभररूपाचेयं शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्।"[3] विश्वनाथ ने उपचार का अर्थ किया है कि अतिशय सादृश्य के कारण जहाँ दो पृथक्-पृथक् पदार्थों में भेद का ज्ञान न हो सके, वही उपचार है—"अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः।"[4]

प्रदीपकार ने इसे सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित बताया है। कुन्तक के अनुसार उपचार का प्रयोग अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में प्रतीयमान के अर्थ में होता है। मुकुल भट्ट ने इसे लक्षणा का आधार कहा है, जो कार्य कारण भाव पर अथवा सादृश्य पर आधारित है।[5] अन्य विद्वानों ने भी उपचार के विभिन्न अर्थ किये है, किन्तु प्रकृत में उपचार का अर्थ सादृश्यातिशय द्योतन से ही है।

मुकुल भट्ट ने शुद्धा और गौणी के भेदक धर्म ताटस्थ्य सिद्धान्त को माना है, उपचारमिश्रण को नहीं। ताटस्थ्य कहते हैं—औदासीन्य अर्थात् लक्ष्य और लक्षक

---

१. काव्यप्रकाश २/९ वृत्ति।
२. काव्यप्रकाश २/१०।
३. काव्यप्रकाश २/१ वृत्ति।
४. वही, वामनी टीका में उद्धृत।
५. शब्द-शक्ति, पृ० १०४।

भेद प्रतीति को। जहाँ लक्ष्य और लक्षक में सादृश्य के कारण अभेद प्रतीति हो, वहाँ गौणी और जहाँ दोनों में भेद की प्रतीति हो, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।[1] किन्तु मम्मट ने इसका खण्डन किया है। गंगायां घोषः में गंगा से तट की प्रतीति होती है, अतएव दोनों में भेद नहीं है। अन्यथा 'गंगा तटे घोषः (अभिधेयार्थ) और गंगायाम् घोषः (लक्ष्यार्थ) में भेद ही क्या रह जायेगा ? इसलिए मम्मट के अनुसार शुद्धा और गौणी का भेदक धर्म है उपचार का मिश्रण। गौणी सोपचारा और शुद्धा निरुपचारा होती है।[2]

मीमांसक तथा मण्डन मिश्र आदि उपादान लक्षणा का उदाहरण गौरनुबन्ध्यः को मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार गौरनुबन्ध्यः में गो जाति का अनुबन्धन असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ बाध होने पर अभिधा वृत्ति से गृहीत गो जाति रूप अर्थ से लक्षणा व्यापार द्वारा गो जाति विशिष्ट गो व्यक्ति का ग्रहण होगा। उनके अनुसार यहाँ गौ शब्द पहले गो जाति का बाद में गो व्यक्ति का बोध करावे यह सम्भव नहीं है क्योंकि अभिधा शक्ति एक बार विशेषण को प्रकट करने के बाद क्षीण शक्तिक हो जाती है। अतः वह विशेष्य को पुनः प्रकट नहीं कर सकती है—"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिविशेषणे।"[3] अतः यहाँ जाति से व्यक्ति का आक्षेप लक्षणा द्वारा माना जायेगा। अभिधा वृत्ति से उपपत्ति सम्भव नहीं है। मुकुल भट्ट ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने इसका खण्डन करते हुये लिखा है कि गौरनुबन्ध्य में रूढ़ि अथवा प्रयोजन (लक्षणा के तृतीय अनुबन्ध (प्रयोजन) के अभाव के कारण यहाँ लक्षणा नहीं हो सकतो, अपितु जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उसी अविनाभाव सम्बन्ध से जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है, यथा—क्रिया से कर्ता आदि का आक्षेप हो जाता है। 'कुरु'—यहाँ पर कर्म का 'क्रियताम्' यहाँ कर्त्ता का तथा 'प्रविश'—यहाँ 'गृहम्' आदि का आक्षेप हो जाता है।

इसी प्रकार मुकुल भट्ट के लक्षणा के दूसरे उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' (मोटा देवदत्त रात्रि में भोजन नहीं करता) का भी खण्डन करते हुये मम्मट ने उसे अर्थापत्ति प्रमाण का उदाहरण सिद्ध किया है। मीमांसकों के अनुसार किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देख कर उसके उपपाद की भूत अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापति प्रमाण कहा जाता है—"यत्र च दृष्टः श्रुतो वार्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तरं कल्पयति सा अर्थापत्तिः।"[4] प्रभाकर मिश्र के अनुसार यहाँ अर्थापति और कुमारिल भट्ट के अनुसार श्रुतार्थापत्ति है। यहाँ दिन में भोजन न करने से देवदत्त मोटा नहीं हो सकता यदि वह रात्रि में भी भोजन न करे। अतः पीनत्व अर्थ के अनुपपन्न होने से रात्रि-भोजन की कल्पना हो जाती है।

---

१. काव्यप्रकाश २/१० वामनी टीका। २. काव्यप्रकाश २/१० वृत्ति।
३. काव्यप्रकाश २/१० वृत्ति।
४. काव्यप्रकाश २/१० की वामनी टीका में उद्धृत।

गौणी लक्षणा भी दो प्रकार की होती है—

(१) **सारोपा**—जहाँ पर आरोप्यमाण और आरोप (विषय और विषयी) दोनों का समानाधिकरण्येन कथन हो, वह सारोपा गौणी है। जैसे—गौर्वाहीकः में आरोप्यमाण गोत्व और आरोप वाहीक दोनों का अभेद सम्बन्धेन कथन किया गया है—

(२) **साध्यवसाना**—जब विषयी (आरोप्यमाण या उपमान) के द्वारा विषयी (उपमेय या आरोप) का अपने में निगरण (अन्तर्भाव) कर लिया जाता है, तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे—गौरयम् में आरोप्यमाण गौ के द्वारा आरोप विषय वाहीक का निगरण कर लिया गया है। वाहीक शब्दतः उपात्त नहीं है—

"सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥"[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण इसी प्रकार किया है।[2]

गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना लक्षणा उपचार से मिश्रित होती है। अर्थात् इनमें लक्ष्य और लक्षक में अतिशय सादृश्य या साधर्म्य का होना आवश्यक होता है। सादृश्य के अतिरिक्त जहाँ अन्य कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध होते हैं, वहाँ शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होती है—

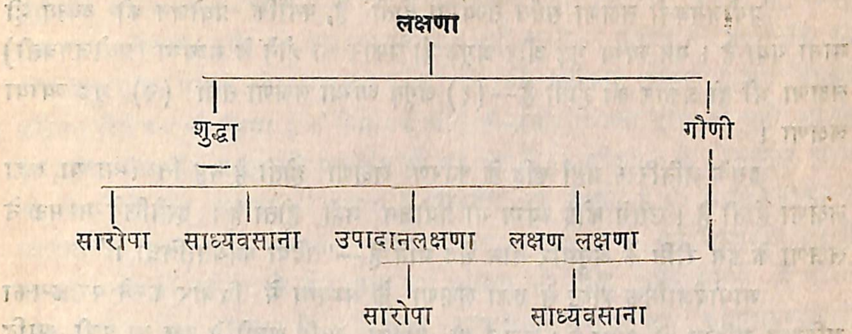
"भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा॥"[3]

शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण—"आयुर्घृतम्" है। यहाँ आयु और धृत में सादृश्य से भिन्न कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है तथा आरोप्यमाण आयु व आरोप घृत दोनों का कथन किया गया है। अतः शुद्धा सारोपा लक्षणा है। शुद्धा साध्यवसाना 'आयुरेवदम्' में है। यहाँ आरोप्यमाण आयु के द्वारा आरोपविषय घृत का निगरण कर लिया गया है। घृत का शब्दतः कथन नहीं हुआ है और सादृश्यातिरिक्त कार्य-कारण सम्बन्ध होने से शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है।

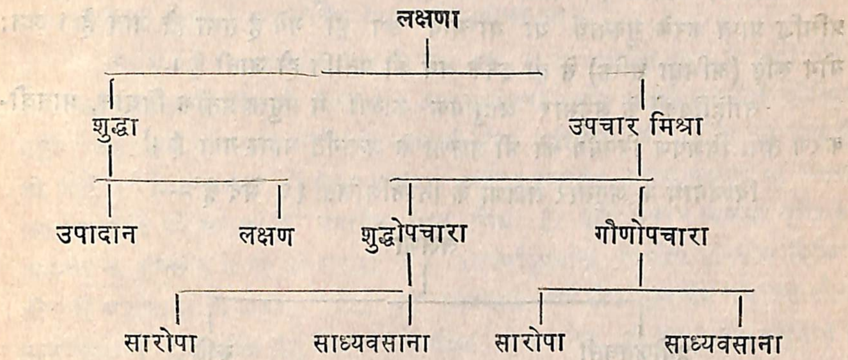
उपर्युक्त चारों स्थलों में लक्ष्य और लक्षण में भेद होने पर भी गौणी में सादृश्यातिशय के कारण तथा शुद्धा में भी तद्रूप प्रतीति के कारण अभेदावगम होता है, क्योंकि वही उसका प्रयोजन है। फिर भी इन दोनों में (शुद्धा और गौणी में) सम्बन्ध भेद रहता है। शुद्धा सारोपा और साध्यवसाना कार्य-कारण के अतिरिक्त तादर्थ्य, स्वस्वामिभाव, अवयवावयिभाव तथा तात्कर्म्य आदि के सम्बन्धों पर भी आधारित होती है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार लक्षणा के निम्न छः भेद होते हैं—

---

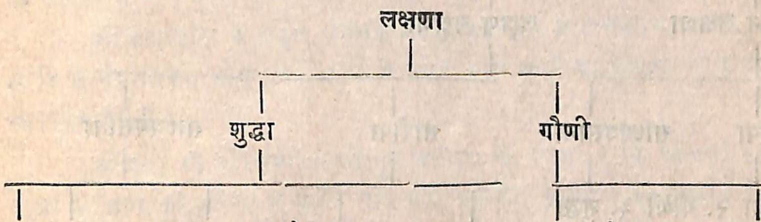
१. काव्यप्रकाश २/११। २. साहित्यदर्पण २/६–७।
३. काव्यप्रकाश २/१२।



कुछ विद्वान् मुकुलभट्ट के अनुसार उक्त विभाजन इस प्रकार मानते हैं[1]—



वामनाचार्य ने काव्यप्रकाश की टीका में लक्षणा-भेद निम्न प्रकार से किये हैं[2]—



१. उपादान २. लक्षण ३. सारोपा ४. साध्यवसाना ५. सारोपा ६. साध्यवसाना

यहाँ अवधेय है कि मम्मट ने उपादान और लक्षण लक्षणा के लिये कहा है कि ये दोनों उपचार से अमिश्रित होती हैं और आगे की कारिका में 'गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयो' कहा है। सारोपा और साध्यवसाना ये दोनों भेद गौणी और शुद्धा के होते हैं। अतः पूर्वोक्त मत ही समीचीन प्रतीत होता है। वेलाङ्कर महोदय ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[3]

१. शब्दशक्ति, पृ० ११०–१११ में उद्धृत।

२. काव्यप्रकाश, वामनी टीका, पृ० ५४।

३. शब्दशक्ति, पृ० ११२ में उद्धृत।

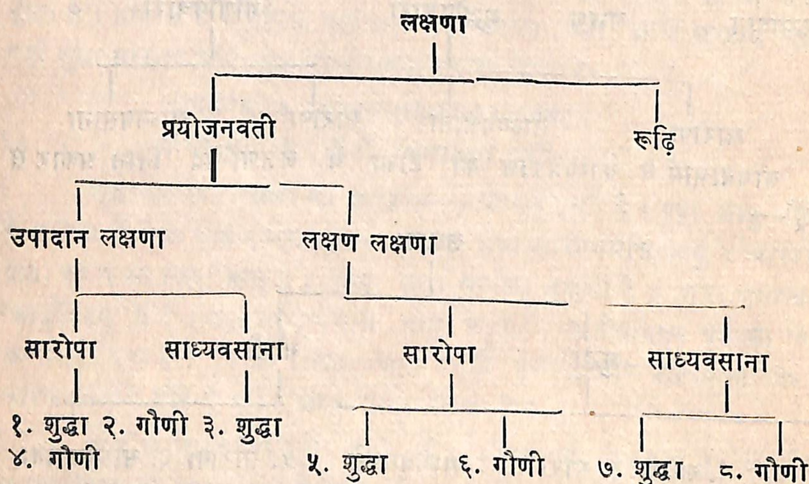
प्रयोजनवती लक्षणा सदैव सव्यंग्या होती है, क्योंकि प्रयोजन को व्यंग्य ही माना गया है। यह व्यंग्य गूढ़ और अगूढ़ दो प्रकार का होने से सव्यंग्य (प्रयोजनवती) लक्षणा भी दो प्रकार की होती है—(१) अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा तथा (२) गूढ़ व्यंग्या लक्षणा।

इसके अतिरिक्त जहाँ रूढ़ि के कारण लक्षणा होती है वह निर्व्यंग्या या रूढ़ा लक्षणा होती है। उसमें कोई व्यंग्य या प्रयोजन नहीं होता है। इसीलिये मम्मट ने लक्षणा के इस रीति के अनुसार तीन भेद माने हैं—"तदेषा कथितात्रिधा।"

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से रूढ़ा लक्षणा के सम्बन्ध में विचार करने पर इसका अस्तित्व संदिग्ध हो जाता है। कुशल या दुहिता आदि शब्दों से दक्ष या पुत्री आदि जिन अर्थों को लक्ष्यार्थ रूप माना जाता है, वे वस्तुतः धीरे-धीरे लोक-व्यवहार में प्रसिद्धि प्राप्त करके मुख्यार्थ या वाच्यार्थ रूप हो गये हैं तथा हो जाते हैं। अतः योग रूढ़ि (अभिधा शक्ति) से ही इनके अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

साहित्यिकों के अनुसार आधुनिक काव्यों में प्रयुक्त प्रतीक विधान, मानवीकरण तथा विशेषण विपर्यय को भी लक्षणा के अन्तर्गत माना गया है।[1]

विश्वनाथ के अनुसार लक्षणा के निम्नलिखित १६ भेद हैं[2]—



पुनः इन आठों भेदों के वाक्य और पदगत विभाजन करने से १६ भेद होते हैं। उक्त आठ भेद रूढ़ि लक्षणा के भी होते हैं। विश्वनाथ के भेदोपभेद करके लक्षणा के कुल ८० भेद किये हैं, किन्तु ये भेद सैद्धान्तिक अस्तित्व ही रखते हैं।

व्यंजना शक्ति

जैसे लक्षणा के प्रसंग में लिखा जा चुका है कि पाणिनि, पतञ्जलि तथा

१. शब्दशक्ति और ध्वनि सिद्धान्त, पृ० ५०।

२. साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद।

भर्तृहरि आदि वैयाकरण व्यंग्य-व्यंजक भाव-सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं[1], किन्तु लक्षणा या व्यंजना वृत्ति को स्पष्टतः स्वीकार नहीं करते। नागेश ने शब्द-वृत्ति को तीन प्रकार का मानते हुये व्यंजना वृत्ति को भी स्वीकार किया है और उसका संक्षिप्त विवेचन भी किया है।[2] नैयायिक और मीमांसक व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते हैं उसका अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत ही कर लेते हैं। शक्तिवाद के टीकाकार कृष्ण भट्ट ने गौणी और व्यंजना को लक्षणा के अन्तर्गत ही माना है।[3] माधवी टीका में व्यंजना को पृथक् शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[4] पुनः सिद्धान्त पक्ष में व्यंग्यार्थ को भी अधिभा से बोध्यमान कर व्यंजना को पृथक् शक्ति मानने में गौरव तथा व्यर्थता सिद्ध की गयी है—"व्यंजना वृत्यत्रान्यशाब्दत्वेऽप्यस्य कार्यतावच्छेदको गौरवात्।"[5] इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार व्यंग्यार्थ का बोध सहृदय के मन की कल्पना से ही होता है—"मनसैव तादृश बोधस्वीकारात्।"[6]

नैयायिकों का व्यंजना न मानने का तर्क है कि व्यंजना वृत्ति से सभी बोध्य अर्थों का लक्षणा से बोध हो जाता है। अतः व्यंजना वृत्ति मानने का कोई औचित्य नहीं। जहाँ तक 'गंगायाम् घोषः' में व्यंग्यार्थ शैत्य पावनत्व की प्रतीति का प्रश्न है, तो वहाँ पर जिस प्रकार निरूढ़ा लक्षणा, लक्षित लक्षणा, गौणी लक्षणा या लक्षण-लक्षणा आदि को लक्षणा के अन्तर्गत मान लिया है, उसी प्रकार व्यंजना वृत्ति को लक्षणा के अन्तर्गत माना जा सकता है। तात्पर्यानुपपत्ति से शैत्य पावनत्व विशिष्ट तीर में लक्षणा होगी अथवा श्रोता को तीरमात्र का बोध होने पर 'गंगातट शैत्य-पावनत्वमान्' है, क्योंकि वह गंगा पद से बोध्य है। गंगा की तरह, इस अनुमान से शैत्य-पावनत्व आदि का बोध हो जायेगा। इस प्रकार व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में हो सकता है।[7] अतः नैयायिक व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं।

व्यंजना-वृत्ति के प्रमुख समर्थक साहित्यिक हैं। आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने नैयायिकों, मीमांसकों आदि के मतों एवं तर्कों का खण्डन करके व्यंजना की स्थापना की है।

व्यंजना की परिभाषा करते हुये नागेश ने लिखा है कि व्यंजना मुख्यार्थ की बाधा के ज्ञान की अपेक्षा न करके ज्ञान को उत्पन्न करती है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध, असम्बद्ध तथा प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इसका विषय होता है। मुख आदि की विलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा से उद्बुद्ध संस्कार विशेष को व्यंजना कहते हैं—

मुख्यार्थ बाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थ सम्बद्धासम्बद्ध साधारण-

---

१. द्रष्टव्य स्फोट विमर्श।

२. ल० मंजूषा, व्यंजना निरूपण।

३. शक्तिवाद टीका, पृ० १।

४. शक्तिवाद माधवी टीका, पृ० २।

५. वही।

६. माधवी टीका, पृ० ३।

७. न्यायमते शब्द-बोध-विमर्श, वृत्तिज्ञान भेद विवेचनम्, पृ० १८२।

प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ विषयको वक्त्रादि वैशिष्ट्य ज्ञान प्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कार विशेषो व्यंजना।"[1]

नागेश लिखते कि शब्द, शब्दार्थ, पद, पदैकदेश, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि में सर्वत्र ही व्यंजना का अनुभव होता है। मुखादि की विलक्षणता आदि का ज्ञान व्यंग्य विशेष के बोध में सहकारी होता है, अतः सर्वत्र उसकी अपेक्षा नहीं होती।

भर्तृहरि पद के अभिधेय अर्थ को वास्तविक मानते हैं। अभिधान और अभिधेय के नियम पर आधारित अभिधा ही एक वृत्ति है।[2] वही वाक्य या पद की आत्मा है। अर्थ भावना या वृत्ति से प्रेरित होकर ही शब्द का प्रयोग होता है। कभी-कभी शब्द अपने ज्ञात अर्थ को इसी वृत्ति में छोड़ बैठते हैं। वस्तुतः अर्थ प्रकरणादि की अपेक्षा में जो भी अर्थ प्रतीत या निश्चित होता है वही 'स्व-अर्थ' या स्वरूप है—"अर्थप्रकरणाम्यं तु तेषाम् स्वार्थो नियम्यते।"[3] चाहे स्तुति, निन्दा, चमत्कार, विचित्र, प्रयोजनयुक्त आदि किसी भी प्रकार के अर्थबोधन की आवश्यकता हो, किन्तु बिना उक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि इन कारणों से शब्द अपने ज्ञात अर्थ को छोड़कर अन्यार्थ के ज्ञापक हो जाते हैं—

"तत्रापि च प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्चोपदिश्यते।"[4]

\+ +

"असत्यां प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने।
स्वैरर्थैः नित्यसम्बन्धास्ते ते शब्दाः व्यवस्थिताः॥"[5]

व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि मानते हैं कि जिस प्रकार अरणि मन्थन से अग्नि के साथ धुंआ भी पैदा होता है तथा एक दीपक से अनेक वस्तुओं का एक साथ प्रकाशन हो जाता है, उसी प्रकार एक अर्थ में कहा हुआ शब्द अनेक अर्थों को प्रकाशित कर देता है। यह शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।[6]

व्यंजना को वृत्ति न मानने का एक और तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि शब्द या शब्द-समुदायभूत वाक्य से जिस अर्थ का ज्ञान वक्ता और श्रोता दोनों को समान रूप से होता हो, वह तो उसका वाच्य या अभिधेय ही हुआ, उसको पृथक् रूप में व्यंग्यार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? यदि किसी विशेष स्थिति में विशेष बोद्धा या प्रयोक्ता को ही किसी विशेष अर्थ का बोध होता है तो, उसे व्यंजनावृत्ति विषयक अर्थ नहीं कहा जा सकता। वह संकेतादि से ज्ञेय अर्थ के समान ही होता है न कि शब्दार्थ होता है। अतः जो अर्थ शब्द से सम्बद्ध है, वह उसका अभिधेयार्थ हुआ और जो असम्बद्ध है उसे उस शब्द का अर्थ नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि

१. ल० मंजूषा, पृ० १३३।
२. वाक्यपदीय, २/४००।
३. वाक्यपदीय, २/३३०।
४. वाक्यपदीय २/३३१।
५. वाक्यपदीय, २/३३२।
६. वाक्यपदीय, २/२९६–२९९।

कहते हैं कि यदि भोजन करने से जो पात्र-स्थाली आदि के मार्जन का अर्थ व्यक्त होता है, उन्हें 'प्रकान्तरार्थ' या 'व्यंग्यार्थ' समझा जायेगा तो सम्पूर्ण वाग्-व्यापार ही व्यंजना का विषय हो जायेगा।[1] इसी प्रकार स्तुति-निन्दा सम्बन्धी वाक्यों की स्थिति में वक्ता का वक्तव्य ही स्तुति या निन्दा होती है। उसे अवाच्य कहकर व्यंग्यार्थ की कल्पना व्यर्थ है।[2]

डॉ० सत्यकाम वर्मा ने लिखा है कि सबसे बड़े अस्तित्ववादी, अभेदवादी, अखण्डवादी और शब्द ब्रह्म के उपासक भर्तृहरि शब्द की अर्थ सीमाओं को "धर्मैः सर्वपदार्थानामतीतः सर्वलक्षणः अनुग्रह्णाति सम्बन्धः" के रूप में मानकर उसे कैसे इन अनित्य शक्तियों की सीमाओं में बँटा हुआ स्वीकार कर लेते ? शब्दार्थ सम्बन्ध स्वयं इतना लचकीला, बृंहणशील और सर्वशक्तिमान् है कि उसके रहते अनित्य और खण्ड रूप शक्तियों को मानने की आवश्यकता और उपयोगिता शेष प्रतीत नहीं होती।[3] साक्षात् अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की (व्यंग्य आदि अर्थ की) सत्ता का अपलाप किसी ने नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि किसी ने इस अर्थ-विशेष को बोध कराने वाले व्यंग्यार्थ बोधक शब्द-व्यापार को पृथक् रूप से शक्ति स्वीकार किया है और किसी ने उसे लक्षणा या अभिधा से अन्तर्भूत मान लिया है। वैयाकरणों के ध्वनि के आधार पर उस व्यंग्यार्थ को आनन्दवर्धन ने ध्वनि नाम देते हुये इस आशय का निर्देश भी किया है।[4] ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुये आनन्दवर्धन ने अर्थोपचार से ध्वनि काव्य के भेदक तत्व के रूप में मानकर व्यंग्यार्थ के लिए ध्वनि का प्रयोग किया है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"[5]

अर्थात् ध्वनि जिसमें वाच्य अर्थ अपने को तथा वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना कराते हैं जो कि काव्य का ललना-लावण्य के समान सहृदय श्लाध्य चमत्कारी अर्थतत्व है, वह विशिष्ट काव्य ध्वनि काव्य कहलाता है।

अन्यत्र भी ध्वनिकार ने मुख्य रूप से प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को ध्वनि की आत्मा तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है[6]—"मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो-ध्वनेरात्मा। काव्यस्यात्मा स एवार्थः।"

इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनिकार ने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यंग्य अर्थ के

---

१. वाक्यपदीय २/३१३।
२. वाक्यपदीय, २/३१६।
३. भा० त० और वाक्यपदीय, पृ० २०३।
४. ध्वन्यालोक, १/१।
५. ध्वन्यालोक १/१३।
६. वही, १/६।

लिए किया है। अनेकत्र स्थलों पर उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यंजक शब्द के अर्थ में भी किया है।[1] अस्तु, ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने से यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि व्यंग्य अर्थ है। उपचारतः व्यंजक शब्द एवं व्यंजना-व्यापार को भी ध्वनि कहा जा सकता है— 'प्राधान्येन व्यपदेशः भवन्ति' इस न्याय से। अनन्तर काल में भट्ट नायक ने ध्वनि को व्यंजना व्यापार का पर्यायवाची मानकर खण्डन किया है।[2]

हेमचन्द्र ने भी ध्वनि पद का प्रयोग व्यंग्य अर्थ के लिए किया है—"मुख्याद्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः।"[3]

आचार्य मम्मट ने ध्वनि पद का प्रयोग काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में ही व्यंजक शब्द और व्यंग्य अर्थ के लिए किया है—"इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्येवाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि ध्वनि का प्रयोग साहित्यिक क्षेत्र में व्यंग्य, व्यंजक तथा व्यंजना वृत्ति इन सभी अर्थों में हुआ है। अतः नैयायिक, मीमांसक, वैयाकरण तथा वेदान्तियों आदि के द्वारा स्वीकार न की जाने वाली व्यंजना वृत्ति की स्थापना, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने ध्वनि की स्थापना के माध्यम से की है।

व्यंजनासिद्धि मम्मट काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में ही लक्षणा की स्थापना तथा निरूपण के अनन्तर व्यंजना का निरूपण करते हुये 'गंगायां घोषः' में शैत्य-पावनत्व की प्रतीति व्यंजना वृत्ति से ही स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि जिस प्रयोजन-विशेष की प्रतीति कराने के लिये 'लाक्षणिक शब्द' का आश्रय लिया जाता है, एकमात्र शब्द से ही गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि जो शैत्य-पावनत्वादि की प्रतीति तट में होती है, वह गंगा शब्द का संकेतित (वाच्य) अर्थ नहीं हो सकता। अतः अभिधा बोधगम्य नहीं है। मुख्यार्थ बाध, तद्योग तथा रूढ़ि या प्रयोजन के अभाव में उसकी (शैत्यादि की) प्रतीति लक्षणा से भी नहीं हो सकती। अर्थात् 'गंगायाम् घोषः' में मुख्यार्थ बाधादि लक्षणा के हेतु य होने के कारण गंगा के तीर में तो लक्षणा हो जाती है, किन्तु तीर में मुख्यार्थ बाधादि लक्षणा के हेतु नहीं हैं। अतः शैत्यादि रूप अर्थ के बोधन में लक्षणा नहीं हो सकती।[5] यदि यथा कथंचित् व्यंजना विरोधी लक्षणा के अनुरोध से ही शैत्यादि प्रयोजन के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करके लक्षणा मानना चाहें, तो दूसरा प्रयोजन लक्ष्य होगा, जिसके लिये अन्य प्रयोजन माना

---

१. ध्वन्यालोक, १/१५, १६, २/३२।
२. ध्वनि सि० वि० सं०, उनकी मान्यतायें; पृ० ५५।
३. काव्यानु० १/१९। ४. काव्यप्रकाश १/४।
५. काव्यप्रकाश २/१४–१६।

जाये। पुनः उस प्रयोजन के लिए प्रयोजनान्तर की कल्पना की जाये। इस प्रकार प्रयोजनों की अनवस्था से मूल प्रयोजन ही नष्ट हो जायेगा। अतः अनवस्था दोष के कारण प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता।[1]

प्रयोजन (शैत्य-पावनत्वादि) विशिष्ट में भी लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान का विषय और फल दोनों की पृथक् सत्ता होती है। अतः दोनों को एक मानकर अर्थात् फलयुक्त विषय में या कार्ययुक्त कारण में लक्षणा कैसे हो सकती है?[2] नैयायिकों के अनुव्यवसाय तथा मीमांसकों के ज्ञातता सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के विषय तथा फल को पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया गया है। अवधेय है कि नैयायिक आत्माधिष्ठित ज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार 'अयं घटः' यह ज्ञान का विषय हुआ और 'घटज्ञानवानहमस्मि' यह ज्ञान का फल हुआ। यह मन्निष्ठ (आत्मनिष्ठ) ज्ञान घट ज्ञान (विषय ज्ञान) के अनन्तर होता है। अतएव वह अनुप्यवसाय कहलाता है।[3] मीमांसक ज्ञान को विषयनिष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार घट ज्ञान के अनन्तर "ज्ञातो मया घटः" इस प्रकार का ज्ञान होता है। यही ज्ञातता कहलाता है। यह धर्म घट ज्ञान के पूर्व घट में नहीं था, अपितु घट-ज्ञान के बाद घट में होता है। अस्तु, इन दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार ज्ञान का विषय कारण होता है और ज्ञान का फल कार्य होता है। कार्य-कारण की स्थिति युगपत् नहीं हो सकती।[4] अतएव लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट और उसका फल शैत्य-पावनत्वादि भी पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, उनकी समकालिक उत्पत्ति संभव नहीं है।

आगे चलकर मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में ध्वनि की स्थापना की है। इस ध्वनि की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही संभव है। उनके अनुसार जो यत् किंचिद्रूप में वाच्य हो सकते हैं, ध्वनि के उन दो भेदों—वाच्यता सह अर्थात् अलङ्कार ध्वनि तथा वाच्यता-असह (वस्तु ध्वनि)—के अतिरिक्त तीसरी रसादि ध्वनि केवल व्यंग्य ही है, वाच्य नहीं।[5]

वस्तुतः मम्मट के पूर्व आनन्दवर्धनाचार्य विरोधी तीन सम्प्रदायों का खण्डन कर चुके थे। जो इस प्रकार थे—

१. अभाववादी-व्यंजना का खण्डन करने वाले,

२. भक्तवादी लक्षणा में ही व्यंजना को अन्तर्भूत करने वाले,

३. अलक्षणीयतावादी—इनके अनुसार व्यंजना का अस्तित्व अवश्य है किन्तु उसका लक्षण नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन के बाद व्यंजना विरोधी दो और मान्यतायें उद्भूत हुईं जिनमें कुछ आचार्य तो व्यंजना को अभिधा में और कुछ लक्षणा

---

१. काव्यप्रकाश २/१६।

२. काव्यप्रकाश २/१७–१८।

३. द्रष्टव्य-तर्कभाषा प्रामाण्यवाद।

४. काव्यप्रकाश वामनी टीका, २/१८।

५. काव्यप्रकाश, पृ० २१६।

में गतार्थ करते थे। मम्मट ने इनका खण्डन करते हुये व्यंजना की सम्यक् स्थापना की है। मीमांसक एवं भट्टलोल्लट आदि विद्वान् अभिधावादी हैं, इनके विरोध में मम्मट की निम्नलिखित युक्तियाँ है—

१. लक्षणामूला ध्वनि के स्थलों में व्यंग्यार्थ (रूप प्रयोजन) के बिना लक्षणा नहीं हो सकती।

२. अभिधामूला ध्वनि के असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के भेद में रसादि ध्वनि कभी वाच्य नहीं हो सकती तथा संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के शब्द शक्त्युत्थ भेद में प्रकरणादि वश अभिधा का एकत्र नियन्त्रण हो जाने से अप्राकरणिक अर्थ एवं उपमानोपमेयभाव प्रतीति के लिए व्यंजना आवश्यक है।

३. अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट जो वाक्यार्थ को तात्पर्य वृत्ति से गतार्थ मानते हैं, उनके अनुसार भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती।

४. अन्विताभिधावादी प्रभाकर मिश्र के अनुसार सामान्य रूप से अन्वित पदार्थों में संकेतग्रह होता है, विशेष अन्वित पदार्थों का नहीं। तब अतिविशेष रूप वाक्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है? उसके बाद प्रतीत्य व्यंग्यार्थ को अभिधा से बोध्य नहीं माना जा सकता।

५. "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" के अनुसार भी जब तक शब्द के साथ व्यंग्यार्थ का संकेतग्रह न हो जाये तब तक अभिधा से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती और संकेत सामान्य रूप से अन्वित के साथ होता है, विशेष के साथ नहीं। अतः जब अति विशेष रूप वाक्यार्थ ज्ञान भी अभिधा से नहीं हो सकता तो व्यंग्यार्थ प्रतीति कैसे हो सकती है? उसके लिए व्यंजना आवश्यक है।

६. भट्टलोल्लट आदि विद्वान् जो 'यत् परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम से व्यंग्यार्थ को अभिधागम्य मानते हैं, वे इसका आशय नहीं समझते। वैदिक विधि-वाक्यों में प्रमाणान्तर से अप्राप्त अंश का ही विधान होता है। जैसे—अग्नि अदग्ध का ही दहन करती है, दग्ध का नहीं। ऐसी स्थिति अप्राप्त अंश के बोधन में ही विधि-वाक्य का तात्पर्य होता है और वही उस विधिवाक्य का प्रतिपाद्य या विधेय अर्थ होता है। 'भूतं भाव्यावोपदिश्यते' का भी यही अभिप्राय है। 'यदि तात्पर्यवाचो युक्तिः' का भट्टलोल्लट के अनुसार यह अर्थ किया जाये कि जहाँ वक्ता को व्यंग्यार्थ बोधन की इच्छा होगी वहाँ व्यंग्यार्थ भी शब्द का वाच्यार्थ ही होगा, तब लक्षणा की क्या आवश्यकता रहेगी? दूसरी बात यह है कि इस न्याय के अनुसार वाक्य में उपात्त किसी शब्दविशेष के अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य माना जा सकता है न कि अनुपात्त शब्द के अर्थ में। व्यंजना द्वारा बोध्य अर्थ का वाचक शब्द वाक्य में अनुपात्त होता है। अतः व्यंजना की स्वीकृति में यह नियम प्रतिरोधक नहीं होता।

७. भट्टलोल्लट का एक और तर्क यह है कि जैसे—बाण कवचभेदन, उरो-विदारण तथा प्राणहरण आदि दीर्घ-दीर्घतर व्यापार करता है वैसे ही शब्द का भी

दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी और श्रुति-लिग-प्रमाणादि का उत्तरोत्तर बलाबलत्व नष्ट हो जायेगा। अतः इस तर्क से भी व्यंजना वृत्ति का निषेध नहीं होता।

इस प्रकार व्यंजना को अभिधा में गतार्थ मानने वाले मीमांसकों के मतों का खण्डन करके मम्मट ने व्यंजना की स्थापना में तर्क प्रस्तुत किया है—

१. मम्मट कहते हैं कि व्यंजना के न मानने पर 'रुचिकुरु' में 'चिकु' गत जो अश्लीलता दोष साहित्य में होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि ममनासा (चिकु) रुचि या 'कुरु' किसी पद का वाच्यार्थ नहीं है और व्यंग्यार्थ की सत्ता नही है। अतएव अश्लील-त्व दोष नहीं होगा! इसी तरह व्यंजना न मानने पर नित्य और अनित्य दोष की कल्पना भी नहीं हो सकेगी। अतः व्यंजना आवश्यक है।

२. व्यंजक शब्द और व्यंग्य अर्थ दोनों ही वाचक और वाच्य से पृथक् हैं। वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा होती है, किन्तु व्यंजक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। निरर्थक शब्द भी व्यंजक हो जाते हैं। अतः व्यंजना का पृथक् अस्तित्व अवश्य है।

३. वाच्यार्थ की प्रतीति सभी को एक जैसी होती है, किन्तु व्यंग्यार्थ की पृथक्-पृथक्। अतएव 'गतोऽस्तमर्कः' का विभिन्न बोद्धा अपने-अपने अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ करते हैं—

(क) चोरी का समय हो गया (चोर),
(ख) अभिसरण की तैयारी करो (अभिसारिका),
(ग) सन्ध्याकालिक विधि की तैयारी करो (मुनि),
(घ) गायों को ले जाने का समय हो गया (गोप),

इत्यादि अनेकों अर्थ हो जाते हैं। यह व्यंजना वृत्ति का ही चमत्कार है।

इस प्रकार अनेक तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा मम्मट ने मीमांसकों के अभिधा के अन्तर्गत व्यंजना की स्वीकृति का खण्डन करके उसको अभिधा से भिन्न वृत्ति स्वीकार किया है और महत्वपूर्ण युक्तियों से सिद्ध किया है।[१]

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में अभिधा से पृथक् व्यंजना की सत्ता सिद्ध करने के लिए संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य, विषय आदि के आधार को ग्रहण किया है—"बोद्धृस्वरूपसंख्या निमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्। आश्रय विषया-दीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः।"[२]

भट्टोद्भट्ट आदि कुछ विद्वान् लक्षणा में ही व्यंजना को गतार्थ मानते हैं। उनके भी तर्कों का खण्डन करते हुये मम्मट कहते हैं[३]—

---

१. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २१६–२४५।

२. साहित्यदर्पण, ५/२।

३. काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २४६–५२।

१. यद्यपि लाक्षणिक स्थलों में शब्द का अर्थ निश्चित नहीं रहता, विभिन्न अर्थ हो सकते हैं तथापि व्यंग्यार्थ का बोध लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि लक्ष्य अर्थ अनेकार्थक शब्दों के लक्ष्यार्थ के समान नियत ही रहता है और व्यंग्यार्थ से कथमपि सम्बन्ध नहीं रहता, वह प्रकरणादि विशेष कारण से कहीं नियत सम्बन्ध, कहीं अनियत सम्बन्ध और कहीं परम्परित सम्बन्धों वाला द्योतित होता है। अतः वह लक्ष्यार्थ से भिन्न होता है।

२. लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ इसलिए भी भिन्न होता है कि लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ का बाध आवश्यक है और व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे, "श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकेप्रलोकय। मा पथिक रात्र्यंध शय्यायां मम निर्भक्ष्यसि।' यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध न होते हुये भी वाच्यार्थ निषेध रूप है और व्यंग्यार्थ विधि रूप है।

३. यदि लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति को न मान कर तात्पर्यानुपपत्ति को माना जाये तो भी तात्पर्य (प्रयोजन) की प्रतीति के लिए व्यंजना-वृत्ति आवश्यक है।

४. जिस प्रकार अभिधा सकेतग्रह की अपेक्षा करती है वैसे ही लक्षणा मुख्यार्थबाध आदि हेतुत्रय की अपेक्षा करती है। इसीलिए लक्षणा को अभिधापुच्छभूत कहा जाता है।

५. अन्त में मम्मट से चार हेतुओं का निर्देश करते हुये लिखा है—व्यंजना लक्षणा से भिन्न है, क्योंकि—

१. व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा के बाद होती है,

२. लक्षणा के बिना भी केवल अभिधा के अवलम्बन मात्र से (अभिधामूला) व्यंजना—वृत्ति देखी जाती है,

३. व्यंजना सर्वत्र लक्षणा या अभिधा की अनुगामिनी नहीं होती अर्थात् कहीं-कहीं पर निरर्थक वर्णों या पदों से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तथा—

४. अभिधा और लक्षणा तो शब्द-व्यापार ही है, व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो कटाक्षादि (चेष्टाओं) से भी होती है, अतः अशब्द-स्वरूप भी है।

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध हो गया है कि व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है और व्यंजना की लक्षणा से पृथक् सत्ता है।

व्यंजना के विरोधियों में न्यायाचार्य महिमभट्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य आचार्यों ने प्रसंगतः व्यंजना का खण्डन किया है किन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थ—"व्यक्ति-विवेक" में पूर्णतः व्यंजना का खंडन करके उसको अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है। महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों द्वारा दिये गये सभी उदाहरणों को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है। यद्यपि वे प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को मानते हैं, किन्तु उसकी प्रतीति अनुमान द्वारा मानते हैं, न कि व्यंजना के द्वारा—

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥"[१]

---

१. व्यक्तिविवेक, १/१।

आचार्य मम्मट निम्नलिखित उदाहरण को प्रस्तुत करते हुये उनके अनुमिति-वाद का खंडन करते हैं—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्यमारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुंज वासिना दृप्त सिंहेन ।।''

मम्मट कहते हैं कि भीरु भी प्रभु अथवा गुरु की आज्ञा से अथवा प्रिया के अनुराग से या अन्य किसी कारण से भय का कारण होने पर भी घूमता है । इसलिये 'भय का कारण सिंहोपलब्धि' हेतु अनैकान्तिक (हेत्वाभास) है और कोई वीर कुत्ते से डरने पर भी सिंह से नहीं डरता है, अतः विरुद्ध (हेत्वाभास) भी है । दूसरी बात यह है कि सिंह का गोदावरी नदी के किनारे होना प्रत्यक्ष तथा अनुमान से निश्चित नहीं है, केवल वचन से जाना गया है । अर्थ के साथ वचन का प्रतिबन्ध न होने से (नियम या व्याप्ति के अभाव में) वचन का प्रामाण्य नहीं है । अतः पक्ष में हेतु के न होने से स्वरूपा सिद्ध (हेत्वाभास) भी है । इस दोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि किस तरह हो सकती है ? अर्थात् प्रयोजन की प्रतीति अनुमान द्वारा नहीं हो सकती ।[1]

अखण्डार्थतावादी वैयाकरणों और वेदान्तियों के व्यंजना विरोधी मत का खंडन करते हुये मम्मट कहते हैं कि जिनके मत में अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और वाक्य ही वाचक होता है, उनको भी अविद्या की स्थिति (व्यवहार काल) में तथा पद-व्युत्पत्तिकाल में ईश्वर, जीव, ब्रह्म, माया आदि तथा प्रकृति, प्रत्यय, पक, पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी । इसलिये—

''निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो ।
नेत्रे द्रश्मंनजनेपुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।।''

आदि उदाहरणों में विधि आदि को व्यंग्य मानना ही होगा । तात्पर्यवादी धनिक और धनंजय ने भी व्यंजना वृत्ति को न मान कर व्यंग्यार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा मानते हैं, जैसा कि अभिहितान्वयवादी कुमारित भट्ट मानते थे। उनके अनुसार भी प्रकरणादि वश वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध हो जाता है तो पृथक् रूप में अतिरिक्त व्यञ्जना वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ?

''वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथाक्रिया ।
वाच्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरैः ।।''[2]

यदि ध्वनिवादी यह कहें कि तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) बोध के अनन्तर जब तात्पर्यवृत्ति विश्रान्त हो जाती है तब व्यंग्यार्थ द्योतन के लिए व्यंजना की आवश्यकता पड़ती है, तो धनिक कहते हैं—

---

१. काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास, पृ० २५८--२६२ ।
२. दशरूपक, ४/३७ ।

"ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं विश्रान्तौ तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ।।"
यावत् कार्यप्रसारित्वातातपर्यं न तुलाधृतम् ।।[1]

अर्थात् तात्पर्य वृत्ति विश्रान्त नहीं होती, अपितु प्रतीयमान अर्थ तक बोध कराती है। दूसरे व्यंजन के स्थान पर तात्पर्यावृत्ति मानते हैं। दोनों में केवल नाम का अन्तर है। इस सम्बन्ध में तर्क यह है कि वाक्यार्थ को प्रतीयमानार्थ से भिन्न मीमांसक तथा तात्पर्यवृत्तिवादी भी मानते हैं। मीमांसकों के सिद्धान्त शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" के अनुसार तात्पर्य शक्ति वाक्यार्थ मात्र का अर्थ बोध कराने के बाद विरत हो जाती है। तब प्रतीयमान अर्थबोध के लिए पृथक् शक्ति को मानना पड़ेगा, चाहे तात्पर्यवृत्ति मानी जाये, चाहे व्यंजना। अतः उसे व्यंजना शक्ति कहना ही अधिक समीचीन होगा।

इस प्रकार आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि आचार्यों ने कुछ साहित्यशास्त्रियों के साथ अन्य नैयायिकों, वैयाकरणों, मीमांसकों तथा वेदान्तियों आदि के व्यंजना विरोधी तर्कों का खंडन किया है और स्वमत की स्थापना की है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज साहित्य में ही नहीं, अपितु अन्य क्षेत्रों में भी व्यंजना वृत्ति समादृत हो रही है।

कहा जा चुका है कि नागेश के अतिरिक्त किसी वैयाकरण ने व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया है किन्तु साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरण को ही व्यंजना का मूल कारण माना है आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुये उसे वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट बताया है—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।"[2]

मम्मट ने भी व्यंजना को ध्वनि रूप मानते हुये वैयाकरणों से समर्थित बताया है—"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपिन्यम्भावित वाच्यव्यंग्य-व्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगतस्य।"[3] अर्थात् वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोटरूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। उसके बाद उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्यों (साहित्यशास्त्रियों) ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करा देने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग आरम्भ कर दिया।

---

१. "एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत् कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।"
(दशरूपक ४/३७ वृत्ति)।

२. ध्वन्यालोक १/१। ३. काव्यप्रकाश १/२।

वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध माना जाता है तथा ध्वनि उस शब्द को कहा गया है जिससे स्फोट अभिव्यंजित होता है। साहित्यशास्त्र में व्यंजक शब्द व्यंजक एवं व्यंग्य अर्थ तथा व्यंजना व्यापार सभी को ध्वनिरूप में माना गया है।[1]

अतः स्पष्ट है कि दोनों के ध्वनि स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं तथापि नाम और कार्य में प्रायः साम्य है। यही कारण है कि साहित्यशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में व्याकरण को उपकारी मान लिया। व्याकरणशास्त्र का स्फोट और ध्वनि-सिद्धान्त वस्तुतः साहित्यशास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त या व्यंजना वृत्ति का पोषक नहीं है, अन्यथा वह स्वयं व्यंजना को स्वीकार क्यों न करता ? इस सम्बन्ध में केवल इतना ही माना जा सकता है कि व्याकरण का उक्त सिद्धान्त ध्वनि या व्यंजना को मानने में प्रेरणा-सूत्र है। डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय ने भी इसी प्रकार की सम्मति दी है।[2] साहित्य-शास्त्रियों की व्यंजनावृत्ति की मान्यता व्याकरण एवं अन्य दर्शन शास्त्रों से पृथक् है, इसमें कोई विवाद नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य शास्त्रों का सम्बन्ध शब्दार्थ शब्द प्रमाण आदि से ही होता है किन्तु साहित्यशास्त्र का सम्बन्ध सहृदय एवं भावुक व्यक्ति से होता है, जिसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। कवि काल्पनिक जगत् का ब्रह्मा होता है। अतः उसके यहाँ व्यंजना वृत्ति के बिना कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता है।

स्वरूप—साहित्यशास्त्र में व्यंजना सामान्य का कोई लक्षण नहीं दिया गया है, व्यंजना भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन व्यंजना को एक विलक्षण व्यापार मानते हैं। व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना व्यापार से होती है—(१) "सर्वथाऽप्रसिद्ध-शब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्य (व्यंग्यस्य अस्ति)"[3] (२) "तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यः नियमेनैवं तावद्विलक्षणं व्यंजकत्वम्।"[4]

वस्तु व्यंग्य के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ के लिए लिखा है कि वस्तु (कथन) की चारुता की प्रतीति के लिए अनभिधेय रूप में जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाये, वह व्यंग्य है। "वस्तु चारुत्व प्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपाद-यितुमिष्यते तद् व्यंग्यम्।[5] व्यंजना के अधीन व्यंग्य (अर्थ) और व्यंग्य के अधीन व्यंजना होती है। अतः उनके अनुसार व्यंजना का लक्षण किया जा सकता है।

वक्ता कभी अभिधेय रूप में अर्थ या प्रयोजन को व्यक्त करना चाहता है और कभी अनभिधेय रूप में, क्योंकि अभिधेय रूप में व्यक्त करने से चमत्कार या वैचित्र्य नष्टपाय हो जाता है। प्रयोजन-प्रतीति को रमणीयता प्रदान करने के लिए वह उसे अनभिधेय ही रखता है। प्रतिभाशाली सहृदय श्रोता वक्ता के अनभिहित आशय को

१. ध्वन्यालोक १/१३।
२. ध्वनि० सि० विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएं, पृ० ४२।
३. ध्वन्यालोक, पृ० २७८। ४. ध्वन्यालोक, पृ० २८६।
५. ध्वन्यालोक, पृ० २६२।

समझ लेता है। ऐसी स्थिति में शब्द का व्यंजना व्यापार ही कारण होता है । अतः वक्ता के अनभिहित अभिप्राय विशेष का प्रत्यायन जिस शब्द-व्यापार से होता है, वही व्यजना व्यापार से होता है, वही व्यंजना व्यापार या व्यंजना शक्ति है। ध्वन्यालोक के अनुसार समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत करते हुये डा० सुरेशचन्द पाण्डेय ने व्यंजना की परिभाषा दी है—"अनभिधेय अभिप्रायविशेष की रमणीय प्रत्यायना जिस शक्ति से होती है, उसे व्यंजनाशक्ति कहते हैं।[1] "गंगायां घोषः में शैत्य पावनत्व की प्रतीति व्यंजना शक्ति से ही होती है।

"उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवतापरम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥"

इस उदाहरण में सखे से शत्रु, उपकृतम् आदि का अर्थबोध जो प्रतिभाशाली व्यक्ति को होता है, वह विपरीत लक्षणा से होता है, किन्तु घोर शत्रुत्वभाव एवं अपकाशातिशय आदि की प्रतीति व्यंजनाशक्ति से होती है।

हेमचन्द सूरि ने व्यंजना के सम्बन्ध में कहा है कि अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को द्योतित करता है, इसी नवीन अर्थ को बताने वाली शक्ति व्यंजना है—

"तच्छ-वत्युपजनितार्थावगमपवित्रित प्रतिवतृ प्रतिमा सहायतार्थद्योतनशक्तिव्यंजकत्वम्।"[2] इस परिभाषा से यह आशय व्यक्त होता है कि अभिधा और सहृदय की प्रतिभा की सहायता से वाक्यार्थ भिन्न एक नवीन अर्थ की उद्भावना होती है, उस अर्थ का उद्भावक व्यापार ही व्यञ्जना है।

व्यञ्जना के प्रमुख संस्थापक आचार्य मम्मट ने सामान्य व्यञ्जना वृत्ति का कोई लक्षण नहीं किया है। व्यञ्जना के विवेचन में उन्होंने सर्वप्रथम लक्षणामूला व्यञ्जना का लक्षण किया है, तदनन्तर अन्य भेदोपभेदों का लक्षण किया है। ऐसा अन्य विद्वान् मानते हैं।[3] मम्मट ने लक्षणा के अवसान में लिखा है—"व्यापारो व्यञ्जनात्मकः" अर्थात् लक्षणा के व्यंगरूप प्रयोजन के विषय में अभिधा और लक्षणा से भिन्न व्यञ्नात्मक व्यापार होता हैं। उनके व्यञ्जना निरूपण प्रसंग के अवलोकन से उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध में यह धारणा बनती है कि अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंग्यार्थरूप प्रयोजन का बोध शब्द की जिस अन्य शक्ति से होता है, शब्द के उस व्यापार को व्यञ्जना व्यापार कहते हैं।[4]

वृत्तिदीपिका में व्यञ्जना की परिभाषा की गयी है—"शक्तिलक्षणाद्यजन्य-

---

१. ध्वनि सि०, विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यतायें, पृ० ७१।
२. काव्यानुशासन, १/२०।
३. ध्वनि० सि०, विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यतायें, पृ० ७० तथा शब्द शक्ति, पृ० १२२।
४. काव्यप्रकाश, पृ० ६६-६० आचार्य विश्वेश्वर टीका।

प्रतीतिजनकः शब्दनिष्ठो व्यापारो व्यञ्जना ।"[1] अर्थात् शक्ति (अभिधा) और लक्षणा से भिन्न अर्थबोधक शब्दनिष्ठ व्यापार व्यञ्जना है ।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि अपना-अपना अर्थबोध कराकर अभिधा और लक्षणा वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिस (व्यापार) से अन्य अर्थ का बोध होता हो वह शब्द तथा अर्थादि (में रहने वाली वृत्ति) व्यञ्जना होती है ।

"विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।"[2]

अस्तु इस सम्बन्ध में जैसा कि कहा जा चुका है कि व्यञ्जना साहित्यिकों की अवश्यमन्तव्य वृत्ति है, उसका सहृदय से अधिक सम्बन्ध है, नैयायिकों ने तो उसे मानस ही माना है । उसके अनुसार उपर्युक्त लक्षणों को दृष्टिगत रखते हुए व्यञ्जना के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि कभी-कभी प्रतिभाशाली वक्ता अपने अभीष्ट (वक्तव्य) अर्थ को साक्षात् शब्द के द्वारा नहीं कहना चाहता, अपितु अकथित रूप में ही व्यक्त करना चाहता है । ऐसा करने का कारण होता है—उक्ति वैचित्र्य या चमत्कार तथा विशेष प्रभावोत्पादकता, क्योंकि साक्षात् शब्दशः कथन से तत्व नष्ट हो जाते हैं । अतः ऐसी स्थिति में अभिधा से भिन्न तथा लक्षणा के प्रयोजनभूत एक श्रेणी और आगे की जो अर्थ प्रतीति होती है वह व्यञ्जना से ही होती है, तदर्थ बोधिका शब्द निष्ठा शक्ति व्यञ्जना शक्ति होती है

भेद-निरूपण—व्यञ्जना शक्ति के दो भेद माने गये हैं—(१) शाब्दी और (२) आर्थी व्यञ्जना ।[3] इनका आधार अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में जहाँ पर किसी शब्द को हटाकर उसका पर्यायवाची रखने से उसका अभीष्ट चमत्कार नष्ट हो जाये, वहाँ पर शाब्दी व्यञ्जना होती है, और यदि नष्ट न होता हो तो आर्थी व्यञ्जना होती है । शाब्दी व्यञ्जना भी दो प्रकार की होती है—

(१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला—"अभिधालक्षणा मूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ।"[4]

लक्षणामूला के लिये मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रयोजन-विशेष की प्रतीति के लिये लाक्षणिक शब्द-प्रयोग (लक्षणा) का आश्रय लिया जाता है, वहाँ अनुमान

---

१. ध्वनि० सि० विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यतायें, पृ० ७० में उद्धृत ।
२. साहित्यदर्पण, २/१२–१३ ।
३. द्रष्टव्य, साहित्यदर्पण २/१२–१३ ।
४. साहित्यदर्पण २/१३ ।

आदि अन्य किसी साधन से नहीं अपितु केवल शब्द से गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं होती। 'गंगायां घोषः' में शैत्य पावनत्व की प्रतीति व्यंजना व्यापार से ही होती है—

"यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैक गम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥"[१]

मम्मट ने अभिधामूला व्यंजना का लक्षण किया है कि अनेकार्थक शब्दों के संयोग-वियोगादि कारणों के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी उस (वाच्य) अर्थ से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-व्यापार को अभिधामूला व्यंजना कहा जाता है। अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण में मम्मट ने निम्न श्लोक दिया है :—

"भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततंकरोऽभूत॥"

इस प्रकार राजपक्षीय अर्थ अभिधा से तथा (द्वितीय) गजपक्षीय अर्थ व्यंजना से बोधित होगा, क्योंकि प्रकरण से अभिधा का नियमन राजपक्ष के अर्थ में हो चुका है और पुनः वह उज्जीवित नहीं हो सकती।[२] यहाँ प्राकरणिक अर्थ राजपक्षीय अर्थ है और अप्राकरणिक गजपक्षीय अर्थ। दोनों में असम्बद्धता निवारणार्थ उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है।

विचार्य है कि मम्मट शाब्दी व्यंजना में शब्द की अनेकार्थकता तो मानते हैं, किन्तु वह अर्थभेद भिन्नता के आधार पर न मानते हुये प्रतीत होते हैं, अर्थात् "अर्थभेदेन शब्दभेद।" के अनुसार दो वाचक शब्दों की कल्पना कर ली जाती है। ऐसा मानने पर अन्य (कल्पित वाचक शब्द) की अभिधा का नियमन न होने के कारण उससे राजपक्षीय अर्थ का बोध हो सकता है, तो वृत्यन्तर (व्यंजना) की क्या आवश्यकता? काव्य-प्रकाश-दर्पण में विश्वनाथ ने इसका खण्डन करके उसी (एक ही) शब्द से वृत्यन्तर की कल्पना को श्रेयस्कर माना है।[३] डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय ने मम्मट के अनुसार वस्तु-ध्वनि के उक्त उदाहरण का खण्डन करके वहाँ अलङ्कार ध्वनि को युक्तिसंगत बताया है और वही आनन्दवर्धनाचार्य के मत में भी है।[४] इस सम्बन्ध में लोचनकार ने मुख्यतः चार मतों का उल्लेख किया है।[५]

१. अनेकार्थक शब्दों के स्थलों में प्राकरणिक अर्थ को देखकर अभिधाशक्ति का

---

१. काव्यप्रकाश २/१४–१५।
२. काव्यप्रकाश पृ० ८०, वामनीटीका।
३. ध्वनि सि०, विरोधी, सम्प्र० : उनकी मान्यतायें, पृ० ८० में उद्धृत।
४. वही, पृ० ८०-८१।
५. लोचन, पृ० २४२-२४३।

नियमन हो जाने पर अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान व्यंजना वृत्ति से होगा किन्तु यह उन्हीं को होगा जिन्हें शब्दों के अनेकार्थों का ज्ञान होगा। द्वितीय अर्थ व्यंजनावृत्ति का विषय होने के कारण व्यंग्य माना जाता है तथा उसका मूल कारण अभिधा शब्द है। अतः अभिधामूला व्यंजना कही जाती है।

प्रथमतः अभिधा प्राकरणिक अर्थ का बोध कराती है, तदनन्तर अर्थ साहचर्य से वह अभिधा व्यंजना व्यापार रूपा हो जाती है।

३. श्लेष के स्थलों में शब्द-द्वय की कल्पना की जाती है अर्थात् प्रकरणादि से अन्यार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर भी जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ अन्य शब्द का अध्याहार व्यंजना द्वारा किया जाता है, यद्यपि वहाँ इस अध्याहृत शब्द से ही अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु उसमें प्रतीयमानता होने के कारण उसे व्यंग्य ही माना जाता है।

४. चतुर्थ मत के अनुसार प्राकरणिक अर्थबोध के बाद अप्राकरणिक अर्थबोधन में अभिधा शक्ति का पुनरुज्जीवन होता है और उसी से अर्थबोध होता है। अतः वह अर्थ भी अभिधेय होता है। ऐसी स्थिति में प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थ में रूपणा (उपमानानोपमेय भाव) की कल्पना की जाती है। यही व्यंजना-व्यापार का विषय है। इस रूपणा के कारण ही इसमें अलङ्कार ध्वनि का व्यवहार होता है। चतुर्थ मत के समर्थक पण्डितराजजगन्नाथ तथा अप्पयदीक्षित हैं। अभिधामूला लक्षणा के सम्बन्ध में जगन्नाथ और आनन्दवर्धन का मत समान है। मम्मट और लोचनकार में तथा उन दोनों से भी वैमत्य है।[१]

मम्मट ने इन दोनों भेदों का उल्लेख नहीं किया है, इसका संकेतमात्र किया है तथा व्याख्याकारों ने इस रूप में व्याख्या भी की है। शाब्दी व्यंजना में भी अर्थ का सहकारित्व रहता है—"अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः।"[२] इसी प्रकार आर्थी व्यंजना में भी शब्द का सहकारित्व रहता है—

"शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥"[३]

पूर्वोक्त आर्थी व्यञ्जना वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टादि वैशिष्ट्य से सहृदयों को प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह आर्थी व्यञ्जना है। इसमें अर्थ की महत्ता विशेष होती है। अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। मम्मट के अनुसार इन सभी अर्थों में व्यञ्जकत्व रहता है—"सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते[४]।" अस्तु, इस आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन भेद किये जा सकते हैं—

---

१. ध्वनि सि० : वि० सं०, उनकी मान्यतायें, पृ० सं० ८४-८५।
२. काव्यप्रकाश २/२०।
३. काव्यप्रकाश ३/२३।
४. काव्यप्रकाश २/७।

१. वाच्यार्थ सम्भवा, २. लक्ष्यार्थ सम्भवा तथा ३. व्यंग्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना।

१. वाच्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना—जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ वाच्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना होती है। यथा—

"मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी॥"

प्रस्तुत उदाहरण में वाच्यार्थ से स्त्री का स्वैर-विहरणं रूप अर्थ व्यंग्य है।

२. लक्ष्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना—जहाँ पर लक्षणा व्यापार से प्रतीत होने वाले लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ लक्ष्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना होती है—

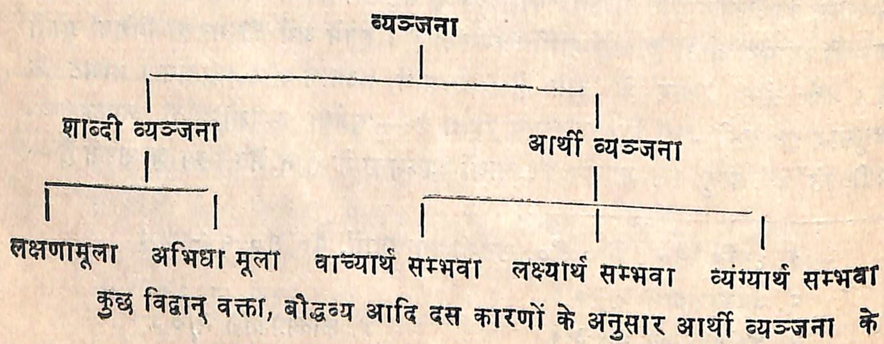
"साधयन्ती सखि ! सुभगं खलु क्षणे-क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भावस्नेह करणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया॥"

यहाँ पर 'मेरे प्रिय के साथ तूने रमण करके शत्रुता का निर्वाह किया है'—यह लक्ष्यार्थ तथा उसके कामुक विषय सापराधत्व का प्रकाशन व्यंग्य है।

३. व्यंग्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना—मुख्यार्थ प्रतीति के प्रकरणादि से व्यंग्यादि की प्रतीति होती है। तदनन्तर उस व्यंग्यार्थ से पुनः एक व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। अतएव वहाँ व्यंग्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना होती है। जैसे—

"पश्य निश्चतनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मल मरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव॥"

यहाँ बलाका के निश्चल होने से उसकी निडरता, आश्वस्तता सूचित होती है और उस व्यंग्यार्थ से जन-शून्यत्व रूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है। इस व्यंग्यार्थ से पुनः एक व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है कि नायिका नायक से उस निर्दिष्ट स्थान पर उसके न आने पर झूठ बोलने का अपराध लगाती है। उसका आशय है कि तुम यहाँ नहीं आये थे अन्यथा यह बलाका निश्चल नहीं रह सकती थी। इस अर्थ की सूचना व्यंग्यार्थ से ही होती है। अतः वह व्यंग्यार्थ सम्भवा व्यञ्जना है। इनका वर्णन काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में किया गया है। इस प्रकार व्यञ्जना भेदों को निम्न प्रकार से चित्रित किया जा सकता है :—



कुछ विद्वान् वक्ता, बोद्धव्य आदि दस कारणों के अनुसार आर्थी व्यञ्जना के

१० भेद भी मानते हैं, किन्तु ये व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कारण हैं। कभी-कभी इनमें से अनेक भी कारण हो सकते हैं। अतः केवल इनके आधार पर ही भेद करना उचित प्रतीत होता है।

तात्पर्य-वृत्ति

वृत्ति के प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के अतिरिक्त तात्पर्य-वृत्ति का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में तात्पर्याख्या शक्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है—"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।" अर्थात् वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ के अतिरिक्त कुछ आचार्य तात्पर्यार्थ भी मानते हैं। यह तात्पर्यार्थ मानने वाले आचार्य मीमांसक कुमारिल भट्ट हैं।

यहाँ अवधेय है कि तात्पर्य रूप अर्थ पद का नहीं, अपितु वाक्य का होता है। जैसा कि व्यञ्जना के विवेचन में पीछे उसे भी वाक्यशक्ति के रूप में मानना समीचीन बताया गया है। अतएव व्यंग्य अर्थ के बाद विवादयुक्त तात्पर्य रूप अर्थ का भी संकेत मम्मट ने कर दिया है। मीमांसक व्यञ्जना शक्ति को नहीं मानते हैं। कुछ मीमांसकों के अनुसार वह व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थरूप ही होता है तथा अन्य के अनुसार वाच्यार्थ पदार्थ ही होता है।

कुमारिल भट्ट स्फोट सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि दीपक के प्रकाश से घट के प्रकाशित होने के ही समान वर्ण या ध्वनियाँ पद या वाक्य के स्फोट को व्यञ्जित नहीं करते हैं। इस प्रकार उनमें व्यञ्जकत्व नहीं होता—

"वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीप प्रभादयः॥"[1]

धनिक एवं धनञ्जय भी तात्पर्य शक्तिवादी हैं उनके अनुसार व्यञ्जना का अन्तर्भाव तात्पर्या शक्ति में हो जाता है। काव्य में विभावादि के प्रतिपादन द्वारा तात्पर्यशक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवसित होती है तथा तात्पर्यशक्ति की अतिरेकी कोई व्यञ्जनाशक्ति नहीं है।[2] इसके अन्तर्भाव प्रक्रिया का निर्देश व्यञ्जना सिद्धि के प्रकरण में किया जा चुका है।

मीमांसा शास्त्र के दो प्रमुख आचार्यों, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र के वाक्यार्थज्ञान के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। सम्भवतः इन गुरु-शिष्य दोनों के द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का आधार शाबर भाष्य का निम्नलिखित श्लोक होगा—

"पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्त व्यापाराणि।
अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति॥"

---

१. श्लोक वार्तिक स्फोट १३१, मद्रास संस्करण।

२. दशरूपक पृ० २८४ काव्यनिर्णय १/१ व्यञ्जना सिद्धि और परम्परा में उद्धृत, पृ० ६१।

१. अभिहितान्वयवाद—कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी पार्थसारथी मिश्र आदि अभिहितान्वयवादी हैं। इनके अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद से पहले वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है। तदनन्तर ज्ञातार्थक सभी पदों का वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के द्वारा परस्पर अन्वय होता है। ततः अन्वित पदार्थों के समन्वय से जिस वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, वह वाक्यार्थ पदार्थ से अतिरिक्त अर्थाभिधायी विशेष वपु वाला तात्पर्यार्थ रूप होता हैं। इस तात्पर्यार्थ का जिस शक्ति से बोध होता है, यही शक्ति तात्पर्या शक्ति है। इस प्रकार वाच्यार्थ बोध की तीन श्रेणियाँ हुईं—

(क) अभिधाशक्ति पदार्थों की पृथक्-पृथक् उपस्थिति,

(ख) आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से उन पदार्थों का परस्पर अन्वय—

(ग) तथा वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका (पदसमूह का) वाक्यार्थबोध, जो तात्पर्यार्थ होता है।

इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के अनुसार एक प्रकार से तात्पर्या शक्ति मानी जाती है।

२. अन्विताभिधानवाद—कुमारिल के शिष्य प्रभाकर मिश्र एवं उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवाद मानते हैं। यह 'गुरुमत' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अनुसार अपने-अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य है। पदार्थ ही आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वश परस्पर संसृष्ट होकर वाच्यार्थ हैं—पदानि एवं स्वं स्वमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यम्। पदार्था एवं आकांक्षा योग्यता सन्निधिवशात् पर परं संसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः"[1] वाच्य एव वाक्यार्थः इत्यन्यिताभिधानवादिनः।"[2] इनके[3] अनुसार अन्वित पदों की ही उपस्थिति होती हैं। अतः वाक्यार्थ भी पदार्थ रूप ही है, उससे भिन्न नहीं। अतः तात्पर्या शक्ति की कोई आवश्यकता इस मत में नहीं होती।

अस्तु, तात्पर्या शक्ति मीमांसकों के एक वर्ग द्वारा स्वीकृत शक्ति है। अन्य वर्ग (गुरु मत) के अनुयायियों द्वारा भी इसकी स्वीकृति तथा नैयायिक वैयाकरण एवं शाहित्यशास्त्रियों द्वारा भी इनकी मान्यता नहीं है। दूसरी बात यह है कि वाक्यार्थ ज्ञान का एक साधन मात्र है। अतः शब्द शक्तियों में इसका विशेष स्थान स्वीकृत नहीं है। मम्मट ने भी निर्दिष्ट स्थल में अरुचि प्रदर्शित की है।

सम्बन्ध नित्यत्व विमर्श—

सम्बन्ध प्रकरण में सम्बन्ध स्वरूप एवं उसके प्रकार पर विचार किया जा

---

१. महाभाष्य प्रदीप, १/२/४५। २. काव्यप्रकाश २/७।

३. काव्यप्रकाश, २/६ वृत्ति।

(आकांक्षा योग्यतासन्निधि वशादवक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।)

चुका है और सिद्ध किया गया है कि शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। शब्द-विमर्श एवं अर्थ-विमर्श प्रकरण में शब्द और अर्थ की नित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। शब्द नित्यता के सम्बन्ध में वैमत्य है। नैयायिक वैशेषिक आदि दार्शनिक शब्द को अनित्य मानते हैं। शब्द-नित्यत्व-सिद्धान्त मुख्यतः वैयाकरणों का है। अतएव उन्होंने शब्द-नित्यत्व को तर्कपूर्ण युक्तियों से स्थापित किया है। शब्दनित्यत्ववादी जब शब्द को ही अनित्य मानते हैं तो उनके अनुसार सम्बन्धनित्यता का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु नित्यवादियों के अनुसार शब्द अर्थ की नित्यता के साथ ही सम्बन्ध की भी नित्यता स्वीकृत है। नित्य शब्द और अर्थ का तादात्म्य या योग्यता सम्बन्ध मान लेने पर अन्वय-व्यतिरेक प्रक्रिया से सम्बन्ध की भी नित्यता सिद्ध हो जाती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुये लिखा है—"सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति"।[1] अर्थात् शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

अर्थ सदा ही भावना के रूप में शब्द सहवर्ती होता है। उसी भावना के कारण शब्द अर्थवान् होता है। किसी विशिष्ट शब्द का किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग लोक से निर्धारित होता है, किन्तु इससे शब्द और अर्थ के सह-अस्तित्व को बल मिलता है। शब्द और अर्थ मूलतः अविभाज्य तत्व है। यदि ऐसा न हो तो किसी शब्द का किसी अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता। कात्यायन के—"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते'[2] इस कथन में यही मूल धारणा अन्तर्निहित है। अर्थज्ञान के लिये शब्द का प्रयोग होता है और शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ का यह अन्योन्याश्रय भाव भी शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता को पुष्ट करता है। इसी हेतु भाष्यकार ने लिखा है—"नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः"[3] अर्थवान् (शब्द) का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है।

"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" कात्यायन का यह वार्तिक जिस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, वह प्रश्न है कि क्या पाणिनि आदि आचार्य शब्दार्थ सम्बन्ध के कर्त्ता थे या स्मर्ता? उसी आशय से उत्तर दिया गया है कि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के नित्य होने से पाणिनि आदि स्मार्ता थे। दूसरी बात यहाँ पर यह भी अवधेय है कि द्रव्य और नित्यता और आकृति नित्यता को उदाहरणपूर्वक सिद्ध करके उससे शब्द (ब्रह्म) की नित्यता सिद्ध की गई है। यह द्रव्य और आकृति ब्रह्म और जगत् रूप हैं। केवल एक में दूसरे का आरोप है। अतएव एक के बिना दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं। शब्दतत्व एक ही है। वहाँ शब्द द्विविध रूपात्मक है—एक है शब्द और दूसरा अर्थ है। भर्तृहरि के अनुसार एक ही शब्द रूप आत्मा के शब्द और अर्थ–ये दो

१. महाभाष्य पश्प० ३८ मो० ला० प्र० वाराणसी १९६७।
२. महाभाष्य पश्प०, पृ० ३८, ४५ वही।
३. महाभाष्य पश्प० पृ० ४९ वही।

भेद हैं।[१] अतः इनमें भेद प्रतीति ही मिथ्या है किन्तु व्यावहारिक दशा में उनमें भेद मान लेने पर भी उनके सम्बन्ध नित्यता का अपलाप कैसे किया जा सकता है ?

पाणिनि ने 'अदर्शनं लोपः' सूत्र से शब्द नित्यत्व की भावना व्यक्त करते हुये 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ गुणः' आदि सूत्रों से शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध सूचित किया है।[२] इसी आशय की पुष्टि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में की है—

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्रणामनुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥"[३]

अर्थात् सूत्रकार, भाष्यकार वार्तिककार आदि महर्षियों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य प्रतिपादित किया है।

शब्द और अर्थ के इतरेतरार्थरूप से प्रेरित होकर ही संग्रहकार व्याडि ने उनके सम्बन्ध को स्वाभाविक तथा अकृत्रिम माना है। शब्द और अर्थ की स्थिति लोक तथा वेद में समान रूप से स्वतः सिद्ध होने के कारण (शब्दार्थ) सम्बन्ध कृतक कैसे हो सकता है ?[४] शब्द और अर्थ की इसी स्वाभाविक एकात्मक स्थिति को देखते हुये भर्तृहरि ने शब्द और शब्दार्थ सम्बन्ध की परिकल्पना को व्यर्थ माना है—[५]

"सम्बन्धस्या विशिष्टत्वान्न चात्रनियमो भवेत्।
तस्माच्छब्दार्थयोर्नैव सम्बन्धः परिकल्पते॥"

तान्त्रिकों के अनुसार भी जब शब्द तथा अर्थ दोनों का कारण परात्मक शब्द ब्रह्म ही है, तो कृतक सम्बन्ध या असम्बन्ध की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?[६] शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध के कारण ही शब्द से दृष्ट एवं अदृष्ट निमित्तक स्वाभाविक संस्कार किये जाते हैं। अर्थात् तन्त्र के अनुसार विषापहरण तथा वशीकरण आदि मन्त्रों की सामर्थ्य सम्बन्ध की नित्यता के ही कारण है। यदि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य न हो तो मन्त्रों (बीजाक्षरों) के रूप से दृष्टादृष्ट की प्रतीति नहीं हो सकती—

"शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्टप्रयोजनम्।
क्रियते सोऽभिसम्बन्धमन्तरेण कथं भवेत्॥"[७]

अतएव योग वाचस्पत्य में कहा गया है—"सर्वे च शब्दा सर्वार्थाभिधान-

---

१. वाक्यपदीय २/३१। २. वाक्यपदीय १/२३, गोरक्षनाथी टीका।
३. वाक्यपदीय, १/२३।
४, संग्रह श्लोक, भा० त० और वा० प०; पृ० १७३ में उद्धृत।
५. वाक्यपदीय ३/३/१५।
६. ल० मंजूषा, रत्नप्रभा टीका, पृ० ४३।
७. वाक्यपदीय, व्या० द० और अर्थविज्ञान में उधृत।

समर्थाः।"[1] अर्थात् सभी शब्दों का सभी अर्थों के साथ स्वाभाविक (नित्य) सम्बन्ध है, संकेत या ईश्वरेच्छा तो मात्र उसके प्रकाशक हैं। जैसे—बहुत बड़े भण्डार में पर्याप्त सामग्री रखी हुई हो और दृष्टा दीपक लेकर एक-एक वस्तु को देखता जाता है, यद्यपि उस दृष्टा में सभी वस्तुओं के देखने तथा दीपक में प्रकाशित करने की शक्ति है, किन्तु अभीष्ट वस्तु का ही दर्शन करता है। उसी प्रकार सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होने पर संकेत (या लोक व्यवहार) के कारण विशिष्ट शब्द विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है, किन्तु शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वैसे ही नित्य रहता है। जैसे—प्रकाश्य और प्रकाशक। शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध होने पर भी माता-पिता आदि के सम्बन्धों के समान ही इसका भी ज्ञान संकेत से होता है, अर्थात् ज्ञान उस नित्य सम्बन्ध का ज्ञापक होता है, उत्पादक नहीं—

"एतच्च स्थितोऽस्य वाचकस्य वाच्येन सह सम्बन्धः संकेतस्तूक्तरूप ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति यथावस्थितः पिता-पुत्रयोः सम्बन्धः संकेते नावद्योत्येते अयमस्य पिता "अयमस्य पुत्रः" इत्यादिना।"[2] भतृहरि ने भी इसकी पुष्टि की है।[3]

सम्बन्ध नित्यता के सम्बन्ध में नागेश ने लिखा है सृष्टि के प्रारम्भ से ही शब्दार्थ सम्बन्ध की व्यवहृति लोक-व्यवहार में मान्य है। इस व्यवहारिक नित्यता के कारण ही सम्बन्ध को नित्य माना जाता है—"नित्यत्वे तु यावत्सृष्टिस्थित्या व्यवहार नित्यतया च बोध्यम्।"[4] श्रुतिवचन का प्रामाण्य देते हुये नागेश लिखते हैं—कि शब्दतत्व एक तथा सूक्ष्म हैं, तात्विक रूप में यह अर्थ से भिन्न नहीं किया जा सकता। हृदयस्थ शब्दतत्व ही नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है—

"सूक्ष्मामर्थेनापविभक्ततत्वाम् एकां वाचमभिष्यन्दमाना।
तामन्ये विन्दुरन्यामिव च, नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्।।"[5]

अतएव छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—"नानारूपे व्याकरवाणि"[6] व्यावहारिक नित्यता का उपपादन करते हुये कैयट ने भी लिखा है—सम्बन्धस्यापि व्यवहार परम्परयानादित्वान्नित्यता।" अनादि व्यवहार परम्परा के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। उद्योतकार ने भी उसका समर्थन किया है।[7] जिस प्रकार इन्द्रियों में स्वविषय प्रकाशन की योग्यता अनादि है उसी प्रकार शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी अनादि है—

"इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।"[8]

---

१. ल० मंजूषा, पृ० ४१ में उद्धृत।
२. ल० मंजूषा, पृ० ३४।
३. वाक्यपदीय, ३/३/३१।
४. ल० मंजूषा, पृ० ४१।
५. लघु मञ्जूषा पृ० ४१ में उद्धृत।
६. छान्दो० उप० ६/३/२।
७. म० भा० पस्प०, प्रदीपोद्योत।
८. वाक्यपदीय ३/३/२९।

शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता के कारण अग्न्यादि शब्दोच्चारण से मुखदाहादि का प्रश्न नहीं उठता। प्रयोक्ता के द्वारा उच्चरित शब्द, उसका अर्थ और तदध्यासित बाह्य रूप से पृथक्-पृथक् हैं। इनमें शब्द और अर्थ दोनों ही मानस हैं तथा बाह्य वस्तु भिन्न देशस्थ है, उसमें केवल अध्यासमात्र होता है।[1]

अतएव नागेश ने शब्द का बाह्य वस्तु के साथ इतरेतराध्यास रूप सम्बन्ध माना है।[2] इस प्रकार पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा नागेश आदि वैयाकरण 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' के अनुरूप शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य एवं स्वाभाविक मानते हैं। यावत् सृष्टि सह-सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से अवस्थित रहता है।

शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता के विषय में दो बातें विचारणीय हैं--एक तो यह कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है अथवा नहीं और दूसरे यह कि सम्बन्ध-नित्यता का स्वरूप क्या है?

शब्दार्थ सम्बन्ध के विचार प्रसंग में दो दृष्टिकोण सामने आते हैं। एक व्यावहारिक दृष्टिकोण जो विशुद्ध रूप से भाषावैज्ञानिक है और दूसरा तात्विक दृष्टिकोण जो दार्शनिक है। लोक-व्यवहार में प्रयुज्यमाण भाषा में शब्द के अर्थ परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं संकुचित होते रहते हैं तथा अनेकानेक भाषाओं में एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इसी कारण भाषाविज्ञान में भाषा की परिवर्तनशीलता तथा शब्दार्थ की परिवर्तनशीलता आदि सिद्धान्त भाषावैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। इन परिस्थितियों में शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता किसी तार्किक विद्वान् के द्वारा कैसे स्वीकार की जा सकती है। यदि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य तथा स्वाभाविक होता तो न तो भाषा परिवर्तित होती, न अन्यान्य भाषाओं में अन्यान्य शब्दार्थ होता और न ही शब्दार्थ में कभी कोई अन्तर आता अर्थात् भाषा, देश और काल के परिच्छेद से परिच्छिन्न न होती। सम्भवतः इसी आशय से नैयायिकों आदि ने सम्बन्ध की नित्यता को स्वीकार नहीं किया है और आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी इस ओर विशेष रुचि नहीं प्रदर्शित कर रहे है। अस्तु, इस सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि शब्द-विशेष के साथ अर्थ-विशेष का सम्बन्ध नित्य नहीं है।

इस विषय का दार्शनिक दृष्ट्या (सूक्ष्म दृष्ट्या) विचार किया जाये तो शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। भारतीय मनीषियों ने भाषाशास्त्र के इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर अत्यन्त गवेषणात्मक विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंन केवल संस्कृत भाषा को ही लक्ष्य करके नहीं, अपितु सम्पूर्ण भाषाओं को एक भाषात्मक इकाई के रूप में शब्द-तत्व को देखा है। विश्व की किसी भी भाषा

---

१. वाक्यपदीय ३/३/१।

२. मन्जूषा, पृ० ३४।

के शब्द का प्रयोजन अर्थावबोध कराना होता है, सभी शब्दों से अव्यभिचरित रूप से अर्थ का बोध होता है तथा अर्थ-ज्ञान का उत्कृष्टतम साधन शब्द ही है। भाषा का विकास कब हुआ ? किन परिस्थितियों में हुआ तथा किसके द्वारा हुआ। भाषा-विज्ञान के सामने आज भी ये प्रश्न असमाधित हैं। इसीलिये संस्कृत भाषाशास्त्रियों ने इसको अनादि तथा ईश्वरेच्छाकृत माना है और इसमें किसी विद्वान् को विप्रतिपत्ति का अवकाश भी नहीं है। अतः अनादि रूप से संसृज्यमाण जगत् में भाषा को भी अनादि मानकर शब्द का अर्थ के साथ अनादि तथा नित्य सम्बन्ध मानना असंगत नहीं है। दूसरे शब्दों में जब से मनुष्य को भाषा का रूप साधन की उपलब्धि हुई है, तब से शब्द अर्थ का बोध होता आ रहा है और जब तक यह साधन रहेगा तब तक शब्द से अर्थ का बोध होता रहेगा। अतः शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्यत्व का खण्डन कैसे किया जा सकता है ? यह अवश्य है कि जैसा ऊपर कहा गया है—शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष के साथ नहीं अपितु सामान्य शब्द का सामान्य अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध वैयाकरणों ने माना है—"सर्वे सर्वार्थवाचकाः" के आधार पर सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे की मान्यता स्थिर होती है।[1]

'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' की व्याख्या करते हुये नागेश और कैयट ने इसी व्यवहार नित्यता की ओर निर्देश किया है[2] तथा भर्तृहरि ने भी शब्द का अर्थ के साथ अनादि सम्बन्ध माना है।[3] शब्द की सर्वार्थवाचकता के आधार पर ही नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है, अन्यथा जब भाष्यकार स्वयं लोकानुसार शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति मानते हैं तो सम्बन्ध नित्यता कैसे संभव थी ?

लोक-व्यवहार या संकेत के द्वारा उसी नित्य सम्बन्ध का प्रकाशन होता है। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' भाषाविज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म विचार है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का वाचक हो सकता है। दूसरी ओर जो प्रतिभाशाली व्यक्ति जितनी अधिक भाषा जानता है, उसकी दृष्टि में शब्द उतने ही अर्थों के वाचक होते हैं, जबकि साधारण व्यक्ति एक शब्द का एक अर्थ जानता है। यदि ऐसा न होता तो लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की स्थिति भी कैसे होती ? साधारण व्यक्तियों के सर्वार्थवाचकता का नियम चरितार्थ न होने के कारण संकेत या लोक-व्यवहार परम्परा है। अस्तु, मूल रूप में शब्दतत्व वाचक है और अर्थतत्व वाच्य है। शब्द और अर्थ का यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध नित्य है, शाश्वत है। इसी आधार पर शब्द अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना गया है। सम्बन्ध की यह नित्यता व्यावहारिक या धारावाहिक नित्यता है। अतएव आधुनिक भाषावैज्ञानिक डा० ब्रोनिस्लाव

---

१. महाभाष्य पश्प, पृ० ३८ बम्बई प्रकाशन।

२. महाभाष्य पश्प०, पृ० ३८ प्रदीपोद्योत।

३. वाक्यपदीय ३/३/२६।

४. महाभाष्य पश्प०, ४५ बम्बई प्रकाशन।

भालिनोस्की का मत है कि भाषा-तत्व सम्बन्धी विवेचन और संस्कृति, जिससे भाषा का सम्बन्ध है, के विश्लेषण में दोनों जो अभिन्न सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है, यह विश्वसनीय रूप में इस बात को प्रकट करता है कि शब्द और अर्थ दोनों में से एक भी एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता है ।[1]

एतावता वैयाकरणों के अनुसार शब्द अर्थ का सम्बन्ध नित्य तथा स्वाभाविक है । उनके अनुसार शब्द और अर्थ—ये दोनों एक ही आत्मा के दो भेद हैं, यही नाम रूप जगत् हैं तथा इनके मूल में जो त्रैकालिक सत्ता है, वही शब्दार्थ सम्बन्ध है । वह नित्य एवं सत्य है । अतएव भाष्यकार ने कहा है—[2]

"एकः शब्दः सम्यद् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति ।"

———



१. अ० वि० और व्या० द०, पृ० २०१ में उद्धृत ।

२. महाभाष्य पश्प०, ६/१/८४ ।

संदर्भित ग्रन्थ-तालिका

ग्रन्थ	संकेताक्षार	अनुवादक/प्रकाशक
१. ऋग्वेद		अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस
२. यजुर्वेद		" " "
३. ऋग्वेद सायण भाष्य		" " "
४. ऐतेरेय ब्राह्मण	ऐ० ब्रा०	" " "
५. शतपथ ब्राह्मण	श० ब्रा०	आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, बाम्बे।
६. गोपथ ब्राह्मण	गो० ब्रा०	" " "
७. बृहदारण्यक	बृहदा०	" " "
८. छान्दोग्योपनिषद्	छां० उप०	सं०, श्रीराम शर्मा, आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब-(वेदनगर) बरेली उ०प्र०
९. तैत्तिरीयोपनिषद्	तै० उ०	" "
१०. मैत्रायण्युपनिषद्	मै० उ०	" "
११. मुण्डकोपनिषद	मु० उप०	" "
१२. बृहदारण्यकोपनिषद्	बृह०	" "
१३. ऋग्वेद प्रातिशाख्य	ऋग्वेद प्राति०	मैकडानल
१४. शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य	शु० यजु० प्राति०	"
१५. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	तैत्ति० प्राति०	सं० राजेन्द्र लाल मिश्र, एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, १८७२।
१६. वाजसनेयि प्रातिशाख्य	वाज० प्राति०	सं० वेंकटराम शर्मा, मद्रपुरी विश्वविद्यालय, १९३४।
१७. ऋक् तन्त्र, शाकटायन		नोट्स मैकडानल
१८. बृहद्देवता-शौनक	बृहद्देवता	सं० चार्ल्स राकवेल लेमन—हर्वर्ड यूनिवर्सिटी, १९०४।
१९. निरुक्त और निघंटु	हिन्दी टीका-सत्यभूषण योगी	मोतीलाल-बनारसीदास, बनारस।
२०. महाभाष्य नवाह्निक-पतंजलि	म० भाष्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५४।

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
२१. महाभाष्य (प्रथम भाग)	म० भाष्य	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७।
२२. महाभाष्य (द्वितीय भाग) —पतञ्जलि	म० भाष्य	,, ,,
२३. महाभाष्य (तृतीय भाग) —पतञ्जलि		,, ,,
२४. वाक्यपदीय भर्तृहरि, ब्रह्मकाण्ड, गोरक्षनाथी, टीका,	वा० प०	गोरक्ष ग्रन्थमाला अष्ट विशंपुण्यम्।
२५. वाक्यपदीय भर्तृहरि, पदकाण्ड, अम्बाकर्त्री टीका	वा० प०	वा० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८।
२६. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, हेलराज एवं पुण्यराज टीका	वा० प०	वा० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९०५।
२७. वाक्यपदीय हेलराज सहित		ब्रजभूषणदास एण्ड क०, बनारस।
२८. वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजूषा, नागेश	ल० मंजूषा	चौ० सं० सीरीज आफिस, बनारस, १९७३।
२९. अष्टाध्यायी पाणिनि, रत्नप्रभा टीका सहित	बा० सू०	,,
३०. सिद्धान्त कौमुदी, (तत्वबोधिनी टीका सहित)	सि० कौ०	भट्टोजिदीक्षित ,,
३१. काशिका		जयादित्य-वामन। ,,
३२. स्फोट दर्शन	स्फो० द०	रंग पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।
३३. वैयाकरण भूषणसार–दर्पणकार (टीका सहित)	वै० भू० सा०	चौ० बनारस, कौण्ड भट्ट।
३४. महाभाष्य टीका (भर्तृहरि कृत)	म० भाष्य टी०	हिन्दू विश्वविद्यालय नैपाल राज्य, नैपाल राज्य संस्कृत-ग्रन्थ माला, वाराणसी।
३५. व्युत्पत्तिवाद (गदाधर भट्ट)	व्यु० वा०	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् १९७०।
३६. पाणिनीय शिक्षा (पाणिनि)	पा० शि०	
३७. आपिशलि शिक्षा सूत्र (आपिशलि)	आ० शि०	

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
३८. याज्ञवल्कीय शिक्षा (याज्ञवल्क्य)	याज्ञ० शि०	
३९. पदमंजरी, हरिदत्त		
४०. संस्कृत व्याकरणदर्शन (डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी)	सं० व्या० द०	राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७२।
४१. चित्र निबन्धावलि (पं० रघुनाथ शर्मा)	चित्र० नि०	वा० सं० वि० वाराणसी, १९६४।
४२. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन (डॉ० कपिलदेव द्विवेदी)	अ० वि० और व्या० द०	हिन्दुस्तान एकेडेमी, उत्तर-प्रदेश इलाबाद।
४३. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १ (युधिष्ठिर मीमांसक)	सं० व्या० शा० का इतिहास	सोनीपत हरियाणा, सं० २०३०।
४४. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २	,, ,,	
४५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग ३		
४६. भाषातत्व और वाक्यपदीय (डॉ० सत्यकामवर्मा)	भा० त० और वा० प०	भारतीय प्रकाशन, दिल्ली, १९६८।
४७. व्याकरणदर्शन भूमिका (प० रामाज्ञा पाण्डे)	व्या० द० भू०	राजकीय सं० पुस्तकालय, सरस्वती भण्डार, काशी १९५४।
४८. शब्दार्थ सम्बन्धशोध प्रबन्ध (डॉ० नरदेव शास्त्री)		वा० सं० वि०वि० वाराणसी
४९. पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा (डॉ० रामप्रसाद मिश्र)	शोध प्रबन्ध	संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
५०. न्याय भाष्य वात्स्यायन (डॉ रामप्रसाद मिश्र)		चौ० प्रकाशन, वाराणसी, १९२५।
५१. न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य-सहित हिन्दी टीका) (स्वामी द्वारिकादास)	न्याय० द०	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।
५२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (विश्वनाथ पंचानन)	न्या० सि० मु०	सरयूदेवी गनेशमुहाल, वाराणसी, १९६०।
५३. शक्तिवाद (गदाधर भट्ट)		

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
५४. तन्त्रालोक, (अभिनवगुप्त)		दि रिसर्च डिपार्टमेन्ट, जम्मू कश्मीर स्टेट, श्रीनगर।
५५. अभिधावृत्ति मातृका (शुकुल भट्ट)	अभि० वृ० मा०	
५६. न्याय विनिश्चय, विवरण टीका (भट्ट कलंकदेव)	न्या० वि० नि०	भारतीय ज्ञान विद्यापीठ,
५७. प्रपंचसारतन्त्र (शंकराचार्य)	प्रपंच सार०	
५८. पदार्थादर्श शारदा तिलक तन्त्र-टीका (राघव भट्ट)	पर्दार्था०	
५९. शिव दृष्टि (सोमानन्द पाद)		
६०. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति-विमर्श (अभिनवगुप्त)	ई० प्र० वि०विम०	
६१. उत्पलवृत्ति (शिव दृष्टि वृत्ति) उत्पलाचार्य	उत्प० वृ०	
६२. तत्व संग्रह शांतरक्षित भाग १		बौद्ध भारती ग्रन्थ माला।
६३. मंत्र महाविज्ञाम डॉ० चमनलाल गौतम	मं० म० वि०	संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब देवनगर, बरेली।
६४. मानमेयोदय	मा० मे०	अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९३३।
६५. अभिधर्मदीप	अभि० दी०	काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५९।
६६. शास्त्रदीपिका तर्कपाद	शा० दी०	विद्याविलास प्रेस, काशी, १९६४।
६७. मीमांसा दर्शन जैमिनी	मी० द०	चौखम्बा सं० सीरीज, बनारस।
६८. प्रमेय कमल मार्तण्ड प्रभाचन्द्र	प्र० क० मा०	
६९. न्यायमञ्जरी जयन्त भट्ट	न्या० म०	
७०. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका वाचस्पति मिश्र	न्या० वा०	
७१. तन्त्रवार्तिक, कुमारिल भट्ट	तन्त्र वा०	
७२. शाबर भाष्य, मीमांसा दर्शन शाबराचार्य	शा० भा०	

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
७३. अपोहसिद्धि, रत्नकीर्ति	अपो० सि०	
७४. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य शंकराचार्य	ब्र० सू० शां० भा०	गोविन्द मठ, वाराणसी।
७५. न्याय सिद्धाञ्जन वेदान्ददेशिक कृत	न्या० सि०	गंगानाथ झा, ग्रन्थमाला २
७६. तर्कभाषा टीका बदरीनाथ शुक्ल	त० भा०	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६२
७७. सांख्यतत्वकौमुदी टीका आद्याप्रसाद मिश्र	सां० त० कौ०	
७८. पद वाक्य रत्नाकर गदाधर भट्ट	प० वा० रत्नाकर	वा० सं० वि० वि०, वाराणसी
७९. न्यायमते शाब्द बोध विमर्श डॉ० बदरीनाथ सिंह	शोध प्रबन्ध	
८०. वैदिक सम्पत्ति पं० रघुनाथ शर्मा	वै० सम्प०	बम्बई प्रकाशन।
८१. मीमांसा श्लोक वार्तिक कुमारिल भट्ट	मी० श्लो० वा०	चौखम्बा सं० सीरीज, बनारस
८२. योगदर्शन, पतञ्जलिकृत	यो० द०	
८३. मत्र और मातृकाओं का रहस्य, डॉ० शिवशंकर अवस्थी		चौखम्बा वाराणसी, १९६६।
८४. वेदान्त परिभाषा		ज्ञानसत्र प्रकाशन, नर्मदापुरम।
८५. भाषा रहस्य, श्यामसुन्दर		इंडियन प्रेस, प्रयाग। प्रथम संवत।
८६. संस्कृत भाषा, बरो		अनु० भोलाशंकर व्यास, चौ० १९६५।
८७. अक्षर विज्ञान, आर० एम० शर्मा		कच्छकेसलसेण्डहर्स, बम्बई, १९३८।
८८. भाषाविज्ञान पर भाषण— मैक्समूलर		हिन्दी समिति, उ० प्र०, लखनऊ
८९. टवाग् विज्ञान, सीताराम चतुर्वेदी		चौ० प्रकाशन, १९६९।
९०. भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका डॉ० भोलानाथ तिवारी		प्र० नेशनल प० हाउस, दिल्ली, १९७२।

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
९१. भाषा, जो० वान्द्रियँज, अनु० जगवंशकिशोर		प्र० हिन्दी समिति, लखनऊ।
९२. प्रतिभादर्शन, हरिशंकर जोशी	प्रतिभा द०	चौ० विद्याभवन, १९६४।
९३. भाषा ब्लूम फील्ड, अनु० डॉ० विश्वनाथ		प्र० मोतीलाल बनारसीदास, १९६८।
९४. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान, जोनलियोन्स, अनु० डॉ० सत्यकाम वर्मा	सै० भा० वि०,	प्र० मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९७२।
९५. भाषाशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश, राजेन्द्र द्विवेदी		दिल्ली १९६३।
९६. भाषाविज्ञान, मैक्समूलर हिन्दी अनुवाद		आत्माराम एण्ड सन्स, हिन्दी समिति, लखनऊ।
९७. दि फिलासफी आफ वर्ल्ड एण्ड मीनिंग, डॉ० गौरीनाथ शास्त्री		कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सीरीज, कलकत्ता १९५९।
९८. दि प्राब्लेम आफ मीनिंग इन इंडियन फिलासफी, डॉ० आर० सी० पाण्डेय,		मोतीलाल बनारसीदास बनारस १९६३।
९९. डिक्शनरी आफ लिंग्विस्टिक्स		
१००. ध्वनि विज्ञान, ललितकिशोर सिंह		चौ० प्रकाशन वाराणसी।
१०१. लैंग्वेज एण्ड मिथ, ऐयरनेस्ट कैसिसर, अनु० एस० के० लैंगर		डोबर पब्लिकेशन, १९४६।
१०२. काव्यालंकार भामह		बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।
१०३. काव्यप्रकाश, वामनी टीका	का० प्र०	भण्डारकर प्राच्य विद्या मंदिर पूना १९२१।
१०४. काव्यप्रकाश आ० विश्वेश्वर	का० प्र०	ज्ञानमंडल प्रकाशन, वाराणसी।
१०५. ध्वन्यालोकलोचन सहित		चौ० स० बनारस १९४०।
१०६. शब्दशक्ति, डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल		रोशनलाल सेन एण्ड सन्स, जयपुर १९७०।

ग्रन्थ	संकेताक्षर	अनुवादक/प्रकाशक/संपादक
१०७. शब्दशक्ति और ध्वनिसिद्धान्त डॉ० सत्यदेव चौधरी		अलंकार प्रकाशन दिल्ली ।
१०८. ध्वनि सम्प्रदाय, विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएँ डॉ० सुरेशचन्द्र		
१०९. व्यंजना सिद्धि और परम्परा डॉ० के० के० शर्मा		
११०· दशरूपक धनिक कृत टीका सहित धनञ्जय		चौ० प्रकाशन वाराणसी ।
१११. पत्रिकाएँ		
११२. सरस्वती सुषमा, सप्तदशवर्षे अंक १२, ३-४, सं० २०१६ ।		संस्कृत वि० वि० वाराणसी ।
११३. शाब्दिकी, व्याकरण परिषद,		